नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

भाग 2

सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2

आगम - ०५

'भगवती' मूलं एवं वृत्तिः [२]

मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से

श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, पालडी, अमदावाद

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूडामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद
गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर
सूरीश्वरजी महाराज साहेब

श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब पचास साल पहेले परम पूज्य स्वर्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू-भगवंत एवं साध्वी-महाराज के लिए उपाश्रय भी है, जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2

मूल संशोधक

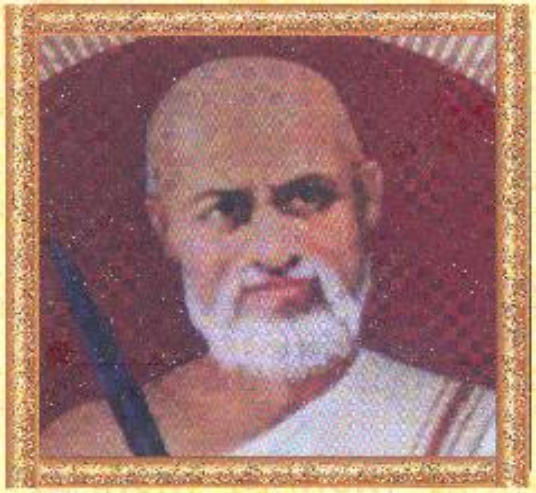

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

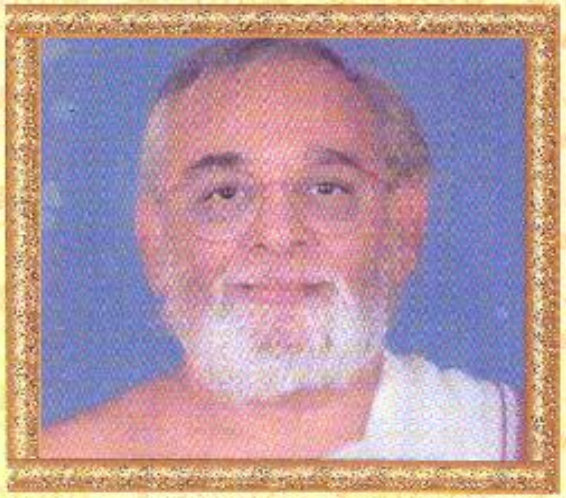

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

सवृत्तिक
भाग-2

[०५] श्री भगवती-[अङ्ग]सूत्रम्-2

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरुभ्यो नमः

"भगवती" मूलं एवं वृत्तिः

(अपरनाम- "व्याख्याप्रज्ञप्ति")

[मूलं एवं दानशेखरसूरि रचिता वृत्तिः]

[आद्य संपादकः - पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰]

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुनः संकलनकर्ता→ **मुनि दीपरत्नसागर** (M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि.)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-२-श्रेणी भाग-2

आगम (०५)	“भगवती”- अंगसूत्र-५ (मूलं+वृत्ति:) भाग-२ शतक [-], वर्ग्ग [-], अंतर्-शतक [-], उद्देशक [-], मूलं [-]
प्रत सूत्रांक [-] दीप अनुक्रम [-]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्ति:
	भगवती-(अङ्ग)सूत्रस्य मूल “टाइटल पेज”

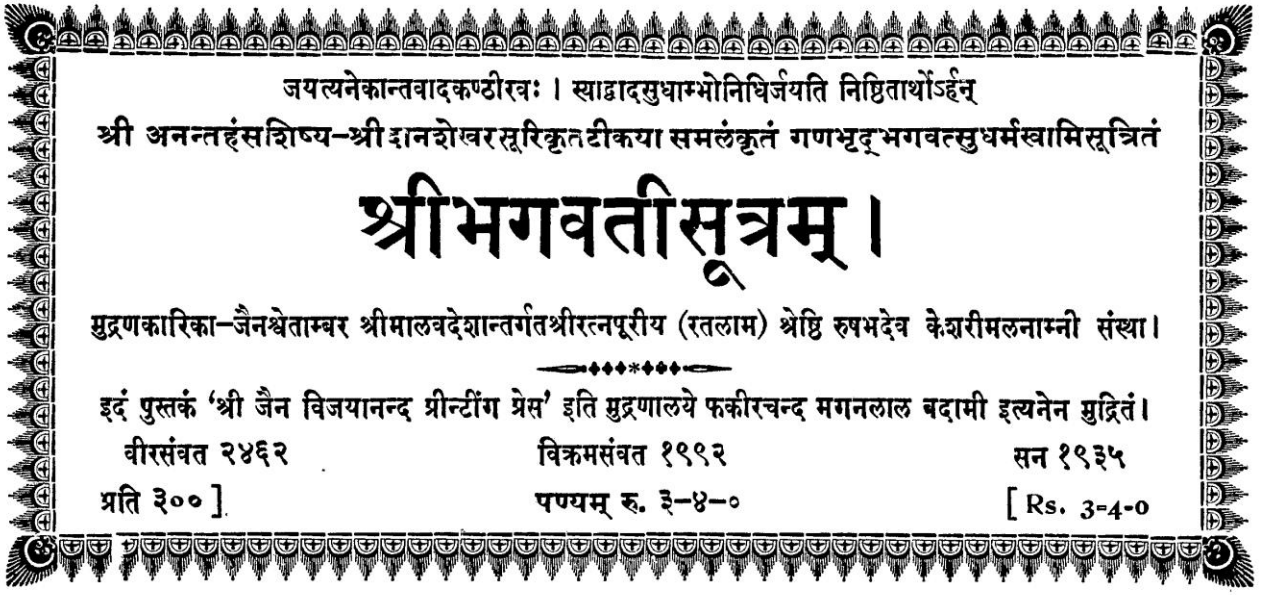

जयत्यनेकान्तवादकण्ठीरवः । स्याद्वादसुधाम्भोनिधिर्जयति निष्ठितार्थोऽर्हन्

श्री अनन्तहंसशिष्य–श्री दानशेखरसूरिकृतटीकया समलंकृतं गणभृद्भगवत्सुधर्मस्वामिसूत्रितं

श्रीभगवतीसूत्रम् ।

मुद्रणकारिका–जैनश्वेताम्बर श्रीमालवदेशान्तर्गतश्रीरत्नपूरीय (रतलाम) श्रेष्ठि रुषभदेव केशरीमलनाम्नी संस्था।

इदं पुस्तकं ‘श्री जैन विजयानन्द प्रीन्टींग प्रेस’ इति मुद्रणालये फकीरचन्द मगनलाल बदामी इत्यनेन मुद्रितं।

वीरसंवत २४६२	विक्रमसंवत १९९२	सन १९३५
प्रति ३००]	पण्यम् रु. ३–४–०	[Rs. 3-4-0

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अव चूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ७०० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... ***.....मुनि दीपरत्नसागर...***

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

***** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |**

***** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण* " इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना |**

***** मुनि दीपरत्नसागर...**

अनुदान दाता संस्था:- "श्री परम-आनंद श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ"

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठककर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब ५० साल पहेले <u>परम पूज्य स्व. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब</u> द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेंद्रसागरसूरीजी म०सा० ही है | इस संघमें पूज्य साधू भगवंत एवं साध्वीजीओ का उपाश्रय भी है जहा हर-साल चातुर्मास करवाके श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

****** मुनि दीपरत्नसागर...***

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि" श्रेणि भाग १ से ८ के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये " सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई , उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे | समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रेज]पूना, शंखेश्वर, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

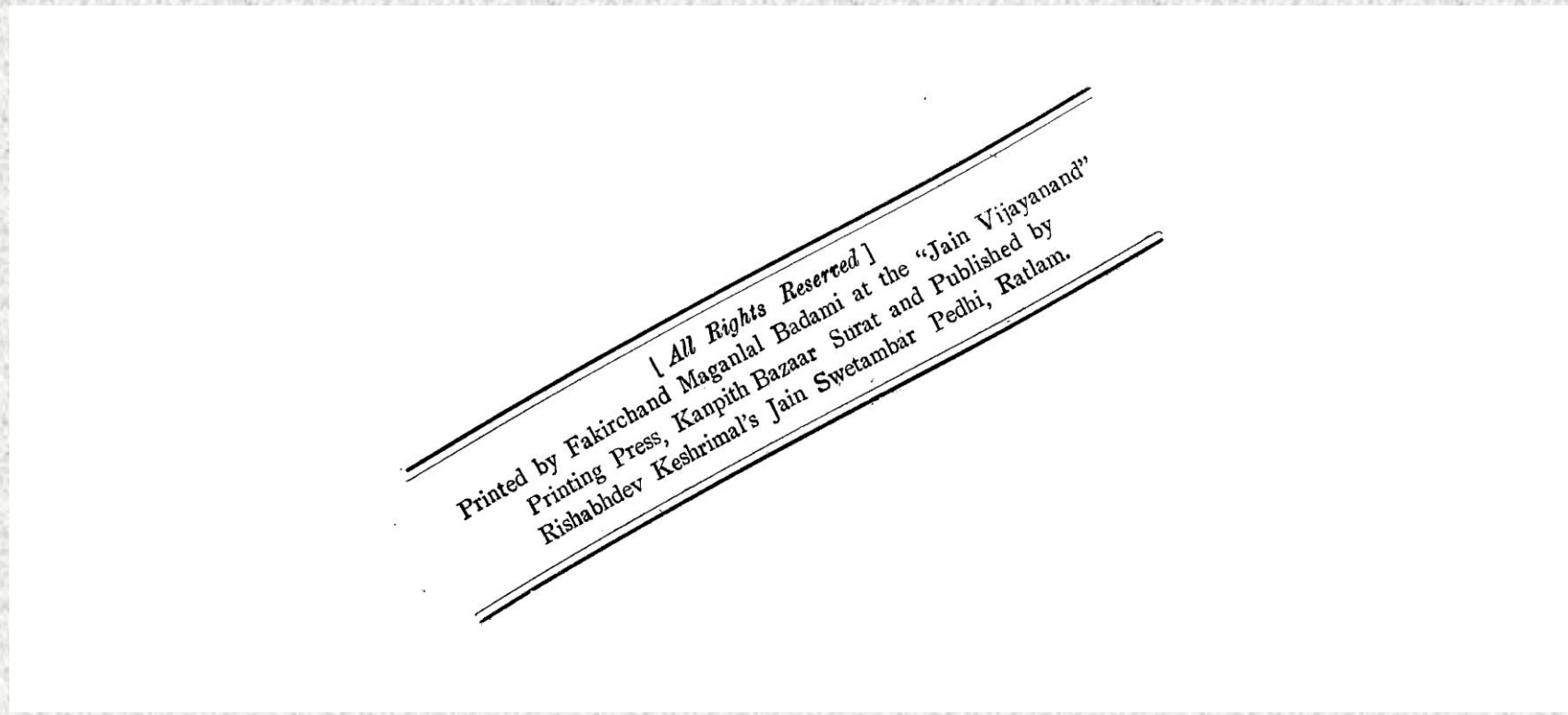
[All Rights Reserved]
Printed by Fakirchand Maganlal Badami at the "Jain Vijayanand"
Printing Press, Kanpith Bazaar Surat and Published by
Rishabhdev Keshrimal's Jain Swetambar Pedhi, Ratlam.

मूलांक::	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
♦	शतकं - १		..♦	.....शतकं - ३		..♦	.....शतकं - ५	
००१	उद्देशक: ०१ चलन		१७०	उद्देशक: ०२ चमरोत्पात		२६४	उद्देशक: ०९ राजगृह	
०२६	उद्देशक: ०२ दु:ख		१७८	उद्देशक: ०३ क्रिया		२७१	उद्देशक: १० चन्द्रमा	
०३४	उद्देशक: ०३ कांक्षाप्रदोष		१८४	उद्देशक: ०४ यान		♦	शतकं - ६	
०४६	उद्देशक: ०४ कर्मप्रकृति		१८९	उद्देशक: ०५ स्त्री		२७२	उद्देशक: ०१ वेदना	
०५२	उद्देशक: ०५ पृथ्वी		१९१	उद्देशक: ०६ नगर		२७७	उद्देशक: ०२ आहार	
०६९	उद्देशक: ०६ यावंत		१९३	उद्देशक: ०७ लोकपाल		२७८	उद्देशक: ०३ महा-आश्रव	
०७९	उद्देशक: ०७ नैरयिक		२०१	उद्देशक: ०८ देवाधिपति		२८६	उद्देशक: ०४ सप्रदेशक	
०८५	उद्देशक: ०८ बाल		२०५	उद्देशक: ०९ इन्द्रिय		२९१	उद्देशक: ०५ तमस्काय	
०९४	उद्देशक: ०९ गुरुत्व		२०६	उद्देशक: १० परिषद्		३००	उद्देशक: ०६ भव्य	
१०२	उद्देशक: १० चलत		♦	शतकं - ४		३०२	उद्देशक: ०७ शाली	
♦	शतकं - २		२०७	उद्देशका: १-४ लोकपाल-विमान		३१३	उद्देशक: ०८ पृथ्वी	
१०५	उद्देशक: ०१ स्कंदक		२१०	उद्देशका: ५-८लोकपालराजधानी		३१७	उद्देशक: ०९ कर्म	
११८	उद्देशक: ०२ समुद्घात		२११	उद्देशक: ०९ नैरयिक		३२०	उद्देशक: १० अन्ययूथिक	
११९	उद्देशक: ०३ पृथ्वी		२१२	उद्देशक: १० लेश्या		♦..	शतकं - ७....	
१२२	उद्देशक: ०४ इन्द्रिय		♦..	शतकं - ५.....		३२७	उद्देशक: ०१ आहार	
१२३	उद्देशक: ०५ अन्यतीर्थिक		२१५	उद्देशक: ०१ रवि		३३९	उद्देशक: ०२ विरति	
१३८	उद्देशक: ०६ भाषा		२२०	उद्देशक: ०२ वायु		३४५	उद्देशक: ०३ स्थावर	
१३९	उद्देशक: ०७ देव		२२३	उद्देशक: ०३ जालग्रंथिका		३५१	उद्देशक: ०४ जीव	
१४०	उद्देशक: ०८ चमरचंचा		२२५	उद्देशक: ०४ शब्द		३५३	उद्देशक: ०५ पक्षी	
१४१	उद्देशक: ०९ समयक्षेत्र		२४१	उद्देशक: ०५ छद्मस्थ		३५५	उद्देशक: ०६ आयु	
१४२	उद्देशक: १० अस्तिकाय		२४४	उद्देशक: ०६ आयु		३६१	उद्देशक: ०७ अनगार	
♦..	शतकं - ३.....		२५३	उद्देशक: ०७ पुद्गल		३६५	उद्देशक: ०८ छद्मस्थ	
१५१	उद्देशक: ०१ चमरविकुर्वणा		२६२	उद्देशक: ०८ निर्ग्रन्थीपुत्र		३७१	उद्देशक: ०९ असंवृत	

मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
..♦	.....शतकं - ७		..♦	.....शतकं - १०	----	..♦	.....शतकं - १२	----
३७७	उद्देशक: १० अन्यतीर्थिक		४८२	उद्देशक: ०३ आत्मऋद्धि	--	५४२	उद्देशक: ०५ अतिपात	--
♦	शतकं - ८		४८७	उद्देशक: ०४ श्यामहस्ती	--	५४६	उद्देशक: ०६ राह्	--
३८१	उद्देशक: ०१ पुद्गल		४८८	उद्देशक: ०५ देव	--	५५०	उद्देशक: ०७ लोक	--
३८९	उद्देशक: ०२ आशीविष		४९०	उद्देशक: ०६ सभा	--	५५२	उद्देशक: ०८ नाग	--
३९७	उद्देशक: ०३ वृक्ष		४९३	उद्देशका: ०७-३४ अंतर्द्वीप	--	५५४	उद्देशक: ०९ देव	--
४००	उद्देशक: ०४ क्रिया		♦	शतकं - ११	०५०	५६०	उद्देशक: १० आत्मा	--
४०१	उद्देशक: ०५ आजीविक		४९४	उद्देशक: ०१ उत्पल	०५०	♦	शतकं - १३	०९९
४०५	उद्देशक: ०६ प्रासुकआहार		४९९	उद्देशक: ०२ शालूक	--	५६३	उद्देशक: ०१ पृथ्वी	०९९
४१०	उद्देशक: ०७ अदत्तादान		५००	उद्देशक: ०३ पलाश	--	५६७	उद्देशक: ०२ देव	--
४१२	उद्देशक: ०८ प्रत्यनिक		५०१	उद्देशक: ०४ कुम्भिक	--	५६८	उद्देशक: ०३ नरक	--
४२२	उद्देशक: ०९ प्रयोगबन्ध		५०२	उद्देशक: ०५ नालिक	--	५६९	उद्देशक: ०४ पृथ्वी	--
४३०	उद्देशक: १० आराधना		५०३	उद्देशक: ०६ पद्म	--	५८४	उद्देशक: ०५ आहार	--
♦	शतकं - ९	०१७	५०४	उद्देशक: ०७ कर्णिक	--	५८५	उद्देशक: ०६ उपपात	--
४३८	उद्देशक: ०१ जम्बू	०१७	५०५	उद्देशक: ०८ नलिन	--	५८९	उद्देशक: ०७ भाषा	--
४४०	उद्देशक: ०२ ज्योतिष्क	--	५०६	उद्देशक: ०९ शिवराजर्षि	--	५९३	उद्देशक: ०८ कर्मप्रकृति	--
४४४	उद्देशका: ०३-३० अंतर्द्विप	--	५१०	उद्देशक: १० लोक	--	५९४	उद्देशक: ०९ अनगारवैक्रिय	--
४४५	उद्देशक: ३१ असोच्चा	--	५१४	उद्देशक: ११ काल	--	५९५	उद्देशक: १० समुद्घात	--
४५१	उद्देशक: ३२ गांगेय	--	५२५	उद्देशक: १२ आलभिका	--	♦..	शतकं - १४.....	१२५
४६०	उद्देशक: ३३ कुण्डग्राम	--	♦..	शतकं - १२.....	०७०	५९६	उद्देशक: ०१ चरम	--
४७१	उद्देशक: ३४ पुरुषघातक	--	५२९	उद्देशक: ०१ शंख	०७०	६००	उद्देशक: ०२ उन्माद	--
♦..	शतकं - १०.....	०४३	५३४	उद्देशक: ०२ जयंति	--	६०३	उद्देशक: ०३ शरीर	--
४७३	उद्देशक: ०१ दिशा	०४३	५३७	उद्देशक: ०३ पृथ्वी	--	६०७	उद्देशक: ०४ पुद्गल	--
४७७	उद्देशक: ०२ संवृतअनगार	--	५३८	उद्देशक: ०४ पुद्गल	--	६१२	उद्देशक: ०५ अग्नि	--

मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
..♦	.....शतकं - १४		..♦	.....शतकं - १७	----	..♦	.....शतकं - १९	----
६१५	उद्देशक: ०६ आहार	--	७०६	उद्देशक: ०४ क्रिया	--	७७०	उद्देशक: ०८ निर्वृत्ति	--
६१८	उद्देशक: ०७ संश्लिष्ट	--	७०८	उद्देशका: ६-११	--	७७४	उद्देशक: ०९ करण	--
६२४	उद्देशक: ०८ अंतर	--	७१५	उद्देशक: १२ एकेन्द्रिय	--	७७५	उद्देशक: १० व्यंतर	--
६३१	उद्देशक: ०९ अनगार	--	७१६	उद्देशका:१३-१७	--	♦	शतकं - २०	२०६
६३६	उद्देशक: १० केवली	--	♦	शतकं - १८	१८४	७७९	उद्देशक: ०१ बेईन्द्रिय	--
♦	शतकं - १५	१४७	७२१	उद्देशक: ०१ प्रथम	--	७८१	उद्देशक: ०२ आकाश	--
६३७	--गोशालक	१४७	७२७	उद्देशक: ०२ विशाखा	--	७८३	उद्देशक: ०३ प्राणवध	--
♦	शतकं - १६	१६३	७२८	उद्देशक: ०३ माकंदीपुत्र	--	७८५	उद्देशक: ०४ उपचय	--
६६०	उद्देशक: ०१ अधिकरण	१६३	७३३	उद्देशक: ०४ प्राणातिपात	--	७८६	उद्देशक: ०५ परमाणु	--
६६६	उद्देशक: ०२ जरा	--	७३६	उद्देशक: ०५ असुरकुमार	--	७८९	उद्देशक: ०६ अंतर	--
६७०	उद्देशक: ०३ कर्म	--	७४०	उद्देशक: ०६ गुडवर्णादि	--	७९२	उद्देशक: ०७ बन्ध	--
६७२	उद्देशक: ०४ जावंतिय	--	७४२	उद्देशक: ०७ केवली	--	७९३	उद्देशक: ०८ भूमि	--
६७३	उद्देशक: ०५ गंगदत्त	--	७४९	उद्देशक: ०८ अनगारक्रिया	--	८०१	उद्देशक: ०९ चारण	--
६७७	उद्देशक: ०६ स्वप्न	--	७५०	उद्देशक: ०९ भव्यद्रव्य	--	८०३	उद्देशक: १० आयु	--
६८२	उद्देशक: ०७ उपयोग	--	७५३	उद्देशक: १० सोमिल	--	♦	शतकं - २१	२२०
६८३	उद्देशक: ०८ लोक	--	♦..	शतकं - १९.....	२०१	८०६	वर्ग्ग: १ शाली-आदि	--
६८७	उद्देशक: ०९ बलिन्द्र	--	७५८	उद्देशक: ०१ लेश्या	२०१	८१५	वर्ग्गा:२-८ मूलअलसी, वंश,	--
६८८	उद्देशक: १० अवधि	--	७६०	उद्देशक: ०२ गर्भ	--		इक्षु,सेडिय, अम्ररुह, तुलसी	--
६८९	उद्देशक: ११-१४ द्विपादि०	--	७६१	उद्देशक: ०३ पृथ्वी	--	♦	शतकं - २२	२२३
♦..	शतकं - १७.....	१७८	७६५	उद्देशक: ०४ महाश्रव	--	८२२	वर्ग्गा:१-६ताड़,निम्ब,अगस्ति	--
६९३	उद्देशक: ०१ कुंजर	--	७६६	उद्देशक: ०५ चरम	--		वेंगन, सिरियक,पुष्पकलिका	--
६९९	उद्देशक: ०२ संयत	--	७६८	उद्देशक: ०६ द्वीप	--	♦	शतकं - २३	२२३
७०३	उद्देशक: ०३ शैलेशी	--	७६९	उद्देशक: ०७ भवन	--	८२९	वर्ग्गा:१-४आलू,लोही,आय,पाठा	--

मूलांक::	विषय:	पृष्ठांक	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
♦	शतकं - २४	२२३	♦	शतकं - २८	२९२	♦	शतकं - ३५	३०७
८३५	उद्देशक: ०१ नैरयिक	--	९९२	उद्देशका: १-११ जीव आदि--	--	१०४४	एकेन्द्रिय शतकानि-१२	--
८४३	उद्देशक: ०२ परिमाण	--		जाव २६ शतक	--	♦	शतकं - ३६	३०७
८४४	उद्देशक: ०३-११नागादिकुमारा	--	♦	शतकं - २९	२९३	१०५८	बेन्द्रिय शतकानि-१२	--
८४६	उद्देशक: १२-१६ पृथ्व्यादि	--	९९५	उद्देशका: १-११ जीव आदि--	--	♦	शतकं - ३७	३०८
८५३	उद्देशक: १७-२० बेईन्द्रियादि	--		जाव २६ शतक	--	१०६१	त्रिन्द्रिय शतक	--
८५७	उद्देशक: २१-२४ मनुष्यादि	--	♦	शतकं - ३०	२९५	♦	शतकं - ३८	३०८
♦	शतकं - २५	२५१	९९८	उद्देशका: १-११ समवसरण,	--	१०६२	चतुरिन्द्रिय शतक	--
८६१	उद्देशका: १-१२ लेश्या, द्रव्य,	--		लेश्या आदि	--	♦	शतकं - ३९	३०८
	संस्थान, युग्म,पर्यव, निर्गन्थ	--	♦	शतकं - ३१	२९८	१०६३	असंज्ञीपंचेन्द्रिय शतकानि	--
	संयत, ओघ, भव्य, अभव्य,	--	१००३	उद्देशका: १-२८ युग्म, नरक,	--	♦	शतकं - ४०	३०९
	सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि	--		उपपात आदि विषयका:	--	१०६४	संज्ञीपंचेन्द्रिय शतकानि	--
♦	शतकं - २६	२८२	♦	शतकं - ३२	२९९	♦	शतकं - ४१	३०९
९७५	उद्देशका: १-११ जीव, लेश्या,	--	१०१६	उद्देशका: १-२८ नारक्स्य---	--	१०६८ से	उद्देशका: १-१९६ राशियुग्म,	--
	पखिय, दृष्टि, अज्ञान, ज्ञान,	--		उद्वर्तन, उपपात, लेश्यादि	--	---१०७९	त्र्योजराशि, द्वापरयुग्मराशि	--
	संज्ञा,वेद,कषाय,उपयोग,योग	--	♦	शतकं - ३३	२९९		कल्योजराशि इत्यादि	--
♦	शतकं - २७	२९१	१०१८	एकेन्द्रिय शतकानि-१२	--		----------	
९९१	उद्देशका: १-११ जीव आदि--	--	♦	शतकं - ३४	३००	१०८० से	उपसंहार गाथा	३१०
	जाव २६ शतक	--	१०३३	एकेन्द्रिय शतकानि-१२	--	---१०८६	परिसमाप्त:	

[भगवती- मूलं एवं वृत्ति:] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

पूज्य श्री लक्ष्मीसागरसूरिजी के शिष्य श्री जिनमाणिक्यगणिजी के शिष्य अनंतहंसजी के शिष्य श्री दानशेखरसूरिजी रचित वृत्ति की प्रत सबसे पहले "श्री भगवतीसूत्र" के नामसे सन १९ ३५ (विक्रम संवत १९ ९२) में रुषभदेव केशरीमल संस्था द्वारा प्रकाशित हुई , इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब | पूज्यपाद श्री अभयदेवसूरिजीने भी भगवतीजी सूत्र पर एक विशाल वृत्ति की रचना कि है, जो हमारी "आगम सुत्ताणि सटीकं" एवं "सवृत्तिक आगम सूत्राणि" मे मुद्रित हुइ है |

✣ हमारा ये प्रयास क्यों? ✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई , उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया , जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी , ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम , फिर शतक-वग्र्ग-उद्देशक-मूलसूत्र- आदि के नंबर लिख दिए , ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा शतक , उद्देशक आदि चल रहे है उसका सरलता से ज्ञान हो शके, बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है, उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके | हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है, इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची है|

हमने एक अनुक्रमणिका भी बनायी है, जिसमे प्रत्येक शतक, वग्र्ग एवं उद्देशक लिख दिये है, साथमें इस सम्पादन के पृष्ठांक भी दिए है, जिससे अभ्यासक व्यक्ति अपने चहिते शतक या विषय तक आसानी से पहुँच शकता है | अनेक पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट भी लिखी है , जिसमे उस पृष्ठ पर चल रहे ख़ास विषयवस्तु की, मूल प्रतमें रही हुई कोई-कोई मुद्रण-भूल की या क्रमांकन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है |

✣ शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणासे और श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, पालडी, अमदावाद की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि_2" भाग-२ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

. ... मुनि दीपरत्नसागर.

श्री अनंतहंसगणिशिष्य श्री दानशेखरसूरि-विहिता

श्री भगवती-विशेष-व्याख्या

[प्रथम भागे शतक १ से ८ मुद्रिता:]

अत्र द्वितीय भागे नवमं शतकं आरभ्यते

भगवतीजी सूत्रस्य श्री दानशेखरसूरि संकलिता विशेष वृत्तिः-भाग 2

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अथ नवमशतं प्रारभ्यते—'जंबुद्दीवे'त्ति उद्देशकगाथामाह (※६०), तत्र जम्बूद्वीपवक्तव्यतारूपः प्रथम उद्देशकः १ 'जोइस'त्ति ज्योतिष्कविषयो द्वितीयः २ 'अंतरदीवे'त्ति अन्तरद्वीपविषया अष्टाविंशतिरुद्देशकाः ३० 'असोच्च'त्ति अश्रुत्वा धर्मं लभेतेत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थं एकत्रिंशत्तमः ३१ 'गंगेय'त्ति गाङ्गेयाख्यसाधुवक्तव्यतार्थो द्वात्रिंशत्तमः ३२ 'कुंडग्गामे'त्ति ब्राह्मणकुंडग्रामविषयस्त्रयस्त्रिंशत्तमः ३३ 'पुरिसे'त्ति पुरुषः पुरुषं घ्नन्नित्यादिवक्तव्यतार्थश्चतुस्त्रिंशत्तमः ३४ ॥ इति द्वारगाथार्थः ॥ 'कहिणं'ति (सू० ३६०) कस्मिन् देशे इत्यर्थः,'एवं जंबुद्दीवपण्णत्ती भाणियव्वा' सा चैवम्—'केमहालए णं भंते! जंबुद्दीवे २?, किमागारभावपडायारे णं भंते! जंबुद्दीवे दीवे पण्णत्ते?' कस्मिन्नाकारभावे प्रत्यवतारो यस्य स तथा, गोयमा! अयण्णं जंबुद्दीवे २ सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए सव्वखुड्डए वट्टे तिल्लापूयसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाण० वट्टे रहचक्कवालसंठाण० वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाण० पण्णत्ते, एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेण'मित्यादि,'एवमेवे'ति एवमुक्तेनैव न्यायेन पूर्वापरसमुद्रगमनादिना 'सपुव्वावरेणं'ति सह पूर्वेण नदीवृन्देन अपरं सपूर्वापरं तेन सपूर्वापरेण,'चोद्दस सलिला सयसहस्सा छप्पन्नं च सहस्सा भवंति'त्ति, कथं?, इह सलिलाशतसहस्राणि—नदीलक्षाणि, एतत्सङ्ख्या चैवम्—भरतैरावतयोर्गङ्गासिन्धुरक्तारक्तवत्यः प्रत्येकं १४ नदीसहस्रयुक्ताः, तथा हिमवतैरण्यवतयो रोहितारोहितांशासुवर्णकूलारूप्यकूलाः प्रत्येकमष्टाविंशतिसहस्रैर्युक्ताः, तथा हरिवर्षरम्यकवर्षयोर्हरिताहरिकान्तानरकान्तानारीकान्ताः प्रत्येकं षट्पञ्चाशत्सहस्रैर्युक्तास्समुद्रमुपयान्ति, तथा महाविदेहे शीताशीतोदे प्रत्येकं पञ्चभिर्लक्षैर्द्वात्रिंशता सहस्रैर्युक्ते पाथोधिं प्रयात इति,सर्वासां मीलने सूत्रोक्तं प्रमाणं स्यादिति, वाचनान्तरे पुनरिदं दृश्यते—'जहा जंबुद्दीवपण्णत्तीए तहा नेयव्वं, जोइसविहूणं जावखंड'त्ति "खंडा जोयण वासा पव्वय कूडा य तित्थ-

९ शतके १ उद्देशः

	शतक- प्रथमात् अष्टमं पर्यन्तानि ‘भगवती-सूत्रस्य’ प्रथम-भागे संपादितानि
	*** अत्र शतक- ९ आरभ्यते

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सेढी य । विजया दह सलिलाओ य पिंडए होइ संगहणी ॥१॥" तत्र 'जोइसविहूणं'ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यां ज्योतिष्कवक्तव्यता-ऽस्ति तद्विहीनं समस्तजम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्रमस्योद्देशकस्य स्वयं ज्ञेयं, किंपर्यवसानं पुनस्तद्?, आह 'जाव खंड'त्ति । तत्र जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रप्रमाणानि खण्डानि कियन्ति स्युरिति, उच्यते–नवत्यधिकं खण्डशतं, 'जोयण'त्ति जम्बूद्वीपे कियद्योजनप्रमाणानि खण्डानि स्युरिति, उच्यन्ते–'सत्तेव य कोडिसया चउया छप्पन्न सयसहस्साइं । चउणउइं च सहस्सा सयं दिवड्ढं च साहीयं ॥१॥' गाउयमेगं पण्णरस धणुसया तह धणूणि पण्णरस । सट्ठीई अंगुलाइं जंबुद्दीवस्स गणियपयं ॥२॥ति," गणितपदमेवंप्रकारस्य गणितस्य संज्ञा,'वास'त्ति जम्बूद्वीपे भरतहैमवतादीनि सप्त वर्षाणि,'पव्वय'त्ति जम्बूद्वीपे कियन्तः पर्वताः?, उच्यते, षड् वर्षधरपर्वता हिमवदादयः एको मन्दरः, एकश्चित्रकूटः एको विचित्रकूटः एतौ देवकुरुषु, द्वौ यमकगिरी एतौ च उत्तरकुरुषु, द्वे शते काञ्चनकानां, एते च शीताशीतोदयोः पार्श्वतः, २० वक्षस्काराः, ३४ दीर्घविजयार्द्धपर्यन्ताः, चत्वारो वर्तुलविजयार्द्धपर्वताः, एवं २६९ मिताः पर्वता भवन्ति,'कूड'त्ति कियन्ति पर्वतकूटानि?, उच्यते, ५६ वर्षधरकूटानि ९६ वक्षस्कारकूटानि ३०६ विजयार्द्धकूटशतानि ९ मन्दरकूटानि, एवं सर्वाणि ४६७ कूटानि स्युरिति, 'तित्थ'त्ति जम्बूद्वीपे कियन्ति तीर्थानि?, उच्यते, ३२ विजयभरतैरावतानां ३४ खण्डेषु प्रत्येकं मागधवरदामप्रभासाख्यानि त्रीणि त्रीणि तीर्थानि स्युः, एवं द्व्युत्तरं तीर्थशतं भवति,'सेढीओ'त्ति विद्याधरश्रेणय आभियोगिकश्रेणयश्च कियत्यः?, उच्यते, अष्टषष्टिः प्रत्येकमासां स्यात्, विजयार्द्धपर्वतेषु प्रत्येकं द्वयोर्द्वयोर्भावाद्, एवं षट्त्रिंशदधिकं श्रेणीशतं स्यात्, 'विजय'त्ति कियन्ति चक्रवर्तिविजेतव्यानि भूखण्डानि?, उच्यते, ते चतुस्त्रिंशद्, एतावन्त एव च राजधान्यादयोऽर्था इति, 'दह'त्ति कियन्तो महाद्रहाः?, उच्यन्ते, पद्मादयः षट् दश च नीलवदादयः देवकुरुउत्तरकुरुम-

९ शतके १ उद्देशः

॥१५२॥

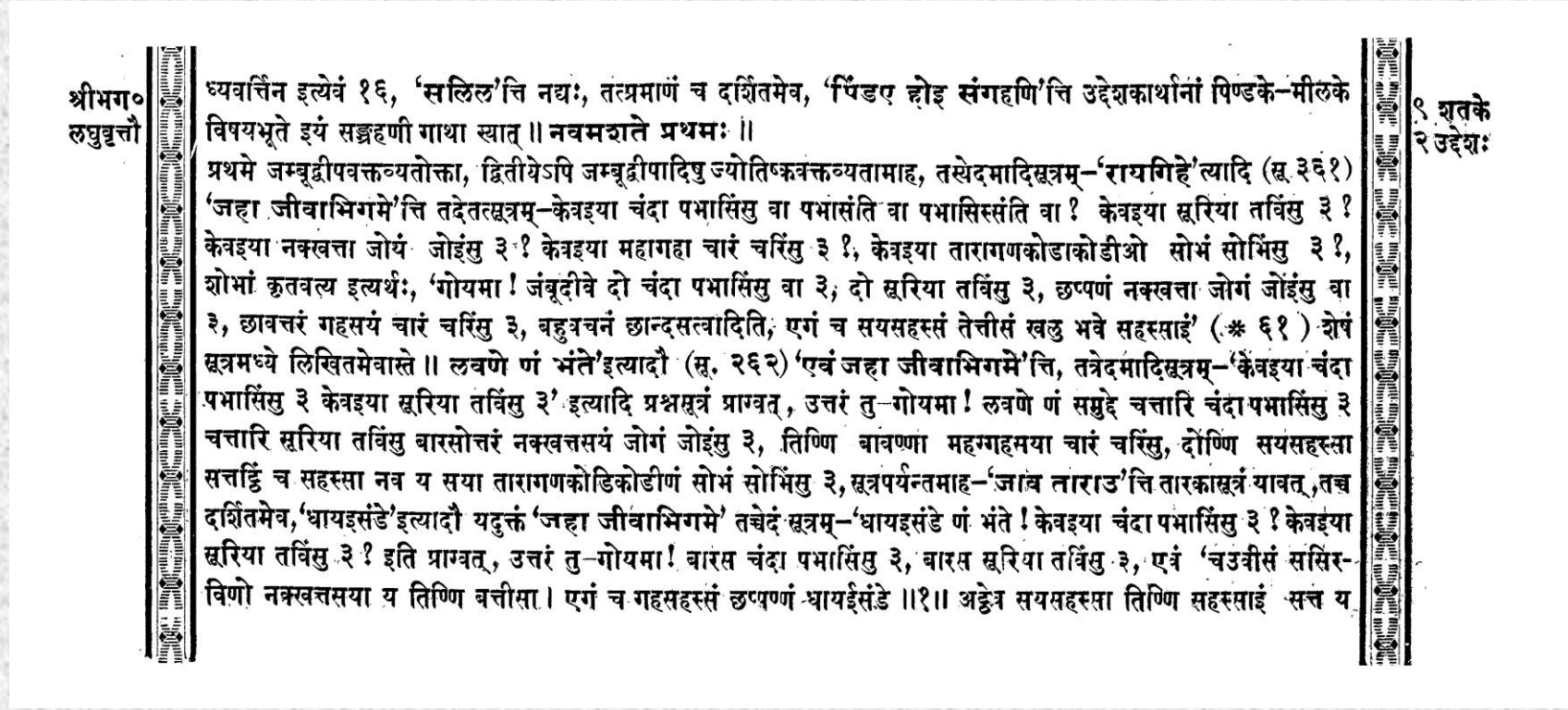

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ध्यवर्त्तिन इत्येवं १६, 'सलिल'त्ति नद्यः, तत्प्रमाणं च दर्शितमेव, 'पिंडए होइ संगहणि'त्ति उद्देशकार्थानां पिण्डके-मीलके विषयभूते इयं सङ्ग्रहणी गाथा स्यात् ॥ नवमशते प्रथमः ॥

प्रथमे जम्बूद्वीपवक्तव्यतोक्ता, द्वितीयेऽपि जम्बूद्वीपादिषु ज्योतिष्कवक्तव्यतामाह, तस्येदमादिसूत्रम्-'रायगिहे'त्यादि (सू. ३६१) 'जहा जीवाभिगमे'त्ति तदेतत्सूत्रम्-केवइया चंदा पभासिंसु वा पभासंति वा पभासिस्संति वा ? केवइया सूरिया तविंसु ३ ? केवइया नक्खत्ता जोयं जोइंसु ३ ? केवइया महागहा चारं चरिंसु ३ ?, केवइया तारागणकोडाकोडीओ सोभं सोभिंसु ३ ?, शोभां कृतवत्य इत्यर्थः, 'गोयमा ! जंबूदीवे दो चंदा पभासिंसु वा ३, दो सूरिया तविंसु ३, छप्पणं नक्खत्ता जोगं जोइंसु वा ३, छावत्तरं गहसयं चारं चरिंसु ३, बहुवचनं छान्दसत्वादिति, एगं च सयसहस्सं तेत्तीसं खलु भवे सहस्साइं' (* ६१) शेषं सूत्रमध्ये लिखितमेवास्ते ॥ लवणे णं भंते'इत्यादौ (सू. २६२) 'एवं जहा जीवाभिगमे'त्ति, तत्रेदमादिसूत्रम्-'केवइया चंदा पभासिंसु ३ केवइया सूरिया तविंसु ३' इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, उत्तरं तु-गोयमा ! लवणे णं समुद्दे चत्तारि चंदा पभासिंसु ३ चत्तारि सूरिया तविंसु बारसोत्तरं नक्खत्तसयं जोगं जोइंसु ३, तिण्णि बावण्णा महग्गहसया चारं चरिंसु, दोण्णि सयसहस्सा सत्तट्ठिं च सहस्सा नव य सया तारागणकोडिकोडीणं सोभं सोभिंसु ३, सूत्रपर्यन्तमाह-'जाव ताराउ'त्ति तारकासूत्रं यावत्, तच्च दर्शितमेव, 'धायइसंडे'इत्यादौ यदुक्तं 'जहा जीवाभिगमे' तच्चेदं सूत्रम्-'धायइसंडे णं भंते ! केवइया चंदा पभासिंसु ३ ? केवइया सूरिया तविंसु ३ ? इति प्राग्वत्, उत्तरं तु-गोयमा ! बारस चंदा पभासिंसु ३, बारस सूरिया तविंसु ३, एवं 'चउवीसं ससिरविणो नक्खत्तसया य तिण्णि बत्तीसा। एगं च गहसहस्सं छप्पण्णं धायईसंडे ॥१॥ अट्ठेव सयसहस्सा तिण्णि सहस्साइं सत्त य

९ शतके २ उद्देशः

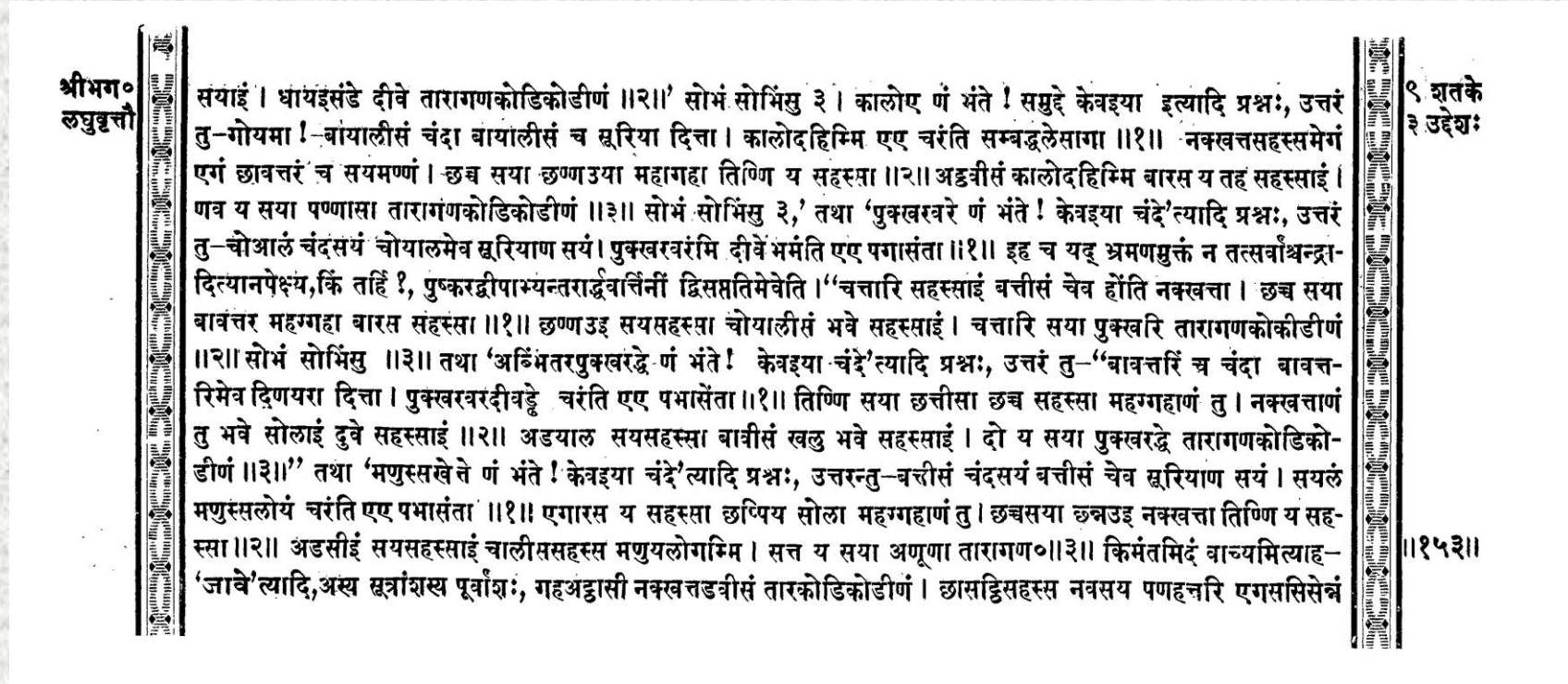

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सयाइं । धायइसंडे दीवे तारागणकोडिकोडीणं ॥२॥' सोभं सोभिंसु ३ । कालोए णं भंते ! समुद्दे केवइया इत्यादि प्रश्नः, उत्तरं तु–गोयमा !–बायालीसं चंदा बायालीसं च सूरिया दित्ता । कालोदहिम्मि एए चरंति सम्बद्धलेसागा ॥१॥ नक्खत्तसहस्समेगं एगं छावत्तरं च सयमण्णं । छच्च सया छण्णउया महागहा तिण्णि य सहस्सा ॥२॥ अट्ठवीसं कालोदहिम्मि बारस य तह सहस्साइं । णव य सया पण्णासा तारागणकोडिकोडीणं ॥३॥ सोभं सोभिंसु ३,' तथा 'पुक्खरवरे णं भंते ! केवइया चंदे'त्यादि प्रश्नः, उत्तरं तु–चोआलं चंदसयं चोयालमेव सूरियाण सयं । पुक्खरवरंमि दीवे भमंति एए पगासंता ॥१॥ इह च यद् भ्रमणमुक्तं न तत्सर्वाश्चन्द्रादित्यानपेक्ष्य,किं तर्हि ?, पुष्करद्वीपाभ्यन्तरार्द्धवर्त्तिनीं द्विसप्ततिमेवेति ।"चत्तारि सहस्साइं बत्तीसं चेव होंति नक्खत्ता । छच्च सया बावत्तर महग्गहा बारस सहस्सा ॥१॥ छण्णउइ सयसहस्सा चोयालीसं भवे सहस्साइं । चत्तारि सया पुक्खरि तारागणकोकीडीणं ॥२॥ सोभं सोभिंसु ॥३॥ तथा 'अब्भिंतरपुक्खरद्धे णं भंते! केवइया चंदे'त्यादि प्रश्नः, उत्तरं तु–"बावत्तरिं च चंदा बावत्तरिमेव दिणयरा दित्ता । पुक्खरवरदीवड्ढे चरंति एए पभासेंता ॥१॥ तिण्णि सया छत्तीसा छच्च सहस्सा महग्गहाणं तु । नक्खत्ताणं तु भवे सोलाइं दुवे सहस्साइं ॥२॥ अडयाल सयसहस्सा बावीसं खलु भवे सहस्साइं । दो य सया पुक्खरद्धे तारागणकोडिकोडीणं ॥३॥" तथा 'मणुस्सखेत्ते णं भंते ! केवइया चंदे'त्यादि प्रश्नः, उत्तरन्तु–बत्तीसं चंदसयं बत्तीसं चेव सूरियाण सयं । सयलं मणुस्सलोयं चरंति एए पभासंता ॥१॥ एगारस य सहस्सा छप्पिय सोला महग्गहाणं तु । छच्चसया छन्नउइ नक्खत्ता तिण्णि य सहस्सा ॥२॥ अडसीइं सयसहस्साइं चालीसहस्स मणुयलोगम्मि । सत्त य सया अणूणा तारागण०॥३॥ किमंतमिदं वाच्यमित्याह– 'जावे'त्यादि,अस्य सूत्रांशस्य पूर्वांशः, गहअट्ठासी नक्खत्तडवीसं तारकोडिकोडीणं । छासट्ठिसहस्स नवसय पणहत्तरि एगससिसेन्नं

९ शतके ३ उद्देशः

॥१५३॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

॥१॥" पुक्खरोदे णं भंते ! समुद्दे केवइया चंदंति प्रश्नः, उत्तरमिदं दृश्यम्–'संखेज्जा चंदा पभासिंसु' 'एवं सव्वदीवसमुद्देसु' त्ति प्रागुक्त-प्रश्नेन यथासम्भवं सङ्ख्याता असङ्ख्याताश्च चन्द्रादय इत्युत्तरेणेत्यर्थः, द्वीपसमुद्रनामानि चैवम्–पुष्करोदसमुद्रानन्तरो वरुणवरो द्वीपः ततो वरुणोदाब्धिः,एवं क्षीरवरक्षीरोदौ घृतवरघृतोदौ क्षोदवरक्षोदोदौ नन्दीश्वरनन्दीश्वरोदौ अरुणारुणोदौ अरुणवरारुणवरोदौ अरुणवरावभासारुणवरावभासोदौ कुण्डलकुण्डलोदौ कुण्डलवरकुण्डलवरोदौ कुण्डलवरावभासकुण्डलवरावभासोदौ रुचकरुचकोदौ रुचकवररुचकवरोदौ रुचकवरावभासरुचकवरावभासोदौ इत्याद्यसङ्ख्यातानि,यतोऽसङ्ख्याता द्वीपसमुद्रा इति ॥नवमशते द्वितीयः॥

द्वितीये द्वीपवक्तव्योक्ता, तृतीयेऽपि असौ वाच्येति, तत्रेदमादिसूत्रम्—'रायगिहे' इत्यादि (सू० ३६३) 'दाहिणिल्लाणं'ति उत्तरान्तरद्वीपव्यवच्छेदार्थं,'एवं जहा जीवाभिगमे' सए दस किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण वण-संडेण सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते' इत्यादि, इह वेदिकावनखंडकल्पवृक्षयुगलनरनारीवर्णकोऽभिधीयते, तथा तत्र मनुष्याश्चतुर्थभक्ताहाराः, ते च पृथ्वीरसपुष्पफलाहाराः, तत्पृथ्वी रसतः खण्डशर्करादितुल्या,ते च मनुजा वृक्षगृहाः, तत्र गृहाद्यभावः, तन्मनुजस्थितिः पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाणा, षण्मासावशेषायुषश्चैते मिथुनकानि प्रसुवते, ८१ दिनानि ते अपत्यानि पालयन्ति, उच्छ्वसितादिना ते मृत्वा देवेषूत्पद्यंते इत्यादयोऽर्थाश्च वाच्याः, वाचनान्तरे त्वेवं 'जहा जीवाभिगमे उत्तरकुरुवत्तव्वयाए णेयव्वो, णाणत्तं अट्ठधणुसया उस्सेहो, चउसट्ठी पिट्ठकरंडया, अणुसज्जणा नत्थि'त्ति, तत्रायमर्थः–उत्तरकुरुनराणां ३ गव्यूतान्युत्सेहः, इह त्वष्टौ धनुःशतानि, तथा तेषु नराणां २५६ पृष्ठकरण्डकानि इह तु ६४, तथा उत्तराए णं भंते ! कुराए कइविहा मणुस्सा अणुसज्जंति ?, गोयमा ! छव्विहा मणुस्सा अणुसज्जंति, तंजहा–पम्हगंधा मियगंधा अममा तेयली सहा सणिंचरा इत्येवं तत्र मनुष्या-

९ शतके ३ उद्देशः

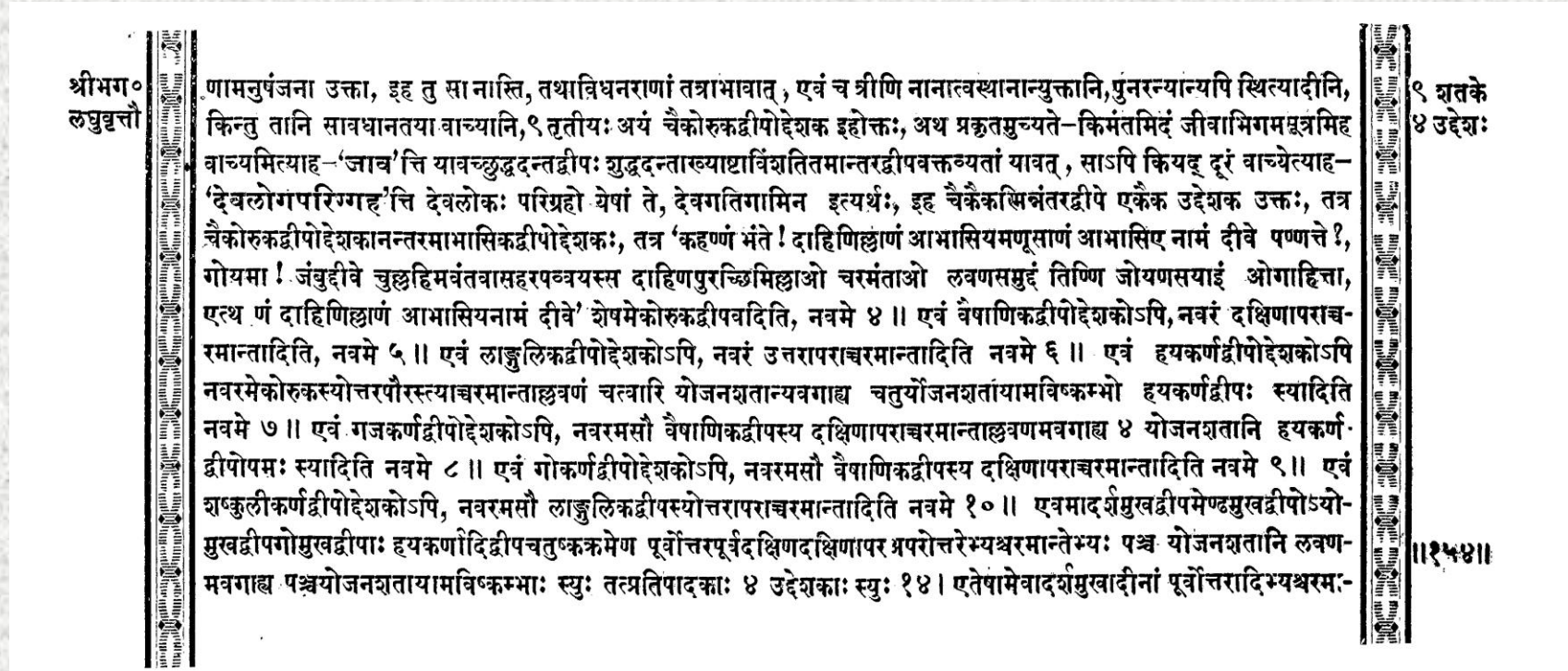

श्रीभग० लघुवृत्तौ

णामनुषंजना उक्ता, इह तु सा नास्ति, तथाविधनराणां तत्राभावात्, एवं च त्रीणि नानात्वस्थानान्युक्तानि, पुनरन्यान्यपि स्थित्यादीनि, किन्तु तानि सावधानतया वाच्यानि, ९ तृतीयः अयं चैकोरुकद्वीपोद्देशक इहोक्तः, अथ प्रकृतमुच्यते–किमंतमिदं जीवाभिगमसूत्रमिह वाच्यमित्याह–‘जाव’त्ति यावच्छुद्धदन्तद्वीपः शुद्धदन्ताख्याष्टाविंशतितमान्तरद्वीपवक्तव्यतां यावत्, साऽपि कियद् दूरं वाच्येत्याह–‘देवलोगपरिग्गह’त्ति देवलोकः परिग्रहो येषां ते, देवगतिगामिन इत्यर्थः, इह चैकैकस्मिन्नंतरद्वीपे एकैक उद्देशक उक्तः, तत्र चैकोरुकद्वीपोद्देशकानन्तरमाभासिकद्वीपोद्देशकः, तत्र ‘कहण्णं भंते! दाहिणिल्लाणं आभासियमणूसाणं आभासिए नामं दीवे पण्णत्ते?, गोयमा! जंबुद्दीवे चुल्लहिमवंतवासहरपव्वयस्स दाहिणपुरच्छिमिल्लाओ चरमंताओ लवणसमुद्दं तिण्णि जोयणसयाइं ओगाहित्ता, एत्थ णं दाहिणिल्लाणं आभासियनामं दीवे’ शेषमेकोरुकद्वीपवदिति, नवमे ४॥ एवं वैषाणिकद्वीपोद्देशकोऽपि, नवरं दक्षिणापराच्चरमान्तादिति, नवमे ५॥ एवं लाङ्गुलिकद्वीपोद्देशकोऽपि, नवरं उत्तरापराच्चरमान्तादिति नवमे ६॥ एवं हयकर्णद्वीपोद्देशकोऽपि नवरमेकोरुकस्योत्तरपौरस्त्याच्चरमान्ताल्लवणं चत्वारि योजनशतान्यवगाह्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भो हयकर्णद्वीपः स्यादिति नवमे ७॥ एवं गजकर्णद्वीपोद्देशकोऽपि, नवरमसौ वैषाणिकद्वीपस्य दक्षिणापराच्चरमान्ताल्लवणमवगाह्य ४ योजनशतानि हयकर्णद्वीपोपमः स्यादिति नवमे ८॥ एवं गोकर्णद्वीपोद्देशकोऽपि, नवरमसौ वैषाणिकद्वीपस्य दक्षिणापराच्चरमान्तादिति नवमे ९॥ एवं शष्कुलीकर्णद्वीपोद्देशकोऽपि, नवरमसौ लाङ्गुलिकद्वीपस्योत्तरापराच्चरमान्तादिति नवमे १०॥ एवमादर्शमुखद्वीपमेण्ढमुखद्वीपोऽयोमुखद्वीपगोमुखद्वीपाः हयकर्णोदिद्वीपचतुष्कक्रमेण पूर्वोत्तरपूर्वदक्षिणदक्षिणापरापरोत्तरेभ्यश्चरमान्तेभ्यः पञ्च योजनशतानि लवणमवगाह्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भाः स्युः तत्प्रतिपादकाः ४ उद्देशकाः स्युः १४। एतेषामेवादर्शमुखादीनां पूर्वोत्तरादिभ्यश्चरमः-

९ शतके ४ उद्देशः

॥१५४॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक ९, उद्देशका: चतुर्थात् त्रिंशत् पर्यन्ता: वर्तन्ते | मूल संपादने यत् उद्देशक: ४ मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

प्रत सूत्रांक [३६०-३९२] + गाथा

दीप अनुक्रम [३६२-४७३]

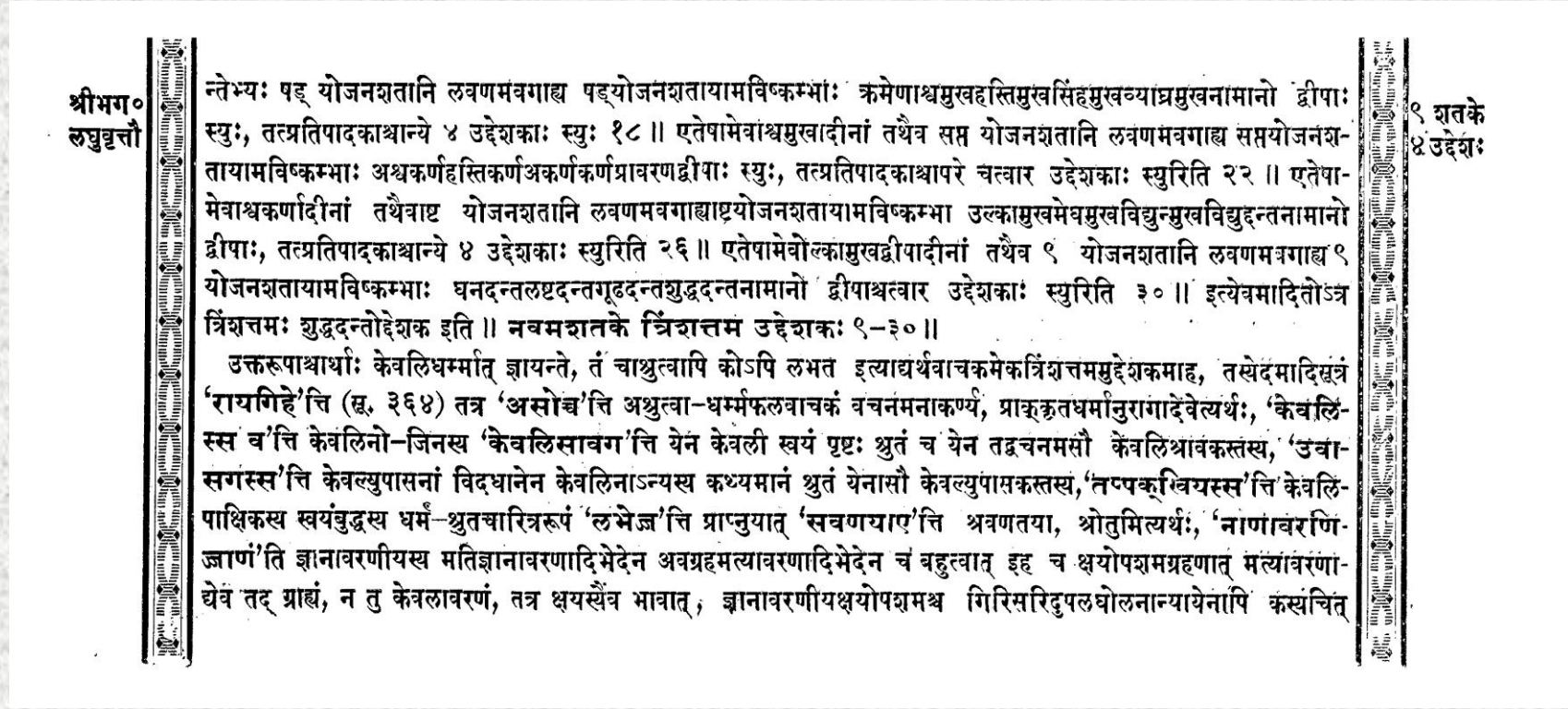

श्रीभग० लघुवृत्तौ

न्तेभ्यः षड् योजनशतानि लवणमवगाह्य षड्योजनशतायामविष्कम्भाः क्रमेणाश्वमुखहस्तिमुखसिंहमुखव्याघ्रमुखनामानो द्वीपाः स्युः, तत्प्रतिपादकाश्चान्ये ४ उद्देशकाः स्युः १८ ॥ एतेषामेवाश्वमुखादीनां तथैव सप्त योजनशतानि लवणमवगाह्य सप्तयोजनशतायामविष्कम्भाः अश्वकर्णहस्तिकर्णअकर्णकर्णप्रावरणद्वीपाः स्युः, तत्प्रतिपादकाश्चापरे चत्वार उद्देशकाः स्युरिति २२ ॥ एतेषामेवाश्वकर्णादीनां तथैवाष्ट योजनशतानि लवणमवगाह्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा उल्कामुखमेघमुखविद्युन्मुखविद्युद्दन्तनामानो द्वीपाः, तत्प्रतिपादकाश्चान्ये ४ उद्देशकाः स्युरिति २६ ॥ एतेषामेवोल्कामुखद्वीपादीनां तथैव ९ योजनशतानि लवणमवगाह्य ९ योजनशतायामविष्कम्भाः घनदन्तलष्टदन्तगूढदन्तशुद्धदन्तनामानो द्वीपाश्चत्वार उद्देशकाः स्युरिति ३० ॥ इत्येवमादितोऽत्र त्रिंशत्तमः शुद्धदन्तोद्देशक इति ॥ **नवमशतके त्रिंशत्तम उद्देशकः ९-३० ॥**

उक्तरूपाश्चार्थाः केवलिधर्म्मात् ज्ञायन्ते, तं चाश्रुत्वापि कोऽपि लभत इत्याद्यर्थवाचकमेकत्रिंशत्तममुद्देशकमाह, तस्येदमादिसूत्रं **‘रायगिहे’**त्ति (सू. ३६४) तत्र **‘असोच्च’**त्ति अश्रुत्वा-धर्म्मफलवाचकं वचनमनाकर्ण्य, प्राक्कृतधर्मानुरागादेवेत्यर्थः, **‘केवलिस्स व’**त्ति केवलिनो-जिनस्य **‘केवलिसावग’**त्ति येन केवली स्वयं पृष्टः श्रुतं च येन तद्वचनमसौ केवलिश्रावकस्तस्य, **‘उवासगस्स’**त्ति केवल्युपासनां विदधानेन केवलिनाऽन्यस्य कथ्यमानं श्रुतं येनासौ केवल्युपासकस्तस्य, **‘तप्पक्खियस्स’**त्ति केवलिपाक्षिकस्य स्वयंबुद्धस्य धर्मं-श्रुतचारित्ररूपं **‘लभेज्ज’**त्ति प्राप्नुयात् **‘सवणयाए’**त्ति श्रवणतया, श्रोतुमित्यर्थः, **‘नाणावरणिज्जाणं’**ति ज्ञानावरणीयस्य मतिज्ञानावरणादिभेदेन अवग्रहमत्यावरणादिभेदेन च बहुत्वात् इह च क्षयोपशमग्रहणात् मत्यावरणाद्येव तद् ग्राह्यं, न तु केवलावरणं, तत्र क्षयस्यैव भावात्, ज्ञानावरणीयक्षयोपशमश्च गिरिसरिदुपलघोलनान्यायेनापि कस्यचित्

९ शतके ४ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक ९, उद्देशक: ३१ वर्तते | मूल संपादने यत् उद्देशक: ४ मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

प्रत सूत्रांक [३६०-३९२] + गाथा

दीप अनुक्रम [३६२-४७३]

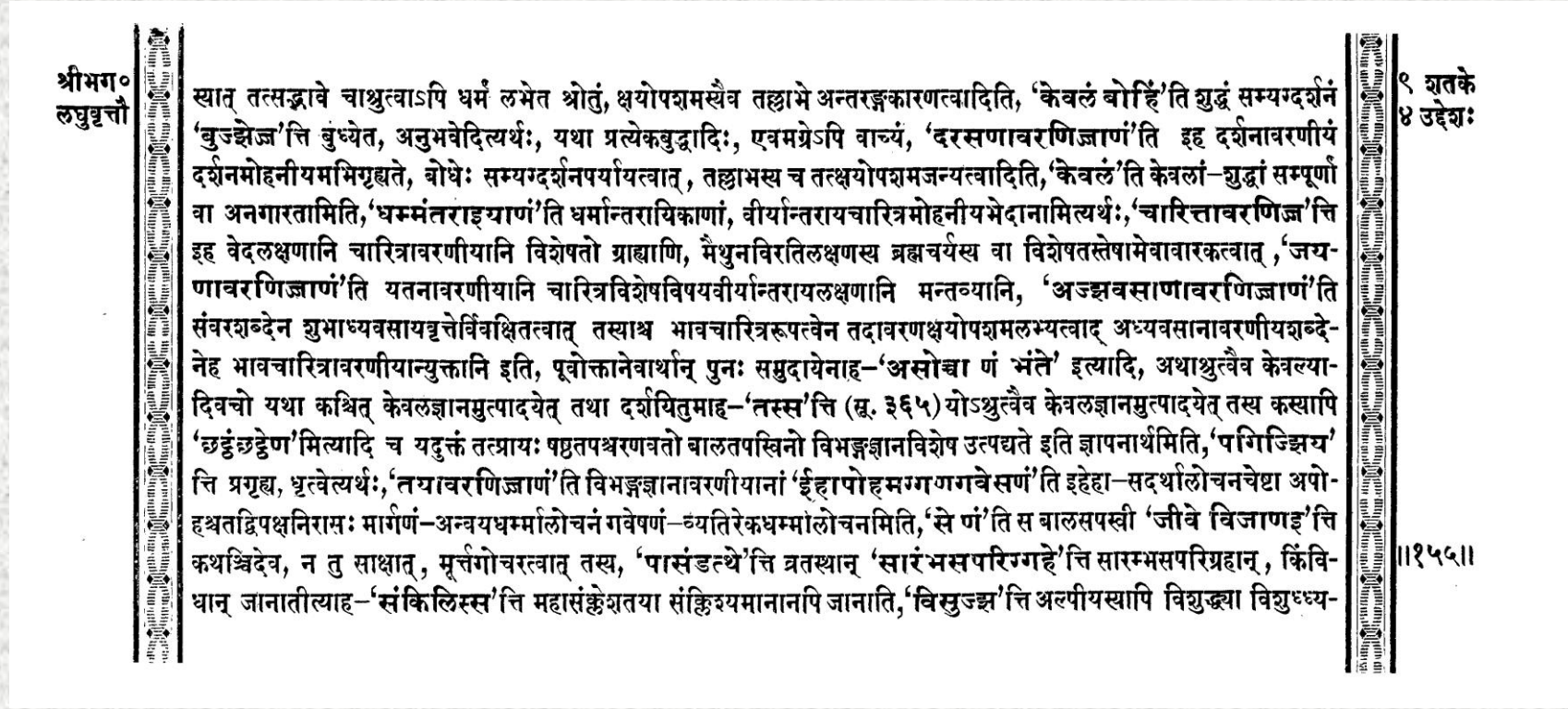

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्यात् तत्सद्भावे चाश्रुत्वाऽपि धर्मं लभेत श्रोतुं, क्षयोपशमस्यैव तल्लाभे अन्तरङ्गकारणत्वादिति, 'केवलं बोहिं'ति शुद्धं सम्यग्दर्शनं 'बुज्झेज्ज'त्ति बुध्येत, अनुभवेदित्यर्थः, यथा प्रत्येकबुद्धादिः, एवमग्रेऽपि वाच्यं, 'दरसणावरणिज्जाणं'ति इह दर्शनावरणीयं दर्शनमोहनीयमभिगृह्यते, बोधेः सम्यग्दर्शनपर्यायत्वात्, तल्लाभस्य च तत्क्षयोपशमजन्यत्वादिति, 'केवलं'ति केवलां–शुद्धां सम्पूर्णां वा अनगारतामिति, 'धम्मंतराइयाणं'ति धर्मान्तरायिकाणां, वीर्यान्तरायचारित्रमोहनीयभेदानामित्यर्थः, 'चारित्तावरणिज्ज'त्ति इह वेदलक्षणानि चारित्रावरणीयानि विशेषतो ग्राह्याणि, मैथुनविरतिलक्षणस्य ब्रह्मचर्यस्य वा विशेषतस्तेषामेवावारकत्वात्, 'जयणावरणिज्जाणं'ति यतनावरणीयानि चारित्रविशेषविषयवीर्यान्तरायलक्षणानि मन्तव्यानि, 'अज्झवसाणावरणिज्जाणं'ति संवरशब्देन शुभाध्यवसायवृत्तेर्विवक्षितत्वात् तस्याश्च भावचारित्ररूपत्वेन तदावरणक्षयोपशमलभ्यत्वाद् अध्यवसानावरणीयशब्देनेह भावचारित्रावरणीयान्युक्तानि इति, पूर्वोक्तानेवार्थान् पुनः समुदायेनाह–'असोच्चा णं भंते' इत्यादि, अथाश्रुत्वैव केवल्यादिवचो यथा कश्चित् केवलज्ञानमुत्पादयेत् तथा दर्शयितुमाह–'तस्स'त्ति (सू. ३६५) योऽश्रुत्वैव केवलज्ञानमुत्पादयेत् तस्य कस्यापि 'छट्ठंछट्ठेण'मित्यादि च यदुक्तं तत्प्रायः षष्ठतपश्चरणवतो बालतपस्विनो विभङ्गज्ञानविशेष उत्पद्यते इति ज्ञापनार्थमिति, 'पगिज्झिय'त्ति प्रगृह्य, धृत्वेत्यर्थः, 'तयावरणिज्जाणं'ति विभङ्गज्ञानावरणीयानां 'ईहापोहमग्गणगवेसणं'ति इहेहा–सदर्थालोचनचेष्टा अपोहश्चतद्विपक्षनिरासः मार्गणं–अन्वयधर्म्मालोचनं गवेषणं–व्यतिरेकधर्म्मालोचनमिति, 'से णं'ति स बालतपस्वी 'जीवे विजाणइ'त्ति कथञ्चिदेव, न तु साक्षात्, मूर्त्तगोचरत्वात् तस्य, 'पासंडत्थे'त्ति व्रतस्थान् 'सारंभसपरिग्गहे'त्ति सारम्भसपरिग्रहान्, किंविधान् जानातीत्याह–'संकिलिस्स'त्ति महासंक्लेशतया संक्लिश्यमानानपि जानाति, 'विसुज्झ'त्ति अल्पीयस्यापि विशुद्ध्या विशुध्य-

९ शतके ४ उद्देशः

॥१५५॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक ९, उद्देशका: चतुर्थात् त्रिंशत् पर्यन्ता: वर्तन्ते | मूल संपादने यत् उद्देशक: ४ मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

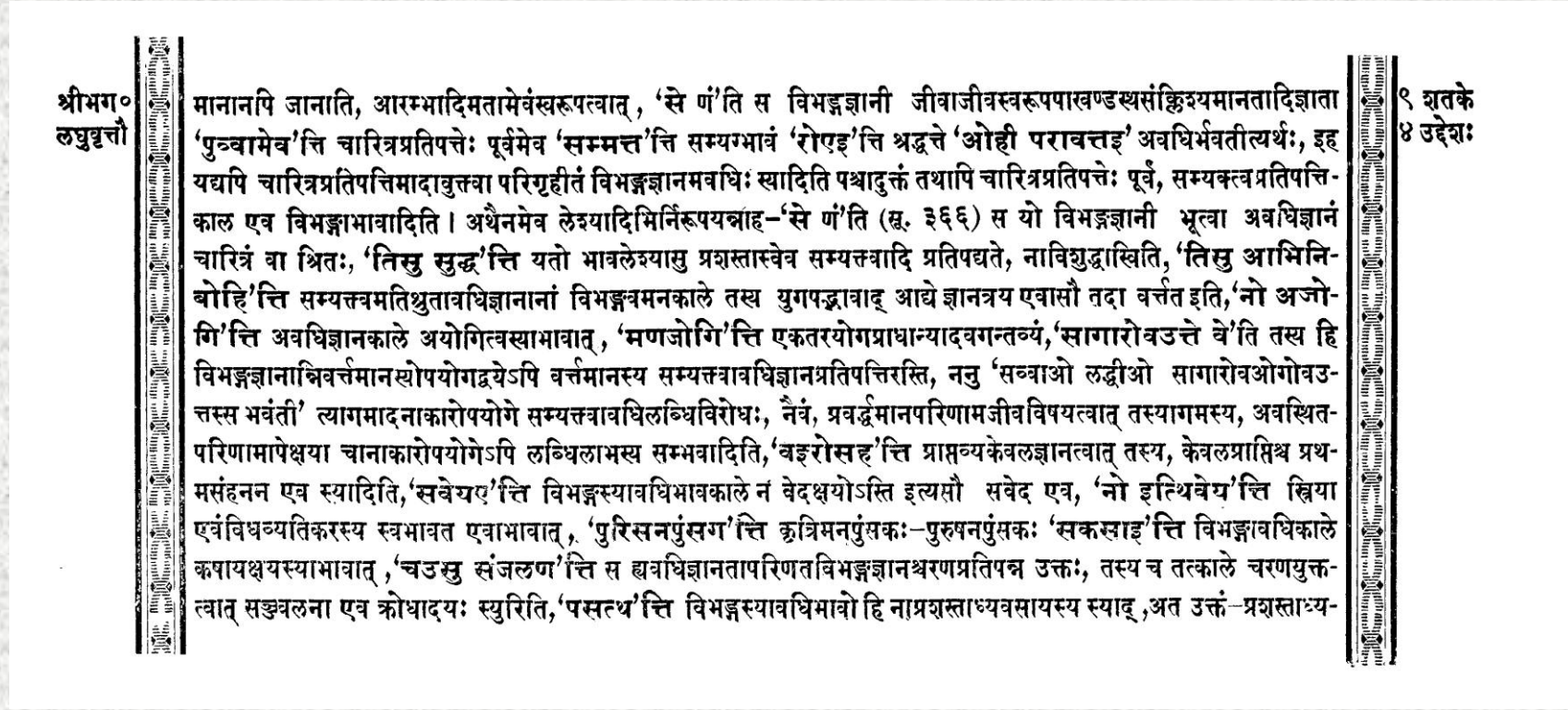

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मानानपि जानाति, आरम्भादिमतामेवंस्वरूपत्वात्, 'से णं'ति स विभङ्गज्ञानी जीवाजीवस्वरूपपाखण्डस्थसंक्लिश्यमानतादिज्ञाता 'पुव्वामेव'त्ति चारित्रप्रतिपत्तेः पूर्वमेव 'सम्मत्त'त्ति सम्यग्भावं 'रोएइ'त्ति श्रद्धत्ते 'ओही परावत्तइ' अवधिर्भवतीत्यर्थः, इह यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तिमादावुक्त्वा परिगृहीतं विभङ्गज्ञानमवधिः स्यादिति पश्चादुक्तं तथापि चारित्रप्रतिपत्तेः पूर्वं, सम्यक्त्वप्रतिपत्तिकाल एव विभङ्गाभावादिति। अथैनमेव लेश्यादिभिर्निरूपयन्नाह–'से णं'ति (सू. ३६६) स यो विभङ्गज्ञानी भूत्वा अवधिज्ञानं चारित्रं वा श्रितः, 'तिसु सुद्ध'त्ति यतो भावलेश्यासु प्रशस्तास्वेव सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, नाविशुद्धासिति, 'तिसु आभिनिबोहि'त्ति सम्यक्त्वमतिश्रुतावधिज्ञानानां विभङ्गत्वमनकाले तस्य युगपद्भावाद् आद्ये ज्ञानत्रय एवासौ तदा वर्त्तत इति, 'नो अजोगि'त्ति अवधिज्ञानकाले अयोगित्वस्याभावात्, 'मणजोगि'त्ति एकतरयोगप्राधान्यादवगन्तव्यं, 'सागारोवउत्ते वे'ति तस्य हि विभङ्गज्ञानान्निवर्त्तमानस्योपयोगद्वयेऽपि वर्त्तमानस्य सम्यक्त्वावधिज्ञानप्रतिपत्तिरस्ति, ननु 'सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स भवंती' त्यागमादनाकारोपयोगे सम्यक्त्वावधिलब्धिविरोधः, नैवं, प्रवर्द्धमानपरिणामजीवविषयत्वात् तस्यागमस्य, अवस्थितपरिणामापेक्षया चानाकारोपयोगेऽपि लब्धिलाभस्य सम्भवादिति, 'वइरोसह'त्ति प्राप्तव्यकेवलज्ञानत्वात् तस्य, केवलप्राप्तिश्च प्रथमसंहनन एव स्यादिति, 'सवेयए'त्ति विभङ्गस्यावधिभावकाले न वेदक्षयोऽस्ति इत्यसौ सवेद एव, 'नो इत्थिवेय'त्ति स्त्रिया एवंविधव्यतिकरस्य स्वभावत एवाभावात्, 'पुरिसनपुंसग'त्ति कृत्रिमनपुंसकः–पुरुषनपुंसकः 'सकसाइ'त्ति विभङ्गावधिकाले कषायक्षयस्याभावात्, 'चउसु संजलण'त्ति स ह्यवधिज्ञानतापरिणतविभङ्गज्ञानश्चरणप्रतिपन्न उक्तः, तस्य च तत्काले चरणयुक्तत्वात् सञ्ज्वलना एव क्रोधादयः स्युरिति, 'पसत्थ'त्ति विभङ्गस्यावधिभावो हि नाप्रशस्ताध्यवसायस्य स्याद्, अत उक्तं–प्रशस्ताध्य-

९ शतके ४ उद्देशः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक ९, उद्देशक: ३१ वर्तते | मूल संपादने यत् उद्देशक: ४ मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

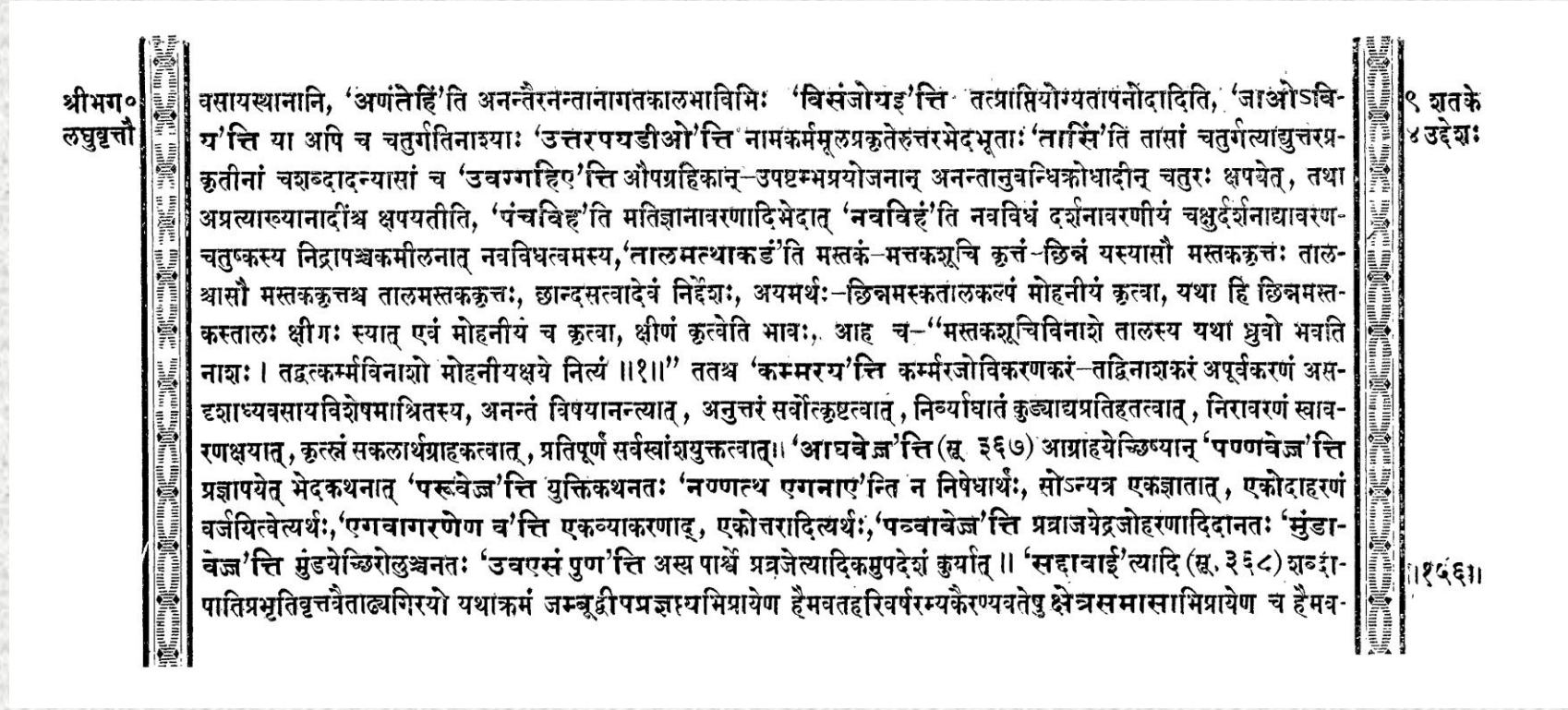

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वसायस्थानानि, ‘अणंतेहिं’ति अनन्तैरनन्तानागतकालभावि भिः ‘विसंजोयइ’त्ति तत्प्राप्तियोग्यतापनोदादिति, ‘जाओऽवि-य’त्ति या अपि च चतुर्गतिनाश्याः ‘उत्तरपयडीओ’त्ति नामकर्ममूलप्रकृतेरुत्तरभेदभूताः ‘तासिं’ति तासां चतुर्गत्याद्युत्तरप्र-कृतीनां चशब्दादन्यासां च ‘उवग्गहिए’त्ति औपग्रहिकान्–उपष्टम्भप्रयोजनान् अनन्तानुबन्धिक्रोधादीन् चतुरः क्षपयेत्, तथा अप्रत्याख्यानादींश्च क्षपयतीति, ‘पंचविहं’ति मतिज्ञानावरणादिभेदात् ‘नवविहं’ति नवविधं दर्शनावरणीयं चक्षुर्दर्शनाद्यावरण-चतुष्कस्य निद्रापञ्चकमीलनात् नवविधत्वमस्य,‘तालमत्थाकडं’ति मस्तकं–मत्तकशूचि कृत्तं–छिन्नं यस्यासौ मस्तककृत्तः ताल-श्चासौ मस्तककृत्तश्च तालमस्तककृत्तः, छान्दसत्वादेवं निर्देशः, अयमर्थः–छिन्नमस्कतालकल्पं मोहनीयं कृत्वा, यथा हि छिन्नमस्त-कस्तालः क्षीणः स्यात् एवं मोहनीयं च कृत्वा, क्षीणं कृत्वेति भावः, आह च–“मस्तकशूचिविनाशे तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः। तद्वत्कर्म्मविनाशो मोहनीयक्षये नित्यं ॥१॥” ततश्च ‘कम्मरय’त्ति कर्म्मरजोविकरणकरं–तद्विनाशकरं अपूर्वकरणं अस-दृशाध्यवसायविशेषमाश्रितस्य, अनन्तं विषयानन्त्यात्, अनुत्तरं सर्वोत्कृष्टत्वात्, निर्व्याघातं कुड्याद्यप्रतिहतत्वात्, निरावरणं स्याव-रणक्षयात्, कृत्स्नं सकलार्थग्राहकत्वात्, प्रतिपूर्णं सर्वस्वांशयुक्तत्वात्॥ ‘आघवेज्ज’त्ति (सू. ३६७) आग्राहयेच्छिष्यान् ‘पण्णवेज्ज’त्ति प्रज्ञापयेत् भेदकथनात् ‘परूवेज्ज’त्ति युक्तिकथनतः ‘नण्णत्थ एगनाए’न्ति न निषेधार्थः, सोऽन्यत्र एकज्ञातात्, एकोदाहरणं वर्जयित्वेत्यर्थः,‘एगवागरणेण व’त्ति एकव्याकरणाद्, एकोत्तरादित्यर्थः,‘पव्वावेज्ज’त्ति प्रव्राजयेद्प्रजोहरणादिदानतः ‘मुंडा-वेज्ज’त्ति मुंडयेच्छिरोलुञ्चनतः ‘उवएसं पुण’त्ति अस्य पार्श्वे प्रव्रजेत्यादिकमुपदेशं कुर्यात्॥ ‘सद्दावई’त्यादि (सू. ३६८) शब्दा-पातिप्रभृतिवृत्तवैताढ्यगिरयो यथाक्रमं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यभिप्रायेण हैमवतहरिवर्षरम्यकैरण्यवतेषु क्षेत्रसमासाभिप्रायेण च हैमव-

९ शतके ४ उद्देशः

॥१५६॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक ९, उद्देशक: ३१ वर्तते | मूल संपादने यत् उद्देशक: ४ मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

प्रत सूत्रांक [३६०-३९२] + गाथा

दीप अनुक्रम [३६२-४७३]

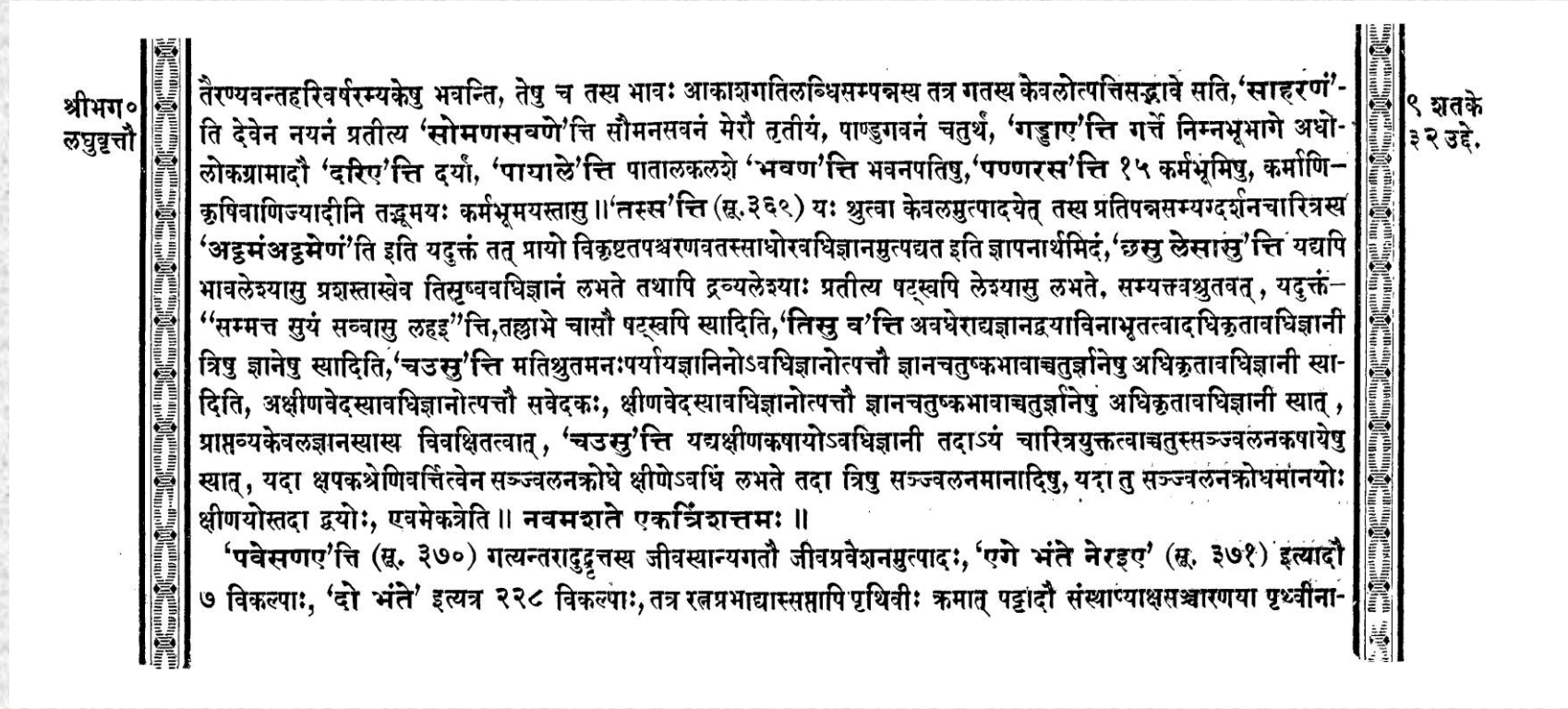

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तैरण्यवन्तहरिवर्षरम्यकेषु भवन्ति, तेषु च तस्य भावः आकाशगतिलब्धिसम्पन्नस्य तत्र गतस्य केवलोत्पत्तिसद्भावे सति, 'साहरणं'-ति देवेन नयनं प्रतीत्य 'सोमणसवणे'त्ति सौमनसवनं मेरौ तृतीयं, पाण्डुगवनं चतुर्थं, 'गड्डाए'त्ति गर्त्ते निम्नभूभागे अधो-लोकग्रामादौ 'दरिए'त्ति दर्यां, 'पायाले'त्ति पातालकलशे 'भवण'त्ति भवनपतिषु, 'पण्णरस'त्ति १५ कर्मभूमिषु, कर्माणि-कृषिवाणिज्यादीनि तद्भूमयः कर्मभूमयस्तासु ॥'तस्स'त्ति (सू.३६९) यः श्रुत्वा केवलमुत्पादयेत् तस्य प्रतिपन्नसम्यग्दर्शनचारित्रस्य 'अट्ठमंअट्ठमेणं'ति इति यदुक्तं तत् प्रायो विकृष्टतपश्चरणवतस्साधोरवधिज्ञानमुत्पद्यत इति ज्ञापनार्थमिदं, 'छसु लेसासु'त्ति यद्यपि भावलेश्यासु प्रशस्ताखेव तिसृष्ववधिज्ञानं लभते तथापि द्रव्यलेश्याः प्रतीत्य षट्स्वपि लेश्यासु लभते, सम्यक्त्वश्रुतवत्, यदुक्तं-"सम्मत्त सुयं सव्वासु लहइ"त्ति,तल्लाभे चासौ षट्स्वपि स्यादिति,'तिसु व'त्ति अवधेराद्यज्ञानद्वयाविनाभूतत्वादधिकृतावधिज्ञानी त्रिषु ज्ञानेषु स्यादिति,'चउसु'त्ति मतिश्रुतमनःपर्यायज्ञानिनोऽवधिज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानचतुष्कभावाच्चतुर्ज्ञानेषु अधिकृतावधिज्ञानी स्या-दिति, अक्षीणवेदस्यावधिज्ञानोत्पत्तौ सवेदकः, क्षीणवेदस्यावधिज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानचतुष्कभावाच्चतुर्ज्ञानेषु अधिकृतावधिज्ञानी स्यात्, प्राप्तव्यकेवलज्ञानस्यास्य विवक्षितत्वात्, 'चउसु'त्ति यद्यक्षीणकषायोऽवधिज्ञानी तदाऽयं चारित्रयुक्तत्वाच्चतुस्सञ्ज्वलनकषायेषु स्यात्, यदा क्षपकश्रेणिवर्त्तित्वेन सञ्ज्वलनक्रोधे क्षीणेऽवधिं लभते तदा त्रिषु सञ्ज्वलनमानादिषु, यदा तु सञ्ज्वलनक्रोधमानयोः क्षीणयोस्तदा द्वयोः, एवमेकत्रेति ॥ **नवमशते एकत्रिंशत्तमः ॥**

'पवेसणए'त्ति (सू. ३७०) गत्यन्तरादुद्वृत्तस्य जीवस्यान्यगतौ जीवप्रवेशनमुत्पादः, 'एगे भंते नेरइए' (सू. ३७१) इत्यादौ ७ विकल्पाः, 'दो भंते' इत्यत्र २२८ विकल्पाः, तत्र रत्नप्रभाद्यास्सप्तापि पृथिवीः क्रमात् षट्टादौ संख्याप्याक्षसञ्चारणया पृथ्वीना-

९ शतके ३२ उद्दे.

*** अत्र शतक ९, उद्देशकः ३१ वर्तते | मूल संपादने यत् उद्देशकः ४ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः ज्ञातव्यः

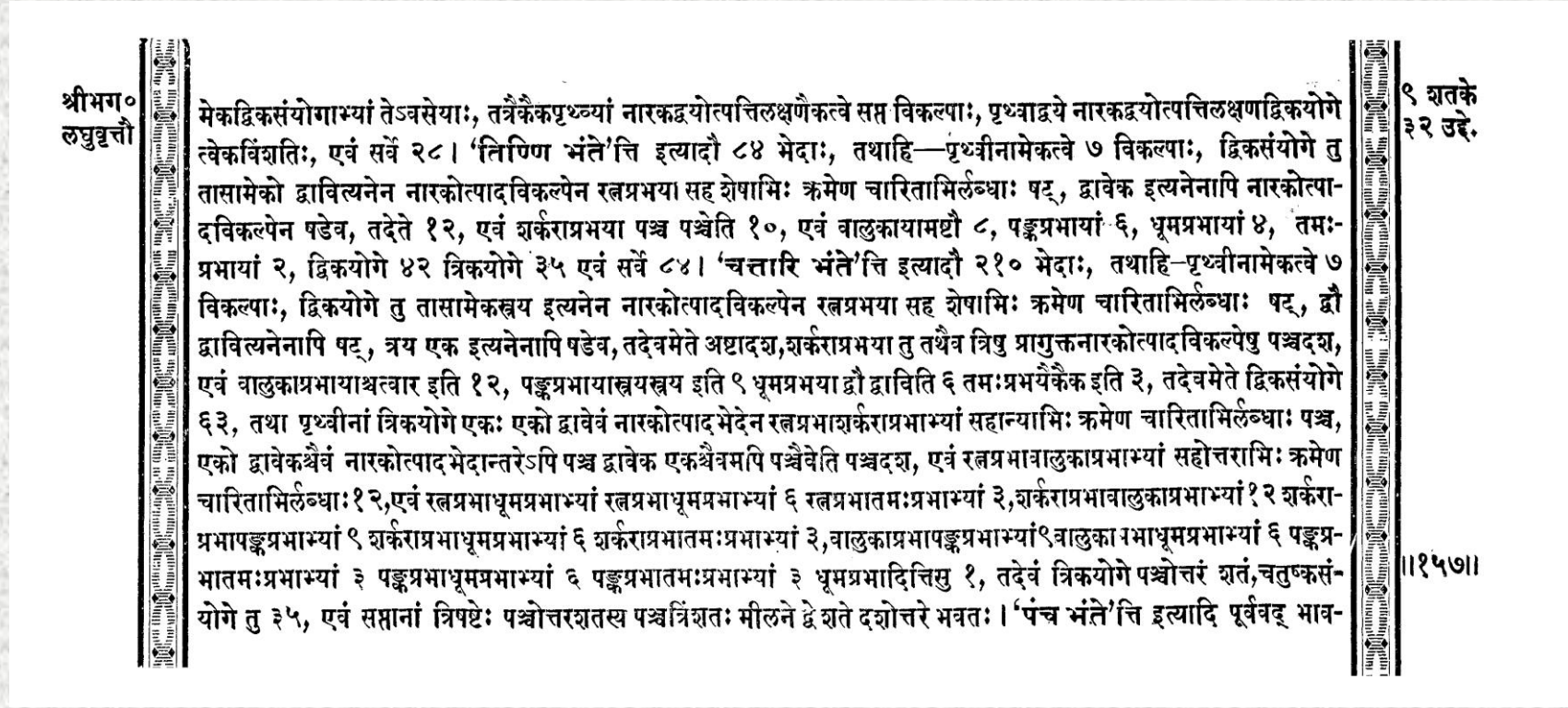

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मेकद्विकसंयोगाभ्यां तेऽवसेयाः, तत्रैकैकपृथ्व्यां नारकद्वयोत्पत्तिलक्षणैकत्वे सप्त विकल्पाः, पृथ्वाद्वये नारकद्वयोत्पत्तिलक्षणद्विकयोगे त्वेकविंशतिः, एवं सर्वे २८। 'तिण्णि भंते'त्ति इत्यादौ ८४ भेदाः, तथाहि—पृथ्वीनामेकत्वे ७ विकल्पाः, द्विकसंयोगे तु तासामेको द्वावित्यनेन नारकोत्पादविकल्पेन रत्नप्रभया सह शेषाभिः क्रमेण चारिताभिर्लब्धाः षट्, द्वावेक इत्यनेनापि नारकोत्पादविकल्पेन षडेव, तदेते १२, एवं शर्कराप्रभया पञ्च पञ्चेति १०, एवं वालुकायामष्टौ ८, पङ्कप्रभायां ६, धूमप्रभायां ४, तमःप्रभायां २, द्विकयोगे ४२ त्रिकयोगे ३५ एवं सर्वे ८४। 'चत्तारि भंते'त्ति इत्यादौ २१० भेदाः, तथाहि—पृथ्वीनामेकत्वे ७ विकल्पाः, द्विकयोगे तु तासामेकस्य इत्यनेन नारकोत्पादविकल्पेन रत्नप्रभया सह शेषाभिः क्रमेण चारिताभिर्लब्धाः षट्, द्वौ द्वावित्यनेनापि षट्, त्रय एक इत्यनेनापि षडेव, तदेवमेते अष्टादश,शर्कराप्रभया तु तथैव त्रिषु प्रागुक्तनारकोत्पादविकल्पेषु पञ्चदश, एवं वालुकाप्रभायाश्चत्वार इति १२, पङ्कप्रभायास्त्रयस्त्रय इति ९ धूमप्रभया द्वौ द्वाविति ६ तमःप्रभयैकैक इति ३, तदेवमेते द्विकसंयोगे ६३, तथा पृथ्वीनां त्रिकयोगे एकः एको द्वावेवं नारकोत्पादभेदेन रत्नप्रभाशर्कराप्रभाभ्यां सहान्याभिः क्रमेण चारिताभिर्लब्धाः पञ्च, एको द्वावेकश्चैवं नारकोत्पादभेदान्तरेऽपि पञ्च द्वावेक एकश्चैवमपि पञ्चैवेति पञ्चदश, एवं रत्नप्रभावालुकाप्रभाभ्यां सहोत्तराभिः क्रमेण चारिताभिर्लब्धाः१२,एवं रत्नप्रभाधूमप्रभाभ्यां रत्नप्रभाधूमप्रभाभ्यां ६ रत्नप्रभातमःप्रभाभ्यां ३,शर्कराप्रभावालुकाप्रभाभ्यां१२ शर्कराप्रभापङ्कप्रभाभ्यां ९ शर्कराप्रभाधूमप्रभाभ्यां ६ शर्कराप्रभातमःप्रभाभ्यां ३,वालुकाप्रभापङ्कप्रभाभ्यां९वालुकाप्रभाधूमप्रभाभ्यां ६ पङ्कप्रभातमःप्रभाभ्यां ३ पङ्कप्रभाधूमप्रभाभ्यां ६ पङ्कप्रभातमःप्रभाभ्यां ३ धूमप्रभादित्तिसु १, तदेवं त्रिकयोगे पञ्चोत्तरं शतं,चतुष्कसंयोगे तु ३५, एवं सप्तानां त्रिषष्टेः पञ्चोत्तरशतस्य पञ्चत्रिंशतः मीलने द्वे शते दशोत्तरे भवतः। 'पंच भंते'त्ति इत्यादि पूर्ववद् भाव-

९ शतके ३२ उद्दे.

॥१५७॥

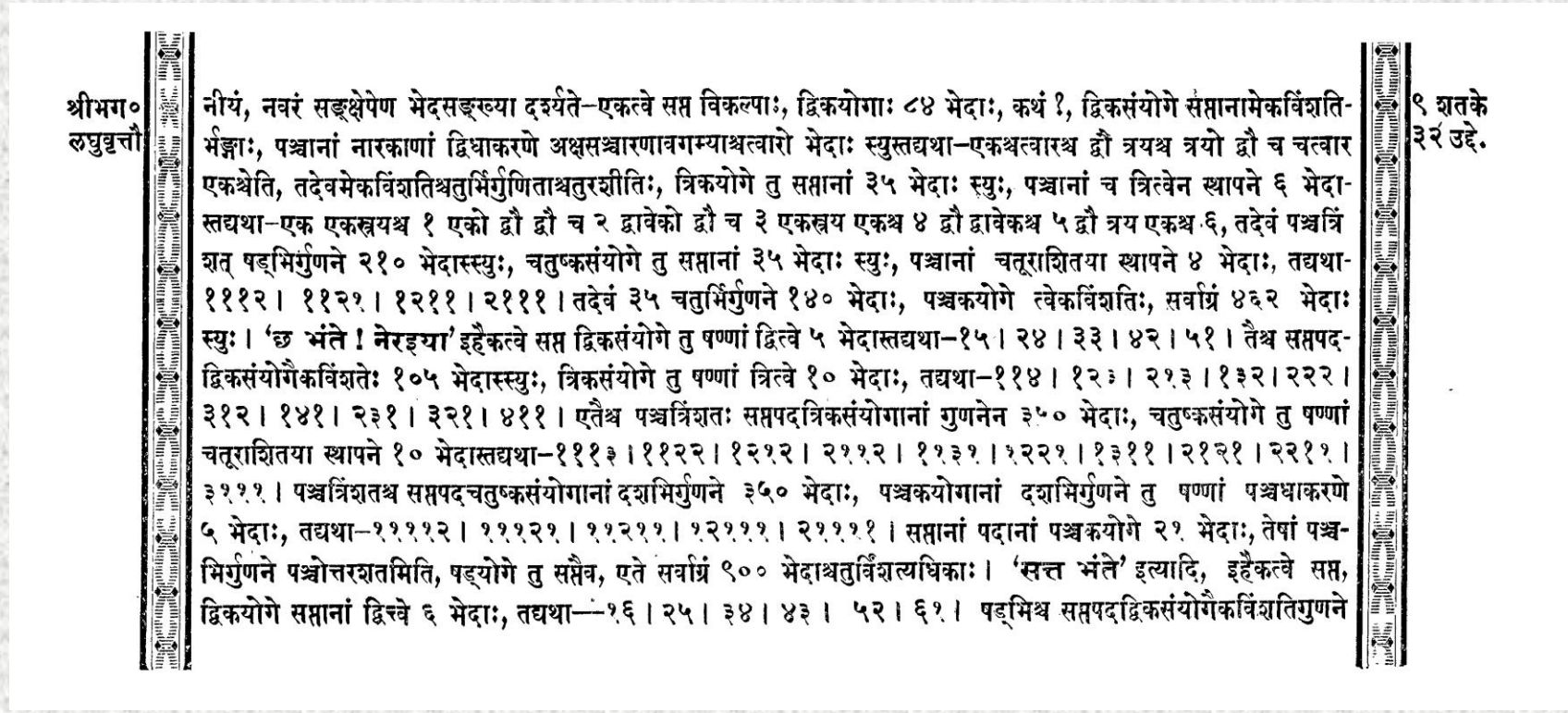

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नीयं, नवरं सङ्क्षेपेण भेदसङ्ख्या दर्श्यते–एकत्वे सप्त विकल्पाः, द्विकयोगाः ८४ भेदाः, कथं ?, द्विकसंयोगे सप्तानामेकविंशतिभङ्गाः, पञ्चानां नारकाणां द्विधाकरणे अक्षसञ्चारणावगम्याश्चत्वारो भेदाः स्युस्तद्यथा–एकश्चत्वारश्च द्वौ त्रयश्च त्रयो द्वौ च चत्वार एकश्चेति, तदेवमेकविंशतिश्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुरशीतिः, त्रिकयोगे तु सप्तानां ३५ भेदाः स्युः, पञ्चानां च त्रित्वेन स्थापने ६ भेदास्तद्यथा–एक एकस्त्रयश्च १ एको द्वौ द्वौ च २ द्वावेको द्वौ च ३ एकस्त्रय एकश्च ४ द्वौ द्वावेकश्च ५ द्वौ त्रय एकश्च ६, तदेवं पञ्चत्रिंशत् षड्भिर्गुणने २१० भेदास्स्युः, चतुष्कसंयोगे तु सप्तानां ३५ भेदाः स्युः, पञ्चानां चतूराशितया स्थापने ४ भेदाः, तद्यथा-१११२। ११२१। १२११। २१११। तदेवं ३५ चतुर्भिर्गुणने १४० भेदाः, पञ्चकयोगे त्वेकविंशतिः, सर्वाग्रं ४६२ भेदाः स्युः। ‘छ भंते ! नेरइया’ इहैकत्वे सप्त द्विकसंयोगे तु षण्णां द्वित्वे ५ भेदास्तद्यथा–१५। २४। ३३। ४२। ५१। तैश्च सप्तपदद्विकसंयोगैकविंशतेः १०५ भेदास्स्युः, त्रिकसंयोगे तु षण्णां त्रित्वे १० भेदाः, तद्यथा–११४। १२३। २१३। १३२। २२२। ३१२। १४१। २३१। ३२१। ४११। एतैश्च पञ्चत्रिंशतः सप्तपदत्रिकसंयोगानां गुणनेन ३५० भेदाः, चतुष्कसंयोगे तु षण्णां चतूराशितया स्थापने १० भेदास्तद्यथा–१११३। ११२२। १२१२। २११२। ११३१। १२२१। १३११। २१३१। २२११। ३१११। पञ्चत्रिंशतश्च सप्तपदचतुष्कसंयोगानां दशभिर्गुणने ३५० भेदाः, पञ्चकयोगानां दशभिर्गुणने तु षण्णां पञ्चधाकरणे ५ भेदाः, तद्यथा–११११२। ११११३। ११२११। १२१११। २१११। सप्तानां पदानां पञ्चकयोगे २१ भेदाः, तेषां पञ्चभिर्गुणने पञ्चोत्तरशतमिति, षड्योगे तु सप्तैव, एते सर्वाग्रं ९०० भेदाश्चतुर्विंशत्यधिकाः। ‘सत्त भंते’ इत्यादि, इहैकत्वे सप्त, द्विकयोगे सप्तानां द्वित्वे ६ भेदाः, तद्यथा—१६। २५। ३४। ४३। ५२। ६१। षड्भिश्च सप्तपदद्विकसंयोगैकविंशतिगुणने

९ शतके ३२ उद्दे.

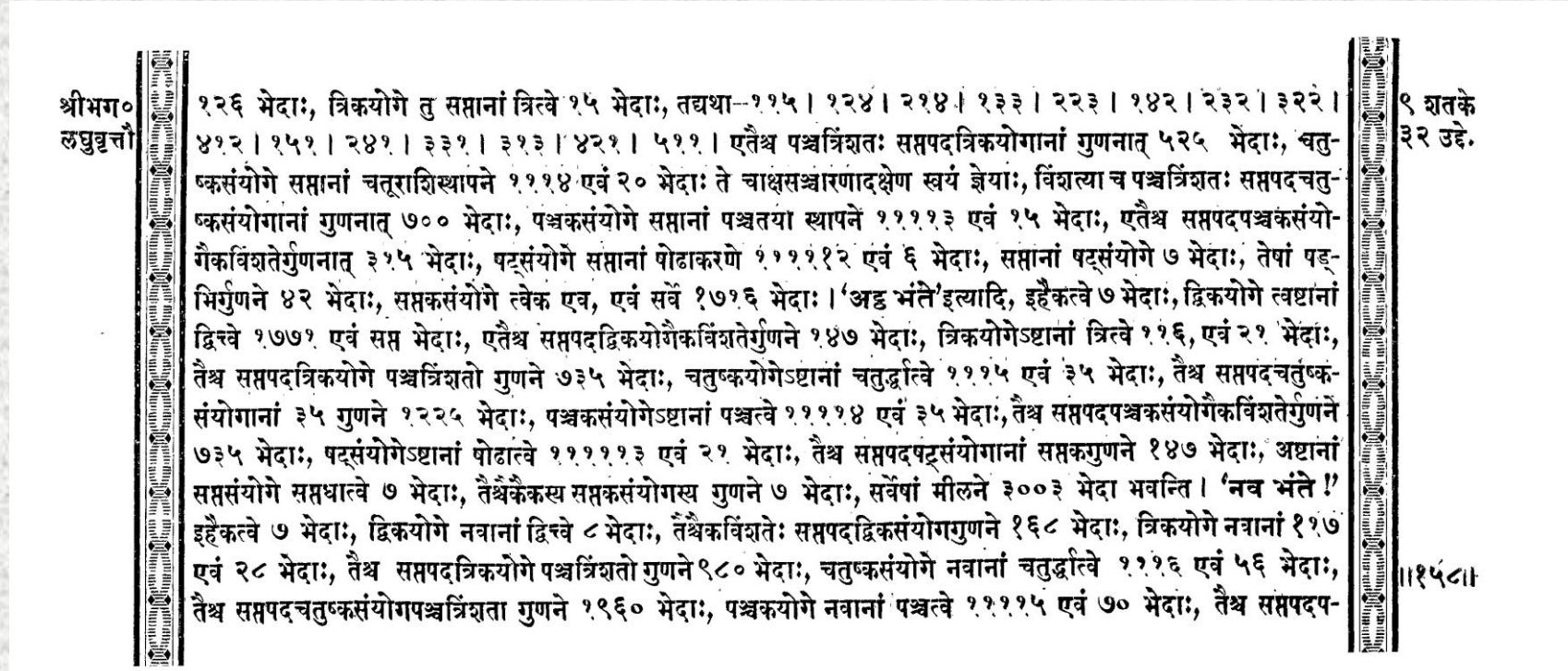

श्रीभग० लघुवृत्तौ

१२६ भेदाः, त्रिकयोगे तु सप्तानां त्रित्वे १५ भेदाः, तद्यथा--११५। १२४। २१४। १३३। २२३। १४२। २३२। ३२२। ४१२। १५१। २४१। ३३१। ३१३। ४२१। ५११। एतैश्च पञ्चत्रिंशतः सप्तपदत्रिकयोगानां गुणनात् ५२५ भेदाः, चतुष्कसंयोगे सप्तानां चतूराशिस्थापने ११।१४ एवं २० भेदाः ते चाक्षसञ्चारणादक्षेण स्वयं ज्ञेयाः, विंशत्या च पञ्चत्रिंशतः सप्तपदचतुष्कसंयोगानां गुणनात् ७०० भेदाः, पञ्चकसंयोगे सप्तानां पञ्चतया स्थापने ११।१।१३ एवं १५ भेदाः, एतैश्च सप्तपदपञ्चकसंयोगैकविंशतेर्गुणनात् ३१५ भेदाः, षट्संयोगे सप्तानां षोढाकरणे ११।१।१२ एवं ६ भेदाः, सप्तानां षट्संयोगे ७ भेदाः, तेषां षड्भिर्गुणने ४२ भेदाः, सप्तकसंयोगे त्वेक एव, एवं सर्वे १७१६ भेदाः। ‘अट्ठ भंते’इत्यादि, इहैकत्वे ७ भेदाः, द्विकयोगे त्वष्टानां द्वित्वे १७७१ एवं सप्त भेदाः, एतैश्च सप्तपदद्विकयोगैकविंशतेर्गुणने १४७ भेदाः, त्रिकयोगेऽष्टानां त्रित्वे ११६, एवं २१ भेदाः, तैश्च सप्तपदत्रिकयोगे पञ्चत्रिंशतो गुणने ७३५ भेदाः, चतुष्कयोगेऽष्टानां चतुर्द्धात्वे ११।१५ एवं ३५ भेदाः, तैश्च सप्तपदचतुष्कसंयोगानां ३५ गुणने १२२५ भेदाः, पञ्चकसंयोगेऽष्टानां पञ्चत्वे ११।१।१४ एवं ३५ भेदाः, तैश्च सप्तपदपञ्चकसंयोगैकविंशतेर्गुणने ७३५ भेदाः, षट्संयोगेऽष्टानां षोढात्वे ११।१।१।१३ एवं २१ भेदाः, तैश्च सप्तपदषट्संयोगानां सप्तकगुणने १४७ भेदाः, अष्टानां सप्तसंयोगे सप्तधात्वे ७ भेदाः, तैश्चैकैकस्य सप्तकसंयोगस्य गुणने ७ भेदाः, सर्वेषां मीलने ३००३ भेदा भवन्ति। **‘नव भंते !’** इहैकत्वे ७ भेदाः, द्विकयोगे नवानां द्वित्वे ८ भेदाः, तैश्चैकविंशतेः सप्तपदद्विकसंयोगगुणने १६८ भेदाः, त्रिकयोगे नवानां ११७ एवं २८ भेदाः, तैश्च सप्तपदत्रिकयोगे पञ्चत्रिंशतो गुणने ९८० भेदाः, चतुष्कसंयोगे नवानां चतुर्द्धात्वे ११।१६ एवं ५६ भेदाः, तैश्च सप्तपदचतुष्कसंयोगपञ्चत्रिंशता गुणने १९६० भेदाः, पञ्चकयोगे नवानां पञ्चत्वे ११।१।१५ एवं ७० भेदाः, तैश्च सप्तपदप-

९ शतके ३२ उद्दे.

॥१५८॥

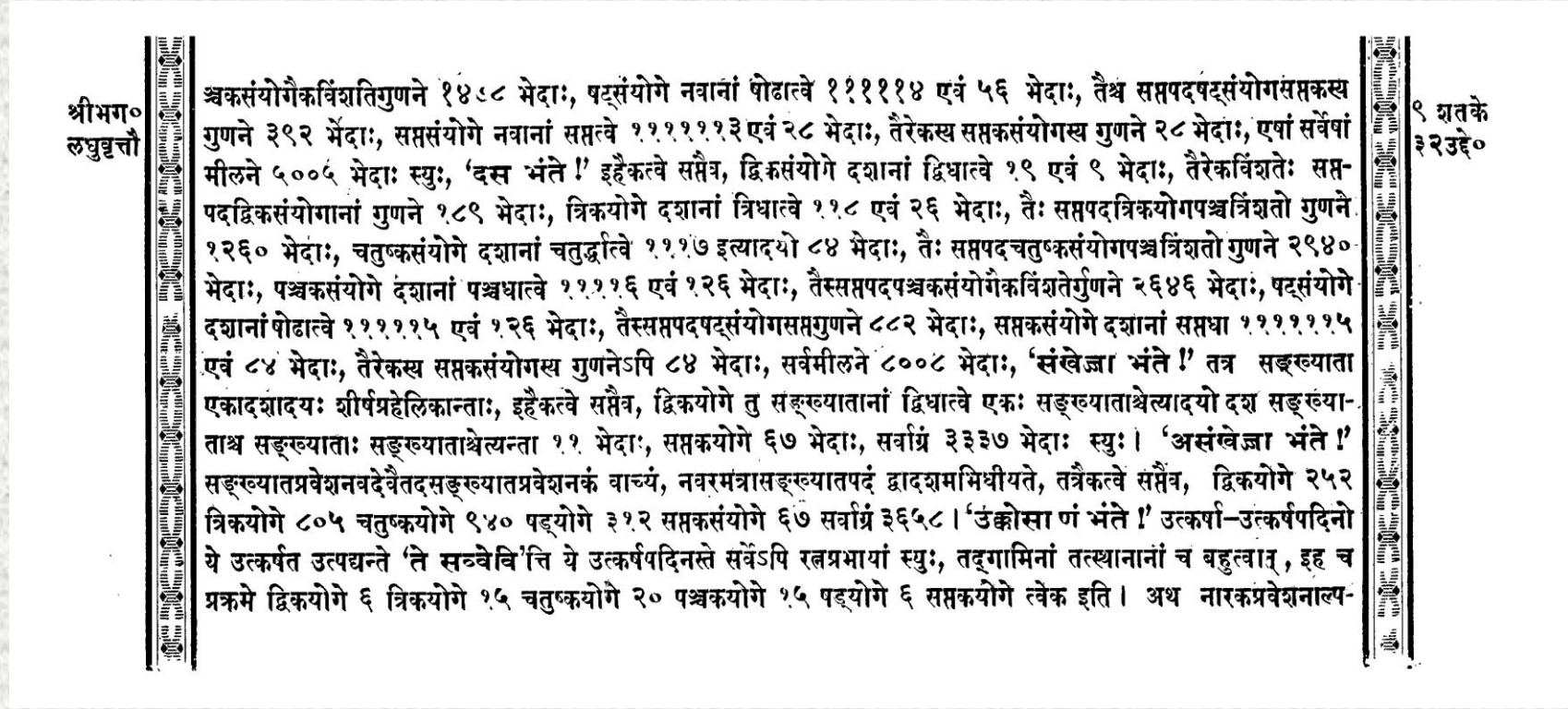

श्रीभग० लघुवृत्तौ

श्चकसंयोगैकविंशतिगुणने १४९८ भेदाः, षट्संयोगे नवानां षोढात्वे १११११४ एवं ५६ भेदाः, तैश्च सप्तपदषट्संयोगसप्तकस्य गुणने ३९२ भेदाः, सप्तसंयोगे नवानां सप्तत्वे १११११११३ एवं २८ भेदाः, तैरेकस्य सप्तकसंयोगस्य गुणने २८ भेदाः, एषां सर्वेषां मीलने ५००५ भेदाः स्युः, ‘दस भंते !’ इहैकत्वे सप्तैव, द्विकसंयोगे दशानां द्विधात्वे १९ एवं ९ भेदाः, तैरेकविंशतेः सप्तपदद्विकसंयोगानां गुणने १८९ भेदाः, त्रिकयोगे दशानां त्रिधात्वे ११८ एवं २६ भेदाः, तैः सप्तपदत्रिकयोगपञ्चत्रिंशतो गुणने १२६० भेदाः, चतुष्कसंयोगे दशानां चतुर्द्धात्वे ११११७ इत्यादयो ८४ भेदाः, तैः सप्तपदचतुष्कसंयोगपञ्चत्रिंशतो गुणने २९४० भेदाः, पञ्चकसंयोगे दशानां पञ्चधात्वे ११११६ एवं १२६ भेदाः, तैस्सप्तपदपञ्चकसंयोगैकविंशतेर्गुणने २६४६ भेदाः, षट्संयोगे दशानां षोढात्वे १११११५ एवं १२६ भेदाः, तैस्सप्तपदषट्संयोगसप्तगुणने ८८२ भेदाः, सप्तकसंयोगे दशानां सप्तधा १११११११५ एवं ८४ भेदाः, तैरेकस्य सप्तकसंयोगस्य गुणनेऽपि ८४ भेदाः, सर्वमीलने ८००८ भेदाः, ‘संखेज्जा भंते !’ तत्र सङ्ख्याता एकादशादयः शीर्षप्रहेलिकान्ताः, इहैकत्वे सप्तैव, द्विकयोगे तु सङ्ख्यातानां द्विधात्वे एकः सङ्ख्याताश्चेत्यादयो दश सङ्ख्याताश्च सङ्ख्याताः सङ्ख्याताश्चेत्यन्ता ११ भेदाः, सप्तकयोगे ६७ भेदाः, सर्वाग्रं ३३३७ भेदाः स्युः। ‘असंखेज्जा भंते !’ सङ्ख्यातप्रवेशनवदेवैतदसङ्ख्यातप्रवेशनकं वाच्यं, नवरमत्रासङ्ख्यातपदं द्वादशमभिधीयते, तत्रैकत्वे सप्तैव, द्विकयोगे २५२ त्रिकयोगे ८०५ चतुष्कयोगे ९४० पञ्चयोगे ३१२ सप्तकसंयोगे ६७ सर्वाग्रं ३६५८। ‘उक्कोसा णं भंते !’ उत्कर्षा–उत्कर्षपदिनो ये उत्कर्षत उत्पद्यन्ते ‘ते सव्वेवि’त्ति ये उत्कर्षपदिनस्ते सर्वेऽपि रत्नप्रभायां स्युः, तद्गामिनां तत्स्थानानां च बहुत्वात्, इह च प्रक्रमे द्विकयोगे ६ त्रिकयोगे १५ चतुष्कयोगे २० पञ्चकयोगे १५ षट्योगे ६ सप्तकयोगे त्वेक इति। अथ नारकप्रवेशनाल्प-

९ शतके ३२उद्दे०

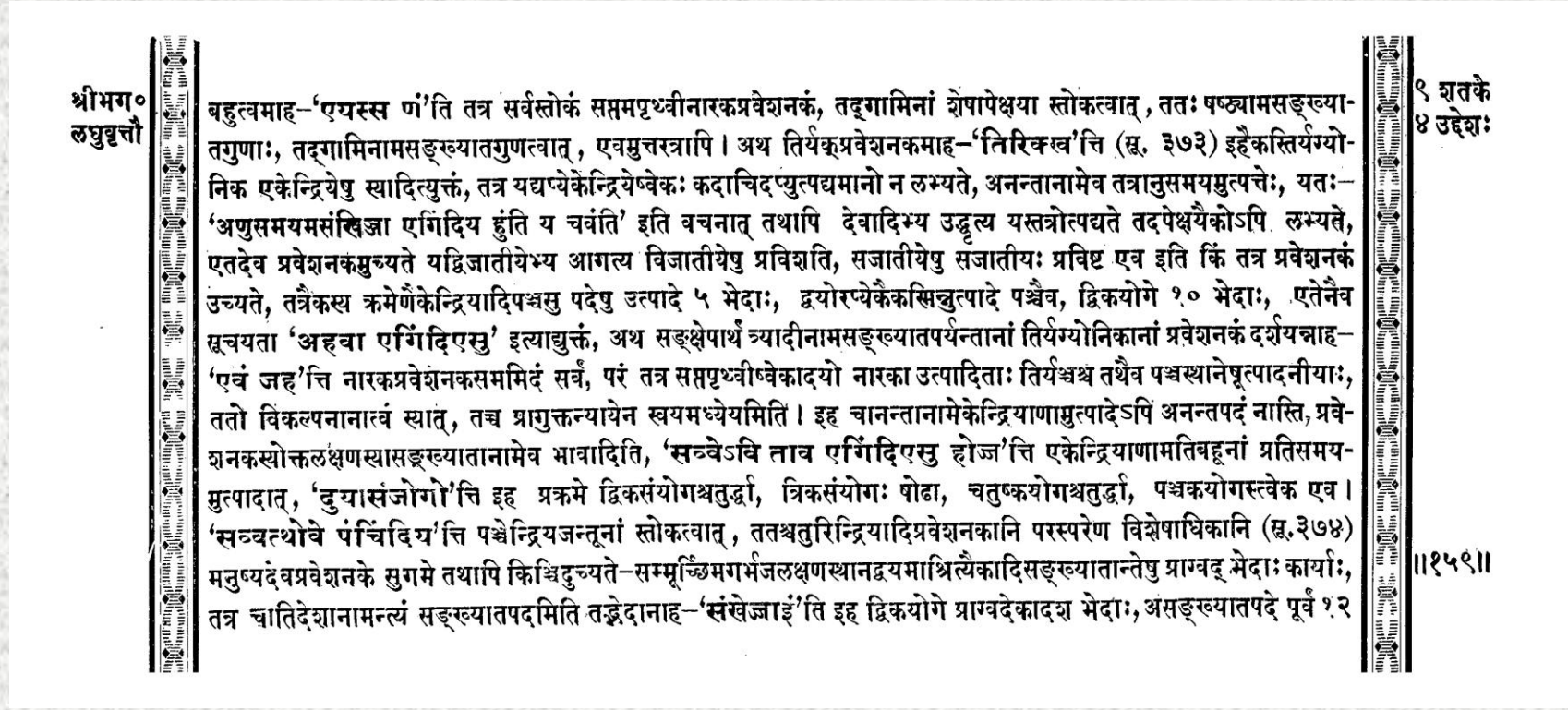

श्रीभग० लघुवृत्तौ

बहुत्वमाह–'एयस्स णं'ति तत्र सर्वस्तोकं सप्तमपृथ्वीनारकप्रवेशनकं, तद्गामिनां शेषापेक्षया स्तोकत्वात्, ततः षष्ठ्यामसङ्ख्यातगुणाः, तद्गामिनामसङ्ख्यातगुणत्वात्, एवमुत्तरत्रापि। अथ तिर्यक्प्रवेशनकमाह–'तिरिक्ख'त्ति (सू. ३७३) इहैकस्तिर्यग्योनिक एकेन्द्रियेषु स्यादित्युक्तं, तत्र यद्यप्येकेन्द्रियेष्वेकः कदाचिदप्युत्पद्यमानो न लभ्यते, अनन्तानामेव तत्रानुसमयमुत्पत्तेः, यतः–'अणुसमयमसंखिज्जा एगिंदिय हुंति य चवंति' इति वचनात् तथापि देवादिभ्य उद्धृत्य यस्तत्रोत्पद्यते तदपेक्षयैकोऽपि लभ्यते, एतदेव प्रवेशनकमुच्यते यद्विजातीयेभ्य आगत्य विजातीयेषु प्रविशति, सजातीयेषु सजातीयः प्रविष्ट एव इति किं तत्र प्रवेशनकं उच्यते, तत्रैकस्य क्रमेणैकेन्द्रियादिपञ्चसु पदेषु उत्पादे ५ भेदाः, द्वयोरप्येकैकस्मिन्नुत्पादे पञ्चैव, द्विकयोगे १० भेदाः, एतेनैव सूचयता 'अहवा एगिंदिएसु' इत्याद्युक्तं, अथ सङ्क्षेपार्थं त्र्यादीनामसङ्ख्यातपर्यन्तानां तिर्यग्योनिकानां प्रवेशनकं दर्शयन्नाह–'एवं जह'त्ति नारकप्रवेशनकसममिदं सर्वं, परं तत्र सप्तपृथ्वीष्वेकादयो नारका उत्पादिताः तिर्यञ्चश्च तथैव पञ्चस्थानेषूत्पादनीयाः, ततो विकल्पनानात्वं स्यात्, तच्च प्रागुक्तन्यायेन स्वयमध्येयमिति। इह चानन्तानामेकेन्द्रियाणामुत्पादेऽपि अनन्तपदं नास्ति, प्रवेशनकस्योक्तलक्षणस्यासङ्ख्यातानामेव भावादिति, 'सव्वेऽवि ताव एगिंदिएसु होज्ज'त्ति एकेन्द्रियाणामतिबहूनां प्रतिसमयमुत्पादात्, 'दुयासंजोगो'त्ति इह प्रक्रमे द्विकसंयोगश्चतुर्द्धा, त्रिकसंयोगः षोढा, चतुष्कयोगश्चतुर्द्धा, पञ्चकयोगस्त्वेक एव। 'सव्वत्थोवे पंचिंदिय'त्ति पञ्चेन्द्रियजन्तूनां स्तोकत्वात्, ततश्चतुरिन्द्रियादिप्रवेशनकानि परस्परेण विशेषाधिकानि (सू.३७४) मनुष्यदेवप्रवेशनके सुगमे तथापि किञ्चिदुच्यते–सम्मूर्च्छिमगर्भजलक्षणस्थानद्वयमाश्रित्यैकादिसङ्ख्यातान्तेषु प्राग्वद् भेदाः कार्याः, तत्र चातिदेशानामन्त्यं सङ्ख्यातपदमिति तद्भेदानाह–'संखेज्जाइं'ति इह द्विकयोगे प्राग्वदेकादश भेदाः, असङ्ख्यातपदे पूर्वं १२

९ शतके ४ उद्देशः

॥१५९॥

*** अत्र शतक ९, उद्देशक: ३३ वर्तते | मूल संपादने यत् उद्देशक: ४ मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

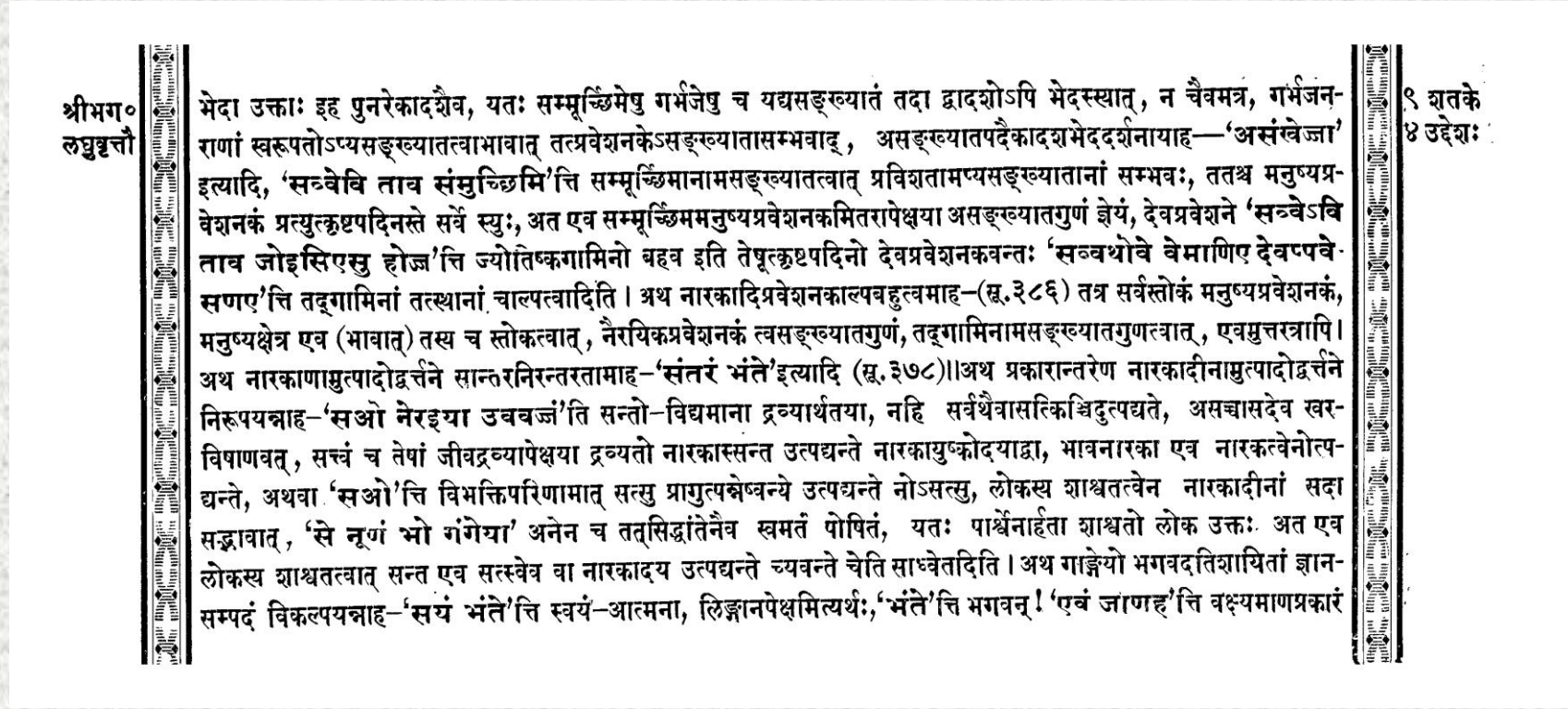

श्रीभग० लघुवृत्तौ

भेदा उक्ताः इह पुनरेकादशैव, यतः सम्मूर्च्छिमेषु गर्भजेषु च यद्यसङ्ख्यातं तदा द्वादशोऽपि भेदस्स्यात्, न चैवमत्र, गर्भजनराणां स्वरूपतोऽप्यसङ्ख्यातत्वाभावात् तत्प्रवेशनकेऽसङ्ख्यातासम्भवाद्, असङ्ख्यातपदैकादशभेददर्शनायाह—**'असंखेज्जा'** इत्यादि, **'सव्वेवि ताव संमुच्छिमि'**त्ति सम्मूर्च्छिमानामसङ्ख्यातत्वात् प्रविशतामप्यसङ्ख्यातानां सम्भवः, ततश्च मनुष्यप्रवेशनकं प्रत्युत्कृष्टपदिनस्ते सर्वे स्युः, अत एव सम्मूर्च्छिममनुष्यप्रवेशनकमितरापेक्षया असङ्ख्यातगुणं ज्ञेयं, देवप्रवेशने **'सव्वेऽवि ताव जोइसिएसु होज्ज'**त्ति ज्योतिष्कगामिनो बहव इति तेषूत्कृष्टपदिनो देवप्रवेशनकवन्तः **'सव्वथोवे वेमाणिए देवप्पवेसणए'**त्ति तद्गामिनां तत्स्थानां चाल्पत्वादिति। अथ नारकादिप्रवेशनकाल्पबहुत्वमाह–(सू.३८६) तत्र सर्वस्तोकं मनुष्यप्रवेशनकं, मनुष्यक्षेत्र एव (भावात्) तस्य च स्तोकत्वात्, नैरयिकप्रवेशनकं त्वसङ्ख्यातगुणं, तद्गामिनामसङ्ख्यातगुणत्वात्, एवमुत्तरत्रापि। अथ नारकाणामुत्पादोद्वर्त्तने सान्तरनिरन्तरतामाह–**'संतरं भंते'**इत्यादि (सू.३७८)॥अथ प्रकारान्तरेण नारकादीनामुत्पादोद्वर्त्तने निरूपयन्नाह–**'सओ नेरइया उववज्जं'**ति सन्तो–विद्यमाना द्रव्यार्थतया, नहि सर्वथैवासत्किञ्चिदुत्पद्यते, असच्चासदेव खरविषाणवत्, सच्चं च तेषां जीवद्रव्यापेक्षया द्रव्यतो नारकास्सन्त उत्पद्यन्ते नारकायुष्कोदयाद्वा, भावनारका एव नारकत्वेनोत्पद्यन्ते, अथवा **'सओ'**त्ति विभक्तिपरिणामात् सत्सु प्रागुत्पन्नेष्वन्ये उत्पद्यन्ते नोऽसत्सु, लोकस्य शाश्वतत्वेन नारकादीनां सदा सद्भावात्, **'से नूणं भो गंगेया'** अनेन च तत्सिद्धांतेनैव स्वमतं पोषितं, यतः पार्श्वनार्हता शाश्वतो लोक उक्तः अत एव लोकस्य शाश्वतत्वात् सन्त एव सत्स्वेव वा नारकादय उत्पद्यन्ते च्यवन्ते चेति साध्वेतदिति। अथ गाङ्गेयो भगवदतिशायितां ज्ञानसम्पदं विकल्पयन्नाह–**'सयं भंते'**त्ति स्वयं–आत्मना, लिङ्गानपेक्षमित्यर्थः,**'भंते'**त्ति भगवन्! **'एवं जाणह'**त्ति वक्ष्यमाणप्रकारं

९ शतके ४ उद्देशः

*** अत्र शतक ९, उद्देशक: ३१ वर्तते | मूल संपादने यत् उद्देशक: ४ मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

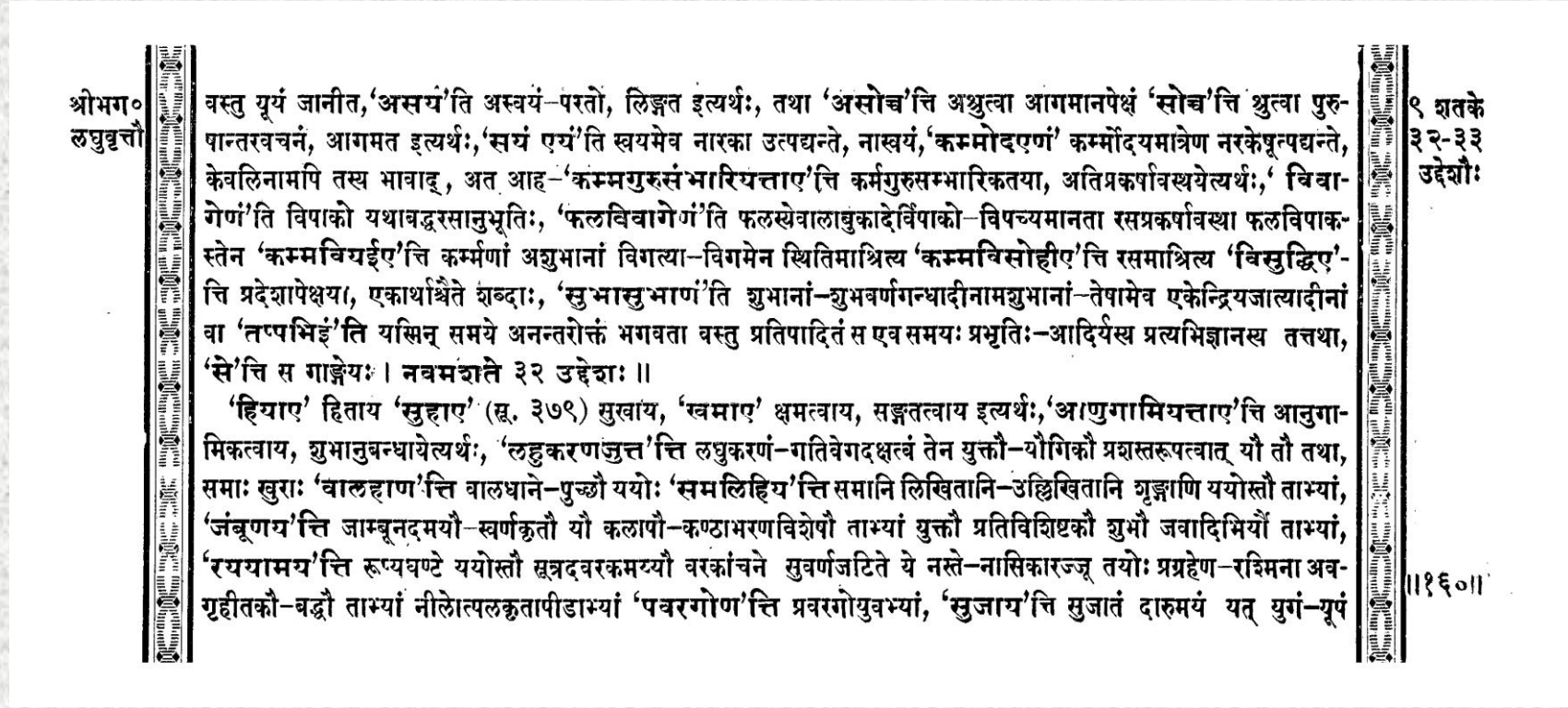

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वस्तु यूयं जानीत,'असयं'ति अस्वयं–परतो, लिङ्गत इत्यर्थः, तथा 'असोच्च'त्ति अश्रुत्वा आगमानपेक्षं 'सोच्च'त्ति श्रुत्वा पुरुषान्तरवचनं, आगमत इत्यर्थः,'सयं एयं'ति स्वयमेव नारका उत्पद्यन्ते, नास्वयं,'कम्मोदएणं' कर्म्मोदयमात्रेण नरकेषूत्पद्यन्ते, केवलिनामपि तस्य भावाद्, अत आह–'कम्मगुरुसंभारियत्ताए'त्ति कर्मगुरुसम्भारिकतया, अतिप्रकर्षावस्थयेत्यर्थः,' विवागेणं'ति विपाको यथाबद्धरसानुभूतिः, 'फलविवागेणं'ति फलस्येवालाबुकादेर्विपाको–विपच्यमानता रसप्रकर्षावस्था फलविपाकस्तेन 'कम्मविगईए'त्ति कर्म्मणां अशुभानां विगत्या–विगमेन स्थितिमाश्रित्य 'कम्मविसोहीए'त्ति रसमाश्रित्य 'विसुद्धिए'त्ति प्रदेशापेक्षया, एकार्थाश्चैते शब्दाः, 'सुभासुभाणं'ति शुभानां–शुभवर्णगन्धादीनामशुभानां–तेषामेव एकेन्द्रियजात्यादीनां वा 'तप्पभिइं'ति यस्मिन् समये अनन्तरोक्तं भगवता वस्तु प्रतिपादितं स एव समयः प्रभृतिः–आदिर्यस्य प्रत्यभिज्ञानस्य तत्तथा, 'से'त्ति स गाङ्गेयः। नवमशते ३२ उद्देशः ॥

'हियाए' हिताय 'सुहाए' (सू. ३७९) सुखाय, 'खमाए' क्षमत्वाय, सङ्गतत्वाय इत्यर्थः,'आणुगामियत्ताए'त्ति आनुगामिकत्वाय, शुभानुबन्धायेत्यर्थः, 'लहुकरणजुत्त'त्ति लघुकरणं–गतिवेगदक्षत्वं तेन युक्तौ–यौगिकौ प्रशस्तरूपत्वात् यौ तौ तथा, समाः खुराः 'वालहाण'त्ति वालधाने–पुच्छौ ययोः 'समलिहिय'त्ति समानि लिखितानि–उल्लिखितानि शृङ्गाणि ययोस्तौ ताभ्यां, 'जंबूणय'त्ति जाम्बूनदमयौ–स्वर्णकृतौ यौ कलापौ–कण्ठाभरणविशेषौ ताभ्यां युक्तौ प्रतिविशिष्टकौ शुभौ जवादिभिर्यौ ताभ्यां, 'रययामय'त्ति रूप्यघण्टे ययोस्तौ सूत्रदवरकमय्यौ वरकांचने सुवर्णजटिते ये नस्ते–नासिकारज्जू तयोः प्रग्रहेण–रश्मिना अवगृहीतकौ–बद्धौ ताभ्यां नीलोत्पलकृतापीडाभ्यां 'पवरगोण'त्ति प्रवरगोयुवभ्यां, 'सुजाय'त्ति सुजातं दारुमयं यत् युगं–यूपं

९ शतके ३२-३३ उद्देशौः

॥१६०॥

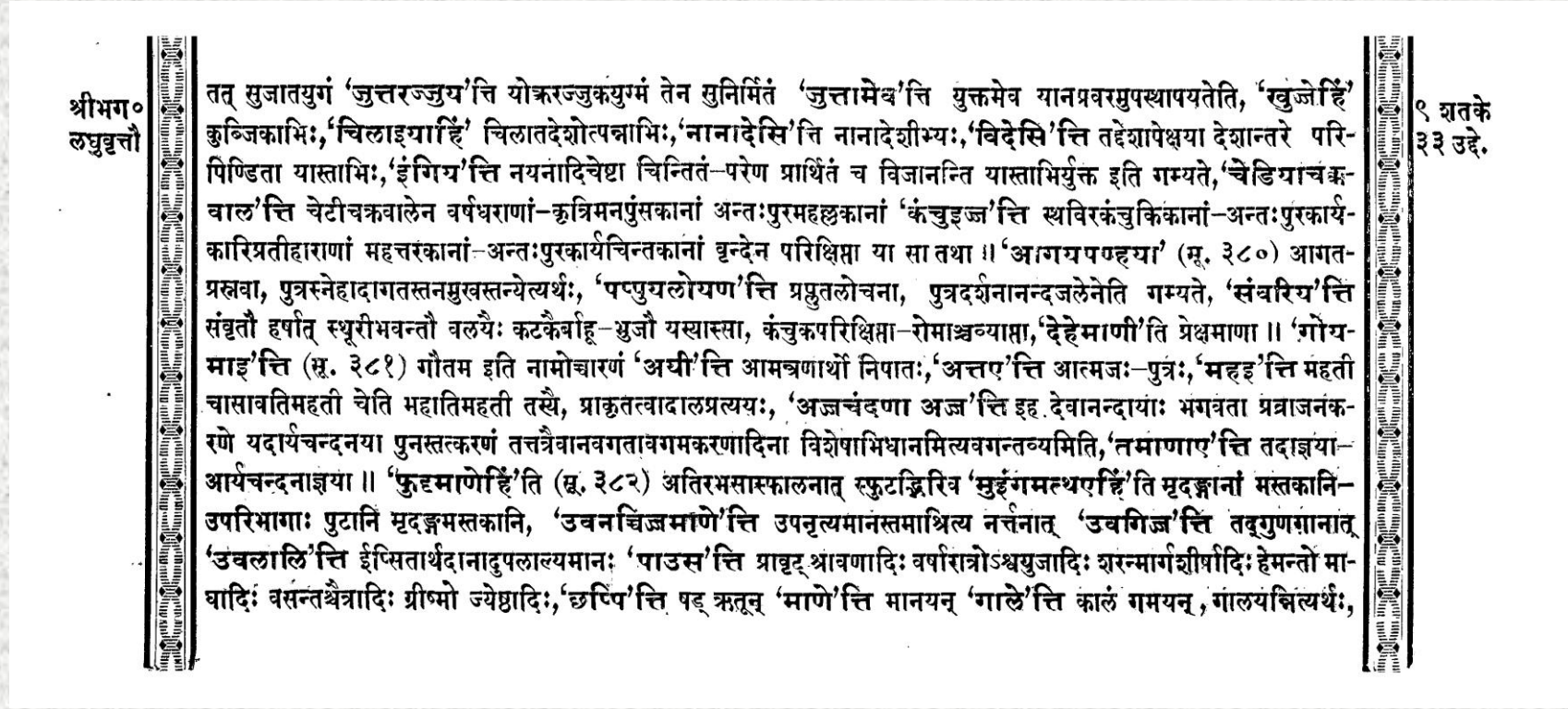

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तत् सुजातयुगं 'जुत्तरज्जुय'त्ति योक्त्ररज्जुकयुग्मं तेन सुनिर्मितं 'जुत्तामेव'त्ति युक्तमेव यानप्रवरमुपस्थापयतेति, 'खुज्जेहिं' कुब्जिकाभिः,'चिलाइयाहिं' चिलातदेशोत्पन्नाभिः,'नानादेसि'त्ति नानादेशीभ्यः,'विदेसि'त्ति तद्देशापेक्षया देशान्तरे परिपिण्डिता यास्ताभिः,'इंगिय'त्ति नयनादिचेष्टा चिन्तितं–परेण प्रार्थितं च विजानन्ति यास्ताभिर्युक्त इति गम्यते,'चेडियाचक्कवाल'त्ति चेटीचक्रवालेन वर्षधराणां–कृत्रिमनपुंसकानां अन्तःपुरमहल्लकानां 'कंचुइज्ज'त्ति स्थविरकंचुकिकानां–अन्तःपुरकार्यकारिप्रतीहाराणां महत्तरकानां–अन्तःपुरकार्यचिन्तकानां वृन्देन परिक्षिप्ता या सा तथा ॥'आगयपण्हया' (सू. ३८०) आगतप्रस्रवा, पुत्रस्नेहादागतस्तनमुखस्तन्येत्यर्थः, 'पप्पुयलोयण'त्ति प्रप्लुतलोचना, पुत्रदर्शनानन्दजलेनेति गम्यते, 'संवरिय'त्ति संवृतौ हर्षात् स्थूरीभवन्तौ वलयैः कटकैर्बाहू–भुजौ यस्यास्सा, कंचुकपरिक्षिप्ता–रोमाञ्चव्याप्ता,'देहेमाणी'ति प्रेक्षमाणा ॥ 'गोयमाइ'त्ति (सू. ३८१) गौतम इति नामोच्चारणं 'अयी'त्ति आमन्त्रणार्थो निपातः,'अत्तए'त्ति आत्मजः–पुत्रः,'महइ'त्ति महती चासावतिमहती चेति महातिमहती तस्यै, प्राकृतत्वादालप्रत्ययः, 'अज्जचंदणा अज्ज'त्ति इह देवानन्दायाः भगवता प्रव्राजनकरणे यदार्यचन्दनया पुनस्तत्करणं तत्तत्रैवानवगतावगमकरणादिना विशेषाभिधानमित्यवगन्तव्यमिति,'तमाणाए'त्ति तदाज्ञया–आर्यचन्दनाज्ञया ॥ 'फुडमाणेहिं'ति (सू. ३८२) अतिरभसास्फालनात् स्फुटद्भिरिव 'मुइंगमत्थएहिं'ति मृदङ्गानां मस्तकानि–उपरिभागाः पुटानि मृदङ्गमस्तकानि, 'उवनचिज्जमाणे'त्ति उपनृत्यमानस्तमाश्रित्य नर्त्तनात् 'उवगिज्ज'त्ति तद्गुणगानात् 'उवलालि'त्ति ईप्सितार्थदानादुपलाल्यमानः 'पाउस'त्ति प्रावृट् श्रावणादिः वर्षारात्रोऽश्वयुजादिः शरन्मार्गशीर्षादिः हेमन्तो माघादिः वसन्तश्चैत्रादिः ग्रीष्मो ज्येष्ठादिः,'छप्पि'त्ति षड् ऋतून् 'माणे'त्ति मानयन् 'गाले'त्ति कालं गमयन्, गालयन्नित्यर्थः,

९ शतके ३३ उद्दे.

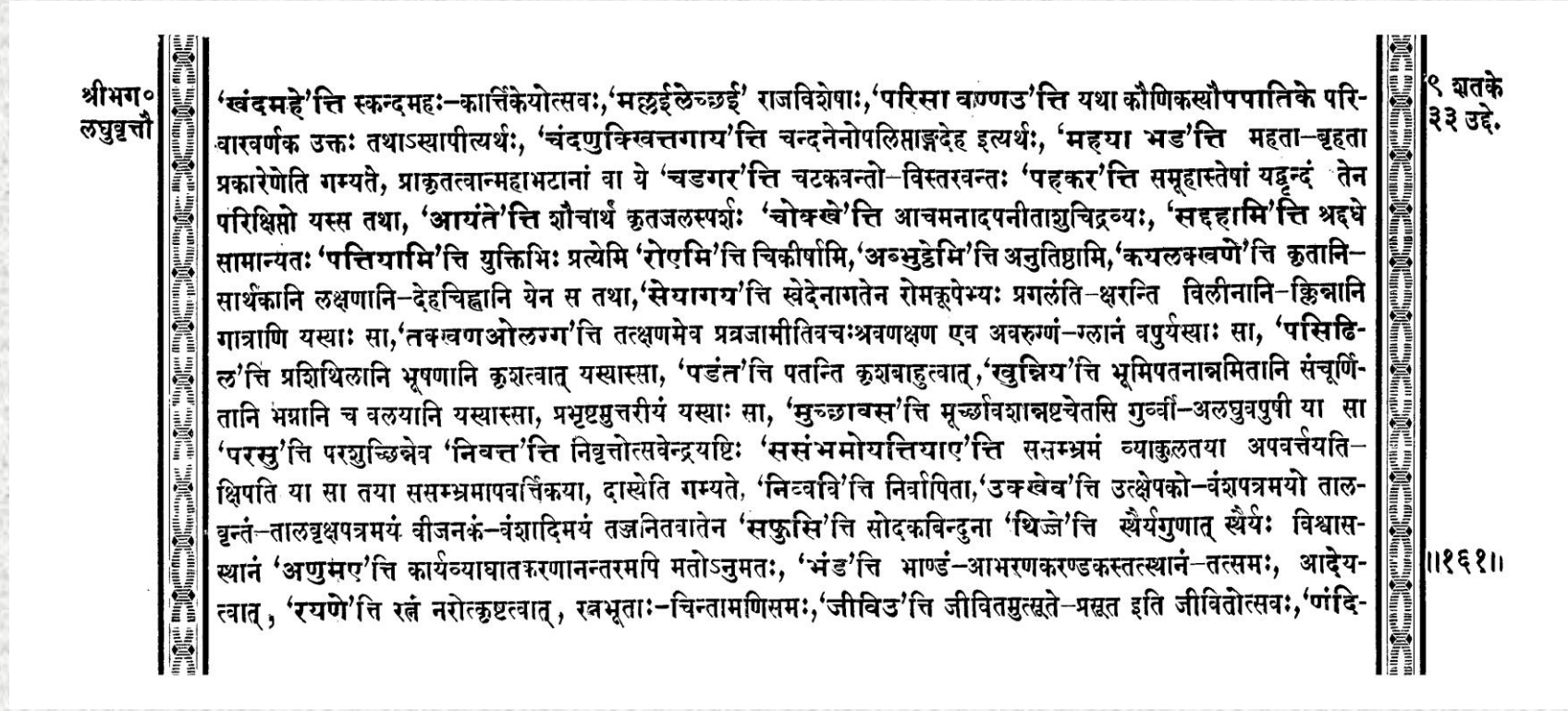

श्रीभग० लघुवृत्तौ

‘खंदमहे’त्ति स्कन्दमहः–कार्त्तिकेयोत्सवः,‘मल्लईलेच्छई’ राजविशेषाः,‘परिसा वण्णउ’त्ति यथा कौणिकस्यौपपातिके परिवारवर्णक उक्तः तथाऽस्यापीत्यर्थः, ‘चंदणुक्खित्तगाय’त्ति चन्दनेनोपलिप्ताङ्गदेह इत्यर्थः, ‘महया भड’त्ति महता–बृहता प्रकारेणेति गम्यते, प्राकृतत्वान्महाभटानां वा ये ‘चडगर’त्ति चटकवन्तो–विस्तरवन्तः ‘पहकर’त्ति समूहास्तेषां यद्वृन्दं तेन परिक्षिप्तो यस्स तथा, ‘आयंते’त्ति शौचार्थं कृतजलस्पर्शः ‘चोक्खे’त्ति आचमनादपनीताशुचिद्रव्यः, ‘सद्दहामि’त्ति श्रद्दधे सामान्यतः ‘पत्तियामि’त्ति युक्तिभिः प्रत्येमि ‘रोएमि’त्ति चिकीर्षामि,‘अब्भुट्ठेमि’त्ति अनुतिष्ठामि,‘कयलक्खणे’त्ति कृतानिसार्थकानि लक्षणानि–देहचिह्नानि येन स तथा,‘सेयागय’त्ति स्वेदेनागतेन रोमकूपेभ्यः प्रगलंति–क्षरन्ति विलीनानि–क्लिन्नानि गात्राणि यस्याः सा,‘तक्खणओलग्ग’त्ति तत्क्षणमेव प्रव्रजामीतिवचःश्रवणक्षण एव अवरुग्णं–ग्लानं वपुर्यस्याः सा, ‘पसिढिल’त्ति प्रशिथिलानि भूषणानि कृशत्वात् यस्यास्सा, ‘पडंत’त्ति पतन्ति कृशबाहुत्वात्,‘खुन्निय’त्ति भूमिपतनान्नमितानि संचूर्णितानि भग्नानि च वलयानि यस्यास्सा, प्रभृष्टमुत्तरीयं यस्याः सा, ‘मुच्छावस’त्ति मूर्च्छावशान्नष्टचेतसि गुर्व्वी–अलघुवपुषी या सा ‘परसु’त्ति परशुच्छिन्नेव ‘निवत्त’त्ति निवृत्तोत्सवेन्द्रयष्टिः ‘ससंभमोयत्तियाए’त्ति सत्सम्भ्रमं व्याकुलतया अपवर्त्तयति–क्षिपति या सा तया ससम्भ्रमापवर्त्तिकया, दास्येति गम्यते, ‘निव्ववि’त्ति निर्वापिता,‘उक्खेव’त्ति उत्क्षेपको–वंशपत्रमयो तालवृन्तं–तालवृक्षपत्रमयं वीजनकं–वंशादिमयं तज्जनितवातेन ‘सफुसि’त्ति सोदकबिन्दुना ‘थिज्जे’त्ति स्थैर्यगुणात् स्थैर्यः विश्वासस्थानं ‘अणुमए’त्ति कार्यव्याघातकरणानन्तरमपि मतोऽनुमतः, ‘भंड’त्ति भाण्डं–आभरणकरण्डकस्तत्स्थानं–तत्समः, आदेयत्वात्, ‘रयणे’त्ति रत्नं नरोत्कृष्टत्वात्, रत्नभूताः–चिन्तामणिसमः,‘जीविउ’त्ति जीवितमुत्सृते–प्रसूत इति जीवितोत्सवः,‘णंदि-

९ शतके ३३ उद्दे.

॥१६१॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

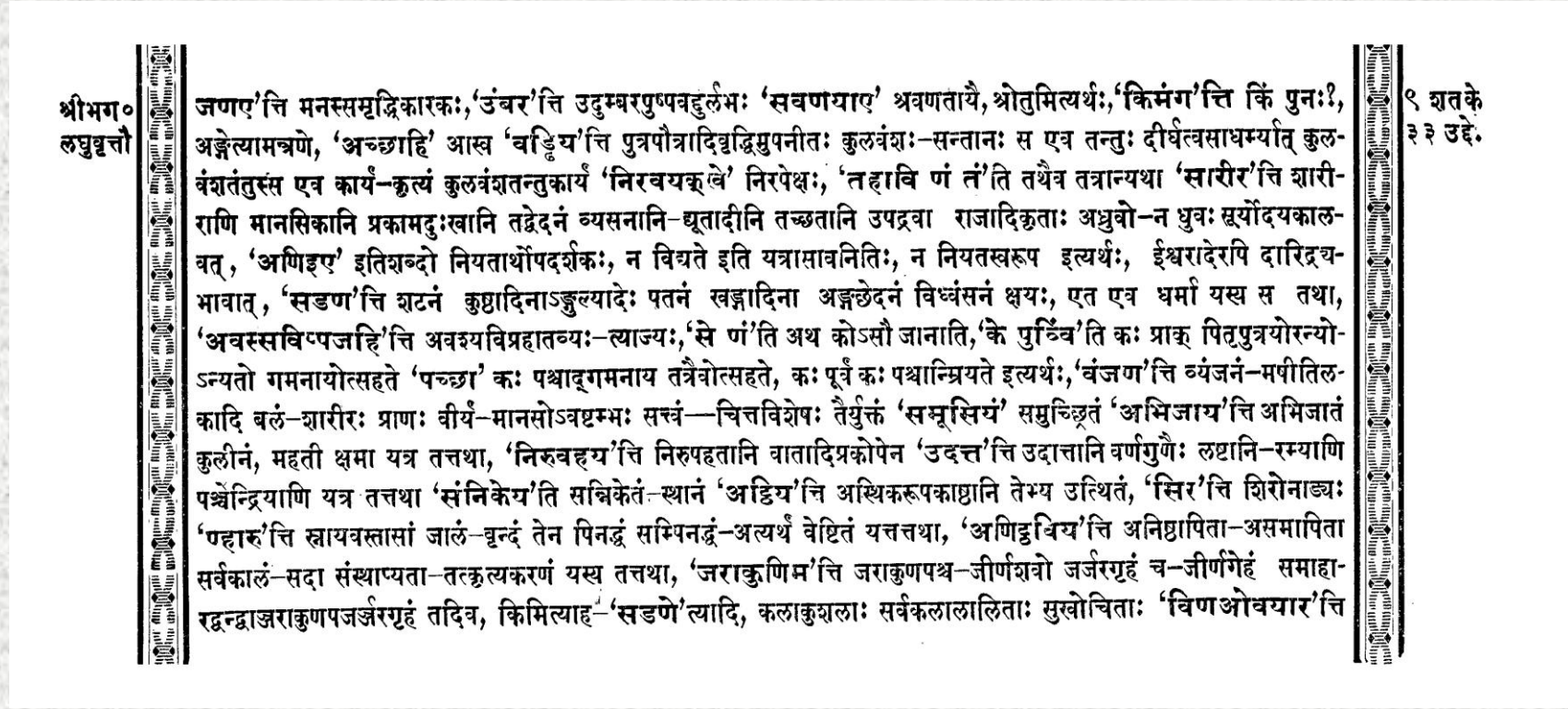

श्रीभग० लघुवृत्तौ

जणए'त्ति मनस्समृद्धिकारकः,'उंबर'त्ति उदुम्बरपुष्पवद्दुर्लभः **'सवणयाए'** श्रवणतायै,श्रोतुमित्यर्थः,**'किमंग'त्ति** किं पुनः?, अङ्गेत्यामन्त्रणे, **'अच्छाहि'** आस्व **'वड्ढिय'त्ति** पुत्रपौत्रादिवृद्धिमुपनीतः कुलवंशः–सन्तानः स एव तन्तुः दीर्घत्वसाधर्म्यात् कुलवंशतंतुस्स एव कार्यं–कृत्यं कुलवंशतन्तुकार्यं **'निरवयक्खे'** निरपेक्षः, **'तहावि णं तं'**ति तथैव तत्रान्यथा **'सारीर'त्ति** शारीराणि मानसिकानि प्रकामदुःखानि तद्वेदनं व्यसनानि–द्यूतादीनि तच्छतानि उपद्रवा राजादिकृताः अध्रुवो–न ध्रुवः सूर्योदयकालवत्, **'अणिइए'** इतिशब्दो नियतार्थोपदर्शकः, न विद्यते इति यत्रासावनितिः, न नियतस्वरूप इत्यर्थः, ईश्वरादेरपि दारिद्र्यभावात्, **'सडण'त्ति** शटनं कुष्ठादिनाऽङ्गुल्यादेः पतनं खड्गादिना अङ्गछेदनं विध्वंसनं क्षयः, एत एव धर्मा यस्य स तथा, **'अवस्सविप्पजहि'त्ति** अवश्यविप्रहातव्यः–त्याज्यः,**'से णं'**ति अथ कोऽसौ जानाति,**'के पुव्विं'**ति कः प्राक् पितृपुत्रयोरन्योऽन्यतो गमनायोत्सहते **'पच्छा'** कः पश्चाद्गमनाय तत्रैवोत्सहते, कः पूर्वं कः पश्चान्म्रियते इत्यर्थः,**'वंजण'त्ति** व्यंजनं–मषीतिलकादि बलं–शारीरः प्राणः वीर्यं–मानसोऽवष्टम्भः सत्त्वं—चित्तविशेषः तैर्युक्तं **'सम्मूसियं'** समुच्छ्रितं **'अभिजाय'त्ति** अभिजातं कुलीनं, महती क्षमा यत्र तत्तथा, **'निरुवहय'त्ति** निरुपहतानि वातादिप्रकोपेन **'उदत्त'त्ति** उदात्तानि वर्णगुणैः लष्टानि–रम्याणि पञ्चेन्द्रियाणि यत्र तत्तथा **'संनिकेय'**ति सन्निकेतं–स्थानं **'अट्ठिय'त्ति** अस्थिकरूपकाष्ठानि तेभ्य उत्थितं, **'सिर'त्ति** शिरोनाड्यः **'ण्हारु'त्ति** स्नायवस्तासां जालं–वृन्दं तेन पिनद्धं सम्पिनद्धं–अत्यर्थं वेष्टितं यत्तत्तथा, **'अणिट्ठविय'त्ति** अनिष्ठापिता–असमापिता सर्वकालं–सदा संस्थाप्यता–तत्कृत्यकरणं यस्य तत्तथा, **'जराकुणिम'त्ति** जराकुणपश्च–जीर्णशवो जर्जरगृहं च–जीर्णगेहं समाहारद्वन्द्वाज्जराकुणपजर्जरगृहं तदिव, किमित्याह–**'सडणे'**त्यादि, कलाकुशलाः सर्वकलालालिताः सुखोचिताः **'विणओवयार'त्ति**

९ शतके ३३ उद्दे.

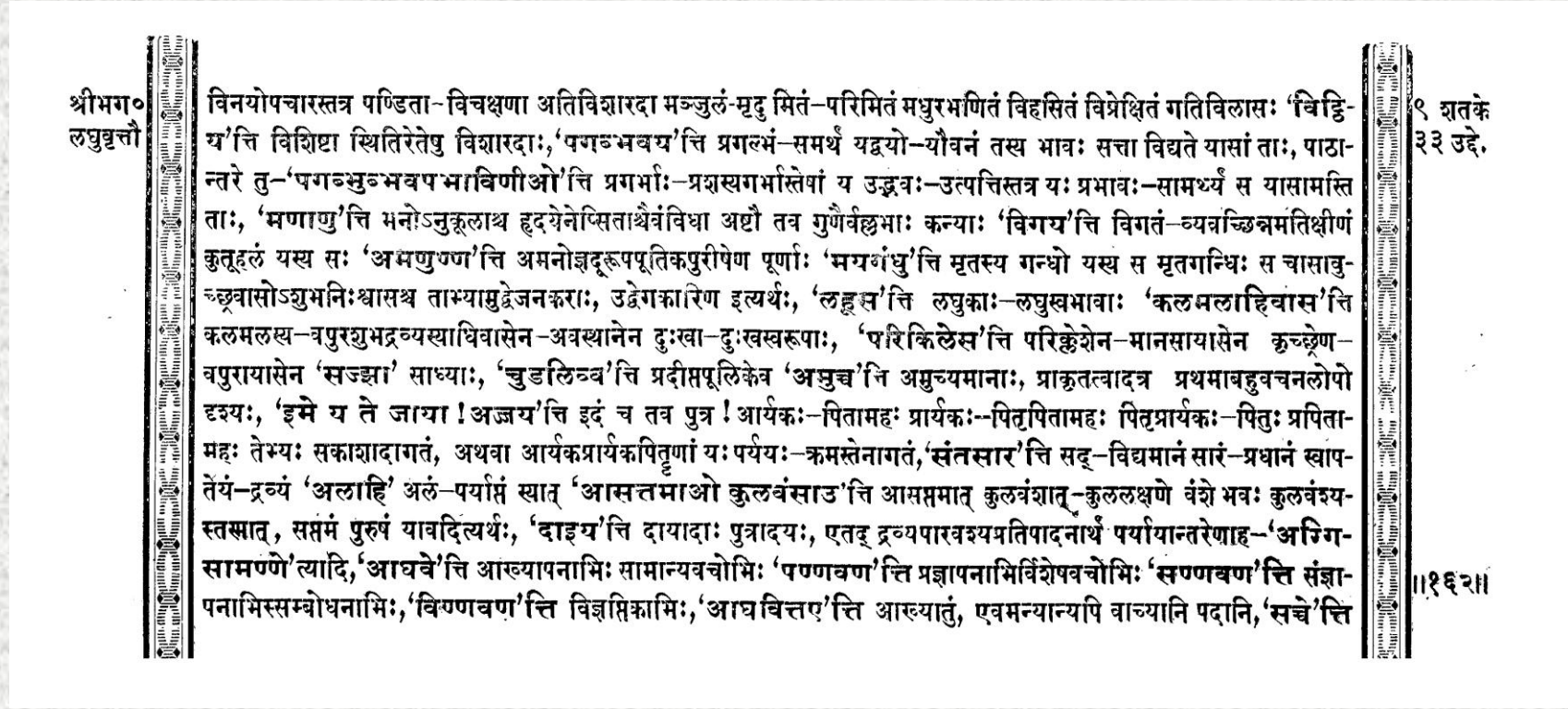

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विनयोपचारस्तत्र पण्डिता-विचक्षणा अतिविशारदा मञ्जुलं-मृदु मितं-परिमितं मधुरभणितं विहसितं विप्रेक्षितं गतिविलासः 'विट्ठि-य'त्ति विशिष्टा स्थितिरेतेषु विशारदाः,'पगब्भवय'त्ति प्रगल्भं-समर्थं यद्वयो-यौवनं तस्य भावः सत्ता विद्यते यासां ताः, पाठा-न्तरे तु-'पगब्भुब्भवपभाविणीओ'त्ति प्रगर्भाः-प्रशस्यगर्भास्तेषां य उद्भवः-उत्पत्तिस्तत्र यः प्रभावः-सामर्थ्यं स यासामस्ति ताः, 'मणाणु'त्ति मनोऽनुकूलाश्च हृदयेनेप्सिताश्चैवंविधा अष्टौ तव गुणैर्वल्लभाः कन्याः 'विगय'त्ति विगतं-व्यवच्छिन्नमतिक्षीणं कुतूहलं यस्य सः 'अमणुण्ण'त्ति अमनोज्ञदूरूपपूतिकपुरीषेण पूर्णाः 'मयगंधु'त्ति मृतस्य गन्धो यस्य स मृतगन्धिः स चासावु-च्छ्वासोऽशुभनिःश्वासश्च ताभ्यामुद्वेजनकराः, उद्वेगकारिण इत्यर्थः, 'लहुस'त्ति लघुकाः-लघुस्वभावाः 'कलमलाहिवास'त्ति कलमलस्य-वपुरशुभद्रव्यस्याधिवासेन-अवस्थानेन दुःखा-दुःखस्वरूपाः, 'परिकिलेस'त्ति परिक्लेशेन-मानसायासेन कृच्छ्रेण-वपुरायासेन 'सज्झा' साध्याः, 'चुडलिव्व'त्ति प्रदीप्तपूलिकेव 'अमुच्च'न्ति अमुच्यमानाः, प्राकृतत्वादत्र प्रथमाबहुवचनलोपो दृश्यः, 'इमे य ते जाया ! अज्जय'त्ति इदं च तव पुत्र ! आर्यकः-पितामहः प्रार्यकः-पितृपितामहः पितृप्रार्यकः-पितुः प्रपिता-महः तेभ्यः सकाशादागतं, अथवा आर्यकप्रार्यकपितॄणां यः पर्ययः-क्रमस्तेनागतं,'संतसार'त्ति सद्-विद्यमानं सारं-प्रधानं स्वाप-तेयं-द्रव्यं 'अलाहि' अलं-पर्याप्तं स्यात् 'आसत्तमाओ कुलवंसाउ'त्ति आसप्तमात् कुलवंशात्-कुललक्षणे वंशे भवः कुलवंश्य-स्तस्मात्, सप्तमं पुरुषं यावदित्यर्थः, 'दाइय'त्ति दायादाः पुत्रादयः, एतद् द्रव्यपारवश्यप्रतिपादनार्थं पर्यायान्तरेणाह-'अग्गि-सामण्णे'त्यादि,'आघवे'त्ति आख्यापनाभिः सामान्यवचोभिः 'पण्णवण'त्ति प्रज्ञापनाभिर्विशेषवचोभिः 'सण्णवण'त्ति संज्ञा-पनाभिस्सम्बोधनाभिः,'विण्णवण'त्ति विज्ञप्तिकाभिः,'आघवित्तए'त्ति आख्यातुं, एवमन्यान्यपि वाच्यानि पदानि,'सच्चे'त्ति

९ शतके ३३ उद्दे.

॥१६२॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

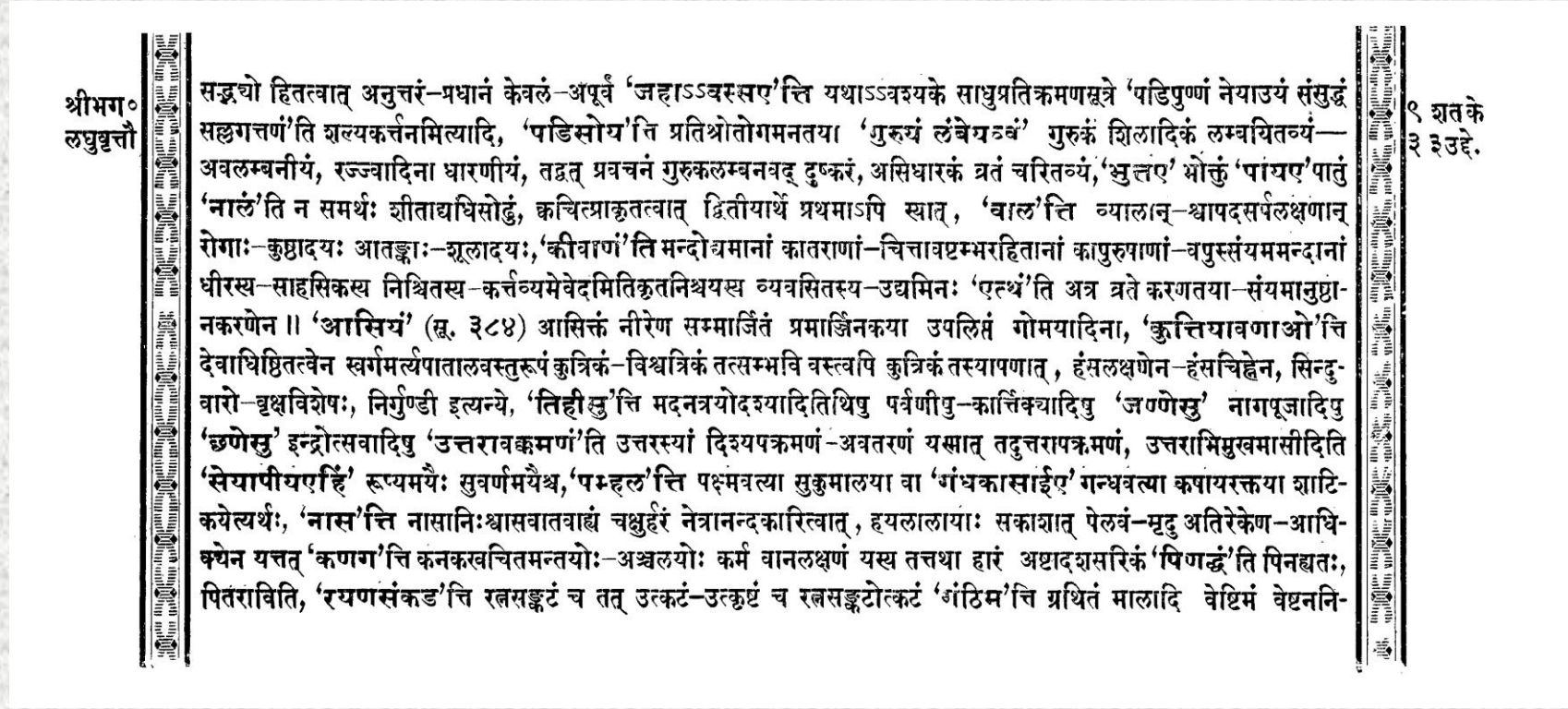

सङ्घो हितत्वात् अनुत्तरं–प्रधानं केवलं–अपूर्वं 'जहाऽऽवस्सए'त्ति यथाऽऽवश्यके साधुप्रतिक्रमणसूत्रे 'पडिपुण्णं नेयाउयं संसुद्धं सल्लगत्तणं'ति शल्यकर्त्तनमित्यादि, 'पडिसोय'त्ति प्रतिश्रोतोगमनतया 'गुरुयं लंबेयव्वं' गुरुकं शिलादिकं लम्बयितव्यं—अवलम्बनीयं, रज्ज्वादिना धारणीयं, तद्वत् प्रवचनं गुरुकलम्बनवद् दुष्करं, असिधारकं व्रतं चरितव्यं,'भुत्तए' भोक्तुं 'पायए'पातुं 'नालं'ति न समर्थः शीताद्यधिसोढुं, क्वचित्प्राकृतत्वात् द्वितीयार्थे प्रथमाऽपि स्यात्, 'वाल'त्ति व्यालान्–श्वापदसर्पलक्षणान् रोगाः–कुष्ठादयः आतङ्काः–शूलादयः,'कीवाणं'ति मन्दोद्यमानां कातराणां–चित्तावष्टम्भरहितानां कापुरुषाणां–वपुस्संयममन्दानां धीरस्य–साहसिकस्य निश्चितस्य–कर्त्तव्यमेवेदमितिकृतनिश्चयस्य व्यवसितस्य–उद्यमिनः 'एत्थं'ति अत्र व्रते करणतया–संयमानुष्ठानकरणेन ॥ 'आसियं' (सू. ३८४) आसिक्तं नीरेण सम्मार्जितं प्रमार्जिनकया उपलिप्तं गोमयादिना, 'कुत्तियावणाओ'त्ति देवाधिष्ठितत्वेन स्वर्गमर्त्यपातालवस्तुरूपं कुत्रिकं–विश्वत्रिकं तत्सम्भवि वस्त्वपि कुत्रिकं तस्यापणात्, हंसलक्षणेन–हंसचिह्नेन, सिन्दुवारो–वृक्षविशेषः, निर्गुण्डी इत्यन्ये, 'तिहीसु'त्ति मदनत्रयोदश्यादितिथिषु पर्वणीषु–कार्त्तिक्यादिषु 'जण्णेसु' नागपूजादिषु 'छणेसु' इन्द्रोत्सवादिषु 'उत्तरावक्कमणं'ति उत्तरस्यां दिश्यपक्रमणं–अवतरणं यस्मात् तदुत्तरापक्रमणं, उत्तराभिमुखमासीदिति 'सेयापीयएहिं' रूप्यमयैः सुवर्णमयैश्च,'पम्हल'त्ति पक्ष्मवत्या सुकुमालया वा 'गंधकासाईए' गन्धवत्या कषायरक्तया शाटिकयेत्यर्थः, 'नास'त्ति नासानिःश्वासवातवाह्यं चक्षुर्हरं नेत्रानन्दकारित्वात्, हयलालायाः सकाशात् पेलवं–मृदु अतिरेकेण–आधिक्येन यत्तत् 'कणग'त्ति कनकखचितमन्तयोः–अञ्चलयोः कर्म वानलक्षणं यस्य तत्तथा हारं अष्टादशसरिकं 'पिणद्धं'ति पिनद्यतः, पितराविति, 'रयणसंकड'त्ति रत्नसङ्कटं च तत् उत्कटं–उत्कृष्टं च रत्नसङ्कटोत्कटं 'गंठिम'त्ति ग्रथितं मालादि वेष्टिमं वेष्टननि-

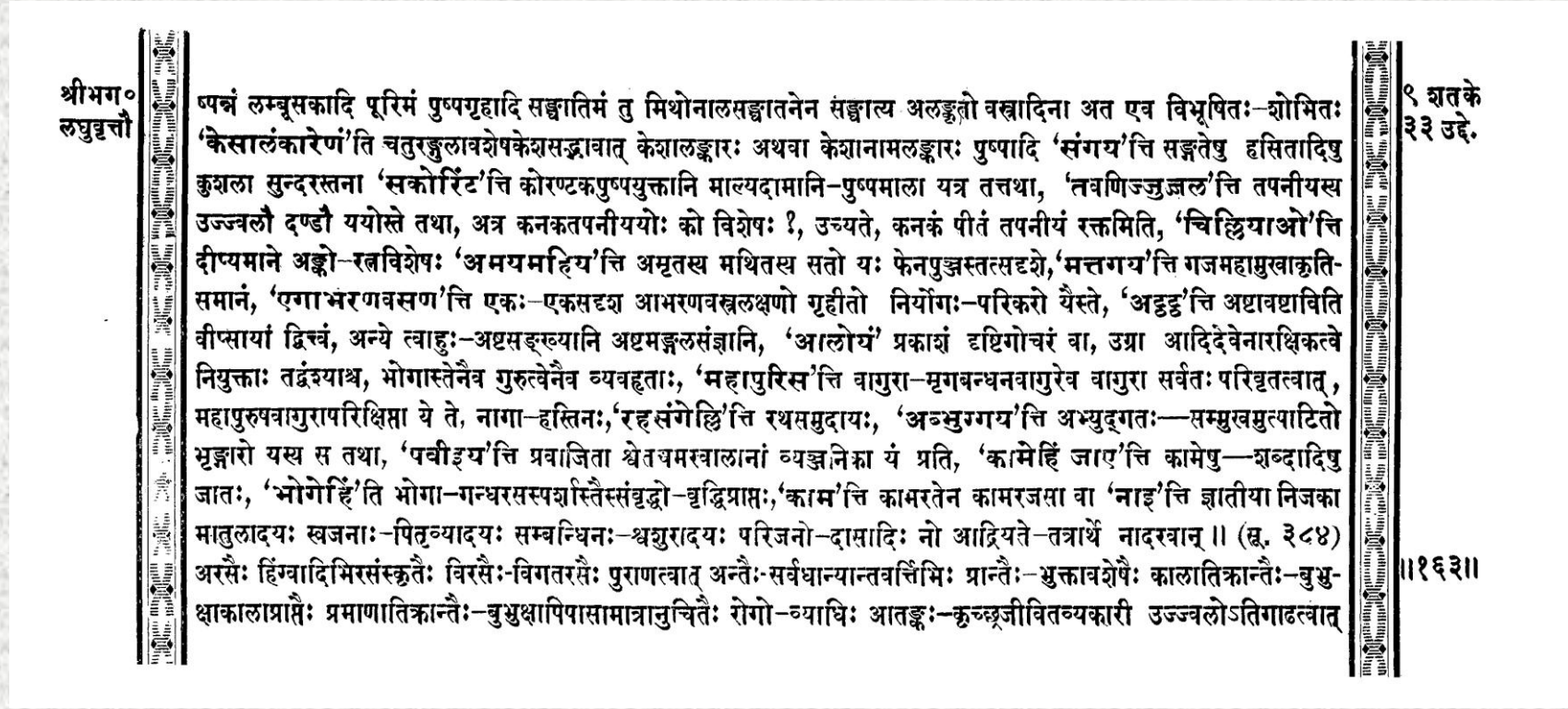

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ष्पन्नं लम्बूसकादि पूरिमं पुष्पगृहादि सङ्घातिमं तु मिथोनालसङ्घातनेन संङ्घात्य अलङ्कृतो वस्त्रादिना अत एव विभूषितः–शोभितः 'केसालंकारेणं'ति चतुरङ्गुलावशेषकेशसद्भावात् केशालङ्कारः अथवा केशानामलङ्कारः पुष्पादि 'संगय'त्ति सङ्गतेषु हसितादिषु कुशला सुन्दरस्तना 'सकोरिंट'त्ति कोरण्टकपुष्पयुक्तानि माल्यदामानि–पुष्पमाला यत्र तत्तथा, 'तवणिज्जुज्जल'त्ति तपनीयस्य उज्ज्वलौ दण्डौ ययोस्ते तथा, अत्र कनकतपनीययोः को विशेषः ?, उच्यते, कनकं पीतं तपनीयं रक्तमिति, 'चिल्लियाओ'त्ति दीप्यमाने अङ्को–रत्नविशेषः 'अमयमहिय'त्ति अमृतस्य मथितस्य सतो यः फेनपुञ्जस्तत्सदृशे,'मत्तगय'त्ति गजमहामुखाकृति-समानं, 'एगाभरणवसण'त्ति एकः–एकसदृश आभरणवस्त्रलक्षणो गृहीतो नियोगः–परिकरो यैस्ते, 'अट्ठट्ठ'त्ति अष्टावष्टाविति वीप्सायां द्वित्वं, अन्ये त्वाहुः–अष्टसङ्ख्यानि अष्टमङ्गलसंज्ञानि, 'आलोयं' प्रकाशं दृष्टिगोचरं वा, उग्रा आदिदेवेनारक्षिकत्वे नियुक्ताः तद्वंश्याश्च, भोगास्तेनैव गुरुत्वेनैव व्यवहृताः, 'महापुरिस'त्ति वागुरा–मृगबन्धनवागुरेव वागुरा सर्वतः परिवृतत्वात्, महापुरुषवागुरापरिक्षिप्ता ये ते, नागा–हस्तिनः,'रहसंगेल्लि'त्ति रथसमुदायः, 'अब्भुग्गय'त्ति अभ्युद्गतः—सम्मुखमुत्पाटितो भृङ्गारो यस्य स तथा, 'पवीइय'त्ति प्रव्राजिता श्वेतचमरवालानां व्यञ्जनिका यं प्रति, 'कामेहिं जाए'त्ति कामेषु—शब्दादिषु जातः, 'भोगेहिं'ति भोगा–गन्धरसस्पर्शास्तैस्संवृद्धो–वृद्धिप्राप्तः,'काम'त्ति कामरतेन कामरजसा वा 'नाइ'त्ति ज्ञातीया निजका मातुलादयः स्वजनाः–पितृव्यादयः सम्बन्धिनः–श्वशुरादयः परिजनो–दासादिः नो आद्रियते–तत्रार्थे नादरवान् ॥ (सू. ३८४) अरसैः हिंग्वादिभिरसंस्कृतैः विरसैः-विगतरसैः पुराणत्वात् अन्तैः-सर्वधान्यान्तवर्त्तिभिः प्रान्तैः–भुक्तावशेषैः कालातिक्रान्तैः–बुभुक्षाकालाप्राप्तैः प्रमाणातिक्रान्तैः–बुभुक्षापिपासामात्रानुचितैः रोगो–व्याधिः आतङ्कः–कृच्छ्रजीवितव्यकारी उज्ज्वलोऽतिगाढत्वात्

९ शतके ३३ उद्दे.

॥१६३॥

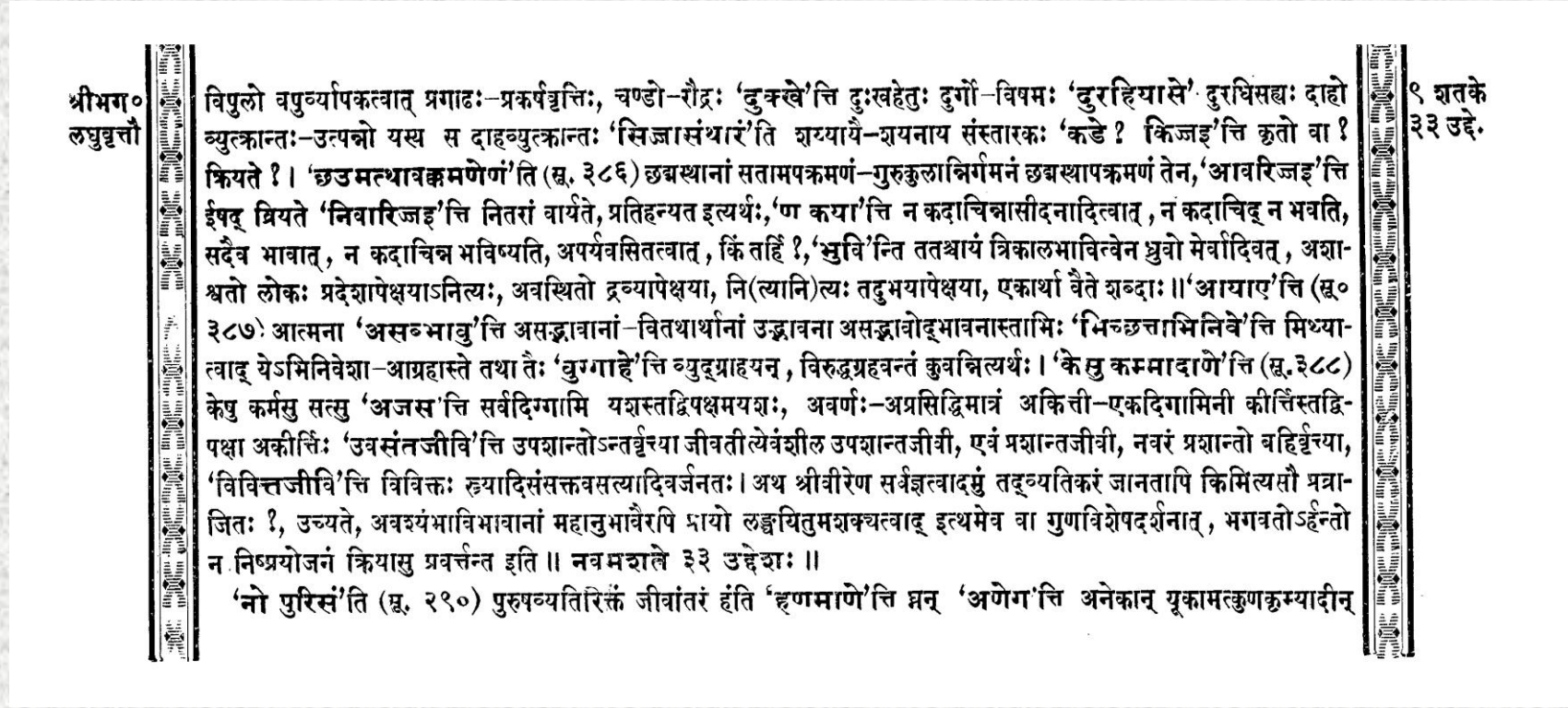

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विपुलो वपुर्व्यापकत्वात् प्रगाढः–प्रकर्षवृत्तिः, चण्डो–रौद्रः 'दुक्खे'त्ति दुःखहेतुः दुर्गो–विषमः 'दुरहियासे' दुरधिसह्यः दाहो व्युत्क्रान्तः–उत्पन्नो यस्य स दाहव्युत्क्रान्तः 'सिज्जासंथारं'ति शय्यायै–शयनाय संस्तारकः 'कडे ? किज्जइ'त्ति कृतो वा ? क्रियते ?। 'छउमत्थावक्कमणेणं'ति (सू. ३८६) छद्मस्थानां सतामपक्रमणं–गुरुकुलान्निर्गमनं छद्मस्थापक्रमणं तेन, 'आवरिज्जइ'त्ति ईषद् व्रियते 'निवारिज्जइ'त्ति नितरां वार्यते, प्रतिहन्यत इत्यर्थः, 'ण कया'त्ति न कदाचिन्नासीदनादित्वात्, न कदाचिद् न भवति, सदैव भावात्, न कदाचिन्न भविष्यति, अपर्यवसितत्वात्, किं तर्हि ?, 'भुवि'न्ति ततश्चायं त्रिकालभाविन्वेन ध्रुवो मेर्वादिवत्, अशाश्वतो लोकः प्रदेशापेक्षयाऽनित्यः, अवस्थितो द्रव्यापेक्षया, नि(त्यानि)त्यः तदुभयापेक्षया, एकार्था वैते शब्दाः ॥'आयाए'त्ति (सू० ३८७) आत्मना 'असब्भावु'त्ति असद्भावानां–वितथार्थानां उद्भावना असद्भावोद्भावनास्तामिः 'मिच्छत्ताभिनिवे'त्ति मिथ्यात्वाद् येऽभिनिवेशा–आग्रहास्ते तथा तैः 'वुग्गाहे'त्ति व्युद्ग्राहयन्, विरुद्धग्रहवन्तं कुर्वन्नित्यर्थः। 'केसु कम्मादाणे'त्ति (सू.३८८) केषु कर्मसु सत्सु 'अजस'त्ति सर्वदिग्गामि यशस्तद्विपक्षमयशः, अवर्णः–अप्रसिद्धिमात्रं अकित्ती–एकदिगामिनी कीर्त्तिस्तद्विपक्षा अकीर्त्तिः 'उवसंतजीवि'त्ति उपशान्तोऽन्तर्वृत्त्या जीवतीत्येवंशील उपशान्तजीवी, एवं प्रशान्तजीवी, नवरं प्रशान्तो बहिर्वृत्त्या, 'विवित्तजीवि'त्ति विविक्तः स्त्र्यादिसंसक्तवसत्यादिवर्जनतः। अथ श्रीवीरेण सर्वज्ञत्वादमुं तद्व्यतिकरं जानतापि किमित्यसौ प्रव्राजितः ?, उच्यते, अवश्यंभाविभावानां महानुभावैरपि प्रायो लङ्घयितुमशक्यत्वाद् इत्थमेव वा गुणविशेषदर्शनात्, भगवतोऽर्हन्तो न निष्प्रयोजनं क्रियासु प्रवर्त्तन्त इति ॥ नवमशते ३३ उद्देशः ॥

'नो पुरिसं'ति (सू. २९०) पुरुषव्यतिरिक्तं जीवांतरं हंति 'हणमाणे'त्ति घ्नन् 'अणेग'त्ति अनेकान् यूकामत्कुणकुम्यादीन्

९ शतके ३३ उद्दे.

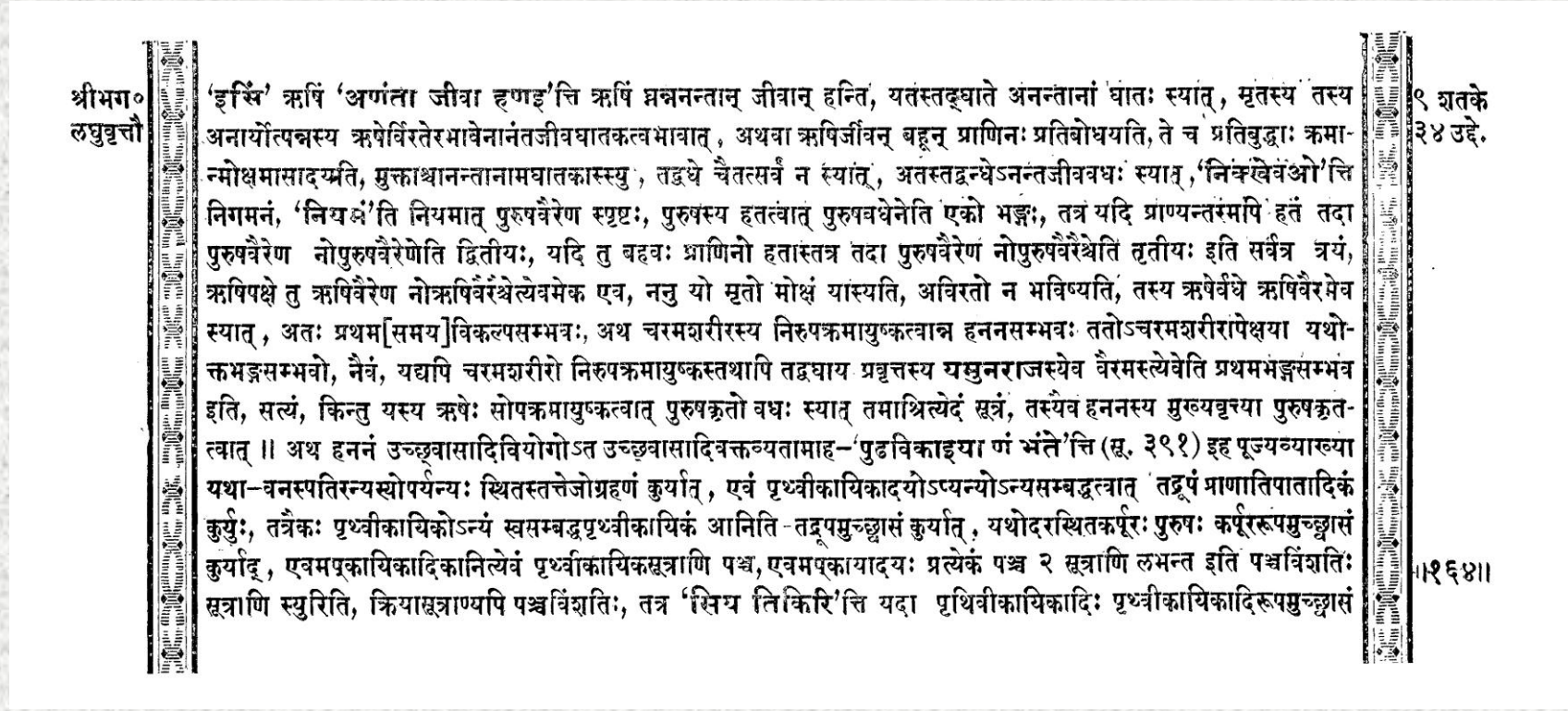

श्रीभग० लघुवृत्तौ

‘इसिं’ ऋषिं ‘अणंता जीवा हणइ’त्ति ऋषिं घ्नन्ननन्तान् जीवान् हन्ति, यतस्तद्घाते अनन्तानां घातः स्यात्, मृतस्य तस्य अनार्योत्पन्नस्य ऋषेर्विरतेरभावेनानंतजीवघातकत्वभावात्, अथवा ऋषिर्जीवन् बहून् प्राणिनः प्रतिबोधयति, ते च प्रतिबुद्धाः क्रमान्मोक्षमासादयन्ति, मुक्ताश्चानन्तानामघातकास्स्यु, तद्वधे चैतत्सर्वं न स्यात्, अतस्तद्घन्धेऽनन्तजीववधः स्यात्,‘निक्खेवओ’त्ति निगमनं, ‘नियमं’ति नियमात् पुरुषवैरेण स्पृष्टः, पुरुषस्य हतत्वात् पुरुषवधेनेति एको भङ्गः, तत्र यदि प्राण्यन्तरमपि हतं तदा पुरुषवैरेण नोपुरुषवैरेणेति द्वितीयः, यदि तु बहवः प्राणिनो हतास्तत्र तदा पुरुषवैरेण नोपुरुषवैरैश्चेति तृतीयः इति सर्वत्र त्रयं, ऋषिपक्षे तु ऋषिवैरेण नोऋषिवैरैश्चेत्येवमेक एव, ननु यो मृतो मोक्षं यास्यति, अविरतो न भविष्यति, तस्य ऋषेर्वधे ऋषिवैरमेव स्यात्, अतः प्रथम[समय]विकल्पसम्भवः, अथ चरमशरीरस्य निरुपक्रमायुष्कत्वान्न हननसम्भवः ततोऽचरमशरीरापेक्षया यथोक्तभङ्गसम्भवो, नैवं, यद्यपि चरमशरीरो निरुपक्रमायुष्कस्तथापि तद्घाय प्रवृत्तस्य **यमुनराजस्येव** वैरमस्त्येवेति प्रथमभङ्गसम्भव इति, सत्यं, किन्तु यस्य ऋषेः सोपक्रमायुष्कत्वात् पुरुषकृतो वधः स्यात् तमाश्रित्येदं सूत्रं, तस्यैव हननस्य मुख्यवृत्त्या पुरुषकृतत्वात् ॥ अथ हननं उच्छ्वासादिवियोगोऽत उच्छ्वासादिवक्तव्यतामाह–‘पुढविकाइया णं भंते’त्ति (सू. ३९१) इह पूज्यव्याख्या यथा–वनस्पतिरन्यस्योपर्यन्यः स्थितस्तत्तेजोग्रहणं कुर्यात्, एवं पृथ्वीकायिकादयोऽप्यन्योऽन्यसम्बद्धत्वात् तद्रूपं प्राणातिपातादिकं कुर्युः, तत्रैकः पृथ्वीकायिकोऽन्यं स्वसम्बद्धपृथ्वीकायिकं आनिति-तद्रूपमुच्छ्वासं कुर्यात्, यथोदरस्थितकर्पूरः पुरुषः कर्पूररूपमुच्छ्वासं कुर्याद्, एवमप्कायिकादिकानित्येवं पृथ्वीकायिकसूत्राणि पञ्च, एवमप्कायादयः प्रत्येकं पञ्च २ सूत्राणि लभन्त इति पञ्चविंशतिः सूत्राणि स्युरिति, क्रियासूत्राण्यपि पञ्चविंशतिः, तत्र ‘सिय तिकिरि’त्ति यदा पृथिवीकायिकादिः पृथ्वीकायिकादिरूपमुच्छ्वासं

९ शतके ३४ उद्दे.

॥१६४॥

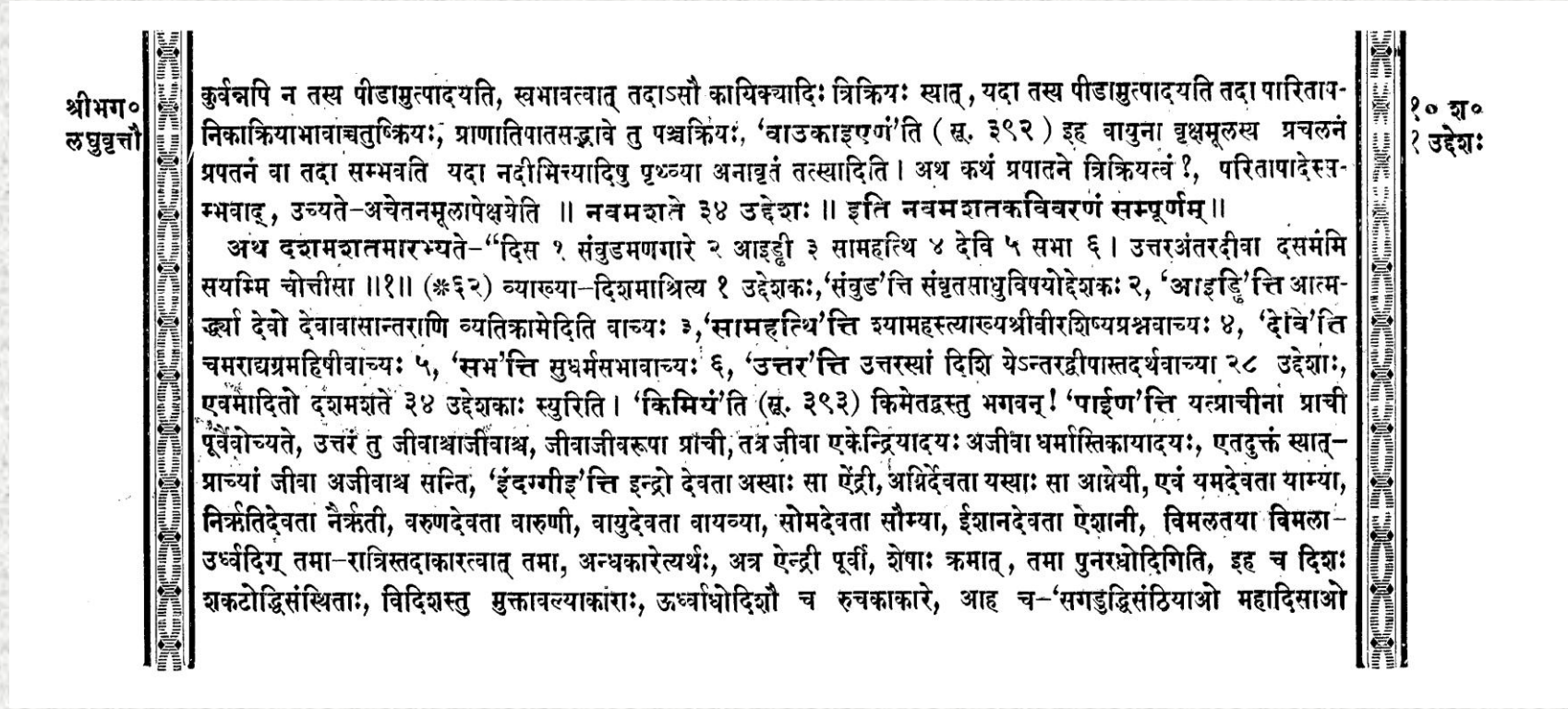

श्रीभग० लघुवृत्तौ

कुर्वन्नपि न तस्य पीडामुत्पादयति, स्वभावत्वात् तदाऽसौ कायिक्यादिः त्रिक्रियः स्यात्, यदा तस्य पीडामुत्पादयति तदा पारितापनिकाक्रियाभावाच्चतुष्क्रियः, प्राणातिपातसद्भावे तु पञ्चक्रियः, 'वाउकाइएणं'ति (सू. ३९२) इह वायुना वृक्षमूलस्य प्रचलनं प्रपतनं वा तदा सम्भवति यदा नदीभित्त्यादिषु पृथ्व्या अनावृतं तत्स्यादिति। अथ कथं प्रपातने त्रिक्रियत्वं?, परितापादेस्तत्सम्भवाद्, उच्यते-अचेतनमूलापेक्षयेति ॥ नवमशते ३४ उद्देशः ॥ इति नवमशतकविवरणं सम्पूर्णम्॥

अथ दशमशतमारभ्यते-"दिस १ संवुडमणगारे २ आइड्ढी ३ सामहत्थि ४ देवि ५ सभा ६। उत्तरअंतरदीवा दसमंमि सयम्मि चोत्तीसा ॥१॥ (*६२) व्याख्या-दिशमाश्रित्य १ उद्देशकः,'संवुड'त्ति संवृतसाधुविषयोद्देशकः २, 'आइड्ढि'त्ति आत्मर्द्ध्या देवो देवावासान्तराणि व्यतिक्रामेदिति वाच्यः ३,'सामहत्थि'त्ति श्यामहस्त्याख्यश्रीवीरशिष्यप्रश्नवाच्यः ४, 'देवि'त्ति चमराद्यग्रमहिषीवाच्यः ५, 'सभ'त्ति सुधर्मसभावाच्यः ६, 'उत्तर'त्ति उत्तरस्यां दिशि येऽन्तरद्वीपास्तदर्थवाच्या २८ उद्देशाः, एवमादितो दशमशते ३४ उद्देशकाः स्युरिति। 'किमियं'ति (सू. ३९३) किमेतद्वस्तु भगवन्! 'पाईण'त्ति यत्प्राचीना प्राची पूर्वेवोच्यते, उत्तरं तु जीवाश्चाजीवाश्च, जीवाजीवरूपा प्राची, तत्र जीवा एकेन्द्रियादयः अजीवा धर्मास्तिकायादयः, एतदुक्तं स्यात्-प्राच्यां जीवा अजीवाश्च सन्ति, 'इंदग्गीइ'त्ति इन्द्रो देवता अस्याः सा ऐंद्री, अग्निर्देवता यस्याः सा आग्नेयी, एवं यमदेवता याम्या, निर्ऋतिदेवता नैर्ऋती, वरुणदेवता वारुणी, वायुदेवता वायव्या, सोमदेवता सौम्या, ईशानदेवता ऐशानी, विमलतया विमला-ऊर्ध्वदिग् तमा-रात्रिस्तदाकारत्वात् तमा, अन्धकारेत्यर्थः, अत्र ऐन्द्री पूर्वा, शेषाः क्रमात्, तमा पुनरधोदिगिति, इह च दिशः शकटोद्धिसंस्थिताः, विदिशस्तु मुक्तावल्याकाराः, ऊर्ध्वाधोदिशौ च रुचकाकारे, आह च-'सगडुद्धिसंठियाओ महादिसाओ

१० श० १ उद्देशः

*** अत्र शतक-९ समाप्तं. अथ शतक-१० आरभ्यते

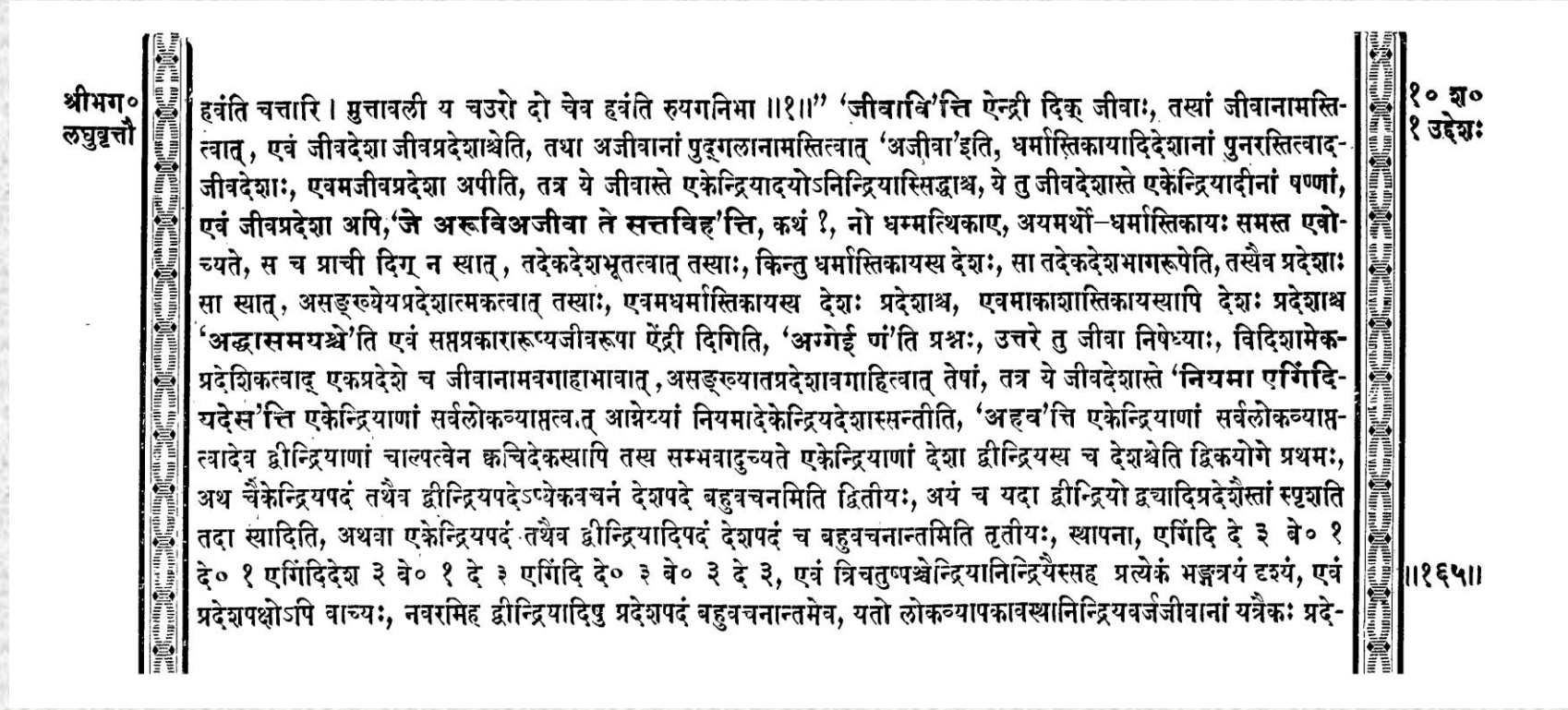

श्रीभग० लघुवृत्तौ

हवंति चत्तारि। मुत्तावली य चउरो दो चेव हवंति रुयगनिभा ॥१॥" 'जीवाविं'त्ति ऐन्द्री दिक् जीवाः, तस्यां जीवानामस्तित्वात्, एवं जीवदेशा जीवप्रदेशाश्चेति, तथा अजीवानां पुद्गलानामस्तित्वात् 'अजीवा'इति, धर्मास्तिकायादिदेशानां पुनरस्तित्वाद्-जीवदेशाः, एवमजीवप्रदेशा अपीति, तत्र ये जीवास्ते एकेन्द्रियादयोऽनिन्द्रियास्सिद्धाश्च, ये तु जीवदेशास्ते एकेंन्द्रियादीनां षण्णां, एवं जीवप्रदेशा अपि,'जे अरूविअजीवा ते सत्तविह'त्ति, कथं ?, नो धम्मत्थिकाए, अयमर्थो–धर्मास्तिकायः समस्त एवोच्यते, स च प्राची दिग् न स्यात्, तदेकदेशभूतत्वात् तस्याः, किन्तु धर्मास्तिकायस्य देशः, सा तदेकदेशभागरूपेति, तस्यैव प्रदेशाः सा स्यात्, असङ्ख्येयप्रदेशात्मकत्वात् तस्याः, एवमधर्मास्तिकायस्य देशः प्रदेशाश्च, एवमाकाशास्तिकायस्यापि देशः प्रदेशाश्च 'अद्धासमयश्चे'ति एवं सप्तप्रकाररूप्यजीवरूपा ऐंद्री दिगिति, 'अग्गेई णं'ति प्रश्नः, उत्तरे तु जीवा निषेध्याः, विदिशामेकप्रदेशिकत्वाद् एकप्रदेशे च जीवानामवगाहाभावात्, असङ्ख्यातप्रदेशावगाहित्वात् तेषां, तत्र ये जीवदेशास्ते 'नियमा एगिंदियदेस'त्ति एकेन्द्रियाणां सर्वलोकव्याप्तत्वात् आग्नेय्यां नियमादेकेन्द्रियदेशास्सन्तीति, 'अहव'त्ति एकेन्द्रियाणां सर्वलोकव्याप्तत्वादेव द्वीन्द्रियाणां चाल्पत्वेन क्वचिदेकस्यापि तस्य सम्भवादुच्यते एकेन्द्रियाणां देशा द्वीन्द्रियस्य च देशश्चेति द्विकयोगे प्रथमः, अथ चैकेन्द्रियपदं तथैव द्वीन्द्रियपदेऽप्येकवचनं देशपदे बहुवचनमिति द्वितीयः, अयं च यदा द्वीन्द्रियो द्व्यादिप्रदेशैस्तां स्पृशति तदा स्यादिति, अथवा एकेन्द्रियपदं तथैव द्वीन्द्रियादिपदं देशपदं च बहुवचनान्तमिति तृतीयः, स्थापना, एगिंदि दे ३ बे० १ दे० १ एगिंदिदेश ३ बे० १ दे ३ एगिंदि दे० ३ बे० ३ दे ३, एवं त्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियानिन्द्रियैस्सह प्रत्येकं भङ्गत्रयं दृश्यं, एवं प्रदेशपक्षोऽपि वाच्यः, नवरमिह द्वीन्द्रियादिषु प्रदेशपदं बहुवचनान्तमेव, यतो लोकव्यापकावस्थानिन्द्रियवर्जजीवानां यत्रैकः प्रदे-

१० श० १ उद्देशः

॥१६५॥

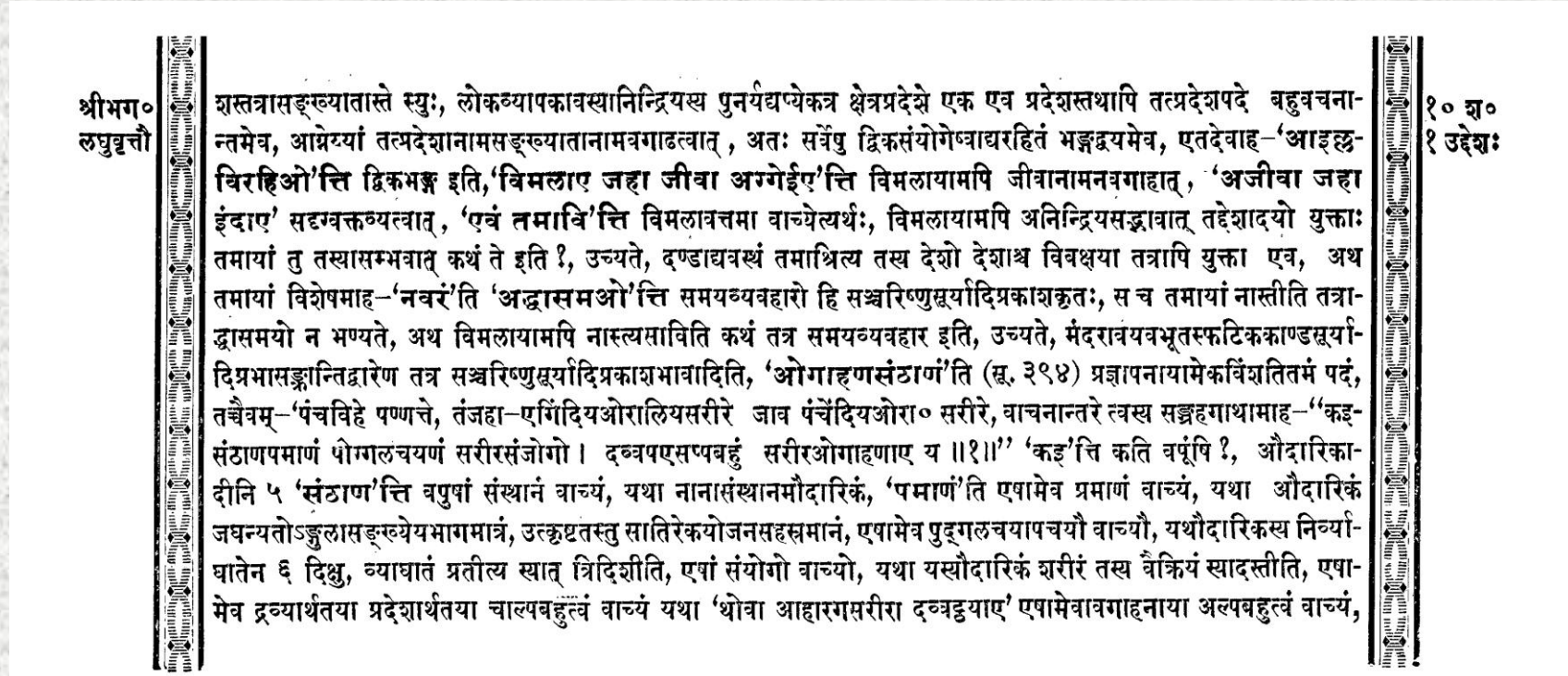

श्रीभग० लघुवृत्तौ

शस्तत्रासङ्ख्यातास्ते स्युः, लोकव्यापकावस्थानिन्द्रियस्य पुनर्यद्यप्येकत्र क्षेत्रप्रदेशे एक एव प्रदेशस्तथापि तत्प्रदेशपदे बहुवचनान्तमेव, आग्नेय्यां तत्प्रदेशानामसङ्ख्यातानामवगाढत्वात्, अतः सर्वेषु द्विकसंयोगेष्वाद्यरहितं भङ्गद्वयमेव, एतदेवाह–‘आइल्लविरहिओ’त्ति द्विकभङ्ग इति,‘विमलाए जहा जीवा अग्गेईए’त्ति विमलायामपि जीवानामनवगाहात्, ‘अजीवा जहा इंदाए’ सदृग्वक्तव्यत्वात्, ‘एवं तमावि’त्ति विमलावत्तमा वाच्येत्यर्थः, विमलायामपि अनिन्द्रियसद्भावात् तद्देशादयो युक्ताः तमायां तु तस्यासम्भवात् कथं ते इति ?, उच्यते, दण्डाद्यवस्थं तमाश्रित्य तस्य देशो देशाश्च विवक्षया तत्रापि युक्ता एव, अथ तमायां विशेषमाह–‘नवरं’ति ‘अद्धासमओ’त्ति समयव्यवहारो हि सञ्चरिष्णुसूर्यादिप्रकाशकृतः, स च तमायां नास्तीति तत्राद्धासमयो न भण्यते, अथ विमलायामपि नास्त्यसाविति कथं तत्र समयव्यवहार इति, उच्यते, मंदरावयवभूतस्फटिककाण्डसूर्यादिप्रभासङ्क्रान्तिद्वारेण तत्र सञ्चरिष्णुसूर्यादिप्रकाशभावादिति, ‘ओगाहणसंठाणं’ति (सू. ३९४) प्रज्ञापनायामेकविंशतितमं पदं, तच्चैवम्–‘पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा–एगिंदियओरालियसरीरे जाव पंचेंदियओरा० सरीरे, वाचनान्तरे त्वस्य सङ्ग्रहगाथामाह–“कइसंठाणपमाणं पोग्गलचयणं सरीरसंजोगो। दव्वपएसप्पबहुं सरीरओगाहणाए य ॥१॥” ‘कइ’त्ति कति वपूंषि ?, औदारिकादीनि ५ ‘संठाण’त्ति वपुषां संस्थानं वाच्यं, यथा नानासंस्थानमौदारिकं, ‘पमाणं’ति एषामेव प्रमाणं वाच्यं, यथा औदारिकं जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रं, उत्कृष्टतस्तु सातिरेकयोजनसहस्रमानं, एषामेव पुद्गलचयापचयौ वाच्यौ, यथौदारिकस्य निर्व्याघातेन ६ दिक्षु, व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशीति, एषां संयोगो वाच्यो, यथा यस्यौदारिकं शरीरं तस्य वैक्रियं स्यादस्तीति, एषामेव द्रव्यार्थतया प्रदेशार्थतया चाल्पबहुत्वं वाच्यं यथा ‘थोवा आहारगसरीरा दव्वट्ठयाए’ एषामेवावगाहनाया अल्पबहुत्वं वाच्यं,

१० श० १ उद्देशः

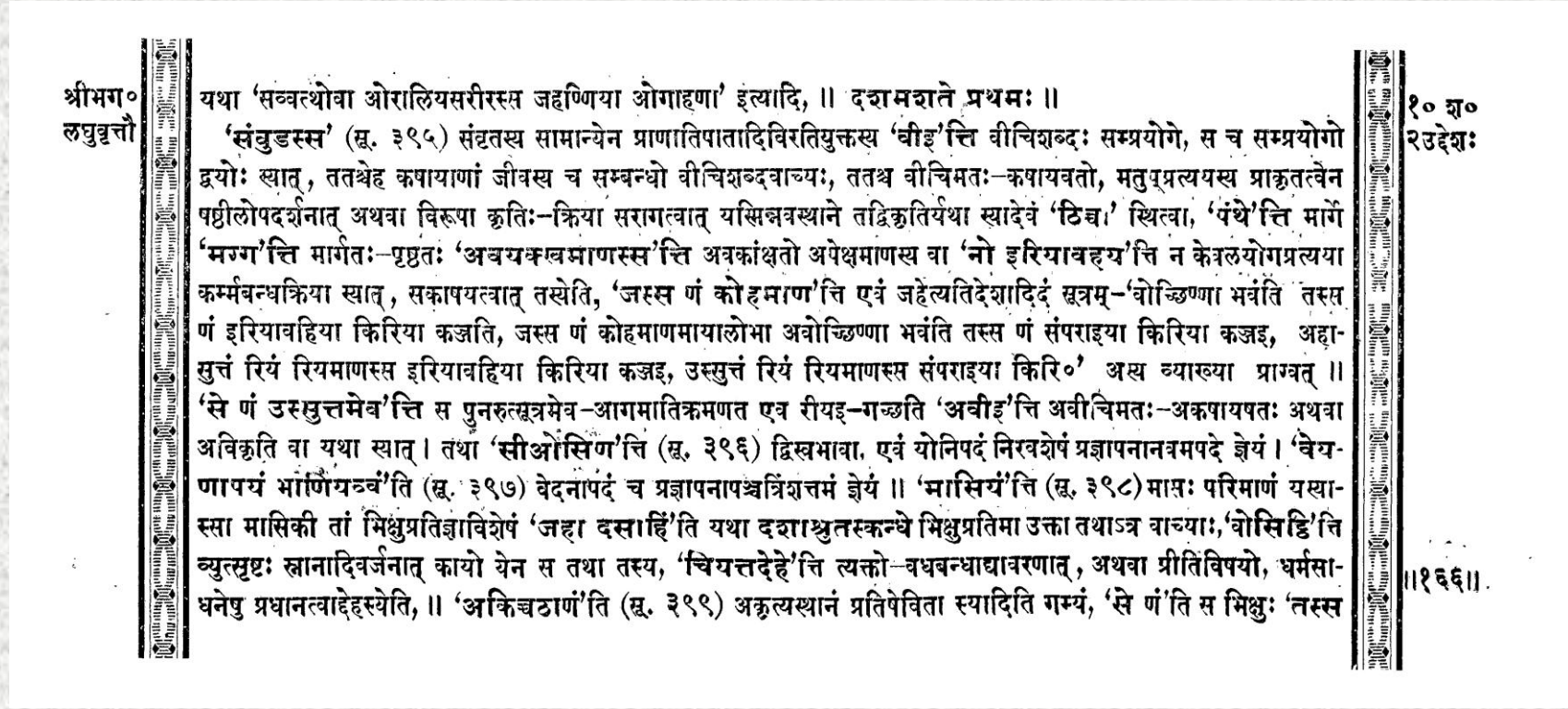

श्रीभग० लघुवृत्तौ

यथा 'सव्वत्थोवा ओरालियसरीरस्स जहण्णिया ओगाहणा' इत्यादि, ॥ दशमशते प्रथमः ॥

'संवुडस्स' (सू. ३९५) संवृतस्य सामान्येन प्राणातिपातादिविरतियुक्तस्य 'वीइ'त्ति वीचिशब्दः सम्प्रयोगे, स च सम्प्रयोगो द्वयोः स्यात्, ततश्चेह कषायाणां जीवस्य च सम्बन्धो वीचिशब्दवाच्यः, ततश्च वीचिमतः–कषायवतो, मतुप्प्रत्ययस्य प्राकृतत्वेन पष्ठीलोपदर्शनात् अथवा विरूपा कृतिः–क्रिया सरागत्वात् यस्मिन्नवस्थाने तद्विकृतिर्यथा स्यादेवं 'ठिच्चा' स्थित्वा, 'पंथे'त्ति मार्गे 'मग्ग'त्ति मार्गतः–पृष्ठतः 'अवयक्खमाणस्स'त्ति अवकांक्षतो अपेक्षमाणस्य वा 'नो इरियावहिय'त्ति न केवलयोगप्रत्यया कर्म्मबन्धक्रिया स्यात्, सकषायत्वात् तस्येति, 'जस्स णं कोहमाण'त्ति एवं जहेत्यतिदेशादिदं सूत्रम्–'वोच्छिण्णा भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जति, जस्स णं कोहमाणमायालोभा अवोच्छिण्णा भवंति तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ, अहासुत्तं रियं रियमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उस्सुत्तं रियं रियमाणस्स संपराइया किरि०' अस्य व्याख्या प्राग्वत् ॥ 'से णं उस्सुत्तमेव'त्ति स पुनरुत्सूत्रमेव–आगमातिक्रमणत एव रीयइ–गच्छति 'अवीइ'त्ति अवीचिमतः–अकषायवतः अथवा अविकृति वा यथा स्यात्। तथा 'सीओसिण'त्ति (सू. ३९६) द्विस्वभावा, एवं योनिपदं निरवशेषं प्रज्ञापनानवमपदे ज्ञेयं। 'वेयणापयं भाणियव्वं'ति (सू. ३९७) वेदनापदं च प्रज्ञापनापञ्चत्रिंशत्तमं ज्ञेयं ॥ 'मासियं'त्ति (सू. ३९८) मासः परिमाणं यस्यास्सा मासिकी तां भिक्षुप्रतिज्ञाविशेषं 'जहा दसाहिं'ति यथा दशाश्रुतस्कन्धे भिक्षुप्रतिमा उक्ता तथाऽत्र वाच्याः,'वोसिट्ठे'त्ति व्युत्सृष्टः स्नानादिवर्जनात् कायो येन स तथा तस्य, 'चियत्तदेहे'त्ति त्यक्तो–वधबन्धाद्यावरणात्, अथवा प्रीतिविषयो, धर्मसाधनेषु प्रधानत्वाद्देहस्येति, ॥ 'अकिच्चठाणं'ति (सू. ३९९) अकृत्यस्थानं प्रतिषेविता स्यादिति गम्यं, 'से णं'ति स भिक्षुः 'तस्स

१० श० २उद्देशः

॥१६६॥

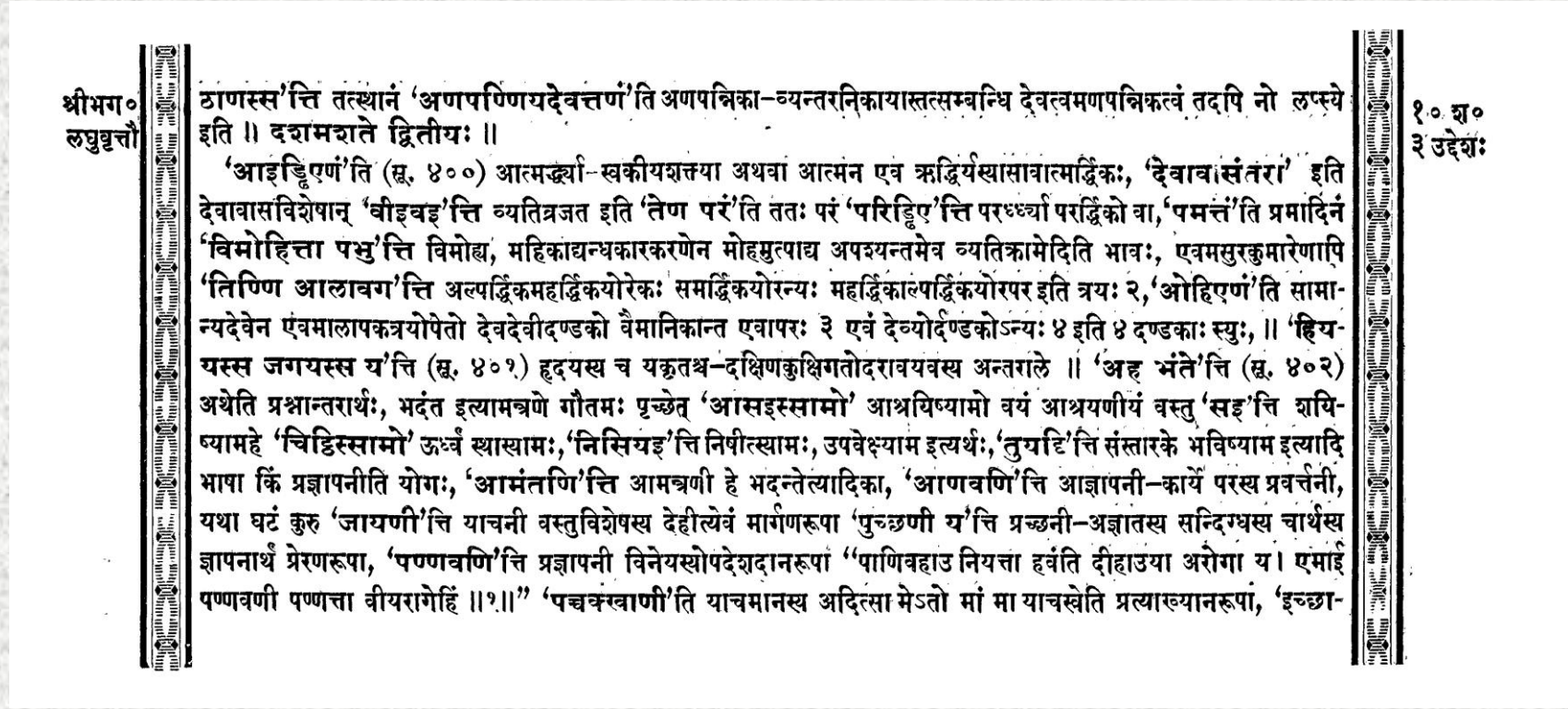

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ठाणस्स'त्ति तत्स्थानं 'अणपण्णियदेवत्तणं'ति अणपन्निका–व्यन्तरनिकायास्तत्सम्बन्धि देवत्वमणपन्निकत्वं तदपि नो लप्स्ये इति ॥ दशमशते द्वितीयः ॥

'आइड्ढिएणं'ति (सू. ४००) आत्मर्द्ध्या–स्वकीयशक्त्या अथवा आत्मन एव ऋद्धिर्यस्यासावात्मर्द्धिकः, 'देवावासंतरं' इति देवावासविशेषान् 'वीइवइ'त्ति व्यतिव्रजत इति 'तेण परं'ति ततः परं 'परिड्ढिए'त्ति परर्ध्या परर्द्धिको वा, 'पमत्तं'ति प्रमादिनं 'विमोहित्ता पभु'त्ति विमोह्य, महिकाद्यन्धकारकरणेन मोहमुत्पाद्य अपश्यन्तमेव व्यतिक्रामेदिति भावः, एवमसुरकुमारेणापि 'तिण्णि आलावग'त्ति अल्पर्द्धिकमहर्द्धिकयोरेकः समर्द्धिकयोरन्यः महर्द्धिकाल्पर्द्धिकयोरपर इति त्रयः २, 'ओहिएणं'ति सामान्यदेवेन एवमालापकत्रयोपेतो देवदेवीदण्डको वैमानिकान्त एवापरः ३ एवं देव्योर्दण्डकोऽन्यः ४ इति ४ दण्डकाः स्युः, ॥ 'हियस्स जगयस्स य'त्ति (सू. ४०१) हृदयस्य च यकृतश्च–दक्षिणकुक्षिगतोदरावयवस्य अन्तराले ॥ 'अह भंते'त्ति (सू. ४०२) अथेति प्रश्नान्तरार्थः, भदंत इत्यामन्त्रणे गौतमः पृच्छेत् 'आसइस्सामो' आश्रयिष्यामो वयं आश्रयणीयं वस्तु 'सइ'त्ति शयिष्यामहे 'चिट्ठिस्सामो' ऊर्ध्वं स्थास्यामः, 'निसियइ'त्ति निषीत्स्यामः, उपवेक्ष्याम इत्यर्थः, 'तुयट्टि'त्ति संस्तारके भविष्याम इत्यादि भाषा किं प्रज्ञापनीति योगः, 'आमंतणि'त्ति आमन्त्रणी हे भदन्तेत्यादिका, 'आणवणि'त्ति आज्ञापनी–कार्ये परस्य प्रवर्त्तनी, यथा घटं कुरु 'जायणी'त्ति याचनी वस्तुविशेषस्य देहीत्येवं मार्गणरूपा 'पुच्छणी य'त्ति प्रच्छनी–अज्ञातस्य सन्दिग्धस्य चार्थस्य ज्ञापनार्थं प्रेरणरूपा, 'पण्णवणि'त्ति प्रज्ञापनी विनेयस्योपदेशदानरूपा “पाणिवहाउ नियत्ता हवंति दीहाउया अरोगा य। एमाई पण्णवणी पण्णत्ता वीयरागेहिं ॥१॥” 'पच्चक्खाणी'ति याचमानस्य अदित्सा मेऽतो मां मा याचस्वेति प्रत्याख्यानरूपा, 'इच्छा-

१० श० ३ उद्देशः

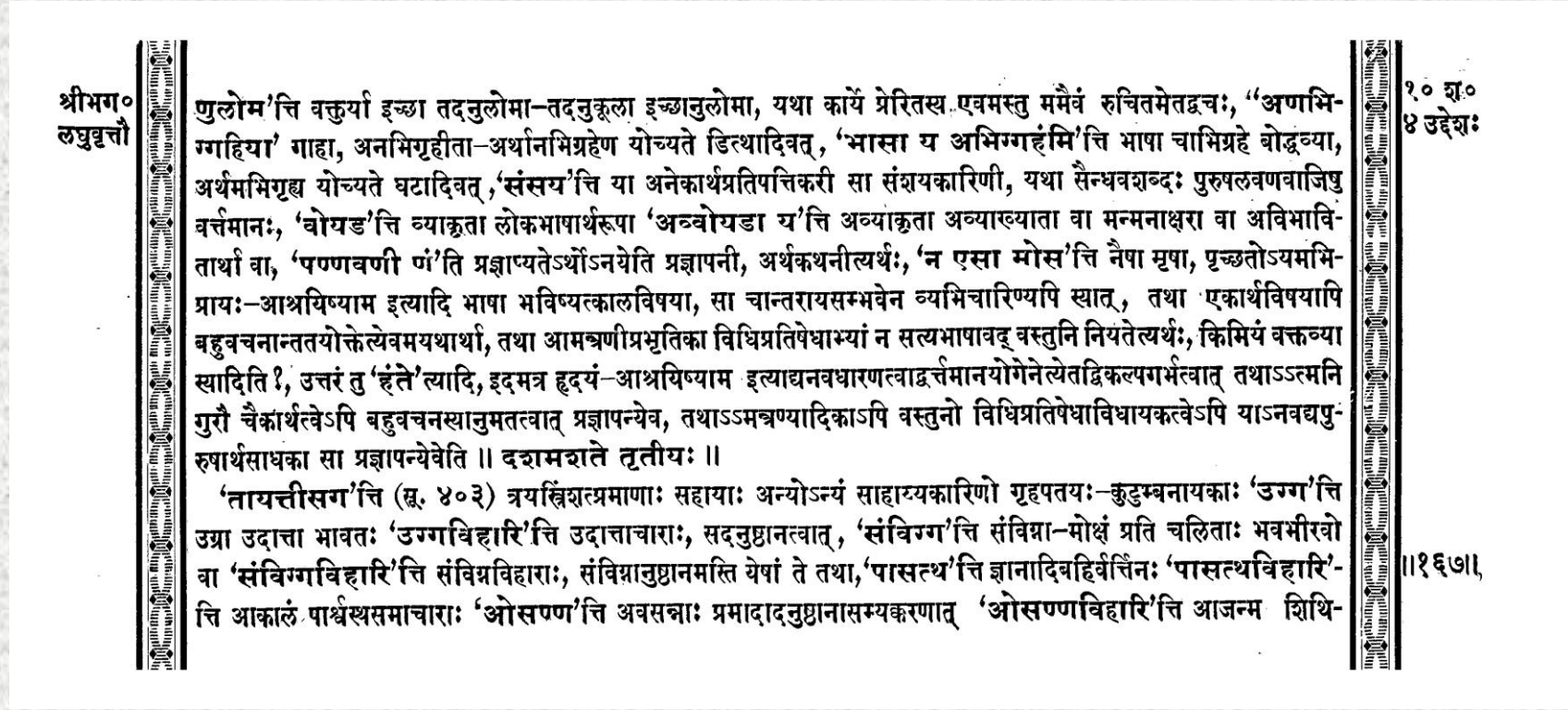

श्रीभग० लघुवृत्तौ

णुलोम'त्ति वक्तुर्या इच्छा तदनुलोमा–तदनुकूला इच्छानुलोमा, यथा कार्ये प्रेरितस्य एवमस्तु ममैवं रुचितमेतद्वचः, "अणभिग्गहिया' गाहा, अनभिगृहीता–अर्थानभिग्रहेण योच्यते डित्थादिवत्, 'भासा य अभिग्गहंमि'त्ति भाषा चाभिग्रहे बोद्धव्या, अर्थमभिगृह्य योच्यते घटादिवत्,'संसय'त्ति या अनेकार्थप्रतिपत्तिकरी सा संशयकारिणी, यथा सैन्धवशब्दः पुरुषलवणवाजिषु वर्त्तमानः, 'वोयड'त्ति व्याकृता लोकभाषार्थरूपा 'अव्वोयडा य'त्ति अव्याकृता अव्याख्याता वा मन्मनाक्षरा वा अविभावितार्था वा, 'पण्णवणी णं'ति प्रज्ञाप्यतेऽर्थोऽनयेति प्रज्ञापनी, अर्थकथनीत्यर्थः, 'न एसा मोस'त्ति नैषा मृषा, पृच्छतोऽयमभिप्रायः–आश्रयिष्याम इत्यादि भाषा भविष्यत्कालविषया, सा चान्तरायसम्भवेन व्यभिचारिण्यपि स्यात्, तथा एकार्थविषयापि बहुवचनान्ततयोक्तेत्येवमयथार्था, तथा आमन्त्रणीप्रभृतिका विधिप्रतिषेधाभ्यां न सत्यभाषावद् वस्तुनि नियतेत्यर्थः, किमियं वक्तव्या स्यादिति?, उत्तरं तु 'हंते'त्यादि, इदमत्र हृदयं–आश्रयिष्याम इत्याद्यनवधारणत्वाद्वर्त्तमानयोगेनेत्येतद्विकल्पगर्भत्वात् तथाऽऽत्मनि गुरौ चैकार्थत्वेऽपि बहुवचनस्यानुमतत्वात् प्रज्ञापन्येव, तथाऽऽमन्त्रण्यादिकाऽपि वस्तुनो विधिप्रतिषेधाविधायकत्वेऽपि याऽनवद्यपुरुषार्थसाधका सा प्रज्ञापन्येवेति ॥ दशमशते तृतीयः ॥

'तायत्तीसग'त्ति (सू. ४०३) त्रयस्त्रिंशत्प्रमाणाः सहायाः अन्योऽन्यं साहाय्यकारिणो गृहपतयः–कुटुम्बनायकाः 'उग्ग'त्ति उग्रा उदात्ता भावतः 'उग्गविहारि'त्ति उदात्ताचाराः, सदनुष्ठानत्वात्, 'संविग्ग'त्ति संविग्ना–मोक्षं प्रति चलिताः भवभीरवो वा 'संविग्गविहारि'त्ति संविग्नविहाराः, संविग्नानुष्ठानमस्ति येषां ते तथा,'पासत्थ'त्ति ज्ञानादिबहिर्वर्त्तिनः 'पासत्थविहारि'त्ति आकालं पार्श्वस्थसमाचाराः 'ओसण्ण'त्ति अवसन्नाः प्रमादादनुष्ठानासम्यक्करणात् 'ओसण्णविहारि'त्ति आजन्म शिथि-

१० श० ४ उद्देशः

॥१६७॥

श्रीभग० लघुवृत्तौ

लाचारा इत्यर्थः 'कुसील'त्ति ज्ञानाद्याचारविराधनात् 'कुसीलविहारि'त्ति आजन्म ज्ञानातिचारविराधनात् 'अहाछंद'त्ति यथा कथंचित्, नागमपरतन्त्रतया, छन्दः–अभिप्रायो बोधः प्रवचनार्थेषु येषां ते यथाछन्दाः 'अहाछंदविहारि'त्ति आजन्मापि यथाछन्दा एव, 'तप्पभिइं'ति यत्प्रभृति त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्योपेताः ते श्राद्धाः तत्रोत्पन्नाः तत्प्रभृति, न पूर्वमिति ॥ दशमशते चतुर्थः॥

'से तं तुडिए'त्ति (सू. ४०५) तुटिकं नाम वर्गः, वज्रमयेषु 'गोलवट्ट'त्ति गोलाकारवृत्तसमुद्गकेषु 'जिणसकहाउ'त्ति जिनसक्थीनि–जिनास्थीनि अर्चनीयाश्चन्दनादिना वन्दनीयाः स्तुतिभिः 'नमंसणि'त्ति प्रणामतः पूजनीयाः पुष्पैः सत्कारणीया वस्त्रादिभिः सन्माननीयाः प्रतिपत्तिविशेषैः कल्याणमित्यादिबुध्या पर्युपासनीयाः 'केवलं परियारिड्ढि'त्ति परिचारः परिचारणा स चेह स्त्रीशब्दश्रवणरूपदर्शनादिः स एव ऋद्धिः–सम्पत् परिचारर्द्धिस्तया परिवारर्द्धया वा 'नो चेणं मेहुण'त्ति नैव मैथुनप्रत्ययं यथा स्यादेवं भोगान् भुञ्जानो विहर्त्तुं प्रभुरिति प्रकृतमिति। 'परियारो'त्ति परिवारो यथा 'मोउद्देसए'त्ति तृतीयशतप्रथमोद्देशके 'सओ परियारो'त्ति धरणस्य स्वकः परिवारो वाच्यः, 'णवरं विमाणाइं अट्ठासीइएवि महागहाणं भाणियव्वं जाव जहा तइयसए' यथा तृतीयशते तत्र सोमस्योक्तमेवं यमवरुणवैश्रमणानां तु क्रमात् 'वरसिट्ठे सयंजले वग्गु'त्ति विमाणा, 'जहा चउत्थसए'त्ति क्रमात्तानीशानलोकपालानामिमानि 'सुमिणे सव्वओभद्दे वग्गु सुवग्गु' ॥ दशमशते पञ्चमः ॥

'रयणप्पभाए रायप्पसेणइज्जे'त्ति (सू. ४०६) 'जाव'त्ति यावत्करणादिदं दृश्यम्–'पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमगसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणाइं बहूइं जोयणसयाइं एवं सहस्साइं सयसहस्साइं बहूओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढं दूरं वइत्ता एत्थ णं सोहम्मे नामं कप्पे पण्णत्ते' इत्यादि,'असोगवडिंसए सत्तिवण्णवडिंसए चंपगवडिंसए चूय-

१० श० ४-५-६ उद्देशः

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वडिंसए' अथ विवक्षितार्थसूचिकां गाथामाह–'एवं जह सूरियाभे तहेव माणं तहेव उववाओ। सक्कस्स य अभिसेओ तहेव जह सूरियाभस्स ॥१॥'त्ति एवं यथा सूरियाभे विमाने राजप्रश्नीयग्रन्थोक्ते प्रमाणमुक्तं तथैवास्मिन् वाच्यं शक्रस्येति 'जाव आयरक्खे'त्ति अर्चनिकायाः परो ग्रन्थस्तावद्वाच्यः यावदात्मरक्षाः ॥ दशमशते षष्ठः ॥

'उत्तरिल्लाणं'ति (सू. ४०७) मेरोरुत्तरदिग्वर्त्तिशिखरिपर्वतदंष्ट्रागतान् लवणसमुद्रान्तर्वर्त्तिनोऽष्टाविंशतिमुद्देशकानाह–'जहा जीवाभिगमे' इत्ययमतिदेशः प्रागुक्तदाक्षिणात्यान्तरद्वीपवक्तव्यतानुसारेणावगन्तव्यः ॥ दशमशते चतुस्त्रिंशत्तमः ॥ सम्पूर्णं दशमशतविवरणम् ॥

अथैकादशं शतमारभ्यते, एतदुद्देशकगाथामाह–'उप्पल'त्ति (*६५) उत्पलार्थः प्रथम उद्देशकः, सालूकं–उत्पलस्तदर्थो द्वितीयः, 'पलासे'त्ति पलासः–किंशुकस्तदर्थस्तृतीयः, 'कुंभी'त्ति वनस्पतिविशेषस्तदर्थश्चतुर्थः, 'नाली'त्ति नाडीवत् यस्य फलानि स नाडीको वनस्पतिविशेषस्तदर्थः पञ्चमः, 'पउम'त्ति पद्मार्थः षष्ठः, 'कन्निय'त्ति कर्णिकार्थः सप्तमः, 'नलिण'त्ति नलिनार्थोऽष्टमः, यद्यपि चोत्पलपद्मनलिनानां नामकोशे नामैक्यं तथापि विशेषो रूढेरवसेयः, 'सिव'त्ति शिवराजर्षिवक्तव्यतार्थो नवमः, 'लोग'त्ति लोकार्थो दशमः, 'कालालभिय'त्ति कालार्थं एकादशः आलभिकायां नगर्यां यत्प्ररूपितं तद्वाच्य उद्देशकोऽप्यालभिका इत्युच्यते इत्ययं द्वादशः 'दस दो य'त्ति द्वादशोद्देशका एकादशशते स्युरिति ॥ तत्र प्रथमोद्देशकद्वारसङ्ग्रहगाथा वाचनान्तरे दृष्टाः, ताश्चेमाः "उववाओ १ परिमाणं २ अवहारु ३ चत्त ४ बंध ५ वेदे य ६। उदए ७ उदीरणाए ८ लेसा ९ दिट्ठी य १० नाणे य ११ ॥१॥ जोगु १२ वओगे १३ वण्णरसमाई १४ ऊसासगे य १५ आहारे १६। विरई १७ किरिया

१० श० ६-७-३४ उद्देशाः

॥१६८॥

*** अत्र शतक-१० समाप्तं. अथ शतक-११ आरभ्यते

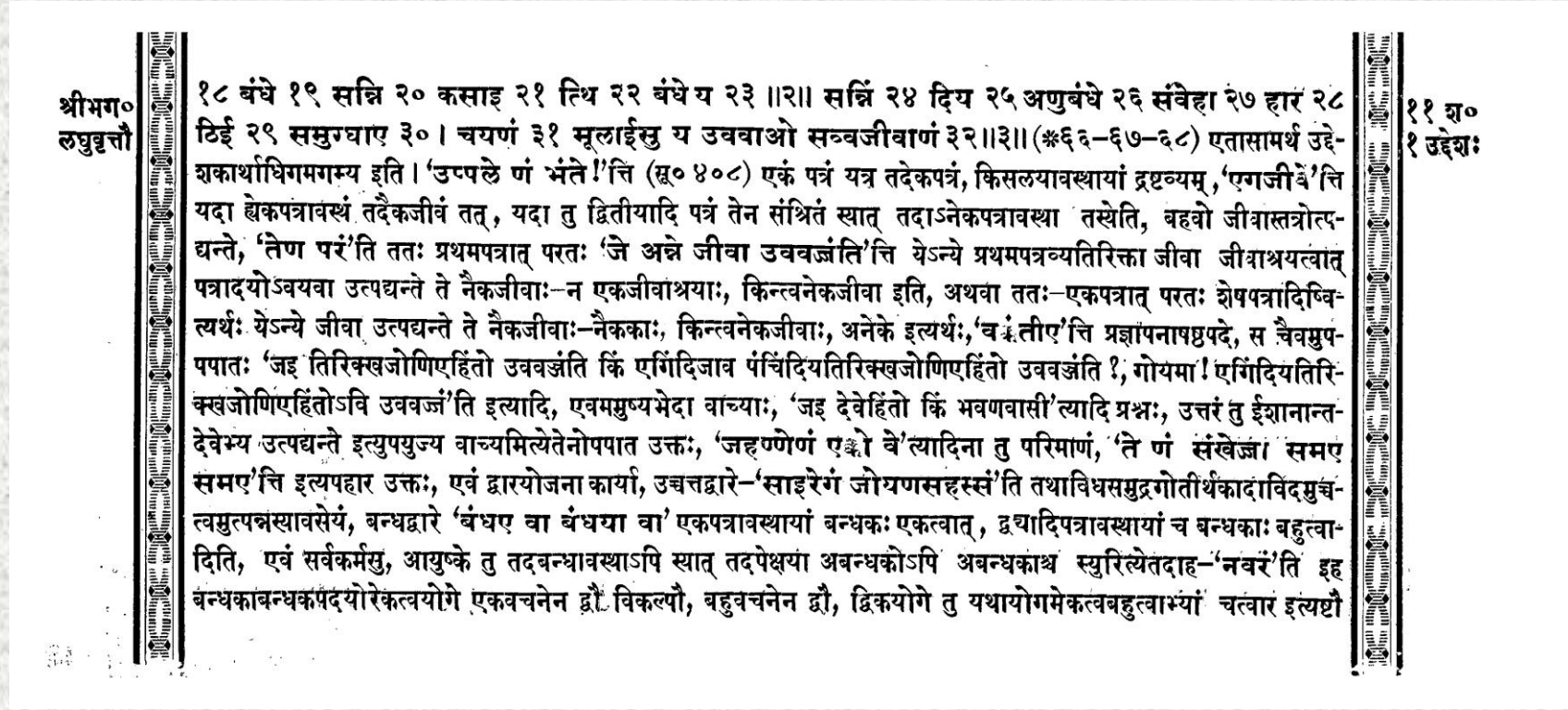

श्रीभग० लघुवृत्तौ

१८ बंधे १९ सन्नि २० कसाइ २१ त्थि २२ बंधे य २३ ॥२॥ सन्निं २४ दिय २५ अणुबंधे २६ संवेहा २७ हारं २८ ठिई २९ समुग्घाए ३०। चयणं ३१ मूलाईसु य उववाओ सव्वजीवाणं ३२॥३॥ (*६६–६७–६८) एतासामर्थ उद्देशकार्थाधिगमगम्य इति। ‘उप्पले णं भंते!’त्ति (सू० ४०८) एकं पत्रं यत्र तदेकपत्रं, किसलयावस्थायां द्रष्टव्यम्, ‘एगजीवे’त्ति यदा ह्येकपत्रावस्थं तदैकजीवं तत्, यदा तु द्वितीयादि पत्रं तेन संश्रितं स्यात् तदाऽनेकपत्रावस्था तस्येति, बहवो जीवास्तत्रोत्पद्यन्ते, ‘तेण परं’ति ततः प्रथमपत्रात् परतः ‘जे अन्ने जीवा उववज्जंति’त्ति येऽन्ये प्रथमपत्रव्यतिरिक्ता जीवा जीवाश्रयत्वात् पत्रादयोऽवयवा उत्पद्यन्ते ते नैकजीवाः–न एकजीवाश्रयाः, किन्त्वनेकजीवा इति, अथवा ततः–एकपत्रात् परतः शेषपत्रादिष्वित्यर्थः येऽन्ये जीवा उत्पद्यन्ते ते नैकजीवाः–नैककाः, किन्त्वनेकजीवाः, अनेके इत्यर्थः, ‘वक्कंतीए’त्ति प्रज्ञापनाषष्ठपदे, स चैवमुपपातः ‘जइ तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति?, गोयमा! एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतोऽवि उववज्ज’ति इत्यादि, एवममुष्यभेदा वाच्याः, ‘जइ देवेहिंतो किं भवणवासी’त्यादि प्रश्नः, उत्तरं तु ईशानान्तदेवेभ्य उत्पद्यन्ते इत्युपयुज्य वाच्यमित्येतेनोपपात उक्तः, ‘जहण्णेणं एक्को वे’त्यादिना तु परिमाणं, ‘ते णं संखेज्जा समए समए’त्ति इत्यपहार उक्तः, एवं द्वारयोजना कार्या, उच्चत्तद्वारे–‘साइरेगं जोयणसहस्सं’ति तथाविधसमुद्रगोतीर्थकादाविदमुच्चत्वमुत्पन्नस्यावसेयं, बन्धद्वारे ‘बंधए वा बंधया वा’ एकपत्रावस्थायां बन्धकः एकत्वात्, द्व्यादिपत्रावस्थायां च बन्धकाः बहुत्वादिति, एवं सर्वकर्मसु, आयुष्के तु तदबन्धावस्थाऽपि स्यात् तदपेक्षया अबन्धकोऽपि अबन्धकाश्च स्युरित्येतदाह–‘नवरं’ति इह बन्धकाबन्धकपदयोरेकत्वयोगे एकवचनेन द्वौ विकल्पौ, बहुवचनेन द्वौ, द्विकयोगे तु यथायोगमेकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वार इत्यष्टौ

११ श० १ उद्देशः

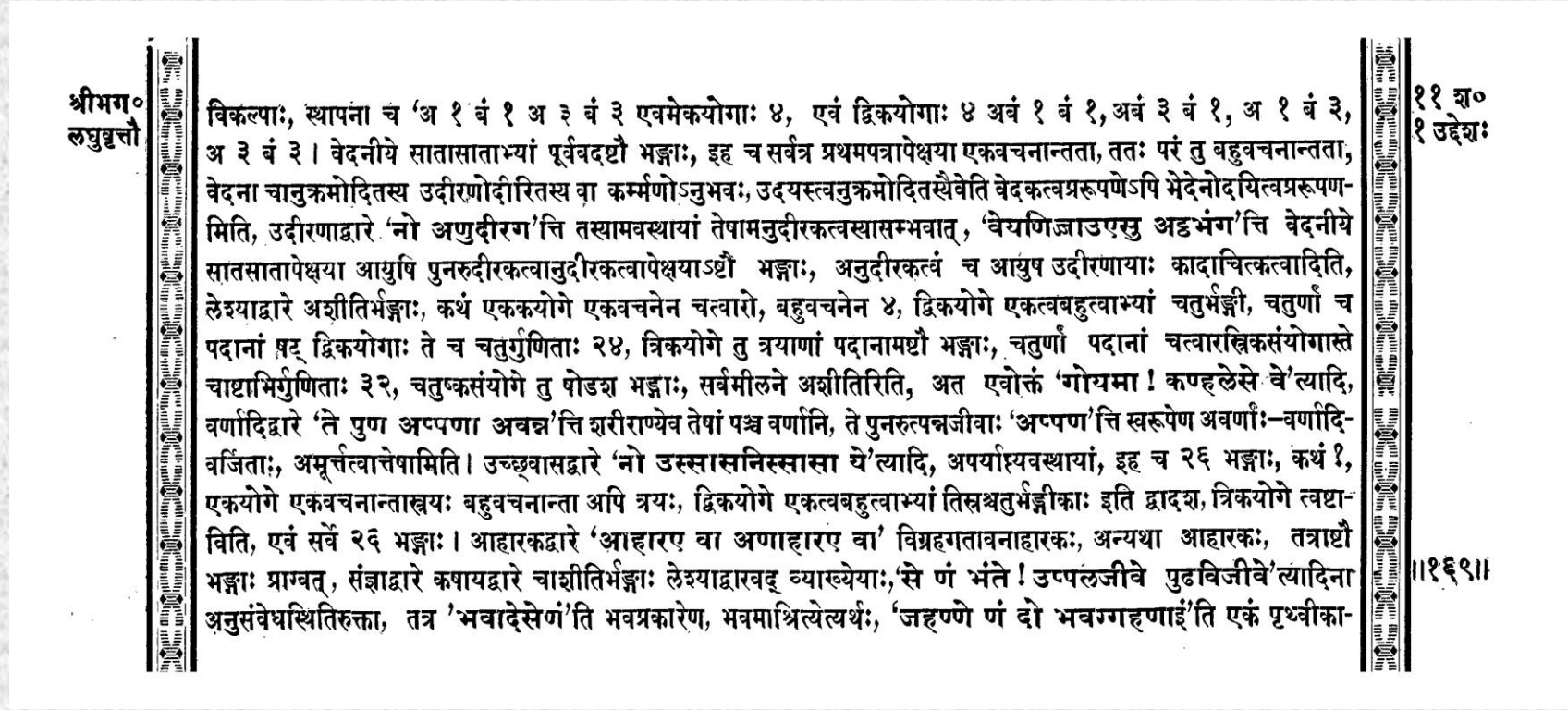

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विकल्पाः, स्थापना च 'अ १ बं १ अ ३ बं ३ एवमेकयोगाः ४, एवं द्विकयोगाः ४ अबं १ बं १, अबं ३ बं १, अ १ बं ३, अ ३ बं ३। वेदनीये सातासाताभ्यां पूर्ववदष्टौ भङ्गाः, इह च सर्वत्र प्रथमपत्रापेक्षया एकवचनान्तता, ततः परं तु बहुवचनान्तता, वेदना चानुक्रमोदितस्य उदीर्णोदीरितस्य वा कर्म्मणोऽनुभवः, उदयस्त्वनुक्रमोदितस्यैवेति वेदकत्वप्ररूपणेऽपि भेदेनोदयित्वप्ररूपणमिति, उदीरणाद्वारे 'नो अणुदीरग'त्ति तस्यामवस्थायां तेषामनुदीरकत्वस्यासम्भवात्, 'वेयणिज्जाउएसु अट्ठभंग'त्ति वेदनीये सातसातापेक्षया आयुषि पुनरुदीरकत्वानुदीरकत्वापेक्षयाऽष्टौ भङ्गाः, अनुदीरकत्वं च आयुष उदीर्णायाः कादाचित्कत्वादिति, लेश्याद्वारे अशीतिर्भङ्गाः, कथं एककयोगे एकवचनेन चत्वारो, बहुवचनेन ४, द्विकयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां चतुर्भङ्गी, चतुर्णां च पदानां षट् द्विकयोगाः ते च चतुर्गुणिताः २४, त्रिकयोगे तु त्रयाणां पदानामष्टौ भङ्गाः, चतुर्णां पदानां चत्वारस्त्रिकसंयोगास्ते चाष्टाभिर्गुणिताः ३२, चतुष्कसंयोगे तु षोडश भङ्गाः, सर्वमीलने अशीतिरिति, अत एवोक्तं 'गोयमा! कण्हलेसे वे'त्यादि, वर्णादिद्वारे 'ते पुण अप्पणा अवन्न'त्ति शरीराण्येव तेषां पञ्च वर्णानि, ते पुनरुत्पन्नजीवाः 'अप्पण'त्ति स्वरूपेण अवर्णाः—वर्णादिवर्जिताः, अमूर्त्तत्वात्तेषामिति। उच्छ्वासद्वारे 'नो उस्सासनिस्सासा ये'त्यादि, अपर्याप्तावस्थायां, इह च २६ भङ्गाः, कथं?, एकयोगे एकवचनान्तास्त्रयः बहुवचनान्ता अपि त्रयः, द्विकयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां तिस्रश्चतुर्भङ्गीकाः इति द्वादश, त्रिकयोगे त्वष्टाविति, एवं सर्वे २६ भङ्गाः। आहारकद्वारे 'आहारए वा अणाहारए वा' विग्रहगतावनाहारकः, अन्यथा आहारकः, तत्राष्टौ भङ्गाः प्राग्वत्, संज्ञाद्वारे कषायद्वारे चाशीतिर्भङ्गाः लेश्याद्वारवद् व्याख्येयाः,'से णं भंते! उप्पलजीवे पुढविजीवे'त्यादिना अनुसंवेधस्थितिरुक्ता, तत्र 'भवादेसेणं'ति भवप्रकारेण, भवमाश्रित्येत्यर्थः, 'जहण्णे णं दो भवग्गहणाइं'ति एकं पृथ्वीका-

११ श० १ उद्देशः

॥१६९॥

यिकत्वे द्वितीयमुत्पलत्वे ततः परं मनुष्यादिभवं गच्छेदिति, 'कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्त'त्ति पृथ्वीत्वेनान्तर्मुहूर्त्तं पुनरुत्पलत्वेनान्तर्मुहूर्त्तमिति कालादेशेन जघन्यतो द्वे अन्तर्मुहूर्त्ते, एवं द्वीन्द्रियादिषु ज्ञेयं, 'उक्कोसेणं अट्ठभव'त्ति चत्वारि पञ्चेन्द्रियतिरश्चः चत्वारि चोत्पलस्येत्यष्टौ भवग्रहणान्युत्कर्षत इति, 'उक्कोसेणं पुव्वकोडीपुहुत्त'त्ति चतुर्षु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भवग्रहणेषु चतस्रः पूर्वकोट्यः उत्कृष्टकालस्य विवक्षितत्वेन, उत्पलकायोद्वृत्तजीवयोग्योत्कृष्टपञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्थितेर्ग्रहणात्, उत्पलजीवितं त्वेतास्वधिकमित्युत्कृष्टतः पूर्वकोटीपृथक्त्वं स्यादिति,'एवं जहा आहारुद्देसए' 'वणस्सइकाइयाण'मित्यादि, अनेन च यदतिदिष्टं तदिदं–'खेत्तओ असंखेज्जपदेसोगाढाइं कालओ अण्णतरकालट्ठिइयाइं भावओ वण्णमंताइं' इत्यादि, 'सव्वप्पणयाइए'त्ति नवरं 'नियमा छद्दिसं'त्ति पृथ्वीकायिकादयः सूक्ष्मतया निष्कुटगतत्वेन स्यात्तिसृषु स्याच्चतसृषु दिक्षु इत्यादिना प्रकारेणाहारमाहारयन्ति, उत्पलजीवास्तु बादरत्वेन तथाविधनिष्कुटेष्वभावात् षट्सु दिक्षु आहारयन्तीति। 'वक्कंतीए'त्ति प्रज्ञापनाषष्ठपदं 'उव्वट्टणा' उद्वर्त्तनाधिकारे, तत्रेदमेवं सूत्रं–'ण णरए उववज्जंति, मणुएसु उव०, नो देवेसु उव०,'उप्पलकेसरत्ताए'त्ति इह केसराणि–कर्णिकापरितोऽवयवाः, 'उप्पलकण्णियत्ताए'त्ति कर्णिका–बीजकोशः, 'उप्पलथिभगत्ताए'त्ति विभागावयवतः पत्राणि प्रभवन्ति ॥ एकादशशते प्रथमः ॥

सालूकोद्देशकादयस्सप्तोद्देशकाः प्राय उत्पलोद्देशकसमाः, विशेषः पुनर्यो यत्र स तत्र सूत्रसिद्ध एव, नवरं पलाशोद्देशके यदुक्तं 'देवेसु न उववज्जंति' (सू. ४१०) तस्यायमर्थः–उत्पलोद्देशके हि देवेभ्य उद्वृत्ता उत्पद्यन्ते इत्युक्तमिह तु ते पलासे नोत्पद्यन्ते इति वाच्यं, अप्रशस्तत्वात्, यतस्ते प्रशस्तेष्वेव उत्पलादिवनस्पत्यादिषूत्पद्यन्ते। तथा 'लेसासु'त्ति लेश्याद्वारे इदं वाच्यं, यदा

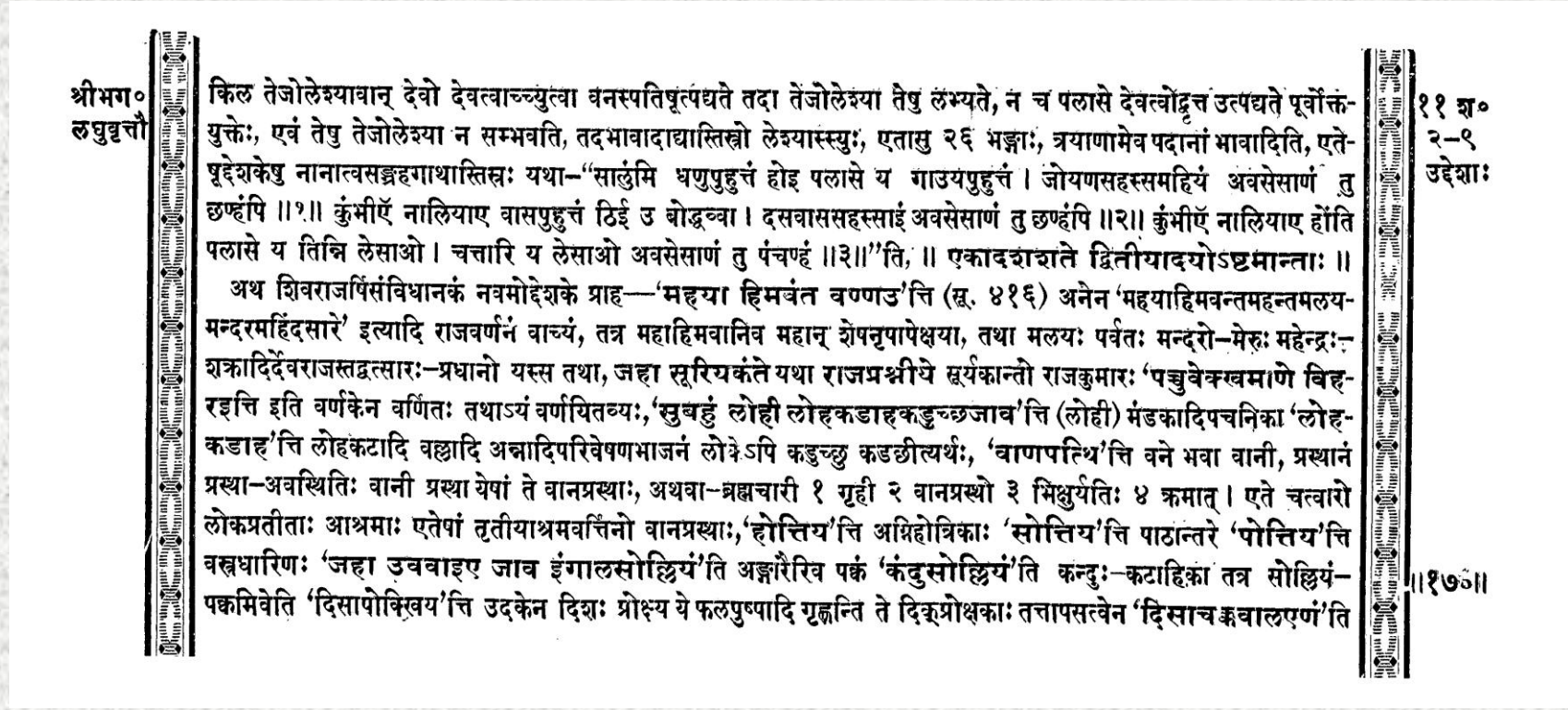

श्रीभग० लघुवृत्तौ

किल तेजोलेश्यावान् देवो देवत्वाच्च्युत्वा वनस्पतिषूत्पद्यते तदा तेजोलेश्या तेषु लभ्यते, न च पलासे देवत्वोद्वृत्त उत्पद्यते पूर्वोक्तयुक्तेः, एवं तेषु तेजोलेश्या न सम्भवति, तदभावादाद्यास्तिस्रो लेश्यास्स्युः, एतासु २६ भङ्गाः, त्रयाणामेव पदानां भावादिति, एतेषूद्देशकेषु नानात्वसङ्ग्रहगाथास्तिस्रः यथा–“सालुंमि धणुपुहुत्तं होइ पलासे य गाउयपुहुत्तं । जोयणसहस्समहियं अवसेसाणं तु छण्हंपि ॥१॥ कुंभीएँ नालियाए वासपुहुत्तं ठिई उ बोद्धव्वा । दसवाससहस्साइं अवसेसाणं तु छण्हंपि ॥२॥ कुंभीएँ नालियाए होंति पलासे य तिन्नि लेसाओ । चत्तारि य लेसाओ अवसेसाणं तु पंचण्हं ॥३॥”ति, ॥ एकादशशते द्वितीयादयोऽष्टमान्ताः ॥

११ श० २–९ उद्देशाः

अथ शिवराजर्षिसंविधानकं नवमोद्देशके प्राह—‘महया हिमवंत वण्णउ’त्ति (सू. ४१६) अनेन ‘महयाहिमवन्तमहन्तमलयमन्दरमहिंदसारे’ इत्यादि राजवर्णनं वाच्यं, तत्र महाहिमवानिव महान् शेषनृपापेक्षया, तथा मलयः पर्वतः मन्दरो–मेरुः महेन्द्रः–शक्रादिर्देवराजस्तद्वत्सारः–प्रधानो यस्स तथा, जहा सूरियकंते यथा राजप्रश्नीये सूर्यकान्तो राजकुमारः ‘पच्चुवेक्खमाणे विहरइत्ति इति वर्णकेन वर्णितः तथाऽयं वर्णयितव्यः, ‘सुबहुं लोही लोहकडाहकडुच्छजाव’त्ति (लोही) मंडकादिपचनिका ‘लोहकडाह’त्ति लोहकटादि वल्लादि अन्नादिपरिवेषणभाजनं लोहेऽपि कडुच्छु कडछीत्यर्थः, ‘वाणपत्थिय’त्ति वने भवा वानी, प्रस्थानं प्रस्था–अवस्थितिः वानी प्रस्था येषां ते वानप्रस्थाः, अथवा–ब्रह्मचारी १ गृही २ वानप्रस्थो ३ भिक्षुर्यतिः ४ क्रमात् । एते चत्वारो लोकप्रतीताः आश्रमाः एतेषां तृतीयाश्रमवर्त्तिनो वानप्रस्थाः, ‘होत्तिय’त्ति अग्निहोत्रिकाः ‘सोत्तिय’त्ति पाठान्तरे ‘पोत्तिय’त्ति वस्त्रधारिणः ‘जहा उववाइए जाव इंगालसोल्लियं’ति अङ्गारैरिव पक्वं ‘कंदुसोल्लियं’ति कन्दुः–कटाहिका तत्र सोल्लियं–पक्वमिवेति ‘दिसापोक्खिय’त्ति उदकेन दिशः प्रोक्ष्य ये फलपुष्पादि गृह्णन्ति ते दिक्प्रोक्षकाः तत्तापसत्वेन ‘दिसाचक्कवालएणं’ति

॥१७॥

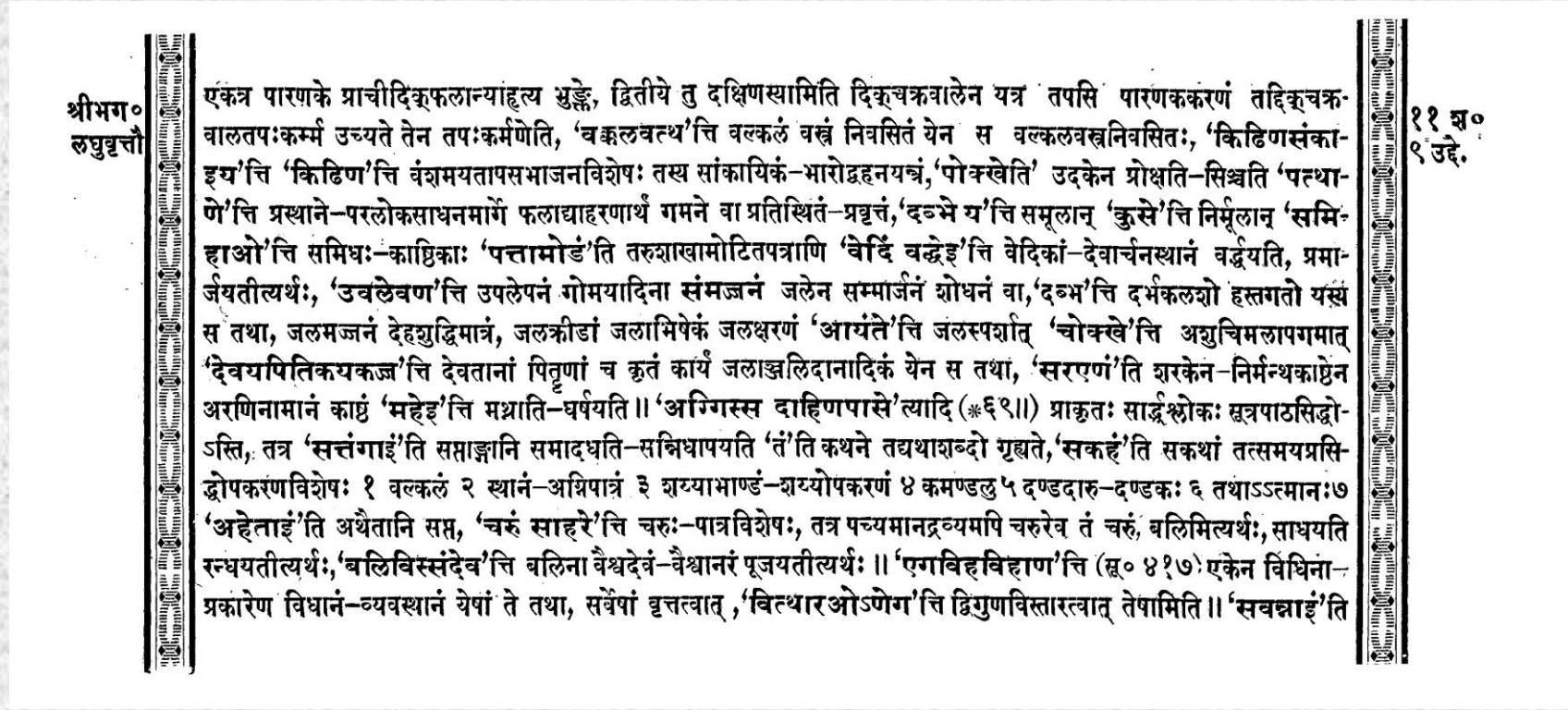

श्रीभग० लघुवृत्तौ

एकत्र पारणके प्राचीदिक्फलान्याहृत्य भुङ्क्ते, द्वितीये तु दक्षिणस्यामिति दिक्चक्रवालेन यत्र तपसि पारणककरणं तद्दिक्चक्रवालतपःकर्म्म उच्यते तेन तपःकर्मणेति, ‘वक्कलवत्थ’त्ति वल्कलं वस्त्रं निवसितं येन स वल्कलवस्त्रनिवसितः, ‘किढिणसंकाइय’त्ति ‘किढिण’त्ति वंशमयतापसभाजनविशेषः तस्य सांकायिकं–भारोद्वहनयन्त्रं,‘पोक्खेति’ उदकेन प्रोक्षति–सिञ्चति ‘पत्थाणे’त्ति प्रस्थाने–परलोकसाधनमार्गे फलाद्याहरणार्थं गमने वा प्रतिस्थितं–प्रवृत्तं,‘दब्भे य’त्ति समूलान् ‘कुसे’त्ति निर्मूलान् ‘समिहाओ’त्ति समिधः–काष्ठिकाः ‘पत्तामोडं’ति तरुशाखामोटितपत्राणि ‘वेदिं वद्धेइ’त्ति वेदिकां–देवार्चनस्थानं वर्द्धयति, प्रमार्जयतीत्यर्थः, ‘उवलेवण’त्ति उपलेपनं गोमयादिना संमज्जनं जलेन सम्मार्जनं शोधनं वा,‘दब्भ’त्ति दर्भकलशो हस्तगतो यस्य स तथा, जलमज्जनं देहशुद्धिमात्रं, जलक्रीडां जलाभिषेकं जलक्षरणं ‘आयंते’त्ति जलस्पर्शात् ‘चोक्खे’त्ति अशुचिमलापगमात् ‘देवयपितिकयकज्ज’त्ति देवतानां पितॄणां च कृतं कार्यं जलाञ्जलिदानादिकं येन स तथा, ‘सरएणं’ति शरकेन–निर्मन्थकाष्ठेन अरणिनामानं काष्ठं ‘महेइ’त्ति मथ्नाति–घर्षयति॥ ‘अग्गिस्स दाहिणपासे’त्यादि (*६९॥) प्राकृतः सार्द्धश्लोकः सूत्रपाठसिद्धोऽस्ति, तत्र ‘सत्तंगाइं’ति सप्ताङ्गानि समादधति–सन्निधापयति ‘तं’ति कथने तद्यथाशब्दो गृह्यते,‘सकहं’ति सकथां तत्समयप्रसिद्धोपकरणविशेषः १ वल्कलं २ स्थानं–अग्निपात्रं ३ शय्याभाण्डं–शय्योपकरणं ४ कमण्डलु ५ दण्डदारु–दण्डकः ६ तथाऽऽत्मानः७ ‘अहेताइं’ति अथैतानि सप्त, ‘चरुं साहरे’त्ति चरुः–पात्रविशेषः, तत्र पच्यमानद्रव्यमपि चरुरेव तं चरुं, बलिमित्यर्थः, साधयति रन्धयतीत्यर्थः,‘बलिविस्संदेव’त्ति बलिना वैश्वदेवं–वैश्वानरं पूजयतीत्यर्थः॥ ‘एगविहविहाण’त्ति (सू० ४१७) एकेन विधिना–प्रकारेण विधानं–व्यवस्थानं येषां ते तथा, सर्वेषां वृत्तत्वात् ,‘वित्थारओऽणेग’त्ति द्विगुणविस्तारत्वात् तेषामिति॥ ‘सवन्नाइं’ति

११ श० ९ उद्दे.

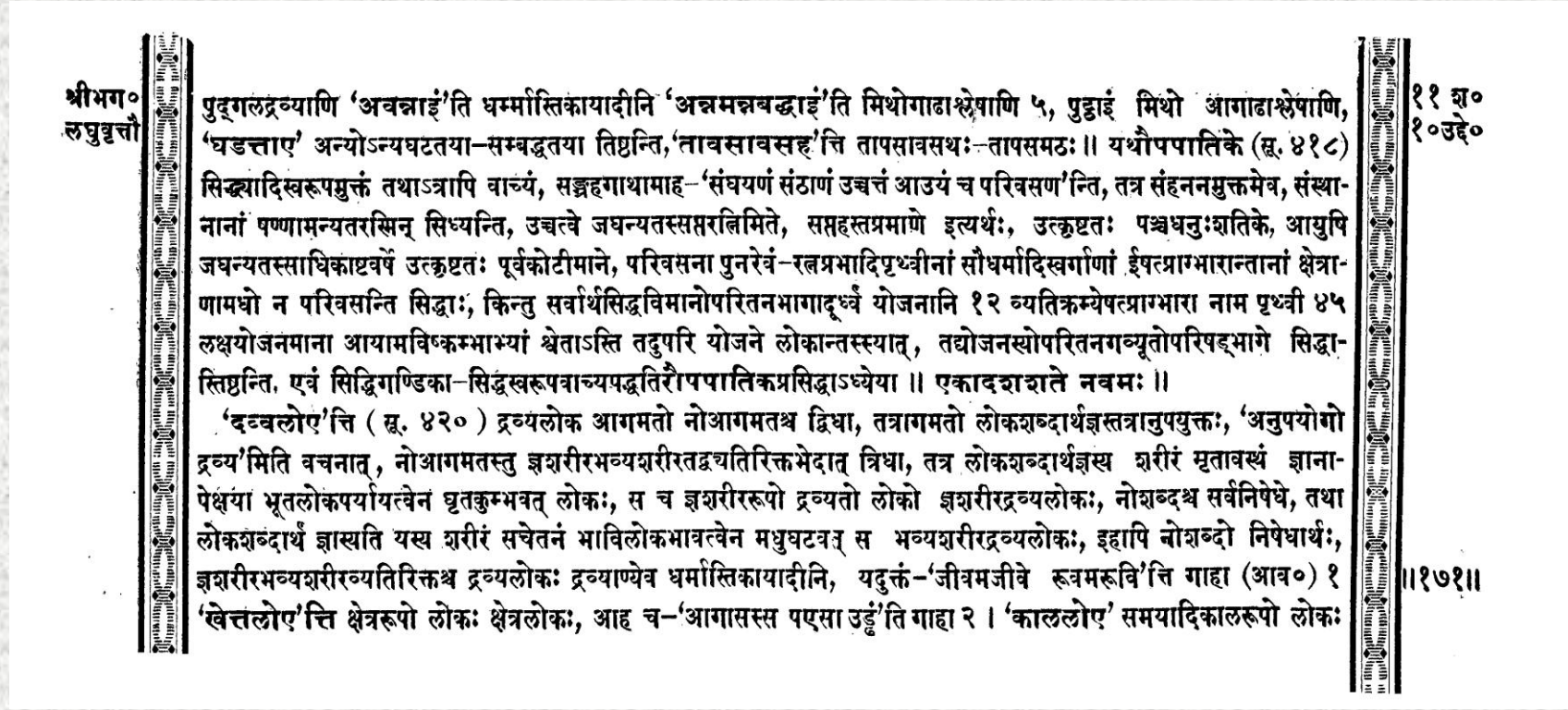

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पुद्गलद्रव्याणि 'अवन्नाइं'ति धर्म्मास्तिकायादीनि 'अन्नमन्नबद्धाइं'ति मिथोगाढाश्लेषाणि ५, पुट्ठाइं मिथो आगाढाश्लेषाणि, 'घडत्ताए' अन्योऽन्यघटतया–सम्बद्धतया तिष्ठन्ति,'तावसावसह'त्ति तापसावसथः–तापसमठः॥ यथौपपातिके (सू. ४१८) सिद्ध्यादिस्वरूपमुक्तं तथाऽत्रापि वाच्यं, सङ्ग्रहगाथामाह–'संघयणं संठाणं उच्चत्तं आउयं च परिवसण'न्ति, तत्र संहननमुक्तमेव, संस्थानानां षण्णामन्यतरस्मिन् सिध्यन्ति, उच्चत्वे जघन्यतस्सप्तरत्निमिते, सप्तहस्तप्रमाणे इत्यर्थः, उत्कृष्टतः पञ्चधनुःशतिके, आयुषि जघन्यतस्साधिकाष्टवर्षे उत्कृष्टतः पूर्वकोटीमाने, परिवसना पुनरेवं–रत्नप्रभादिपृथ्वीनां सौधर्मादिस्वर्गाणां ईषत्प्राग्भारान्तानां क्षेत्राणामधो न परिवसन्ति सिद्धाः, किन्तु सर्वार्थसिद्धविमानोपरितनभागादूर्ध्वं योजनानि १२ व्यतिक्रम्येषत्प्राग्भारा नाम पृथ्वी ४५ लक्षयोजनमाना आयामविष्कम्भाभ्यां श्वेताऽस्ति तदुपरि योजने लोकान्तस्स्यात्, तद्योजनस्योपरितनगव्यूतोपरिषड्भागे सिद्धास्तिष्ठन्ति, एवं सिद्धिगण्डिका–सिद्धस्वरूपवाच्यपद्धतिरौपपातिकप्रसिद्धाऽध्येया ॥ एकादशशते नवमः ॥

'दव्वलोए'त्ति (सू. ४२०) द्रव्यलोक आगमतो नोआगमतश्च द्विधा, तत्रागमतो लोकशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तः, 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात् त्रिधा, तत्र लोकशब्दार्थज्ञस्य शरीरं मृतावस्थं ज्ञानापेक्षया भूतलोकपर्यायत्वेन घृतकुम्भवत् लोकः, स च ज्ञशरीररूपो द्रव्यतो लोको ज्ञशरीरद्रव्यलोकः, नोशब्दश्च सर्वनिषेधे, तथा लोकशब्दार्थं ज्ञास्यति यस्य शरीरं सचेतनं भाविलोकभावत्वेन मधुघटवत् स भव्यशरीरद्रव्यलोकः, इहापि नोशब्दो निषेधार्थः, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तश्च द्रव्यलोकः द्रव्याण्येव धर्मास्तिकायादीनि, यदुक्तं–'जीवमजीवे रूवमरूवि'त्ति गाहा (आव०) १ ॥१७१॥ 'खेत्तलोए'त्ति क्षेत्ररूपो लोकः क्षेत्रलोकः, आह च–'आगासस्स पएसा उड्ढं'ति गाहा २ । 'काललोए' समयादिकालरूपो लोकः

११ श० १०उद्दे०

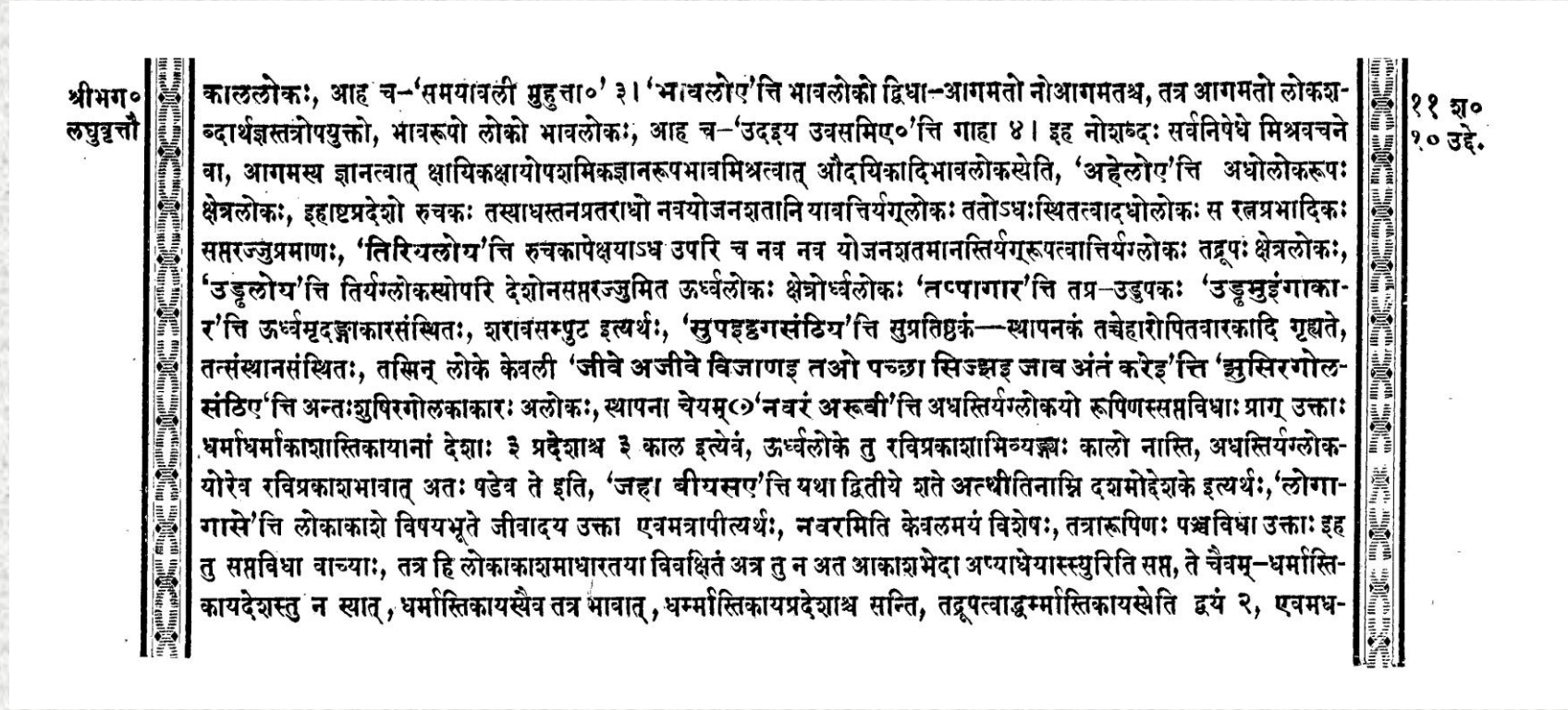

श्रीभग० लघुवृत्तौ

काललोकः, आह च–‘समयावली मुहुत्ता०’ ३। ‘भावलोए’त्ति भावलोको द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो लोकशब्दार्थज्ञस्तत्रोपयुक्तो, भावरूपो लोको भावलोकः, आह च–‘उदइय उवसमिए०’त्ति गाहा ४। इह नोशब्दः सर्वनिषेधे मिश्रवचने वा, आगमस्य ज्ञानत्वात् क्षायिकक्षायोपशमिकज्ञानरूपभावमिश्रत्वात् औदयिकादिभावलोकस्येति, ‘अहेलोए’त्ति अधोलोकरूपः क्षेत्रलोकः, इहाष्टप्रदेशो रुचकः तस्याधस्तनप्रतराधो नवयोजनशतानि यावत्तिर्यग्लोकः ततोऽधःस्थितत्वादधोलोकः स रत्नप्रभादिकः सप्तरज्जुप्रमाणः, ‘तिरियलोय’त्ति रुचकापेक्षयाऽध उपरि च नव नव योजनशतमानस्तिर्यग्रूपत्वात्तिर्यग्लोकः तद्रूपः क्षेत्रलोकः, ‘उड्ढलोय’त्ति तिर्यग्लोकस्योपरि देशोनसप्तरज्जुमित ऊर्ध्वलोकः क्षेत्रोर्ध्वलोकः ‘तप्पागार’त्ति तप्र–उडुपकः ‘उड्ढमुइंगाकार’त्ति ऊर्ध्वमृदङ्गाकारसंस्थितः, शरावसम्पुट इत्यर्थः, ‘सुपइट्ठगसंठिय’त्ति सुप्रतिष्ठकं—स्थापनकं तच्चेहारोपितवारकादि गृह्यते, तत्संस्थानसंस्थितः, तस्मिन् लोके केवली ‘जीवे अजीवे विजाणइ तओ पच्छा सिज्झइ जाव अंतं करेइ’त्ति ‘झुसिरगोलसंठिए’त्ति अन्तःशुषिरगोलकाकारः अलोकः, स्थापना चेयम्०‘नवरं अरूवी’त्ति अधस्तिर्यग्लोकयो रूपिणस्सप्तविधाः प्राग् उक्ताः धर्माधर्माकाशास्तिकायानां देशाः ३ प्रदेशाश्च ३ काल इत्येवं, ऊर्ध्वलोके तु रविप्रकाशाभिव्यङ्ग्यः कालो नास्ति, अधस्तिर्यग्लोकयोरेव रविप्रकाशभावात् अतः षडेव ते इति, ‘जहा बीयसए’त्ति यथा द्वितीये शते अत्थीतिनाम्नि दशमोद्देशके इत्यर्थः,‘लोगागासे’त्ति लोकाकाशे विषयभूते जीवादय उक्ता एवमत्रापीत्यर्थः, नवरमिति केवलमयं विशेषः, तत्रारूपिणः पञ्चविधा उक्ताः इह तु सप्तविधा वाच्याः, तत्र हि लोकाकाशमाधारतया विवक्षितं अत्र तु न अत आकाशभेदा अप्याधेयास्स्युरिति सप्त, ते चैवम्–धर्मास्तिकायदेशस्तु न स्यात्, धर्मास्तिकायस्यैव तत्र भावात्, धर्म्मास्तिकायप्रदेशाश्च सन्ति, तद्रूपत्वाद्धर्म्मास्तिकायस्येति द्वयं २, एवमध-

११ श० १० उद्दे.

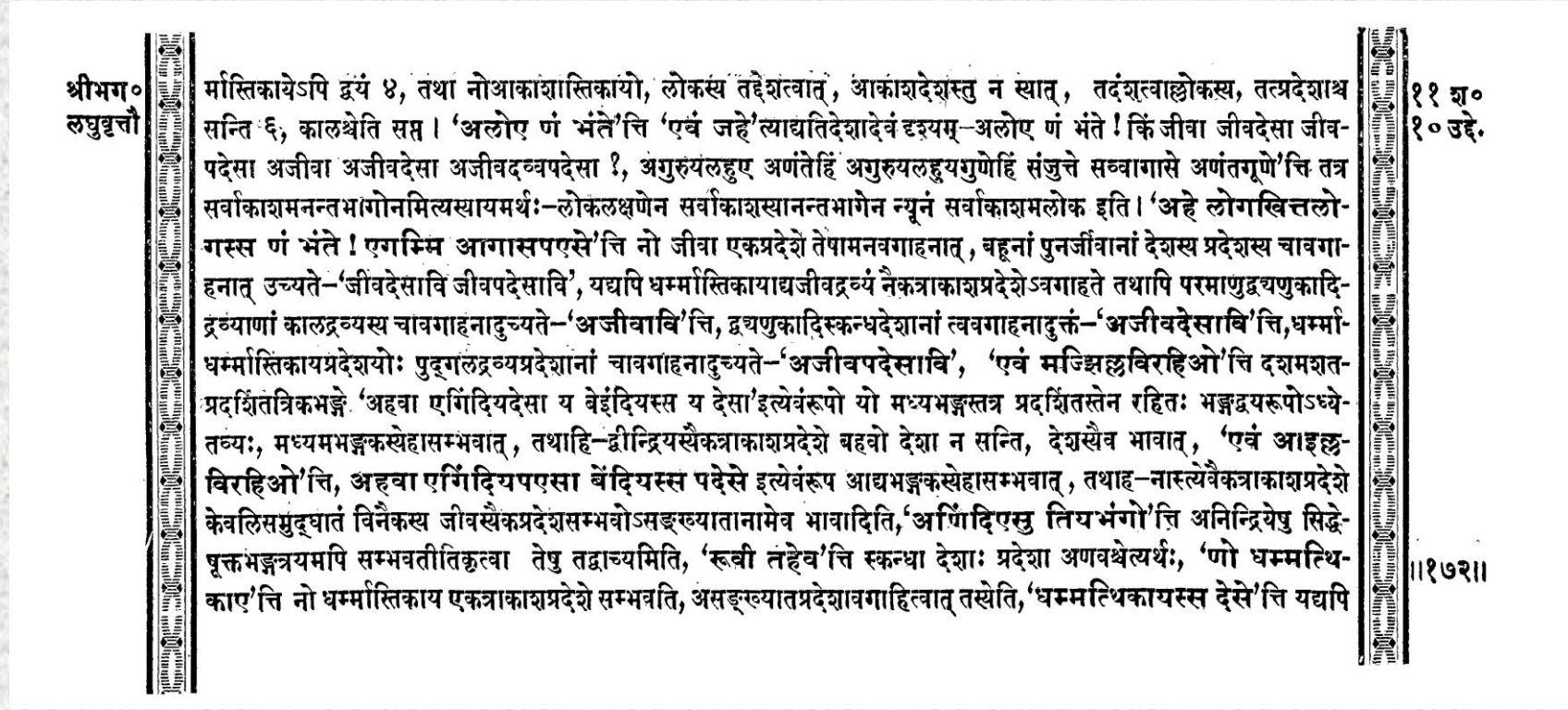

श्रीभग० लघुवृत्तौ

र्मास्तिकायेऽपि द्वयं ४, तथा नोआकाशास्तिकायो, लोकस्य तदेशत्वात्, आकाशदेशस्तु न स्यात्, तदंशत्वाल्लोकस्य, तत्प्रदेशाश्च सन्ति ६, कालश्चेति सप्त। ‘अलोए णं भंते’त्ति ‘एवं जहे’त्यादयतिदेशादेवं दृश्यम्–अलोए णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवपदेसा अजीवा अजीवदेसा अजीवदव्वपदेसा ?, अगुरुयलहुए अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतगूणे’त्ति तत्र सर्वाकाशमनन्तभागोनमित्यस्यायमर्थः–लोकलक्षणेन सर्वाकाशस्यानन्तभागेन न्यूनं सर्वाकाशमलोक इति। ‘अहे लोगखित्तलोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे’त्ति नो जीवा एकप्रदेशे तेषामनवगाहनात्, बहूनां पुनर्जीवानां देशस्य प्रदेशस्य चावगाहनात् उच्यते–‘जीवदेसावि जीवपदेसावि’, यद्यपि धर्म्मास्तिकायाद्यजीवद्रव्यं नैकत्राकाशप्रदेशेऽवगाहते तथापि परमाणुद्व्यणुकादिद्रव्याणां कालद्रव्यस्य चावगाहनादुच्यते–‘अजीवावि’त्ति, द्व्यणुकादिस्कन्धदेशानां त्ववगाहनादुक्तं–‘अजीवदेसावि’त्ति,धर्म्माधर्म्मास्तिकायप्रदेशयोः पुद्गलद्रव्यप्रदेशानां चावगाहनादुच्यते–‘अजीवपदेसावि’, ‘एवं मज्झिल्लविरहिओ’त्ति दशमशतप्रदर्शितत्रिकभङ्गे ‘अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स य देसा’इत्येवंरूपो यो मध्यभङ्गस्तत्र प्रदर्शितस्तेन रहितः भङ्गद्वयरूपोऽध्येतव्यः, मध्यमभङ्गकस्येहासम्भवात्, तथाहि–द्वीन्द्रियस्यैकत्राकाशप्रदेशे बहवो देशा न सन्ति, देशस्यैव भावात्, ‘एवं आइल्लविरहिओ’त्ति, अहवा एगिंदियपएसा बेंदियस्स पदेसे इत्येवंरूप आद्यभङ्गकस्येहासम्भवात्, तथाह–नास्त्येवैकत्राकाशप्रदेशे केवलिसमुद्घातं विनैकस्य जीवस्यैकप्रदेशसम्भवोऽसङ्ख्यातानामेव भावादिति,‘अणिंदिएसु तियभंगो’त्ति अनिन्द्रियेषु सिद्धेषूक्तभङ्गत्रयमपि सम्भवतीतिकृत्वा तेषु तद्वाच्यमिति, ‘रूवी तहेव’त्ति स्कन्धा देशाः प्रदेशा अणवश्चेत्यर्थः, ‘णो धम्मत्थिकाए’त्ति नो धर्म्मास्तिकाय एकत्राकाशप्रदेशे सम्भवति, असङ्ख्यातप्रदेशावगाहित्वात् तस्येति,‘धम्मत्थिकायस्स देसे’त्ति यद्यपि

११ श० १० उद्दे.

॥१७२॥

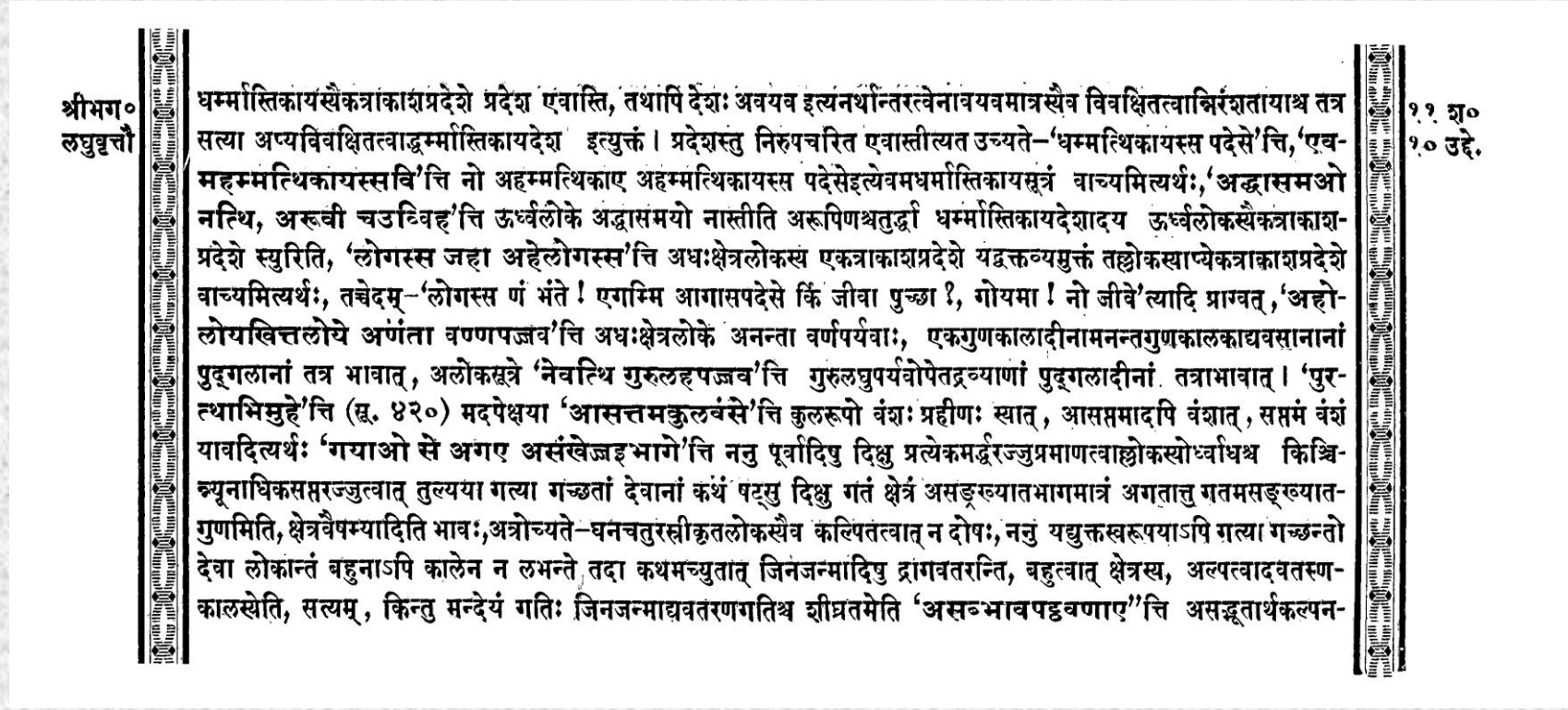

श्रीभग० लघुवृत्तौ

धर्म्मास्तिकायस्यैकत्राकाशप्रदेशे प्रदेश एवास्ति, तथापि देशः अवयव इत्यनर्थान्तरत्वेनावयवमात्रस्यैव विवक्षितत्वान्निरंशतायाश्च तत्र सत्या अप्यविवक्षितत्वाद्धर्म्मास्तिकायदेश इत्युक्तं। प्रदेशस्तु निरुपचरित एवास्तीत्यत उच्यते–‘धम्मत्थिकायस्स पदेसे’त्ति,‘एवमहम्मत्थिकायस्सवि’त्ति नो अहम्मत्थिकाए अहम्मत्थिकायस्स पदेसेइत्येवमधर्मास्तिकायसूत्रं वाच्यमित्यर्थः,‘अद्धासमओ नत्थि, अरूवी चउव्विह’त्ति ऊर्ध्वलोके अद्धासमयो नास्तीति अरूपिणश्चतुर्द्धा धर्म्मास्तिकायदेशादय ऊर्ध्वलोकस्यैकत्राकाशप्रदेशे स्युरिति, ‘लोगस्स जहा अहेलोगस्स’त्ति अधःक्षेत्रलोकस्य एकत्राकाशप्रदेशे यद्वक्तव्यमुक्तं तल्लोकस्याप्येकत्राकाशप्रदेशे वाच्यमित्यर्थः, तच्चेदम्–‘लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपदेसे किं जीवा पुच्छा ?, गोयमा ! नो जीवे’त्यादि प्राग्वत्,‘अहोलोयखित्तलोये अणंता वण्णपज्जव’त्ति अधःक्षेत्रलोके अनन्ता वर्णपर्यवाः, एकगुणकालादीनामनन्तगुणकालकाद्यवसानानां पुद्गलानां तत्र भावात्, अलोकसूत्रे ‘नेवत्थि गुरुलहपज्जव’त्ति गुरुलघुपर्यवोपेतद्रव्याणां पुद्गलादीनां तत्राभावात्। ‘पुरत्थाभिमुहे’त्ति (सू. ४२०) मदपेक्षया ‘आसत्तमकुलवंसे’त्ति कुलरूपो वंशः प्रहीणः स्यात्, आसप्तमादपि वंशात्, सप्तमं वंशं यावदित्यर्थः ‘गयाओ से अगए असंखेज्जइभागे’त्ति ननु पूर्वादिषु दिक्षु प्रत्येकमर्द्धरज्जुप्रमाणत्वाल्लोकस्योर्ध्वाधश्च किञ्चिन्न्यूनाधिकसप्तरज्जुत्वात् तुल्यया गत्या गच्छतां देवानां कथं षट्सु दिक्षु गतं क्षेत्रं असङ्ख्यातभागमात्रं अगतात्तु गतमसङ्ख्यातगुणमिति, क्षेत्रवैषम्यादिति भावः,अत्रोच्यते–घनचतुरस्रीकृतलोकस्यैव कल्पितत्वात् न दोषः, ननु यद्युक्तस्वरूपयाऽपि गत्या गच्छन्तो देवा लोकान्तं बहुनाऽपि कालेन न लभन्ते तदा कथमच्युतात् जिनजन्मादिषु द्रागवतरन्ति, बहुत्वात् क्षेत्रस्य, अल्पत्वादवतरणकालस्येति, सत्यम्, किन्तु मन्देयं गतिः जिनजन्माद्यवतरणगतिश्च शीघ्रतमेति ‘असब्भावपट्ठवणाए’’त्ति असद्भूतार्थकल्पन-

११ श० १० उद्दे.

श्रीभग० लघुवृत्तौ

येत्यर्थः,'जाव कलिय'त्ति यावत्करणादिदं दृश्यम्,'संगयगयहसियभणियचिट्ठियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकलिय'त्ति, 'बत्तीसइविहस्स नट्टस्स'त्ति द्वात्रिंशद् विधा–भेदा यस्य नाट्यस्य, तत्र ईहामृगऋषभतुरगनरमगरविहगवालगकिन्नरादिभक्तिचित्रो नामैको नाट्यविधिः, एवमन्येऽप्येकत्रिंशद्विधयो राजप्रश्नकृतानुसारतो वाच्याः। 'लोगस्स णं भंते! एगंमि'त्ति (सू. ४२१) अस्य व्याख्या–यथा किल एतेषु त्रयोदशप्रदेशकानि दिग्दशकस्पर्शानि त्रयोदश द्रव्याणि स्थितानि, तेषां च प्रत्याकाशप्रदेशं त्रयोदश २ प्रदेशाः स्युः, एवं लोकाकाशदेशे अनन्तजीवावगाहेनैकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे अनन्ता जीवप्रदेशाः स्युः। (सू. ४२२) लोके च सूक्ष्मा अनन्तजीवात्मका निगोदाः पृथ्व्यादिसर्वजीवासङ्ख्येयकतुल्याः सन्ति, तेषां चैकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे जीवप्रदेशा अनन्ताः स्युः तेषां च जघन्यपदे एकत्राकाशप्रदेशे सर्वस्तोका जीवप्रदेशाः, तेभ्यश्च सर्वजीवा असङ्ख्येयगुणाः, उत्कृष्टपदे पुनस्तेभ्यो विशेषाधिका जीवप्रदेशा इति, अयं च सूत्रार्थोऽमूभिर्वृद्धोक्तगाथाभिर्भावनीयः–'लोगस्सेगपएसे, जहण्णयपयम्मि जियपएसाणं। उक्कोसपदे य तहा सव्वजियाणं च के बहुया? ॥१॥" इति प्रश्नः, उत्तरं पुनरत्र–'थोवा जहण्णपदे जिवप्पदेसा जिया असंखगुणा। उक्कोसपयपदेसा ततो विसेसाहिया भणिया॥२॥" अथ जघन्यपदमुत्कृष्टपदं चोच्यते–तत्थ जहण्णपयं पुण लोयंते जत्थ फासणा तिदिसिं। छद्दिसिमुक्कोसपयं समत्तगोलम्मि नन्नत्थ ॥३॥ तत्र–तयोर्जघन्येतरपदयोर्जघन्यपदं लोकान्ते स्यात् 'जत्थ'त्ति यत्र गोलके स्पर्शना निगोददेशैस्तिसृष्वेव दिक्षु स्यात्, शेषदिशामलोकेनावृतत्वात्, सा च खंडगोल एव स्यादिति भावः, 'छद्दिसिं'ति यत्र पुन-

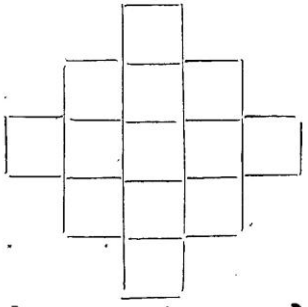

११ श० १०उद्दे०

॥१७३॥

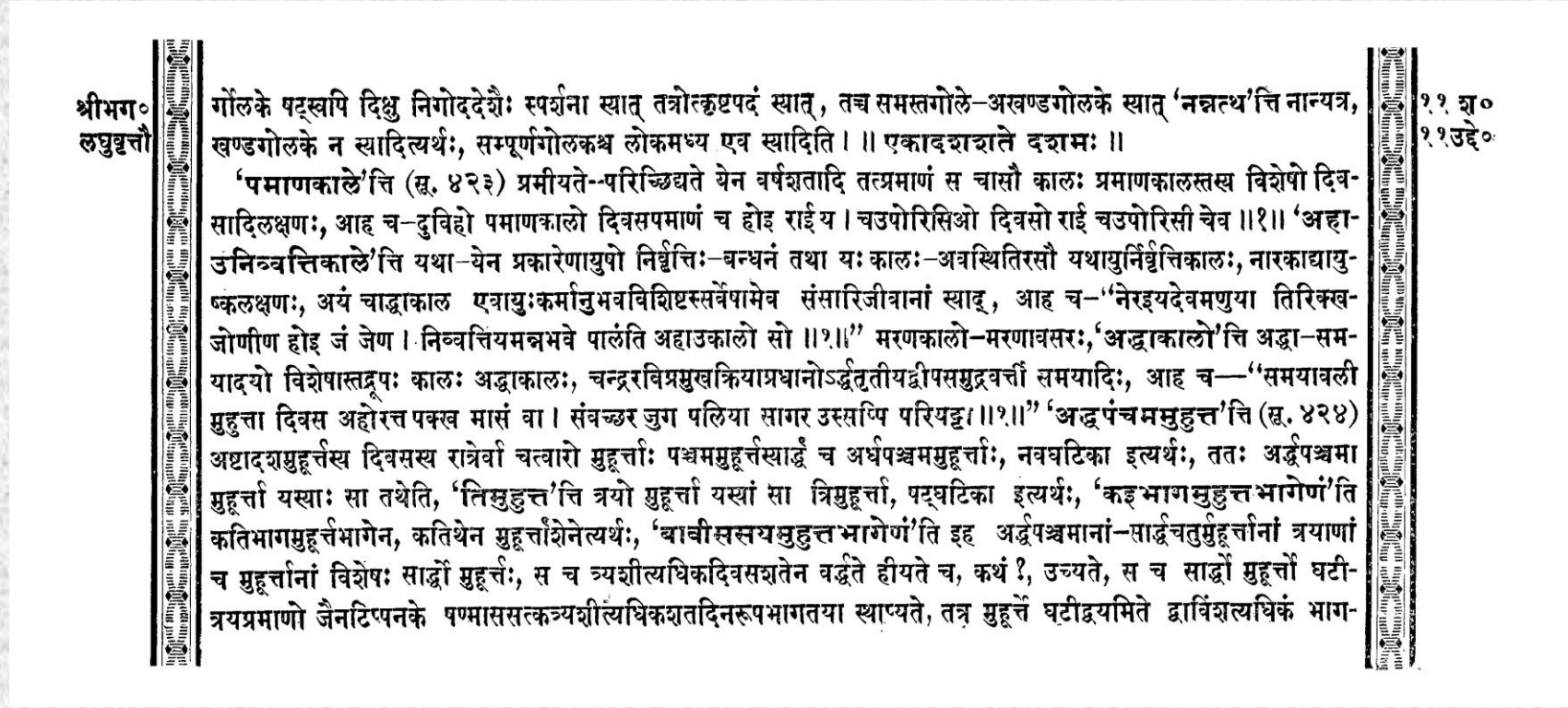

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गोलके षट्स्वपि दिक्षु निगोददेशैः स्पर्शना स्यात् तत्रोत्कृष्टपदं स्यात्, तच्च समस्तगोले–अखण्डगोलके स्यात् 'नन्नत्थ'त्ति नान्यत्र, खण्डगोलके न स्यादित्यर्थः, सम्पूर्णगोलकश्च लोकमध्य एव स्यादिति। ॥ एकादशशते दशमः ॥

'पमाणकाले'त्ति (सू. ४२३) प्रमीयते--परिच्छिद्यते येन वर्षशतादि तत्प्रमाणं स चासौ कालः प्रमाणकालस्तस्य विशेषो दिवसादिलक्षणः, आह च–दुविहो पमाणकालो दिवसपमाणं च होइ राईय। चउपोरिसिओ दिवसो राई चउपोरिसी चेव ॥१॥ 'अहाउनिव्वत्तिकाले'त्ति यथा–येन प्रकारेणायुषो निर्वृत्तिः–बन्धनं तथा यः कालः–अवस्थितिरसौ यथायुर्निर्वृत्तिकालः, नारकाद्यायुष्कलक्षणः, अयं चाद्धाकाल एवायुःकर्मानुभवविशिष्टस्सर्वेषामेव संसारिजीवानां स्याद्, आह च–"नेरइयदेवमणुया तिरिक्खजोणीण होइ जं जेण। निव्वत्तियमन्नभवे पालंति अहाउकालो सो ॥१॥" मरणकालो–मरणावसरः,'अद्धाकालो'त्ति अद्धा–समयादयो विशेषास्तद्रूपः कालः अद्धाकालः, चन्द्ररविप्रमुखक्रियाप्रधानोऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रवर्त्ती समयादिः, आह च—"समयावली मुहुत्ता दिवस अहोरत्त पक्ख मासं वा। संवच्छर जुग पलिया सागर उस्सप्पि परियट्टा ॥१॥" 'अद्धपंचममुहुत्त'त्ति (सू. ४२४) अष्टादशमुहूर्त्तस्य दिवसस्य रात्रेर्वा चत्वारो मुहूर्त्ताः पञ्चममुहूर्त्तस्यार्द्धं च अर्धपञ्चममुहूर्त्ताः, नवघटिका इत्यर्थः, ततः अर्द्धपञ्चमा मुहूर्त्ता यस्याः सा तथेति, 'तिमुहुत्त'त्ति त्रयो मुहूर्त्ता यस्यां सा त्रिमुहूर्त्ता, षट्घटिका इत्यर्थः, 'कइभागमुहुत्तभागेणं'ति कतिभागमुहूर्त्तभागेन, कतिथेन मुहूर्त्तांशेनेत्यर्थः, 'बावीससयमुहुत्तभागेणं'ति इह अर्द्धपञ्चमानां–सार्द्धचतुर्मुहूर्त्तानां त्रयाणां च मुहूर्त्तानां विशेषः सार्द्धो मुहूर्त्तः, स च त्र्यशीत्यधिकदिवसशतेन वर्द्धते हीयते च, कथं?, उच्यते, स च सार्द्धो मुहूर्त्तो घटीत्रयप्रमाणो जैनटिप्पनके षण्मासस्सत्कत्र्यशीत्यधिकशतदिनरूपभागतया स्थाप्यते, तत्र मुहूर्त्ते घटीद्वयमिते द्वाविंशत्यधिकं भाग-

११ श० ११उद्दे०

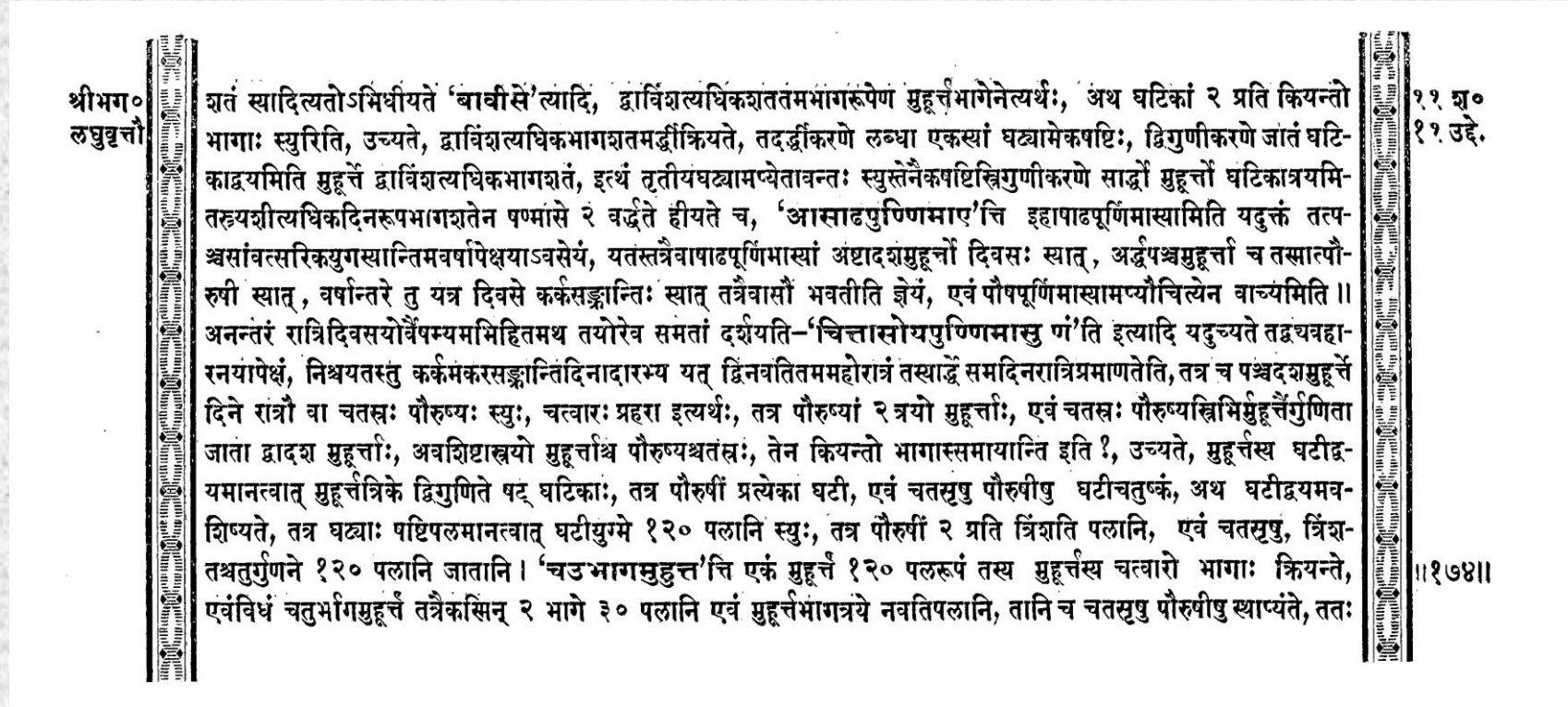

श्रीभग० लघुवृत्तौ

शतं स्यादित्यतोऽभिधीयते 'बावीसे'त्यादि, द्वाविंशत्यधिकशततमभागरूपेण मुहूर्त्तभागेनेत्यर्थः, अथ घटिकां २ प्रति कियन्तो भागाः स्युरिति, उच्यते, द्वाविंशत्यधिकभागशतमर्द्धीक्रियते, तदर्द्धीकरणे लब्धा एकस्यां घट्यामेकषष्टिः, द्विगुणीकरणे जातं घटिकाद्वयमिति मुहूर्त्ते द्वाविंशत्यधिकभागशतं, इत्थं तृतीयघट्यामप्येतावन्तः स्युस्तेनैकषष्टिस्त्रिगुणीकरणे सार्द्धो मुहूर्त्तो घटिकात्रयमितरुयशीत्यधिकदिनरूपभागशतेन षण्मासे २ वर्द्धते हीयते च, 'आसाढपुण्णिमाए'त्ति इहाषाढपूर्णिमास्यामिति यदुक्तं तत्पञ्चसांवत्सरिकयुगस्यान्तिमवर्षापेक्षयाऽवसेयं, यतस्तत्रैवाषाढपूर्णिमास्यां अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः स्यात्, अर्द्धपञ्चमुहूर्त्ता च तस्मात्पौरुषी स्यात्, वर्षान्तरे तु यत्र दिवसे कर्कसङ्क्रान्तिः स्यात् तत्रैवासौ भवतीति ज्ञेयं, एवं पौषपूर्णिमास्यामप्यौचित्येन वाच्यमिति ॥ अनन्तरं रात्रिदिवसयोर्वैषम्यमभिहितमथ तयोरेव समतां दर्शयति–'चित्तासोयपुण्णिमासु णं'ति इत्यादि यदुच्यते तद्व्यवहारनयापेक्षं, निश्चयतस्तु कर्कमकरसङ्क्रान्तिदिनादारभ्य यत् द्विनवतितममहोरात्रं तस्यार्द्धे समदिनरात्रिप्रमाणतेति, तत्र च पञ्चदशमुहूर्त्ते दिने रात्रौ वा चतस्रः पौरुष्यः स्युः, चत्वारः प्रहरा इत्यर्थः, तत्र पौरुष्यां २ त्रयो मुहूर्त्ताः, एवं चतस्रः पौरुष्यस्त्रिभिर्मुहूर्त्तैर्गुणिता जाता द्वादश मुहूर्त्ताः, अवशिष्टास्त्रयो मुहूर्त्ताश्च पौरुष्यश्चतस्रः, तेन कियन्तो भागास्समायान्ति इति ?, उच्यते, मुहूर्त्तस्य घटीद्वयमानत्वात् मुहूर्त्तत्रिके द्विगुणिते षट् घटिकाः, तत्र पौरुषीं प्रत्येका घटी, एवं चतसृषु पौरुषीषु घटीचतुष्कं, अथ घटीद्वयमवशिष्यते, तत्र घट्याः षष्टिपलमानत्वात् घटीयुग्मे १२० पलानि स्युः, तत्र पौरुषीं २ प्रति त्रिंशति पलानि, एवं चतसृषु, त्रिंशतश्चतुर्गुणने १२० पलानि जातानि। 'चउभागमुहुत्त'त्ति एकं मुहूर्त्तं १२० पलरूपं तस्य मुहूर्त्तस्य चत्वारो भागाः क्रियन्ते, एवंविधं चतुर्भागमुहूर्त्तं तत्रैकस्मिन् २ भागे ३० पलानि एवं मुहूर्त्तभागत्रये नवतिपलानि, तानि च चतसृषु पौरुषीषु स्थाप्यंते, ततः

११ श० ११ उद्दे.

॥१७४॥

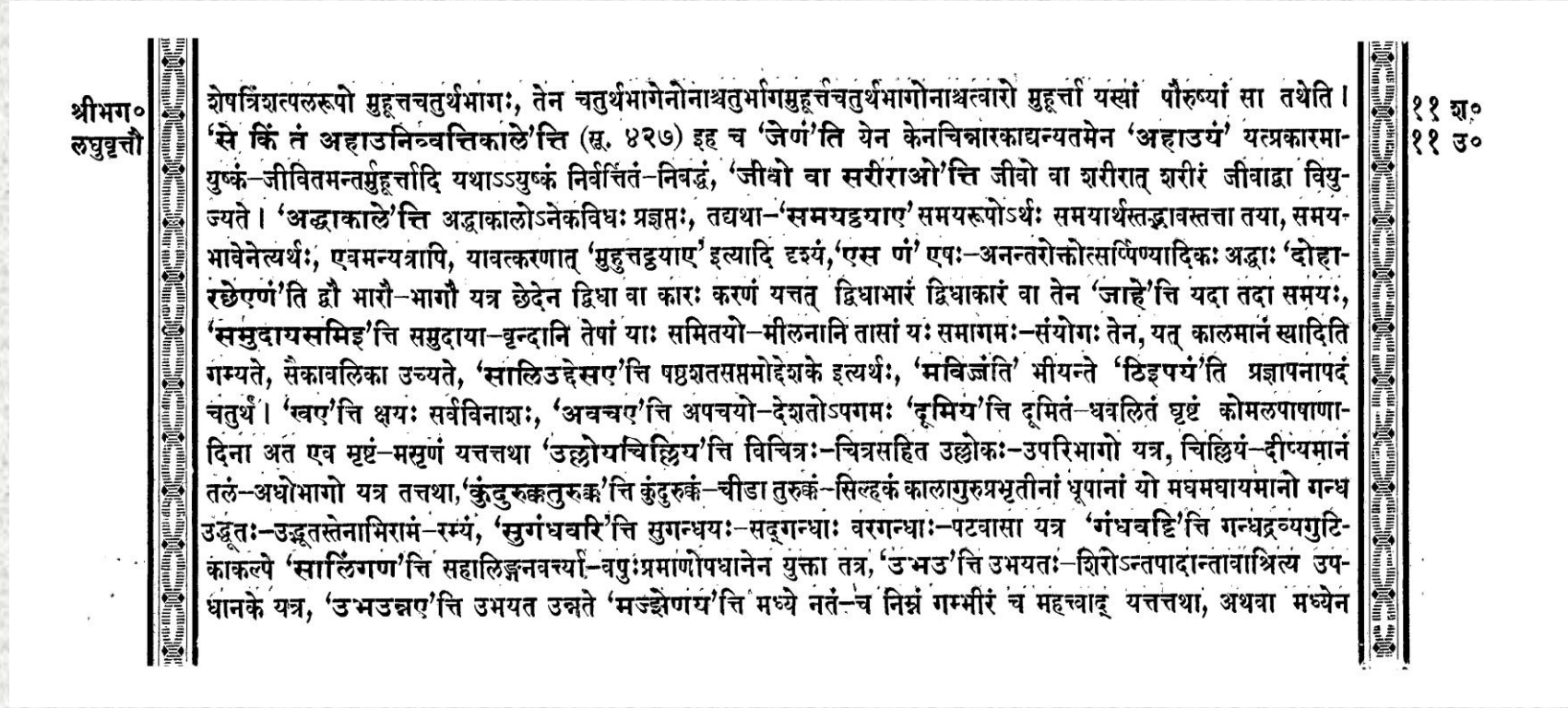

श्रीभग० लघुवृत्तौ

शेषत्रिंशत्पलरूपो मुहूर्त्तचतुर्थभागः, तेन चतुर्थभागेनोनाश्चतुर्भागमुहूर्त्तचतुर्थभागोनाश्चत्वारो मुहूर्त्ता यस्यां पौरुष्यां सा तथेति। ‘से किं तं अहाउनिव्वत्तिकाले’त्ति (सू. ४२७) इह च ‘जेणं’ति येन केनचिन्नारकाद्यन्यतमेन ‘अहाउयं’ यत्प्रकारमायुष्कं–जीवितमन्तर्मुहूर्त्तादि यथाऽऽयुष्कं निर्वर्त्तितं–निबद्धं, ‘जीवो वा सरीराओ’त्ति जीवो वा शरीरात् शरीरं जीवाद्वा वियुज्यते। ‘अद्धाकाले’त्ति अद्धाकालोऽनेकविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–‘समयट्ठयाए’ समयरूपोऽर्थः समयार्थस्तद्भावस्तत्ता तया, समयभावेनेत्यर्थः, एवमन्यत्रापि, यावत्करणात् ‘मुहुत्तट्ठयाए’ इत्यादि दृश्यं,‘एस णं’ एषः–अनन्तरोक्तोत्सर्प्पिण्यादिकः अद्धाः ‘दोहारछेएणं’ति द्वौ भागौ–भागौ यत्र छेदेन द्विधा वा कारः करणं यत्तत् द्विधाभारं द्विधाकारं वा तेन ‘जाहे’त्ति यदा तदा समयः, ‘समुदायसमिइ’त्ति समुदाया–वृन्दानि तेषां याः समितयो–मीलनानि तासां यः समागमः–संयोगः तेन, यत् कालमानं स्यादिति गम्यते, सैकावलिका उच्यते, ‘सालिउद्देसए’त्ति षष्ठशतसप्तमोद्देशके इत्यर्थः, ‘मविज्जंति’ भीयन्ते ‘ठिइपयं’ति प्रज्ञापनापदं चतुर्थं। ‘खए’त्ति क्षयः सर्वविनाशः, ‘अवचए’त्ति अपचयो–देशतोऽपगमः ‘दूमिय’त्ति दूमितं–धवलितं घृष्टं कोमलपाषाणादिना अत एव मृष्टं–मसृणं यत्तत्तथा ‘उल्लोयचिल्लिय’त्ति विचित्रः–चित्रसहित उल्लोकः–उपरिभागो यत्र, चिल्लियं–दीप्यमानं तलं–अधोभागो यत्र तत्तथा,‘कुंदुरुक्कतुरुक्क’त्ति कुंदुरुक्कं–चीडा तुरुक्कं–सिल्हकं कालागुरुप्रभृतीनां धूपानां यो मघमघायमानो गन्ध उद्धूतः–उद्भूतस्तेनाभिरामं–रम्यं, ‘सुगंधवरि’त्ति सुगन्धयः–सद्गन्धाः वरगन्धाः–पटवासा यत्र ‘गंधवट्टि’त्ति गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पे ‘सालिंगण’त्ति सहालिङ्गनवर्त्त्या–वपुःप्रमाणोपधानेन युक्ता तत्र, ‘उभउ’त्ति उभयतः–शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य उपधानके यत्र, ‘उभउन्नए’त्ति उभयत उन्नते ‘मज्झेणय’त्ति मध्ये नतं–च निम्नं गम्भीरं च महत्त्वाद् यत्तत्तथा, अथवा मध्येन

११ श०
११ उ०

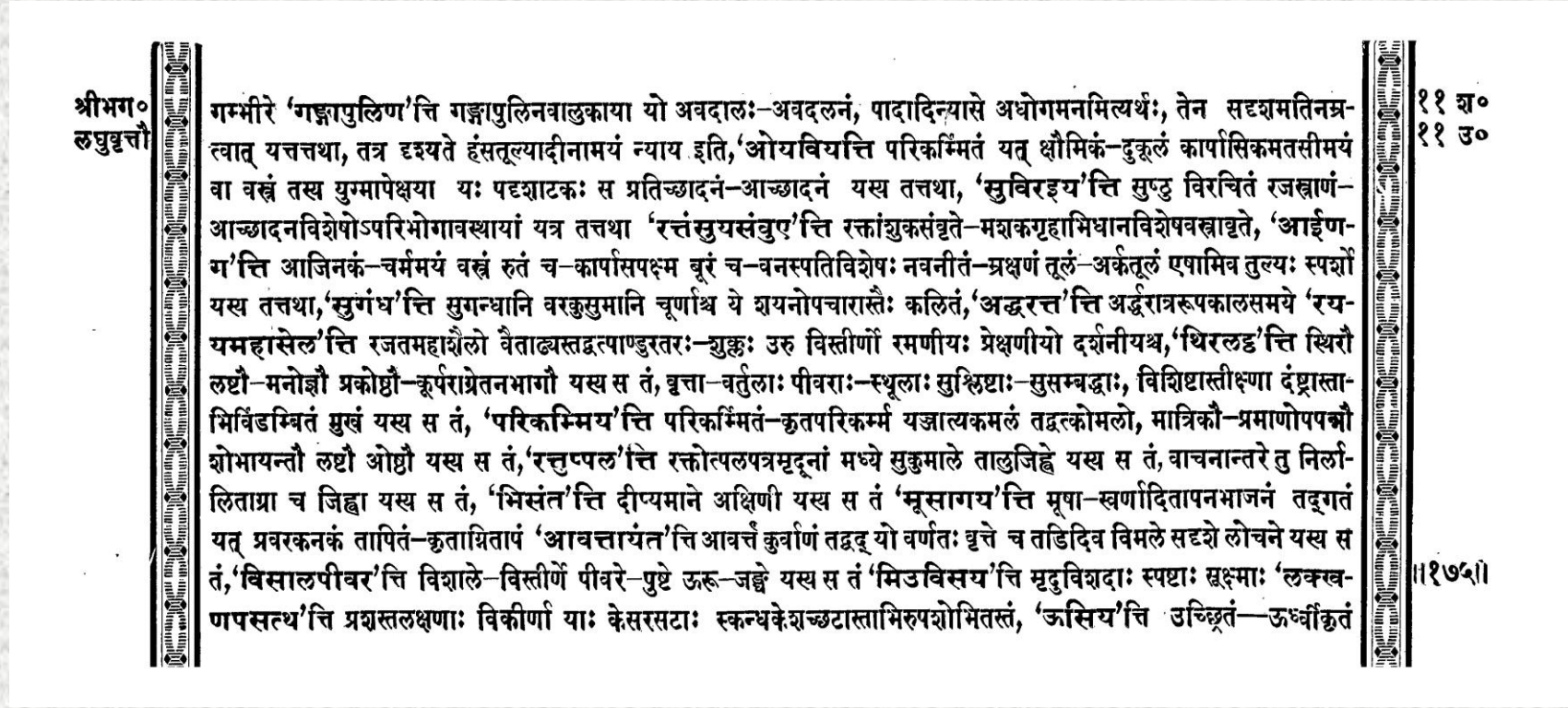

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गम्भीरे 'गङ्गापुलिण'त्ति गङ्गापुलिनवालुकाया यो अवदालः–अवदलनं, पादादिन्यासे अधोगमनमित्यर्थः, तेन सदृशमतिनम्रत्वात् यत्तत्तथा, तत्र दृश्यते हंसतूल्यादीनामयं न्याय इति,'ओयवियत्ति परिकर्म्मितं यत् क्षौमिकं–दुकूलं कार्पासिकमतसीमयं वा वस्त्रं तस्य युग्मापेक्षया यः पटशाटकः स प्रतिच्छादनं–आच्छादनं यस्य तत्तथा, 'सुविरइय'त्ति सुष्ठु विरचितं रजस्त्राणं–आच्छादनविशेषोऽपरिभोगावस्थायां यत्र तत्तथा 'रत्तंसुयसंवुए'त्ति रक्तांशुकसंवृते–मशकगृहाभिधानविशेषवस्त्रावृते, 'आईणग'त्ति आजिनकं–चर्ममयं वस्त्रं रुतं च–कार्पासपक्ष्म बूरं च–वनस्पतिविशेषः नवनीतं–म्रक्षणं तूलं–अर्कतूलं एषामिव तुल्यः स्पर्शो यस्य तत्तथा,'सुगंध'त्ति सुगन्धानि वरकुसुमानि चूर्णाश्च ये शयनोपचारास्तैः कलितं,'अद्धरत्त'त्ति अर्द्धरात्ररूपकालसमये 'रयतमहासेल'त्ति रजतमहाशैलो वैताढ्यस्तद्वत्पाण्डुरतरः–शुक्लः उरु विस्तीर्णो रमणीयः प्रेक्षणीयो दर्शनीयश्च,'थिरलट्ठ'त्ति स्थिरौ लष्टौ–मनोज्ञौ प्रकोष्ठौ–कूर्पराग्रेतनभागौ यस्य स तं, वृत्ता–वर्तुलाः पीवराः–स्थूलाः सुश्लिष्टाः–सुसम्बद्धाः, विशिष्टास्तीक्ष्णा दंष्ट्रास्ताभिर्विडम्बितं मुखं यस्य स तं, 'परिकम्मिय'त्ति परिकर्म्मितं–कृतपरिकर्म्म यज्जात्यकमलं तद्वत्कोमलौ, मात्रिकौ–प्रमाणोपपन्नौ शोभायन्तौ लष्टौ ओष्ठौ यस्य स तं,'रत्तुप्पल'त्ति रक्तोत्पलपत्रमृदूनां मध्ये सुकुमाले तालुजिह्वे यस्य स तं, वाचनान्तरे तु निर्लालिताग्रा च जिह्वा यस्य स तं, 'भिसंत'त्ति दीप्यमाने अक्षिणी यस्य स तं 'मूसागय'त्ति मूषा–स्वर्णादितापनभाजनं तद्गतं यत् प्रवरकनकं तापितं–कृताग्नितापं 'आवत्तायंत'त्ति आवर्त्तं कुर्वाणं तद्वद् यो वर्णतः वृत्ते च तडिदिव विमले सदृशे लोचने यस्य स तं,'विसालपीवर'त्ति विशाले–विस्तीर्णे पीवरे–पुष्टे ऊरू–जङ्घे यस्य स तं 'मिउविसय'त्ति मृदुविशदाः स्पष्टाः सूक्ष्माः 'लक्खणपसत्थ'त्ति प्रशस्तलक्षणाः विकीर्णा याः केसरसटाः स्कन्धकेशश्छटास्ताभिरुपशोभितस्तं, 'ऊसिय'त्ति उच्छ्रितं—ऊर्ध्वीकृतं

११ श० ११ उ० ॥१७५॥

प्रत सूत्रांक [४०८-४३६] + गाथा

दीप अनुक्रम [४९४-५२८]

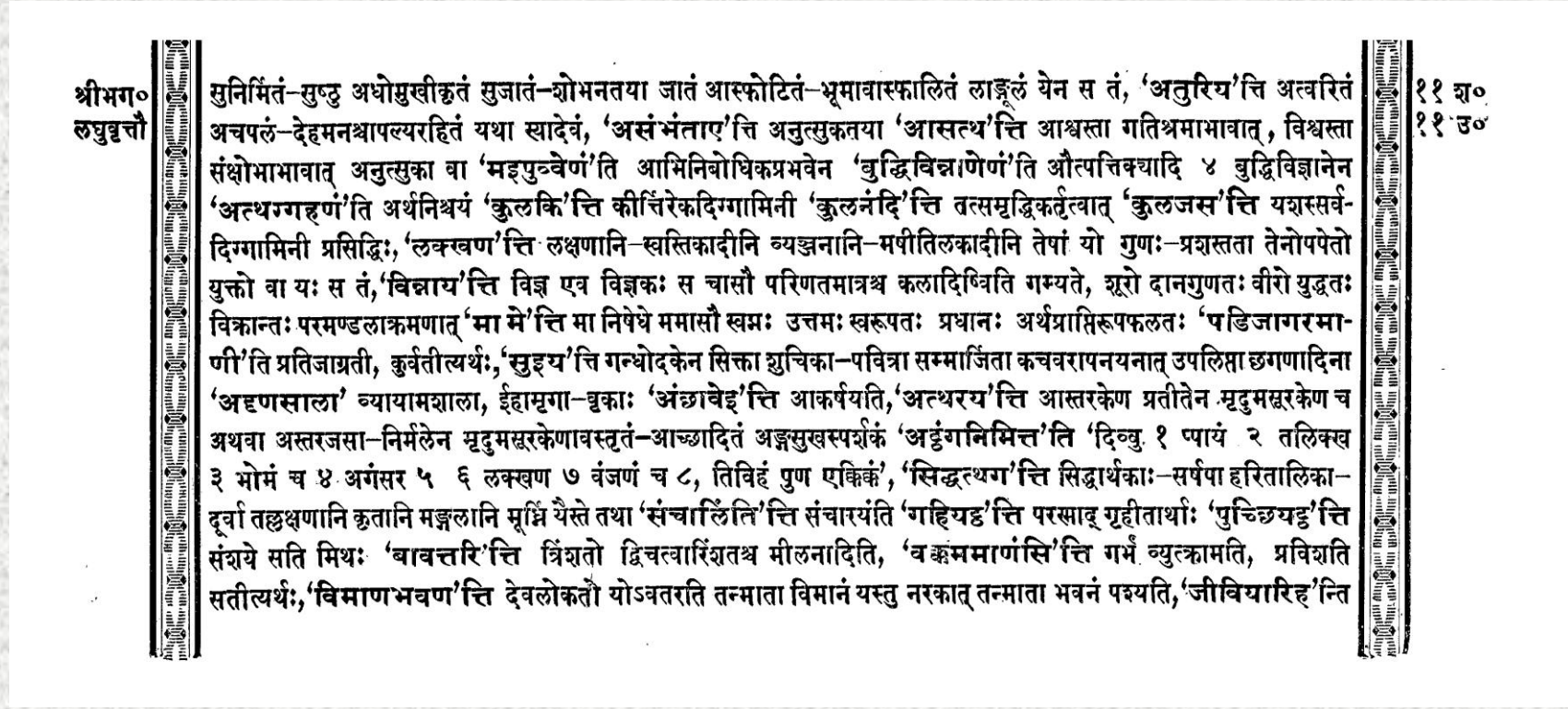

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सुनिर्मितं–सुष्ठु अधोमुखीकृतं सुजातं–शोभनतया जातं आस्फोटितं–भूमावास्फालितं लाङ्गूलं येन स तं, ‘अतुरिय’त्ति अत्वरितं अचपलं–देहमनश्चापल्यरहितं यथा स्यादेवं, ‘असंभंताए’त्ति अनुत्सुकतया ‘आसत्थ’त्ति आश्वस्ता गतिश्रमाभावात्, विश्वस्ता संक्षोभाभावात् अनुत्सुका वा ‘मइपुव्वेणं’ति आभिनिबोधिकप्रभवेन ‘बुद्धिविन्नाणेणं’ति औत्पत्तिक्यादि ४ बुद्धिविज्ञानेन ‘अत्थुग्गहणं’ति अर्थनिश्चयं ‘कुलकि’त्ति कीर्त्तिरेकदिग्गामिनी ‘कुलनंदि’त्ति तत्समृद्धिकर्तृत्वात् ‘कुलजस’त्ति यशस्सर्वदिग्गामिनी प्रसिद्धिः, ‘लक्खण’त्ति लक्षणानि–स्वस्तिकादीनि व्यञ्जनानि–मषीतिलकादीनि तेषां यो गुणः–प्रशस्तता तेनोपपेतो युक्तो वा यः स तं, ‘विन्नाय’त्ति विज्ञ एव विज्ञकः स चासौ परिणतमात्रश्च कलादिष्विति गम्यते, शूरो दानगुणतः वीरो युद्धतः विक्रान्तः परमण्डलाक्रमणात् ‘मा मे’त्ति मा निषेधे ममासौ स्वप्नः उत्तमः स्वरूपतः प्रधानः अर्थप्राप्तिरूपफलतः ‘पडिजागरमाणी’ति प्रतिजाग्रती, कुर्वतीत्यर्थः, ‘सुइय’त्ति गन्धोदकेन सिक्ता शुचिका–पवित्रा सम्मार्जिता कचवरापनयनात् उपलिप्ता छगणादिना ‘अट्टणसाला’ व्यायामशाला, ईहामृगा–वृकाः ‘अंछावेइ’त्ति आकर्षयति, ‘अत्थरय’त्ति आस्तरकेण प्रतीतेन मृदुमसूरकेण च अथवा अस्तरजसा–निर्मलेन मृदुमसूरकेणावस्तृतं–आच्छादितं अङ्गसुखस्पर्शकं ‘अट्ठंगनिमित्त’ति ‘दिव्वु १ प्पायं २ तलिक्ख ३ भोमं च ४ अंगसर ५ ६ लक्खण ७ वंजणं च ८, तिविहं पुण एक्किकं’, ‘सिद्धत्थग’त्ति सिद्धार्थकाः–सर्षपा हरितालिका–दूर्वा तल्लक्षणानि कृतानि मङ्गलानि मूर्ध्नि यैस्ते तथा ‘संचारिंति’त्ति संचारयंति ‘गहियट्ठ’त्ति परस्माद् गृहीतार्थाः ‘पुच्छियट्ठ’त्ति संशये सति मिथः ‘बावत्तरि’त्ति त्रिंशतो द्विचत्वारिंशतश्च मीलनादिति, ‘वक्कममाणंसि’त्ति गर्भं व्युत्क्रामति, प्रविशति सतीत्यर्थः, ‘विमाणभवण’त्ति देवलोकतो योऽवतरति तन्माता विमानं यस्तु नरकात् तन्माता भवनं पश्यति, ‘जीवियारिह’न्ति

११ श० ११ उ०

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

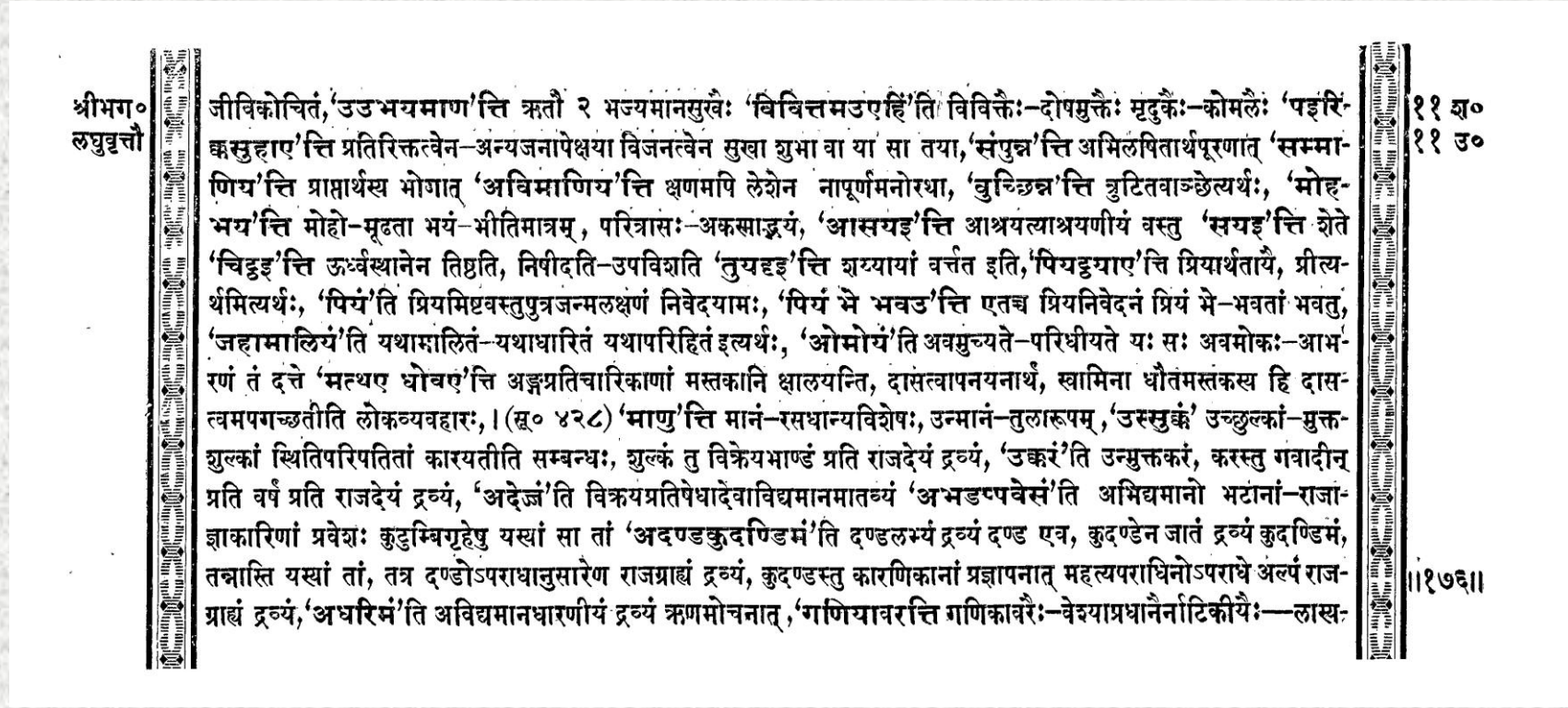

श्रीभग० लघुवृत्तौ

जीविकोचितं,'उउभयमाण'त्ति ऋतौ २ भज्यमानसुखैः 'विवित्तमउएहिं'ति विविक्तैः–दोषमुक्तैः मृदुकैः–कोमलैः 'पइरिक्कसुहाए'त्ति प्रतिरिक्तत्वेन–अन्यजनापेक्षया विजनत्वेन सुखा शुभा वा या सा तया,'संपुन्न'त्ति अभिलषितार्थपूरणात् 'सम्माणिय'त्ति प्राप्तार्थस्य भोगात् 'अविमाणिय'त्ति क्षणमपि लेशेन नापूर्णमनोरथा, 'वुच्छिन्न'त्ति त्रुटितवाञ्छेत्यर्थः, 'मोहभय'त्ति मोहो–मूढता भयं–भीतिमात्रम्, परित्रासः–अकस्माद्भयं, 'आसयइ'त्ति आश्रयत्याश्रयणीयं वस्तु 'सयइ'त्ति शेते 'चिट्ठइ'त्ति ऊर्ध्वस्थानेन तिष्ठति, निषीदति–उपविशति 'तुयट्टइ'त्ति शय्यायां वर्त्तत इति,'पियट्ठयाए'त्ति प्रियार्थतायै, प्रीत्यर्थमित्यर्थः, 'पियं'ति प्रियमिष्टवस्तुपुत्रजन्मलक्षणं निवेदयामः, 'पियं भे भवउ'त्ति एतच्च प्रियनिवेदनं प्रियं मे–भवतां भवतु, 'जहामालियं'ति यथामालितं–यथाधारितं यथापरिहितं इत्यर्थः, 'ओमोयं'ति अवमुच्यते–परिधीयते यः सः अवमोकः–आभरणं तं दत्ते 'मत्थए धोवए'त्ति अङ्गप्रतिचारिकाणां मस्तकानि क्षालयन्ति, दासत्वापनयनार्थं, स्वामिना धौतमस्तकस्य हि दासत्वमपगच्छतीति लोकव्यवहारः,। (सू० ४२८) 'माणु'त्ति मानं–रसधान्यविशेषः, उन्मानं–तुलारूपम्,'उस्सुक्कं' उच्छुल्कां–मुक्तशुल्कां स्थितिपरिपतितां कारयतीति सम्बन्धः, शुल्कं तु विक्रेयभाण्डं प्रति राजदेयं द्रव्यं, 'उक्करं'ति उन्मुक्तकरं, करस्तु गवादीन् प्रति वर्षं प्रति राजदेयं द्रव्यं, 'अदेज्जं'ति विक्रयप्रतिषेधादेवाविद्यमानमातव्यं 'अभडप्पवेसं'ति अभिद्यमानो भटानां–राजाज्ञाकारिणां प्रवेशः कुटुम्बिगृहेषु यस्यां सा तां 'अदण्डकुदण्डिमं'ति दण्डलभ्यं द्रव्यं दण्ड एव, कुदण्डेन जातं द्रव्यं कुदण्डिमं, तन्नास्ति यस्यां तां, तत्र दण्डोऽपराधानुसारेण राजग्राह्यं द्रव्यं, कुदण्डस्तु कारणिकानां प्रज्ञापनात् महत्यपराधिनोऽपराधे अल्पं राजग्राह्यं द्रव्यं,'अधरिमं'ति अविद्यमानधारणीयं द्रव्यं ऋणमोचनात्,'गणियावरत्ति गणिकावरैः–वेश्याप्रधानैर्नाटिकीयैः—लास्य-

११ श० ११ उ०

॥१७६॥

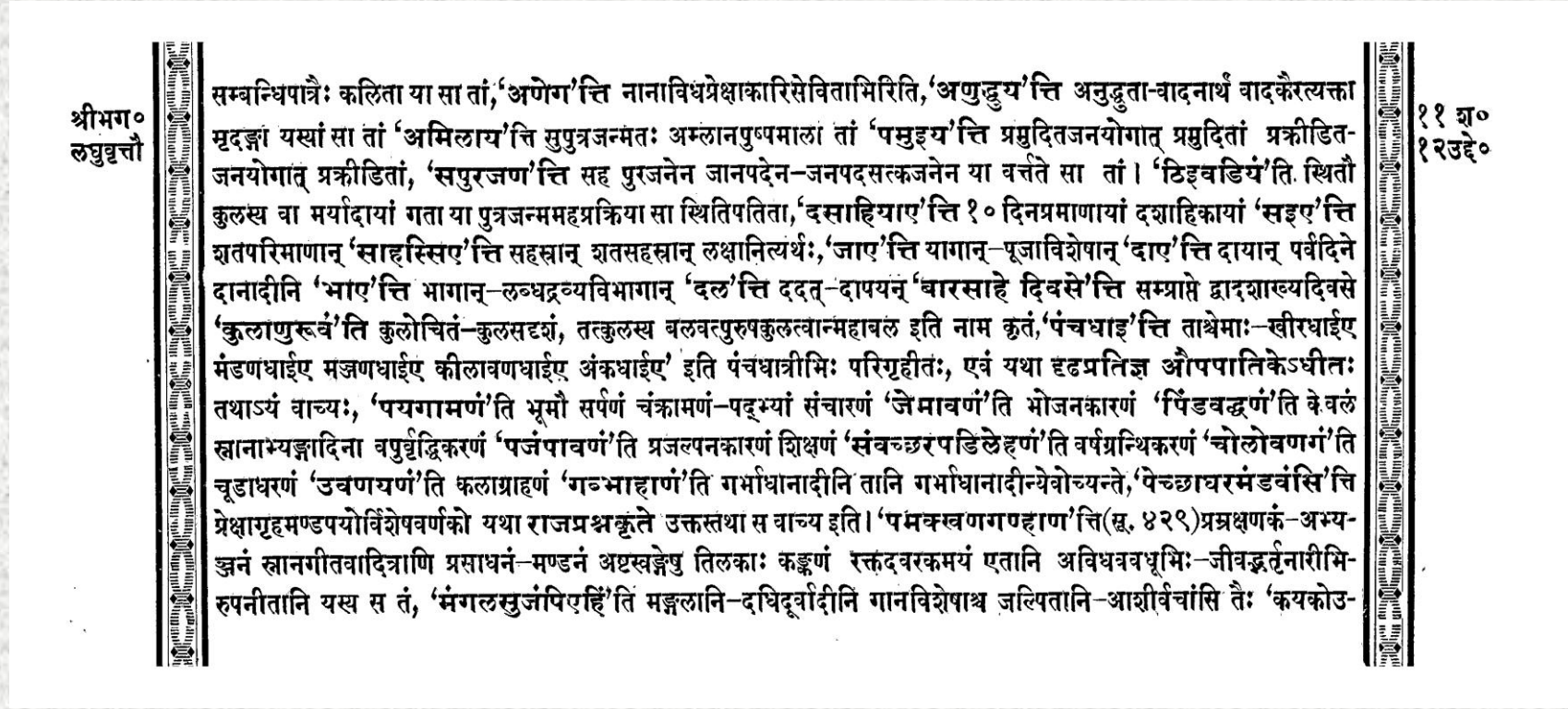

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सम्बन्धिपात्रैः कलिता या सा तां,'अणेग'त्ति नानाविधप्रेक्षाकारिसेविताभिरिति,'अणुद्धुय'त्ति अनुद्धुता-वादनार्थं वादकैरत्यक्ता मृदङ्गा यस्यां सा तां 'अमिलाय'त्ति सुपुत्रजन्मतः अम्लानपुष्पमाला तां 'पमुइय'त्ति प्रमुदितजनयोगात् प्रमुदितां प्रक्रीडित-जनयोगात् प्रक्रीडितां, 'सपुरजण'त्ति सह पुरजनेन जानपदेन–जनपदसत्कजनेन या वर्त्तते सा तां। 'ठिइवडियं'ति स्थितौ कुलस्य वा मर्यादायां गता या पुत्रजन्ममहप्रक्रिया सा स्थितिपतिता,'दसाहियाए'त्ति १० दिनप्रमाणायां दशाहिकायां 'सइए'त्ति शतपरिमाणान् 'साहस्सिए'त्ति सहस्रान् शतसहस्रान् लक्षानित्यर्थः,'जाए'त्ति यागान्–पूजाविशेषान् 'दाए'त्ति दायान् पर्वदिने दानादीनि 'भाए'त्ति भागान्–लब्धद्रव्यविभागान् 'दल'त्ति ददत्–दापयन् 'बारसाहे दिवसे'त्ति सम्प्राप्ते द्वादशाख्यदिवसे 'कुलाणुरूवं'ति कुलोचितं–कुलसदृशं, तत्कुलस्य बलवत्पुरुषकुलत्वान्महाबल इति नाम कृतं,'पंचधाइ'त्ति ताश्चेमाः–खीरधाईए मंडणधाईए मज्जणधाईए कीलावणधाईए अंकधाईए' इति पंचधात्रीभिः परिगृहीतः, एवं यथा दृढप्रतिज्ञ औपपातिकेऽधीतः तथाऽयं वाच्यः, 'पयगामणं'ति भूमौ सर्पणं चंक्रामणं–पद्भ्यां संचारणं 'जेमावणं'ति भोजनकारणं 'पिंडवद्धणं'ति केवलं स्नानाभ्यङ्गादिना वपुर्वृद्धिकरणं 'पजंपावणं'ति प्रजल्पनकारणं शिक्षणं 'संवच्छरपडिलेहणं'ति वर्षग्रन्थिकरणं 'चोलोवणगं'ति चूडाधरणं 'उवणयणं'ति कलाग्राहणं 'गब्भाहाणं'ति गर्भाधानादीनि तानि गर्भाधानादीन्येवोच्यन्ते,'पेच्छाघरमंडवंसि'त्ति प्रेक्षागृहमण्डपयोर्विशेषवर्णको यथा राजप्रश्नकृते उक्तस्तथा स वाच्य इति। 'पमक्खणगण्हाण'त्ति(सू. ४२९)प्रम्रक्षणकं–अभ्य-ङ्गनं स्नानगीतवादित्राणि प्रसाधनं–मण्डनं अष्टस्वङ्गेषु तिलकाः कङ्कणं रक्तदवरकमयं एतानि अविधवावधूभिः–जीवद्भर्तृनारीभि-रुपनीतानि यस्य स तं, 'मंगलसुजंपिएहिं'ति मङ्गलानि–दधिदूर्वादीनि गानविशेषाश्च जल्पितानि–आशीर्वचांसि तैः 'कयकोउ-

११ श० १२उद्दे०

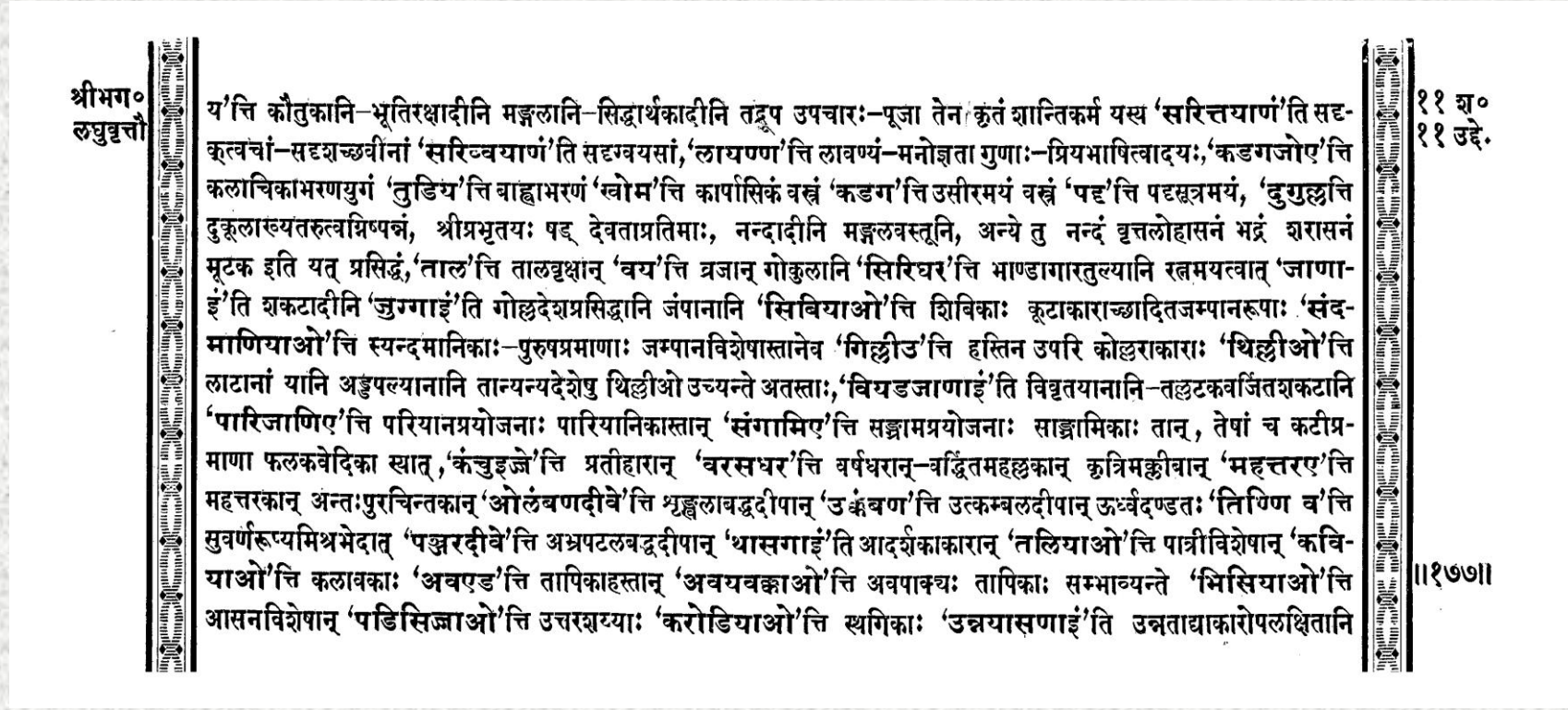

श्रीभग० लघुवृत्तौ

य'त्ति कौतुकानि–भूतिरक्षादीनि मङ्गलानि–सिद्धार्थकादीनि तद्रूप उपचारः–पूजा तेन कृतं शान्तिकर्म यस्य 'सरित्तयाणं'ति सदृक्त्वचां–सदृशच्छवीनां 'सरिव्वयाणं'ति सदृग्वयसां,'लायण्ण'त्ति लावण्यं–मनोज्ञता गुणाः–प्रियभाषित्वादयः,'कडगजोए'त्ति कलाचिकाभरणयुगं 'तुडिय'त्ति बाह्वाभरणं 'खोम'त्ति कार्पासिकं वस्त्रं 'कडग'त्ति उसीरमयं वस्त्रं 'पट्ट'त्ति पट्टसूत्रमयं, 'दुगुल्लत्ति दुकूलाख्यतरुत्वग्निष्पन्नं, श्रीप्रभृतयः षड् देवताप्रतिमाः, नन्दादीनि मङ्गलवस्तूनि, अन्ये तु नन्दं वृत्तलोहासनं भद्रं शरासनं मूटक इति यत् प्रसिद्धं,'ताल'त्ति तालवृक्षान् 'वय'त्ति व्रजान् गोकुलानि 'सिरिघर'त्ति भाण्डागारतुल्यानि रत्नमयत्वात् 'जाणाइं'ति शकटादीनि 'जुग्गाइं'ति गोल्लदेशप्रसिद्धानि जंपानानि 'सिवियाओ'त्ति शिविकाः कूटाकाराच्छादितजम्पानरूपाः 'संदमाणियाओ'त्ति स्यन्दमानिकाः–पुरुषप्रमाणाः जम्पानविशेषास्तानेव 'गिल्लीउ'त्ति हस्तिन उपरि कोल्लराकाराः 'थिल्लीओ'त्ति लाटानां यानि अड्डपल्यानानि तान्यन्यदेशेषु थिल्लीओ उच्यन्ते अतस्ताः,'वियडजाणाइं'ति विवृतयानानि–तल्लटकवर्जितशकटानि 'पारिजाणिए'त्ति परियानप्रयोजनाः पारियानिकास्तान् 'संगामिए'त्ति सङ्ग्रामप्रयोजनाः साङ्ग्रामिकाः तान्, तेषां च कटीप्रमाणा फलकवेदिका स्यात्,'कंचुइज्जे'त्ति प्रतीहारान् 'वरसधर'त्ति वर्षधरान्–वर्द्धितमहल्लकान् कृत्रिमक्लीबान् 'महत्तरए'त्ति महत्तरकान् अन्तःपुरचिन्तकान् 'ओलंबणदीवे'त्ति शृङ्खलाबद्धदीपान् 'उक्कंबण'त्ति उत्कम्बलदीपान् ऊर्ध्वदण्डतः 'तिण्णि व'त्ति सुवर्णरूप्यमिश्रभेदात् 'पञ्जरदीवे'त्ति अभ्रपटलबद्धदीपान् 'थासगाइं'ति आदर्शकाकारान् 'तलियाओ'त्ति पात्रीविशेषान् 'कवियाओ'त्ति कलावकाः 'अवएड'त्ति तापिकाहस्तान् 'अवयवक्काओ'त्ति अवपाक्यः तापिकाः सम्भाव्यन्ते 'भिसियाओ'त्ति आसनविशेषान् 'पडिसिज्जाओ'त्ति उत्तरशय्याः 'करोडियाओ'त्ति स्थगिकाः 'उन्नयासणाइं'ति उन्नताद्याकारोपलक्षितानि

११ श० ११ उद्दे.

॥१७७॥

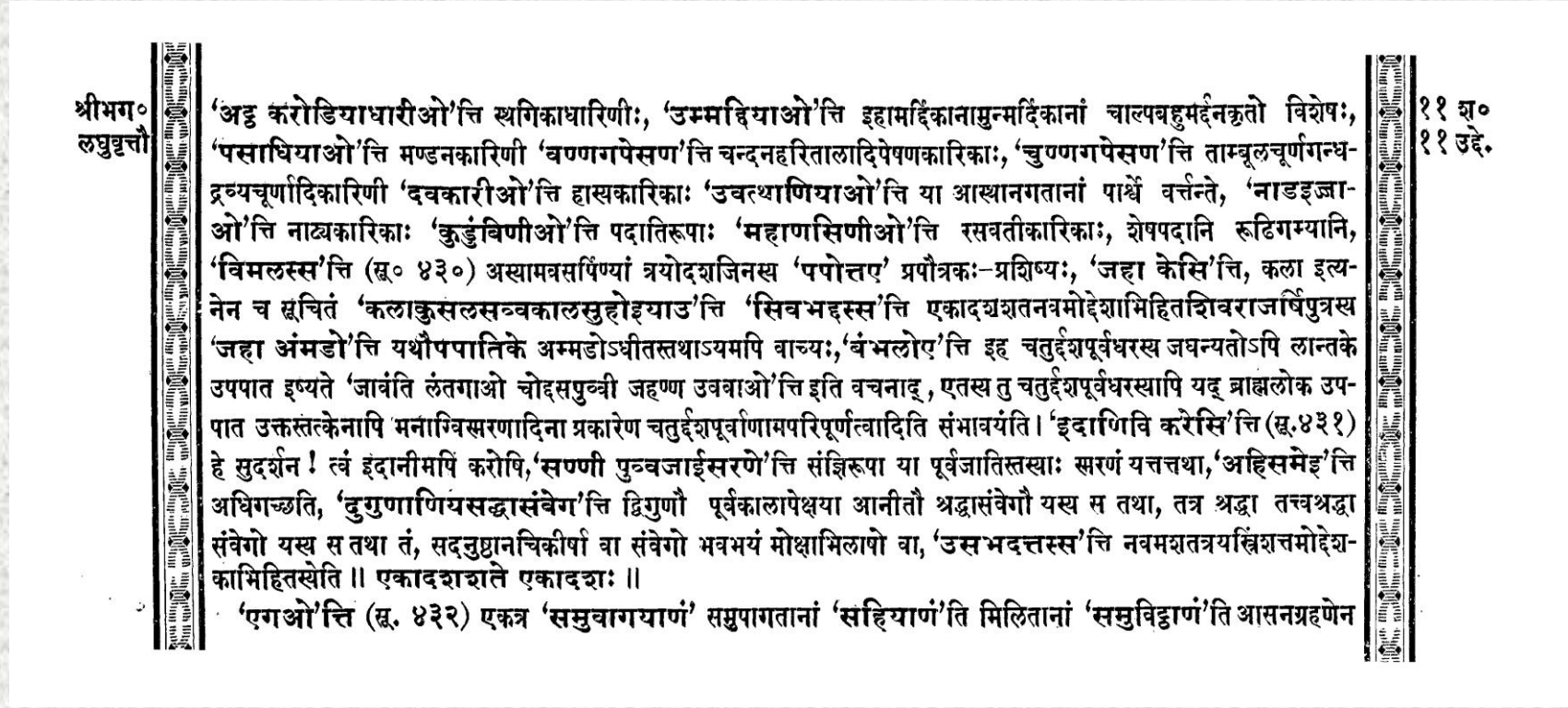

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'अट्ठ करोडियाधारीओ'त्ति स्थगिकाधारिणीः, 'उम्महियाओ'त्ति इहामर्दिकानामुन्मर्दिकानां चाल्पबहुमर्दनकृतो विशेषः, 'पसाहियाओ'त्ति मण्डनकारिणी 'वण्णगपेसण'त्ति चन्दनहरितालादिपेषणकारिकाः, 'चुण्णगपेसण'त्ति ताम्बूलचूर्णगन्धद्रव्यचूर्णादिकारिणी 'दवकारीओ'त्ति हास्यकारिकाः 'उवत्थाणियाओ'त्ति या आस्थानगतानां पार्श्वे वर्त्तन्ते, 'नाडइज्जाओ'त्ति नाट्यकारिकाः 'कुडुंबिणीओ'त्ति पदातिरूपाः 'महाणसिणीओ'त्ति रसवतीकारिकाः, शेषपदानि रूढिगम्यानि, 'विमलस्स'त्ति (सू० ४३०) अस्यामवसर्पिण्यां त्रयोदशजिनस्य 'पपोत्तए' प्रपौत्रकः-प्रशिष्यः, 'जहा केसि'त्ति, कला इत्यनेन च सूचितं 'कलाकुसलसव्वकालसुहोइयाउ'त्ति 'सिवभद्दस्स'त्ति एकादशशतनवमोद्देशाभिहितशिवराजर्षिपुत्रस्य 'जहा अंमडो'त्ति यथौपपातिके अम्मडोऽधीतस्तथाऽयमपि वाच्यः,'बंभलोए'त्ति इह चतुर्दशपूर्वधरस्य जघन्यतोऽपि लान्तके उपपात इष्यते 'जावंति लंतगाओ चोद्दसपुव्वी जहण्ण उववाओ'त्ति इति वचनाद्, एतस्य तु चतुर्दशपूर्वधरस्यापि यद् ब्राह्मलोक उपपात उक्तस्तत्केनापि मनाग्विस्मरणादिना प्रकारेण चतुर्दशपूर्वाणामपरिपूर्णत्वादिति संभावयंति। 'इदाणिंवि करेसि'त्ति (सू.४३१) हे सुदर्शन! त्वं इदानीमपि करोषि,'सण्णी पुव्वजाईसरणे'त्ति संज्ञिरूपा या पूर्वजातिस्तस्याः स्मरणं यत्तत्तथा,'अहिसमेइ'त्ति अधिगच्छति, 'दुगुणाणियसद्धासंवेग'त्ति द्विगुणौ पूर्वकालापेक्षया आनीतौ श्रद्धासंवेगौ यस्य स तथा, तत्र श्रद्धा तत्त्वश्रद्धा संवेगो यस्य स तथा तं, सदनुष्ठानचिकीर्षा वा संवेगो भवभयं मोक्षाभिलाषो वा, 'उसभदत्तस्स'त्ति नवमशतत्रयस्त्रिंशत्तमोद्देशकाभिहितस्येति ॥ एकादशशते एकादशः ॥

'एगओ'त्ति (सू. ४३२) एकत्र 'समुवागयाणं' समुपागतानां 'सहियाणं'ति मिलितानां 'समुविट्ठाणं'ति आसनग्रहणेन

११ श० ११ उद्दे.

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'सन्निसन्नाणं'ति सन्निषण्णानां समीपतया 'मिहो'त्ति मिथः 'देवट्ठितिगहियट्ठ'त्ति देवस्थितिविषये गृहीतार्थो-गृहीतपरमार्थो यस्स तदा 'तुंगिउद्देसए'त्ति(सू. ४३३)द्वितीयशतपञ्चमोद्देशके ॥ एकादशशते द्वादशः॥ इति श्री एकादशं शतं समाप्तं ॥

१२ श० १ उद्देशः

अथ द्वादशशतमारभ्यते, तदुद्देशकगाथेयं–"संखे १ जयंति २ पुढवी ३ पोग्गल ४ अतिवाय ५ राहु ६ लोगे य ७ । नागे य ८ देव ९ आया १० बारसमसए दसुद्देसा ॥ १ ॥" (※७१) 'संखे'त्ति शङ्खश्रमणोपासकविषयः १ 'जयन्ति'त्ति जयन्त्याख्यश्राद्धीविषयः २ 'पुढवि'त्ति रत्नप्रभादिपृथ्वीरूपः ३ 'पुग्गलि'त्ति पुद्गलविषयः ४ 'अइवात'त्ति प्राणातिपातादिविषयः ५ 'राहु'त्ति राहुवक्तव्यतार्थः ६, 'लोगे य'त्ति लोकविषयः ७ 'नागे य'त्ति सर्पविषयः ८ 'देव'त्ति देवभेदविषयः 'आय'त्ति आत्मभेदनिरूपणार्थः १०। तत्र प्रथमे 'अस्साएमाण'त्ति (सू. ४३७) ईषत् स्वादयन्तो बहु च त्यज्यन्तः इक्षुखण्डादेरिव 'विस्साएमाण'त्ति विशेषेण स्वादयन्तोऽल्पमेव त्यज्यन्तः खर्जूरादेरिव 'परिभाएमाण'त्ति ददतः 'परिभुंजेमाण'त्ति सर्वमुपभुञ्जानाः; एषां पदानां वार्त्तमानिकप्रत्ययान्तत्वेऽतीतप्रत्ययान्तता द्रष्टव्या, ततश्च विपुलमशनाद्यास्वादितवन्तस्संतः, 'पक्खियं पोसहं'ति पक्षे भवं पाक्षिकं पौषधं अव्यापारपौषधं 'पडिजागरमाणा' प्रतिजाग्रतोऽप्यनुपालयन्तो विहरिष्यामः–स्थास्यामः, यच्चेहातीतकालीनप्रत्ययान्तत्वेऽपि वार्त्तमानिकप्रत्ययोपादानं तद्भोजनानन्तरमेवाक्षेपेण पौषधाभ्युपगमप्रदर्शनार्थमेवेत्येके, अन्ये तु व्याचक्षते–इह किल पौषधं पर्वदिनानुष्ठानं, तच्च द्विधा–इष्टजनभोजनप्रदानादिरूपं १ आहारादिपौषधरूपं २ च, तत्र शङ्ख इष्टजनभोजनादिरूपं पौषधं कर्त्तुकामस्सन् यदुक्तवान् तद्दर्शयन्नेवमुक्तं–'तए णं अम्हे तं विउलं असणं ४ साइमं अस्साएमाणा'इत्यादि, पुनश्च शङ्ख

॥१७८॥

	*** अत्र शतक-११ समाप्तं. अथ शतक-१२ आरभ्यते

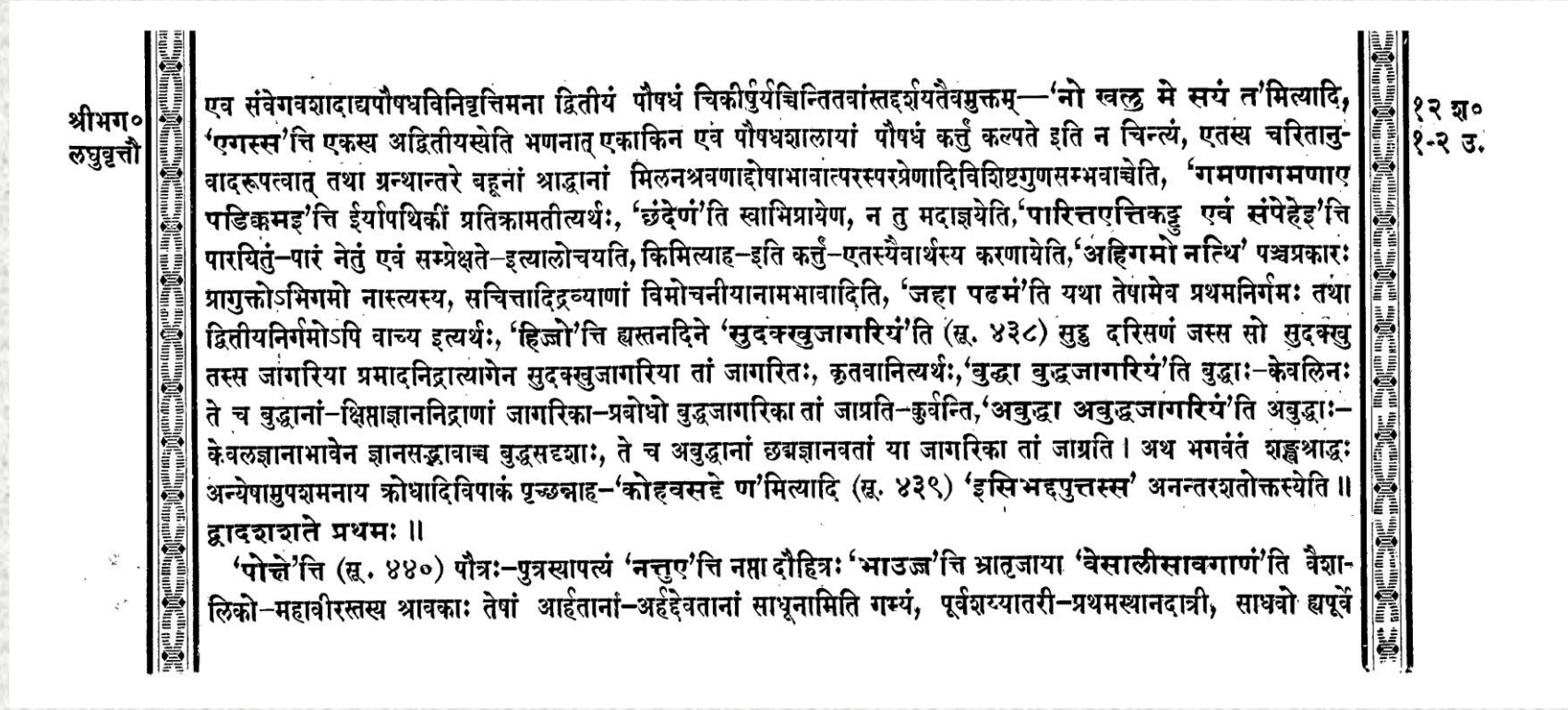

श्रीभग० लघुवृत्तौ

एव संवेगवशादाद्यपौषधविनिवृत्तिमना द्वितीयं पौषधं चिकीर्षुर्यच्चिन्तितवांस्तद्दर्शयतैवमुक्तम्—'नो खलु मे सयं त'मित्यादि, 'एगस्स'त्ति एकस्य अद्वितीयस्येति भणनात् एकाकिन एव पौषधशालायां पौषधं कर्तुं कल्पते इति न चिन्त्यं, एतस्य चरितानुवादरूपत्वात् तथा ग्रन्थान्तरे बहूनां श्राद्धानां मिलनश्रवणादोषाभावात्परस्परप्रेरणादिविशिष्टगुणसम्भवाच्चेति, 'गमणागमणाए पडिक्कमइ'त्ति ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामतीत्यर्थः, 'छंदेणं'ति स्वाभिप्रायेण, न तु मदाज्ञयेति,'पारित्तएत्तिकट्टु एवं संपेहेइ'त्ति पारयितुं—पारं नेतुं एवं सम्प्रेक्षते—इत्यालोचयति, किमित्याह—इति कर्तुं—एतस्यैवार्थस्य करणायेति,'अहिगमो नत्थि' पञ्चप्रकारः प्रागुक्तोऽभिगमो नास्त्यस्य, सचित्तादिद्रव्याणां विमोचनीयानामभावादिति, 'जहा पढमं'ति यथा तेषामेव प्रथमनिर्गमः तथा द्वितीयनिर्गमोऽपि वाच्य इत्यर्थः, 'हिज्जो'त्ति ह्यस्तनदिने 'सुदक्खुजागरियं'ति (सू. ४३८) सुट्ठु दरिसणं जस्स सो सुदक्खु तस्स जागरिया प्रमादनिद्रात्यागेन सुदक्खुजागरिया तां जागरितः, कृतवानित्यर्थः,'बुद्धा बुद्धजागरियं'ति बुद्धाः—केवलिनः ते च बुद्धानां—क्षिप्ताज्ञाननिद्राणां जागरिका—प्रबोधो बुद्धजागरिका तां जाग्रति—कुर्वन्ति,'अबुद्धा अबुद्धजागरियं'ति अबुद्धाः—केवलज्ञानाभावेन ज्ञानसद्भावाच्च बुद्धसदृशाः, ते च अबुद्धानां छद्मज्ञानवतां या जागरिका तां जाग्रति। अथ भगवंतं शङ्खश्राद्धः अन्येषामुपशमनाय क्रोधादिविपाकं पृच्छन्नाह—'कोहवसट्टे ण'मित्यादि (सू. ४३९) 'इसिभद्दपुत्तस्स' अनन्तरशतोक्तस्येति ॥ द्वादशशते प्रथमः ॥

'पोत्ते'त्ति (सू. ४४०) पौत्रः—पुत्रस्यापत्यं 'नत्तुए'त्ति नप्ता दौहित्रः 'भाउज्ज'त्ति भ्रातृजाया 'वेसालीसावगाणं'ति वैशालिको—महावीरस्तस्य श्रावकाः तेषां आर्हतानां—अर्हद्देवतानां साधूनामिति गम्यं, पूर्वशय्यातरी—प्रथमस्थानदात्री, साधवो ह्यपूर्वे

१२ श० १-२ उ.

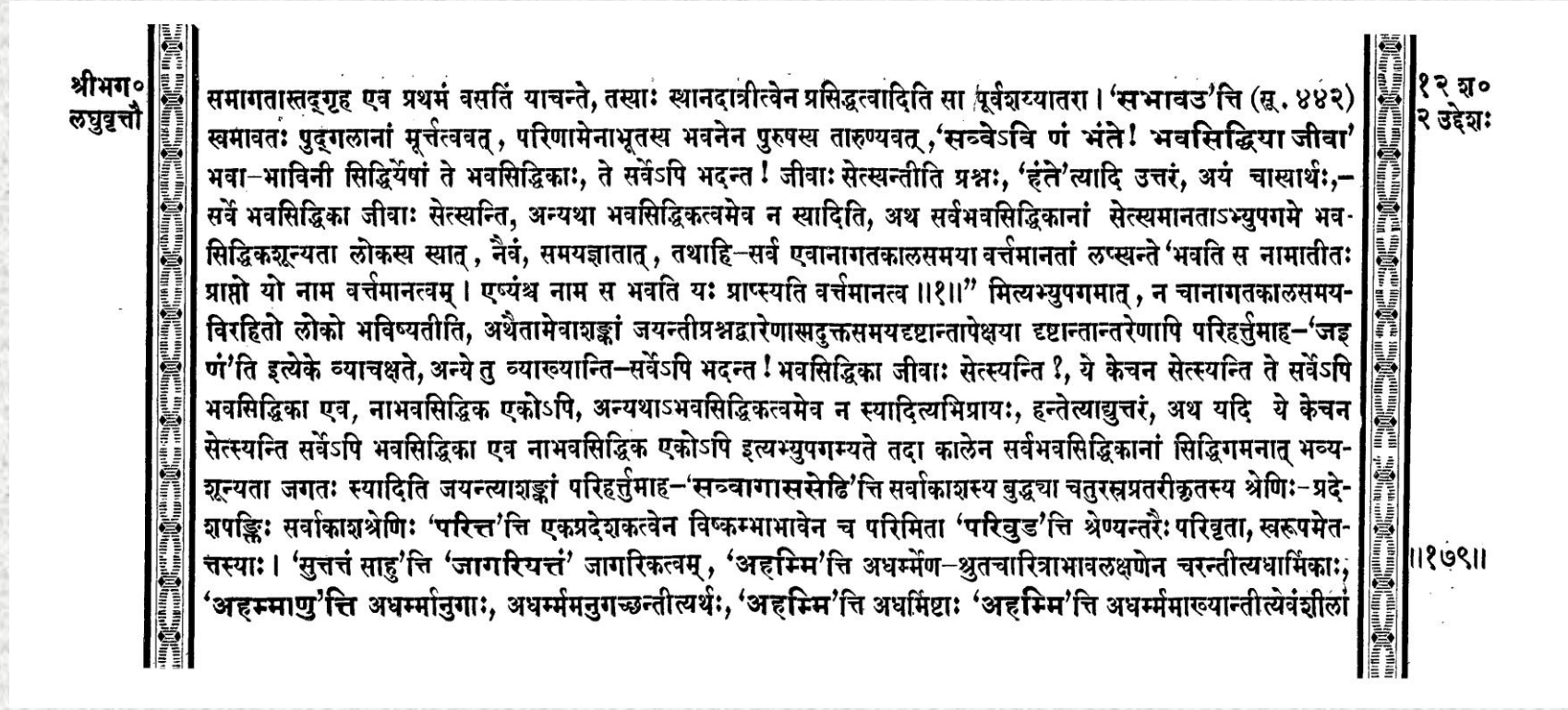

श्रीभग० लघुवृत्तौ

समागतास्तद्गृह एव प्रथमं वसतिं याचन्ते, तस्याः स्थानदात्रीत्वेन प्रसिद्धत्वादिति सा पूर्वशय्यातरा। ‘सभावउ’त्ति (सू. ४४२) स्वभावतः पुद्गलानां मूर्त्तत्ववत्, परिणामेनाभूतस्य भवनेन पुरुषस्य तारुण्यवत्,‘सव्वेऽवि णं भंते! भवसिद्धिया जीवा’ भवा–भाविनी सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकाः, ते सर्वेऽपि भदन्त! जीवाः सेत्स्यन्तीति प्रश्नः, ‘हंते’त्यादि उत्तरं, अयं चास्यार्थः,– सर्वे भवसिद्धिका जीवाः सेत्स्यन्ति, अन्यथा भवसिद्धिकत्वमेव न स्यादिति, अथ सर्वभवसिद्धिकानां सेत्स्यमानताऽभ्युपगमे भवसिद्धिकशून्यता लोकस्य स्यात्, नैवं, समयज्ञातात्, तथाहि–सर्व एवानागतकालसमया वर्त्तमानतां लप्स्यन्ते ‘भवति स नामातीतः प्राप्तो यो नाम वर्त्तमानत्वम्। एष्यंश्च नाम स भवति यः प्राप्स्यति वर्त्तमानत्व ॥१॥” मित्यभ्युपगमात्, न चानागतकालसमयविरहितो लोको भविष्यतीति, अथैतामेवाशङ्कां जयन्तीप्रश्नद्वारेणास्मदुक्तसमयदृष्टान्तापेक्षया दृष्टान्तान्तरेणापि परिहर्त्तुमाह–‘जइ णं’ति इत्येके व्याचक्षते, अन्ये तु व्याख्यान्ति–सर्वेऽपि भदन्त! भवसिद्धिका जीवाः सेत्स्यन्ति?, ये केचन सेत्स्यन्ति ते सर्वेऽपि भवसिद्धिका एव, नाभवसिद्धिक एकोऽपि, अन्यथाऽभवसिद्धिकत्वमेव न स्यादित्यभिप्रायः, हन्तेत्याद्युत्तरं, अथ यदि ये केचन सेत्स्यन्ति सर्वेऽपि भवसिद्धिका एव नाभवसिद्धिक एकोऽपि इत्यभ्युपगम्यते तदा कालेन सर्वभवसिद्धिकानां सिद्धिगमनात् भव्यशून्यता जगतः स्यादिति जयन्त्याशङ्कां परिहर्त्तुमाह–‘सव्वागाससेढि’त्ति सर्वाकाशस्य बुद्ध्या चतुरस्रप्रतरीकृतस्य श्रेणिः–प्रदेशपङ्क्तिः सर्वाकाशश्रेणिः ‘परित्त’त्ति एकप्रदेशकत्वेन विष्कम्भाभावेन च परिमिता ‘परिवुड’त्ति श्रेण्यन्तरैः परिवृता, स्वरूपमेतत्तस्याः। ‘सुत्तत्तं साहु’त्ति ‘जागरियत्तं’ जागरिकत्वम्, ‘अहम्मि’त्ति अधर्म्मेण–श्रुतचारित्राभावलक्षणेन चरन्तीत्यधार्मिकाः, ‘अहम्माणु’त्ति अधर्म्मानुगाः, अधर्म्ममनुगच्छन्तीत्यर्थः, ‘अहम्मि’त्ति अधर्मिष्ठाः ‘अहम्मि’त्ति अधर्म्ममाख्यान्तीत्येवंशीलाः

१२ श० २ उद्देशः

॥१७९॥

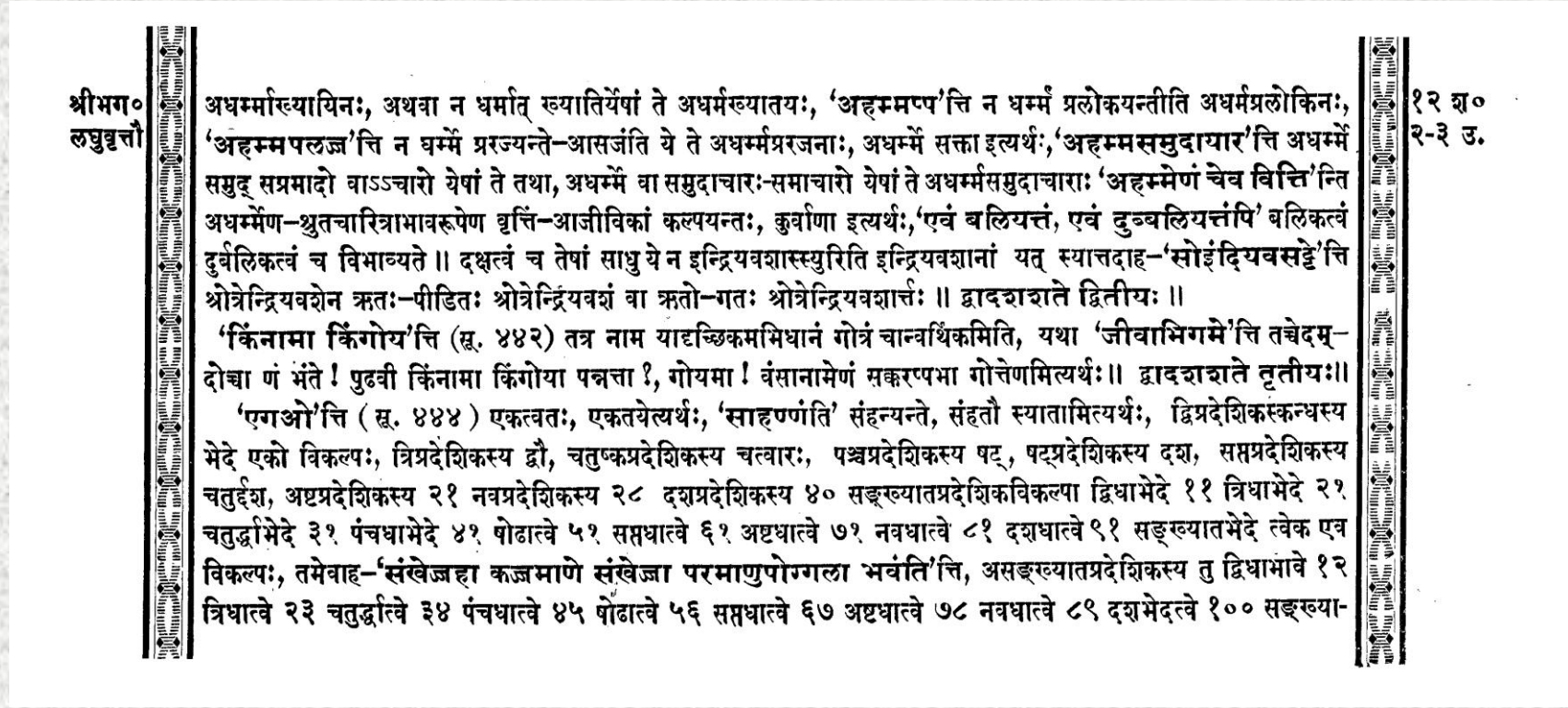

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अधर्म्माख्यायिनः, अथवा न धर्मात् ख्यातिर्येषां ते अधर्मख्यातयः, 'अहम्मप्प'त्ति न धर्म्मं प्रलोकयन्तीति अधर्मप्रलोकिनः, 'अहम्मपलज्ज'त्ति न धर्म्मे प्रलज्यन्ते–आसजंति ये ते अधर्म्मप्रलजनाः, अधर्म्मे सक्ता इत्यर्थः,'अहम्मसमुदायार'त्ति अधर्म्मे समुद् सप्रमादो वाऽऽचारो येषां ते तथा, अधर्म्मे वा समुदाचारः-समाचारो येषां ते अधर्म्मसमुदाचाराः 'अहम्मेणं चेव वित्तिं'न्ति अधर्म्मेण–श्रुतचारित्राभावरूपेण वृत्तिं–आजीविकां कल्पयन्तः, कुर्वाणा इत्यर्थः,'एवं बलियत्तं, एवं दुब्बलियत्तंपि' बलिकत्वं दुर्बलिकत्वं च विभाव्यते ॥ दक्षत्वं च तेषां साधु ये न इन्द्रियवशास्स्युरिति इन्द्रियवशानां यत् स्यात्तदाह–'सोइंदियवसट्टे'त्ति श्रोत्रेन्द्रियवशेन ऋतः–पीडितः श्रोत्रेन्द्रियवशं वा ऋतो–गतः श्रोत्रेन्द्रियवशार्त्तः ॥ द्वादशशते द्वितीयः ॥

'किंनामा किंगोय'त्ति (सू. ४४२) तत्र नाम यादृच्छिकमभिधानं गोत्रं चान्वर्थिकमिति, यथा 'जीवाभिगमे'त्ति तच्चेदम्–दोच्चा णं भंते ! पुढवी किंनामा किंगोया पन्नत्ता ?, गोयमा ! वंसानामेणं सक्करप्पभा गोत्तेणमित्यर्थः॥ द्वादशशते तृतीयः॥

'एगओ'त्ति (सू. ४४४) एकत्वतः, एकतयेत्यर्थः, 'साहण्णंति' संहन्यन्ते, संहतौ स्यातामित्यर्थः, द्विप्रदेशिकस्कन्धस्य भेदे एको विकल्पः, त्रिप्रदेशिकस्य द्वौ, चतुष्कप्रदेशिकस्य चत्वारः, पञ्चप्रदेशिकस्य षट्, षट्प्रदेशिकस्य दश, सप्तप्रदेशिकस्य चतुर्दश, अष्टप्रदेशिकस्य २१ नवप्रदेशिकस्य २८ दशप्रदेशिकस्य ४० सङ्ख्यातप्रदेशिकविकल्पा द्विधाभेदे ११ त्रिधाभेदे २१ चतुर्द्धाभेदे ३१ पंचधाभेदे ४१ षोढात्वे ५१ सप्तधात्वे ६१ अष्टधात्वे ७१ नवधात्वे ८१ दशधात्वे ९१ सङ्ख्यातभेदे त्वेक एव विकल्पः, तमेवाह–'संखेज्जहा कज्जमाणे संखेज्जा परमाणुपोग्गला भवंति'त्ति, असङ्ख्यातप्रदेशिकस्य तु द्विधाभावे १२ त्रिधात्वे २३ चतुर्द्धात्वे ३४ पंचधात्वे ४५ षोढात्वे ५६ सप्तधात्वे ६७ अष्टधात्वे ७८ नवधात्वे ८९ दशभेदत्वे १०० सङ्ख्या-

१२ श० २-३ उ.

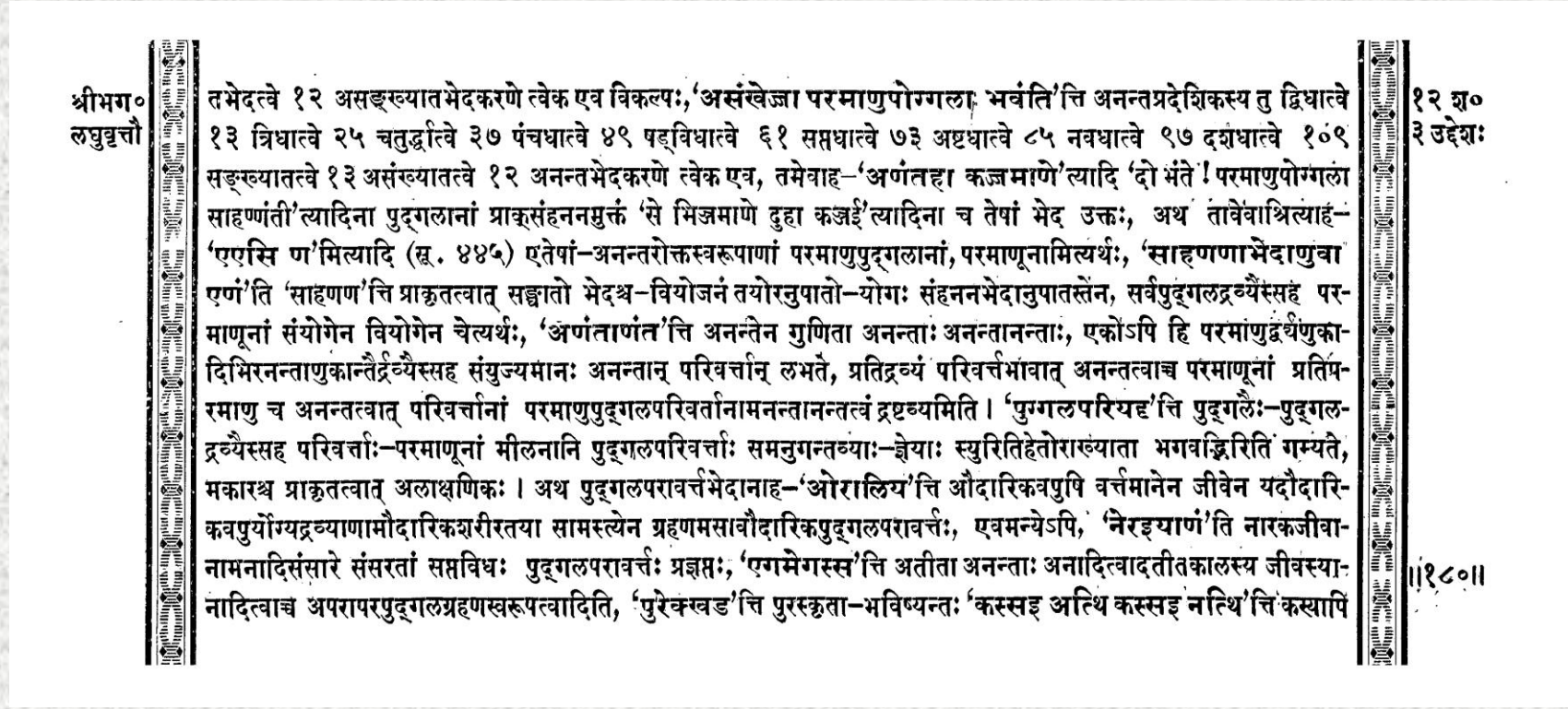

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तभेदत्वे १२ असङ्ख्यातभेदकरणे त्वेक एव विकल्पः,'असंखेज्जा परमाणुपोग्गला भवंति'त्ति अनन्तप्रदेशिकस्य तु द्विधात्वे १३ त्रिधात्वे २५ चतुर्द्धात्वे ३७ पंचधात्वे ४९ षड्विधात्वे ६१ सप्तधात्वे ७३ अष्टधात्वे ८५ नवधात्वे ९७ दशधात्वे १०९ सङ्ख्यातत्वे १३ असंख्यातत्वे १२ अनन्तभेदकरणे त्वेक एव, तमेवाह–'अणंतहा कज्जमाणे'त्यादि 'दो भंते ! परमाणुपोग्गला साहण्णंती'त्यादिना पुद्गलानां प्राक्संहननमुक्तं 'से भिज्जमाणे दुहा कज्जई'त्यादिना च तेषां भेद उक्तः, अथ तावेवाश्रित्याह–'एएसि ण'मित्यादि (सू. ४४५) एतेषां–अनन्तरोक्तस्वरूपाणां परमाणुपुद्गलानां, परमाणूनामित्यर्थः, 'साहणणाभेदाणुवा एणं'ति 'साहणण'त्ति प्राकृतत्वात् सङ्घातो भेदश्च–वियोजनं तयोरनुपातो–योगः संहननभेदानुपातस्तेन, सर्वपुद्गलद्रव्यैस्सह परमाणूनां संयोगेन वियोगेन चेत्यर्थः, 'अणंताणंत'त्ति अनन्तेन गुणिता अनन्ताः अनन्तानन्ताः, एकोऽपि हि परमाणुर्द्व्यणुकादिभिरनन्ताणुकान्तैर्द्रव्यैस्सह संयुज्यमानः अनन्तान् परिवर्त्तान् लभते, प्रतिद्रव्यं परिवर्त्तभावात् अनन्तत्वाच्च परमाणूनां प्रतिपरमाणु च अनन्तत्वात् परिवर्त्तानां परमाणुपुद्गलपरिवर्तानामनन्तानन्तत्वं द्रष्टव्यमिति। 'पुग्गलपरियट्ट'त्ति पुद्गलैः–पुद्गलद्रव्यैस्सह परिवर्त्ताः–परमाणूनां मीलनानि पुद्गलपरिवर्त्ताः समनुगन्तव्याः–ज्ञेयाः स्युरितिहेतोराख्याता भगवद्भिरिति गम्यते, मकारश्च प्राकृतत्वात् अलाक्षणिकः। अथ पुद्गलपरावर्त्तभेदानाह–'ओरालिय'त्ति औदारिकवपुषि वर्त्तमानेन जीवेन यदौदारिकवपुर्योग्यद्रव्याणामौदारिकशरीरतया सामस्त्येन ग्रहणमसावौदारिकपुद्गलपरावर्त्तः, एवमन्येऽपि, 'नेरइयाणं'ति नारकजीवानामनादिसंसारे संसरतां सप्तविधः पुद्गलपरावर्त्तः प्रज्ञप्तः, 'एगमेगस्स'त्ति अतीता अनन्ताः अनादित्वादतीतकालस्य जीवस्यानादित्वाच्च अपरापरपुद्गलग्रहणस्वरूपत्वादिति, 'पुरेक्खड'त्ति पुरस्कृता–भविष्यन्तः 'कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि'त्ति कस्यापि

१२ श० ३ उद्देशः

॥१८०॥

प्रत सूत्रांक [४३७-४६८] + गाथा

दीप अनुक्रम [५२९-५६२]

जीवस्य दूरभव्यस्याभव्य वा ते स्युः, कस्यापि न सन्ति उद्वृत्य यो मानुषत्वमाप्य सिद्धिं यास्यति, सङ्ख्येयैर्वा भवैर्यास्यति यः सिद्धिं तस्यापि परिवर्त्तो नास्त्यनन्तकालपूर्यमाणत्वात् तस्येति,‘एगचिय’त्ति एकचितिकाः–एकनारकाद्याश्रिताः ‘सत्त’त्ति औदारिकादिसप्तविधपुद्गलविषयत्वात् सप्त दण्डकाः चतुर्विंशतिदण्डकाश्च स्युः, एकत्वपृथक्त्वदण्डकानां चायं विशेषः–एकत्वदण्डकेषु पुरस्कृतपुद्गलपरावर्त्ताः कस्यापि न सन्त्यपि, बहुत्वदण्डकेषु तु ते सन्ति, जीवसामान्याश्रयणादिति,‘एगमेगस्से’त्यादि,‘नत्थि एक्कोऽवि’त्ति नारकत्वे वर्त्तमानस्यौदारिकपुद्गलग्रहणाभावादिति, ‘एगमेगस्स णं नेरइयस्स असुरकुमारत्ते’इत्यादि, इह च नैरयिकस्य वर्त्तमानकालीनस्य असुरकुमारत्वे अतीतानागतकालसम्बन्धिनि ‘एगुत्तरिया जाव अनंता वे’ त्यनेनेदं सूचितं–‘कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्सत्थि तस्स जहण्णेणं एक्को दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, ‘एवं जत्थ वेउव्वियसरीरं तत्थ एगुत्तरियाउ’त्ति यत्र वायुकाये मनुष्ये पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु व्यन्तरादिषु च वैक्रियशरीरं तत्रैको वेत्यादि वाच्यमित्यर्थः, ‘जत्थ नत्थी’त्यादि यत्राप्यप्कायादौ नास्ति वैक्रियं तत्र यथा पृथ्वीकायिकत्वे तथा वाच्यं, न सन्ति वैक्रियपुद्गलपरावर्त्ता इति वाच्यमित्यर्थः,‘तेयापोग्गले’त्यादि, तैजसकार्मणपुद्गलपरावर्त्ता भविष्यति एकादयः सर्वेषु नारकादिषु जीवपदेषु पूर्ववद्वाच्याः, तैजसकार्मणयोस्सर्वेषु भावादिति, ‘मणपोग्गल’त्ति मनःपुद्गलपरावर्त्ताः पञ्चेन्द्रियेष्वेव सन्ति, भविष्यन्तश्च ते एकोत्तरिकाः प्राग्वद्वाच्याः, ‘विगलिंदिएसु नत्थि’त्ति विकलेंद्रियग्रहणेन चैकेन्द्रिया अपि ग्राह्याः, तेषामपीन्द्रियाणामसम्पूर्णत्वान्मनोवृत्तेरभावाद्, अतस्तेष्वपि मनःपुद्गलपरावर्त्ता न सन्ति, ‘वयपुग्गल’त्ति ‘एवं चेव’त्ति तैजसादिपरिवर्त्तवत् सर्वनारकादिजीवपदेषु वाच्याः, नवरमेकेन्द्रियेषु वचनाभावान्न सन्ति ते इति वाच्याः। ‘नेरइयाण’मित्यादिना पृथक्त्वदण्डकानाह–

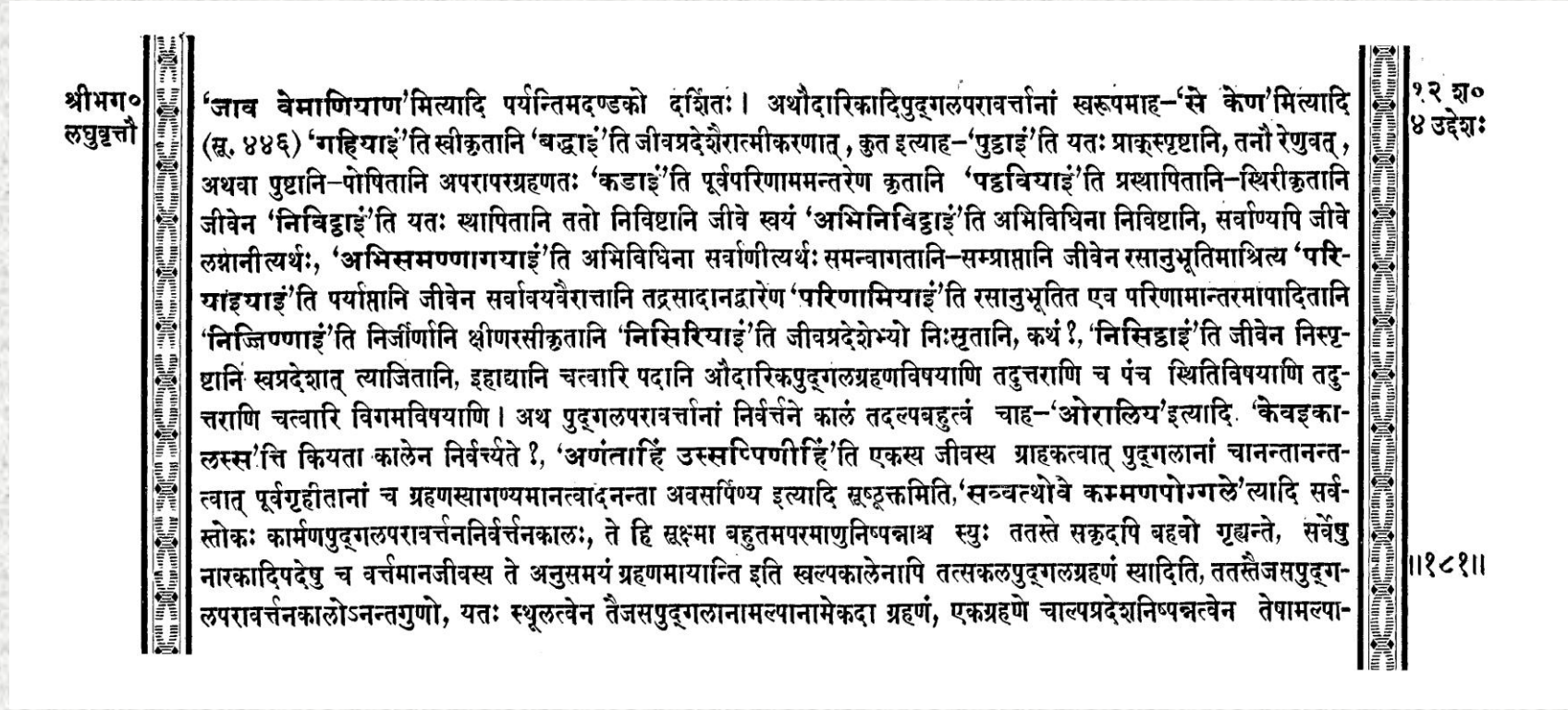

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'जाव वेमाणियाण'मित्यादि पर्यन्तिमदण्डको दर्शितः। अथौदारिकादिपुद्गलपरावर्त्तानां स्वरूपमाह–'से केण'मित्यादि (सू. ४४६) 'गहियाइं'ति स्वीकृतानि 'बद्धाइं'ति जीवप्रदेशैरात्मीकरणात्, कुत इत्याह–'पुट्ठाइं'ति यतः प्राक्स्पृष्टानि, तनौ रेणुवत्, अथवा पुष्टानि–पोषितानि अपरापरग्रहणतः 'कडाइं'ति पूर्वपरिणाममन्तरेण कृतानि 'पट्ठवियाइं'ति प्रस्थापितानि–स्थिरीकृतानि जीवेन 'निविट्ठाइं'ति यतः स्थापितानि ततो निविष्टानि जीवे स्वयं 'अभिनिविट्ठाइं'ति अभिविधिना निविष्टानि, सर्वाण्यपि जीवे लग्नानीत्यर्थः, 'अभिसमण्णागयाइं'ति अभिविधिना सर्वाणीत्यर्थः समन्वागतानि–सम्प्राप्तानि जीवेन रसानुभूतिमाश्रित्य 'परियाइयाइं'ति पर्याप्तानि जीवेन सर्वावयवैरात्तानि तद्रसादानद्वारेण 'परिणामियाइं'ति रसानुभूतित एव परिणामान्तरमापादितानि 'निज्जिण्णाइं'ति निर्जीर्णानि क्षीणरसीकृतानि 'निसिरियाइं'ति जीवप्रदेशेभ्यो निःसृतानि, कथं?, 'निसिट्ठाइं'ति जीवेन निसृष्टानि स्वप्रदेशात् त्याजितानि, इहाद्यानि चत्वारि पदानि औदारिकपुद्गलग्रहणविषयाणि तदुत्तराणि च पंच स्थितिविषयाणि तदुत्तराणि चत्वारि विगमविषयाणि। अथ पुद्गलपरावर्त्तानां निर्वर्त्तने कालं तदल्पबहुत्वं चाह–'ओरालिय'इत्यादि. 'केवइकालस्स'त्ति कियता कालेन निर्वर्त्त्यते?, 'अणंताहिं उस्सप्पिणीहिं'ति एकस्य जीवस्य ग्राहकत्वात् पुद्गलानां चानन्तानन्तत्वात् पूर्वगृहीतानां च ग्रहणस्यागण्यमानत्वादनन्ता अवसर्पिण्य इत्यादि सूष्ठूक्तमिति,'सव्वत्थोवे कम्मणपोग्गले'त्यादि सर्वस्तोकः कार्मणपुद्गलपरावर्त्तननिर्वर्त्तनकालः, ते हि सूक्ष्मा बहुतमपरमाणुनिष्पन्नाश्च स्युः ततस्ते सकृदपि बहवो गृह्यन्ते, सर्वेषु नारकादिपदेषु च वर्त्तमानजीवस्य ते अनुसमयं ग्रहणमायान्ति इति स्वल्पकालेनापि तत्सकलपुद्गलग्रहणं स्यादिति, ततस्तैजसपुद्गलपरावर्त्तनकालोऽनन्तगुणो, यतः स्थूलत्वेन तैजसपुद्गलानामल्पानामेकदा ग्रहणं, एकग्रहणे चाल्पप्रदेशनिष्पन्नत्वेन तेषामल्पा-

१२ श० ४ उद्देशः

॥१८१॥

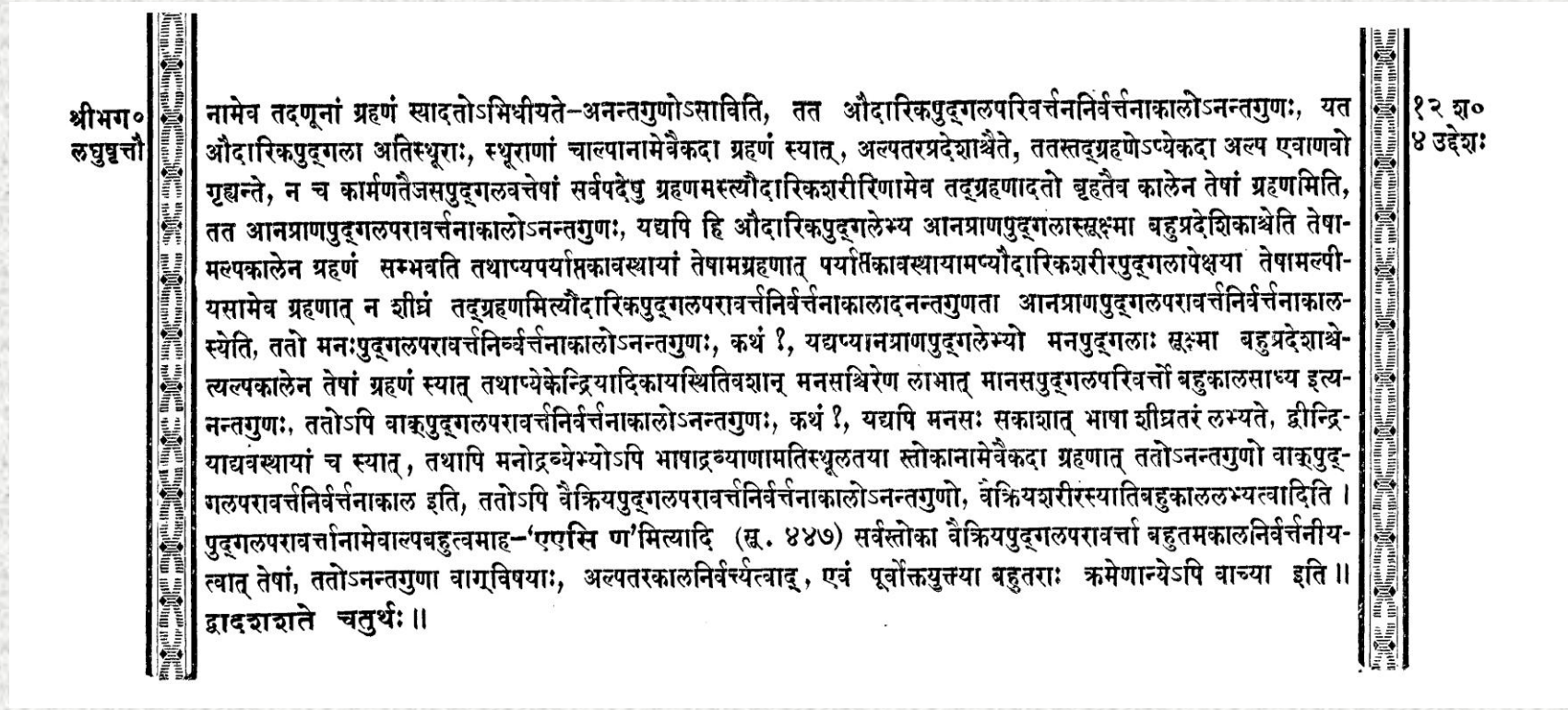

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नामेव तदणूनां ग्रहणं स्यादतोऽभिधीयते–अनन्तगुणोऽसाविति, तत औदारिकपुद्गलपरिवर्त्तननिर्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणः, यत औदारिकपुद्गला अतिस्थूराः, स्थूराणां चाल्पानामेवैकदा ग्रहणं स्यात्, अल्पतरप्रदेशाश्चैते, ततस्तद्ग्रहणेऽप्येकदा अल्प एवाणवो गृह्यन्ते, न च कार्मणतैजसपुद्गलवर्त्तेषां सर्वपदेषु ग्रहणमस्त्यौदारिकशरीरिणामेव तद्ग्रहणादतो बृहतैव कालेन तेषां ग्रहणमिति, तत आनप्राणपुद्गलपरावर्त्तनाकालोऽनन्तगुणः, यद्यपि हि औदारिकपुद्गलेभ्य आनप्राणपुद्गलास्सूक्ष्मा बहुप्रदेशिकाश्चेति तेषामल्पकालेन ग्रहणं सम्भवति तथाप्यपर्याप्तकावस्थायां तेषामग्रहणात् पर्याप्तकावस्थायामप्यौदारिकशरीरपुद्गलापेक्षया तेषामल्पीयसामेव ग्रहणात् न शीघ्रं तद्ग्रहणमित्यौदारिकपुद्गलपरावर्त्तनिर्वर्त्तनाकालादनन्तगुणता आनप्राणपुद्गलपरावर्त्तनिर्वर्त्तनाकालस्येति, ततो मनःपुद्गलपरावर्त्तनिर्व्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणः, कथं ?, यद्यप्यानप्राणपुद्गलेभ्यो मनपुद्गलाः सूक्ष्मा बहुप्रदेशाश्चेत्यल्पकालेन तेषां ग्रहणं स्यात् तथाप्येकेन्द्रियादिकायस्थितिवशान् मनसश्चिरेण लाभात् मानसपुद्गलपरिवर्त्तो बहुकालसाध्य इत्यनन्तगुणः, ततोऽपि वाक्पुद्गलपरावर्त्तनिर्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणः, कथं ?, यद्यपि मनसः सकाशात् भाषा शीघ्रतरं लभ्यते, द्वीन्द्रियाद्यवस्थायां च स्यात्, तथापि मनोद्रव्येभ्योऽपि भाषाद्रव्याणामतिस्थूलतया स्तोकानामेवैकदा ग्रहणात् ततोऽनन्तगुणो वाक्पुद्गलपरावर्त्तनिर्वर्त्तनाकाल इति, ततोऽपि वैक्रियपुद्गलपरावर्त्तनिर्वर्त्तनाकालोऽनन्तगुणो, वैक्रियशरीरस्यातिबहुकाललभ्यत्वादिति । पुद्गलपरावर्त्तानामेवाल्पबहुत्वमाह–‘एएसि ण’मित्यादि (सू. ४४७) सर्वस्तोका वैक्रियपुद्गलपरावर्त्ता बहुतमकालनिर्वर्त्तनीयत्वात् तेषां, ततोऽनन्तगुणा वाग्विषयाः, अल्पतरकालनिर्वर्त्त्यत्वाद्, एवं पूर्वोक्तयुक्त्या बहुतराः क्रमेणान्येऽपि वाच्या इति ॥

द्वादशशते चतुर्थः ॥

१२ श० ४ उद्देशः

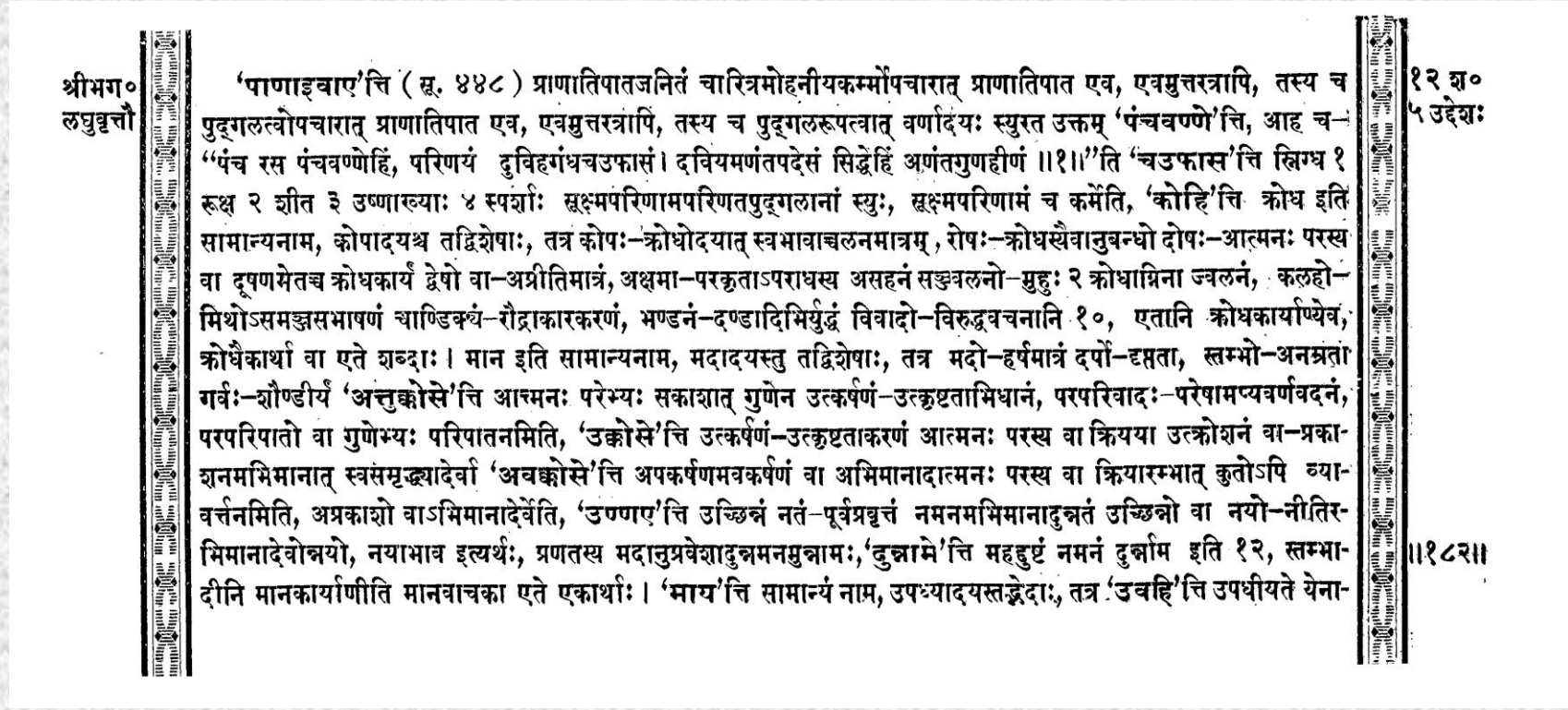

श्रीभग० लघुवृत्तौ

‘पाणाइवाए’त्ति (सू. ४४८) प्राणातिपातजनितं चारित्रमोहनीयकर्म्मोपचारात् प्राणातिपात एव, एवमुत्तरत्रापि, तस्य च पुद्गलत्वोपचारात् प्राणातिपात एव, एवमुत्तरत्रापि, तस्य च पुद्गलरूपत्वात् वर्णादयः स्युरत उक्तम् ‘पंचवण्णे’त्ति, आह च–“पंच रस पंचवण्णेहिं, परिणयं दुविहगंधचउफासं। दवियमणंतपदेसं सिद्धेहिं अणंतगुणहीणं ॥१॥”ति ‘चउफास’त्ति स्निग्ध १ रूक्ष २ शीत ३ उष्णाख्याः ४ स्पर्शाः सूक्ष्मपरिणामपरिणतपुद्गलानां स्युः, सूक्ष्मपरिणामं च कर्मेति, ‘कोहि’त्ति क्रोध इति सामान्यनाम, कोपादयश्च तद्विशेषाः, तत्र कोपः–क्रोधोदयात् स्वभावाच्चलनमात्रम्, रोषः–क्रोधस्यैवानुबन्धो दोषः–आत्मनः परस्य वा दूषणमेतच्च क्रोधकार्यं द्वेषो वा–अप्रीतिमात्रं, अक्षमा–परकृताऽपराधस्य असहनं सज्वलनो–मुहुः २ क्रोधाग्निना ज्वलनं, कलहो–मिथोऽसमञ्जसभाषणं चाण्डिक्यं–रौद्राकारकरणं, भण्डनं–दण्डादिभिर्युद्धं विवादो–विरुद्धवचनानि १०, एतानि क्रोधकार्याण्येव, क्रोधैकार्था वा एते शब्दाः। मान इति सामान्यनाम, मदादयस्तु तद्विशेषाः, तत्र मदो–हर्षमात्रं दर्पो–दृप्तता, स्तम्भो–अनम्रता गर्वः–शौण्डीर्यं ‘अत्तुक्कोसे’त्ति आत्मनः परेभ्यः सकाशात् गुणेन उत्कर्षणं–उत्कृष्टताभिधानं, परपरिवादः–परेषामप्यवर्णवदनं, परपरिपातो वा गुणेभ्यः परिपातनमिति, ‘उक्कोसे’त्ति उत्कर्षणं–उत्कृष्टताकरणं आत्मनः परस्य वा क्रियया उत्क्रोशनं वा–प्रकाशनमभिमानात् स्वसमृद्ध्यादेर्वा ‘अवक्कोसे’त्ति अपकर्षणमवकर्षणं वा अभिमानादात्मनः परस्य वा क्रियारम्भात् कुतोऽपि व्यावर्त्तनमिति, अप्रकाशो वाऽभिमानादेर्वेति, ‘उण्णए’त्ति उच्छ्रितं नतं–पूर्वप्रवृत्तं नमनमभिमानादुन्नतं उच्छ्रितो वा नयो–नीतिरभिमानादेवोन्नयो, नयाभाव इत्यर्थः, प्रणतस्य मदानुप्रवेशादुन्नमनमुन्नामः,‘दुन्नामे’त्ति महदुष्टं नमनं दुर्न्नाम इति १२, स्तम्भादीनि मानकार्याणीति मानवाचका एते एकार्थाः। ‘माय’त्ति सामान्यं नाम, उपध्यादयस्तद्भेदाः, तत्र ‘उवहि’त्ति उपधीयते येना-

१२ श० ५ उद्देशः

॥१८२॥

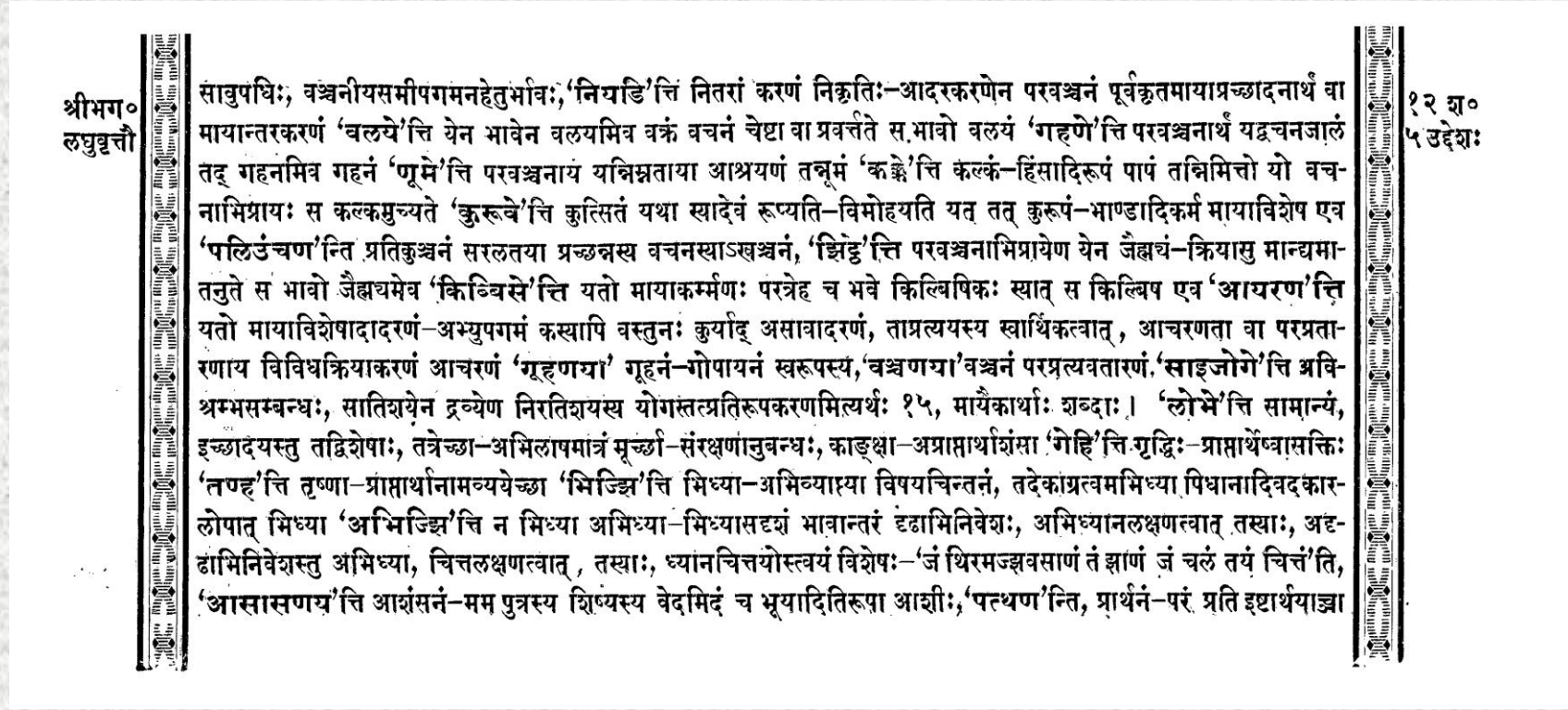

सावुपधिः, वञ्चनीयसमीपगमनहेतुर्भावः,'नियडि'त्ति नितरां करणं निकृतिः–आदरकरणेन परवञ्चनं पूर्वकृतमायाप्रच्छादनार्थं वा मायान्तरकरणं 'वलये'त्ति येन भावेन वलयमिव वक्रं वचनं चेष्टा वा प्रवर्त्तते स भावो वलयं 'गहणे'त्ति परवञ्चनार्थं यद्वचनजालं तद् गहनमिव गहनं 'णूमे'त्ति परवञ्चनाय यन्निम्नताया आश्रयणं तन्नूमं 'कक्के'त्ति कल्कं–हिंसादिरूपं पापं तन्निमित्तो यो वचनाभिप्रायः स कल्कमुच्यते 'कुरूवे'त्ति कुत्सितं यथा स्यादेवं रूप्यति–विमोहयति यत् तत् कुरूपं–भाण्डादिकर्म मायाविशेष एव 'पलिउंचण'न्ति प्रतिकुञ्चनं सरलतया प्रच्छन्नस्य वचनस्याऽसञ्चनं, 'झिंझे'त्ति परवञ्चनाभिप्रायेण येन जैह्मयं–क्रियासु मान्द्यमातनुते स भावो जैह्मयमेव 'किब्बिसे'त्ति यतो मायाकर्म्मणः परत्रेह च भवे किल्बिषिकः स्यात् स किल्बिष एव 'आयरण'त्ति यतो मायाविशेषादादरणं–अभ्युपगमं कस्यापि वस्तुनः कुर्याद् असावादरणं, ताप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वात्, आचरणता वा परप्रतारणाय विविधक्रियाकरणं आचरणं 'गूहणया' गूहनं–गोपायनं स्वरूपस्य,'वञ्चणया'वञ्चनं परप्रत्यवतारणं,'साइजोगे'त्ति अविश्रम्भसम्बन्धः, सातिशयेन द्रव्येण निरतिशयस्य योगस्तत्प्रतिरूपकरणमित्यर्थः १५, मायैकार्थाः शब्दाः। 'लोभे'त्ति सामान्यं, इच्छादयस्तु तद्विशेषाः, तत्रेच्छा–अभिलाषमात्रं मूर्च्छा–संरक्षणानुबन्धः, काङ्क्षा–अप्राप्तार्थाशंसा 'गेहि'त्ति गृद्धिः–प्राप्तार्थेष्वासक्तिः 'तण्ह'त्ति तृष्णा–प्राप्तार्थानामव्ययेच्छा 'भिज्झि'त्ति भिध्या–अभिव्याह्या विषयचिन्तनं, तदेकाग्रत्वमभिध्या पिधानादिवदकारलोपात् भिध्या 'अभिज्झि'त्ति न भिध्या अभिध्या–भिध्यासदृशं भावान्तरं दृढाभिनिवेशः, अभिध्यानलक्षणत्वात् तस्याः, अदृढाभिनिवेशस्तु अभिध्या, चित्तलक्षणत्वात्, तस्याः, ध्यानचित्तयोस्त्वयं विशेषः–'जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं'ति, 'आसासणय'त्ति आशंसनं–मम पुत्रस्य शिष्यस्य वेदमिदं च भूयादितिरूपा आशीः,'पत्थण'न्ति, प्रार्थनं–परं प्रति इष्टार्थयाञ्चा

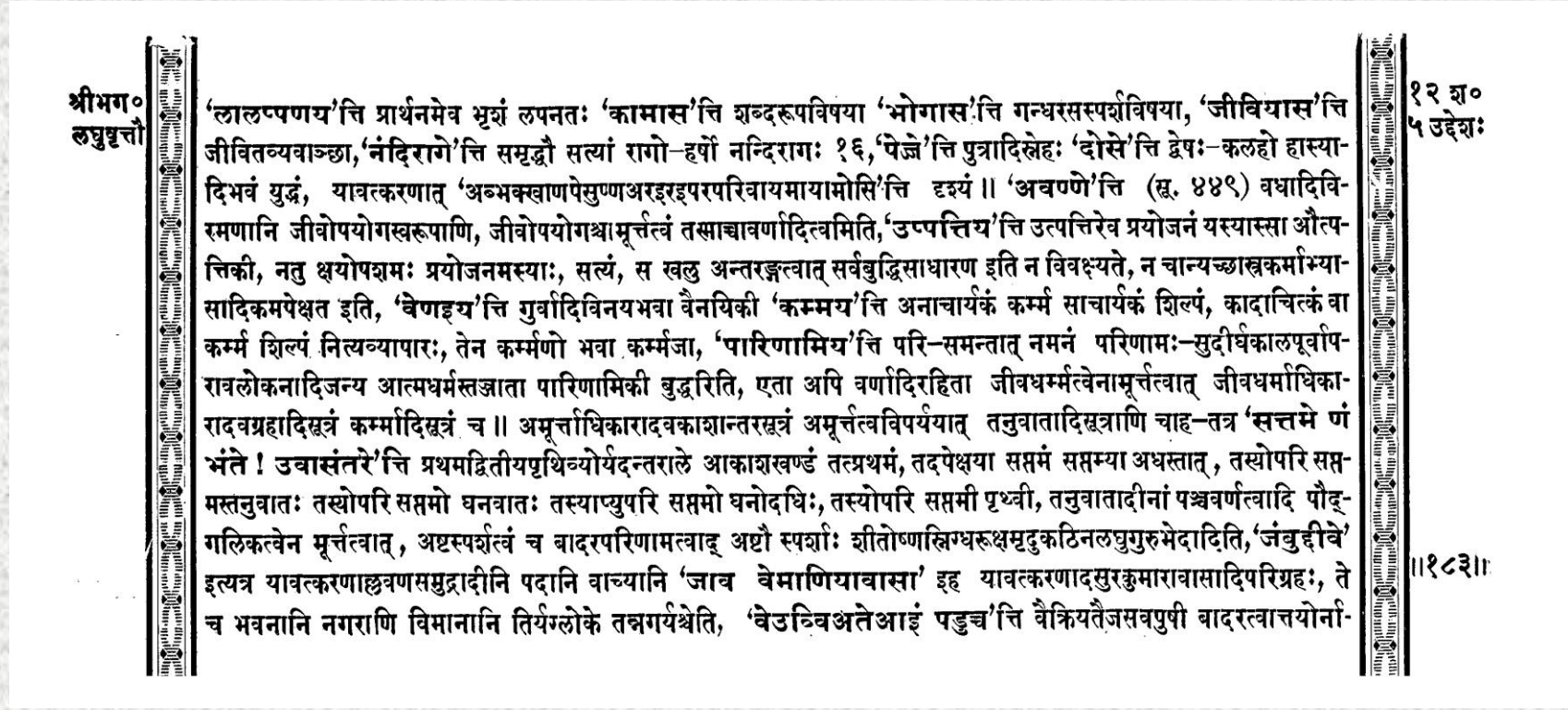

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'लालप्पणय'त्ति प्रार्थनमेव भृशं लपनतः 'कामास'त्ति शब्दरूपविषया 'भोगास'त्ति गन्धरसस्पर्शविषया, 'जीवियास'त्ति जीवितव्यवाञ्छा,'नंदिरागे'त्ति समृद्धौ सत्यां रागो–हर्षो नन्दिरागः १६,'पेज्जे'त्ति पुत्रादिस्नेहः 'दोसे'त्ति द्वेषः–कलहो हास्यादिभवं युद्धं, यावत्करणात् 'अब्भक्खाणपेसुण्णअरइरइपरपरिवायमायामोसि'त्ति दृश्यं ॥ 'अवण्णे'त्ति (सू. ४४९) वधादिविरमणानि जीवोपयोगस्वरूपाणि, जीवोपयोगश्चामूर्त्तत्वं तस्माच्चावर्णादित्वमिति,'उप्पत्तिय'त्ति उत्पत्तिरेव प्रयोजनं यस्यास्सा औत्पत्तिकी, नतु क्षयोपशमः प्रयोजनमस्याः, सत्यं, स खलु अन्तरङ्गत्वात् सर्वबुद्धिसाधारण इति न विवक्ष्यते, न चान्यच्छास्त्रकर्माभ्यासादिकमपेक्षत इति, 'वेणइय'त्ति गुर्वादिविनयभवा वैनयिकी 'कम्मय'त्ति अनाचार्यकं कर्म्म साचार्यकं शिल्पं, कादाचित्कं वा कर्म्म शिल्पं नित्यव्यापारः, तेन कर्म्मणो भवा कर्म्मजा, 'पारिणामिय'त्ति परि–समन्तात् नमनं परिणामः–सुदीर्घकालपूर्वापरावलोकनादिजन्य आत्मधर्मस्तज्ज्ञाता पारिणामिकी बुद्धिरिति, एता अपि वर्णादिरहिता जीवधर्म्मत्वेनामूर्त्तत्वात् जीवधर्माधिकारादवग्रहादिसूत्रं कर्म्मादिसूत्रं च ॥ अमूर्त्ताधिकारादवकाशान्तरसूत्रं अमूर्त्तत्वविपर्ययात् तनुवातादिसूत्राणि चाह–तत्र 'सत्तमे णं भंते ! उवासंतरे'त्ति प्रथमद्वितीयपृथिव्योर्यदन्तराले आकाशखण्डं तत्प्रथमं, तदपेक्षया सप्तमं सप्तम्या अधस्तात्, तस्योपरि सप्तमस्तनुवातः तस्योपरि सप्तमो घनवातः तस्याप्युपरि सप्तमो घनोदधिः, तस्योपरि सप्तमी पृथ्वी, तनुवातादीनां पञ्चवर्णत्वादि पौद्गलिकत्वेन मूर्त्तत्वात्, अष्टस्पर्शत्वं च बादरपरिणामत्वाद् अष्टौ स्पर्शाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुकठिनलघुगुरुभेदादिति,'जंबुद्दीवे' इत्यत्र यावत्करणाल्लवणसमुद्रादीनि पदानि वाच्यानि 'जाव वेमाणियावासा' इह यावत्करणादसुरकुमारावासादिपरिग्रहः, ते च भवनानि नगराणि विमानानि तिर्यग्लोके तन्नगर्यश्चेति, 'वेउव्विअतेआइं पडुच्च'त्ति वैक्रियतैजसवपुषी बादरत्वात्तयोर्ना-

१२ श० ५ उद्देशः

॥१८३॥

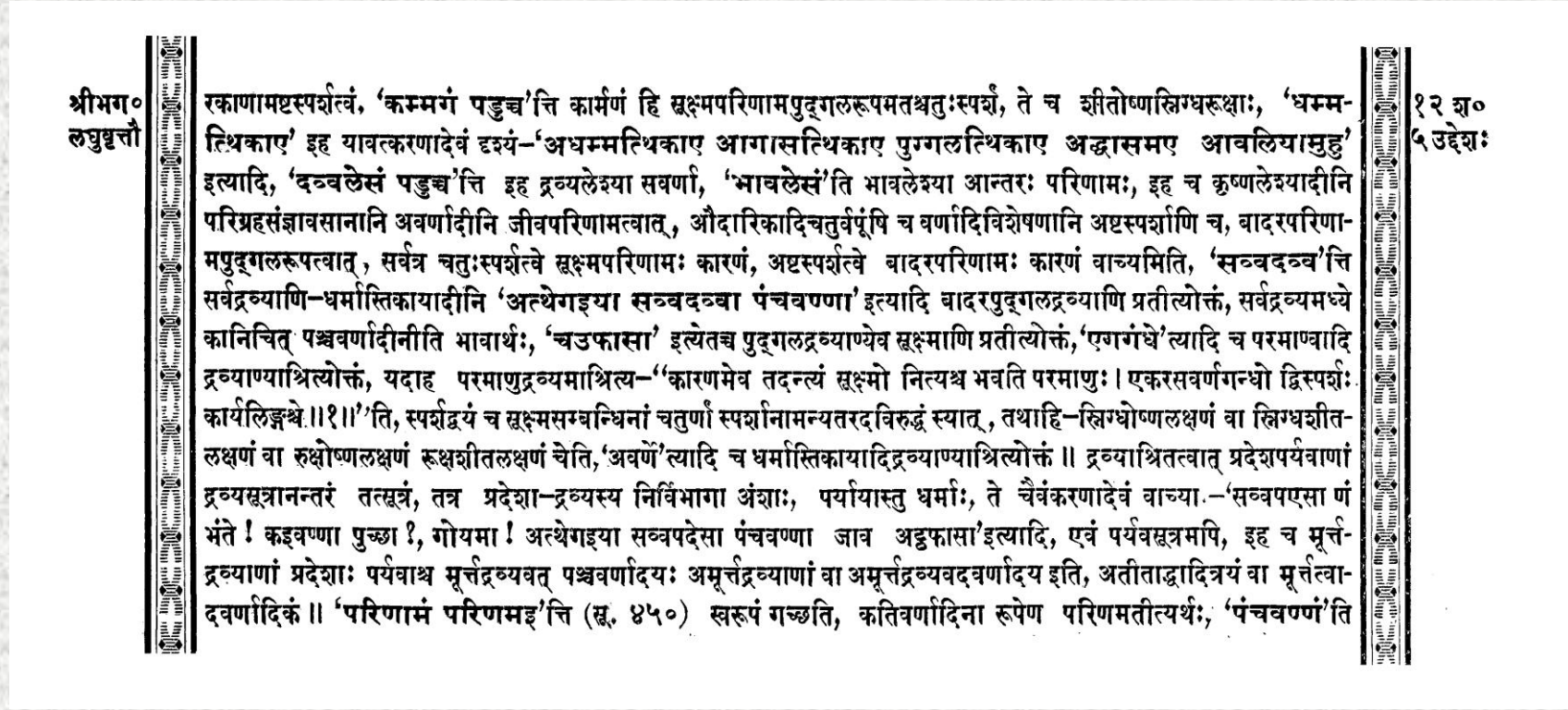

श्रीभग० लघुवृत्तौ

रकाणामष्टस्पर्शत्वं, 'कम्मगं पडुच्च'त्ति कार्मणं हि सूक्ष्मपरिणामपुद्गलरूपमतश्चतुःस्पर्शं, ते च शीतोष्णस्निग्धरूक्षाः, 'धम्मत्थिकाए' इह यावत्करणादेवं दृश्यं–'अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पुग्गलत्थिकाए अद्धासमए आवलियामुहु' इत्यादि, 'दव्वलेसं पडुच्च'त्ति इह द्रव्यलेश्या सवर्णा, 'भावलेसं'ति भावलेश्या आन्तरः परिणामः, इह च कृष्णलेश्यादीनि परिग्रहसंज्ञावसानानि अवर्णादीनि जीवपरिणामत्वात्, औदारिकादिचतुर्वपूंषि च वर्णादिविशेषणानि अष्टस्पर्शानि च, बादरपरिणामपुद्गलरूपत्वात्, सर्वत्र चतुःस्पर्शत्वे सूक्ष्मपरिणामः कारणं, अष्टस्पर्शत्वे बादरपरिणामः कारणं वाच्यमिति, 'सव्वदव्व'त्ति सर्वद्रव्याणि–धर्मास्तिकायादीनि 'अत्थेगइया सव्वदव्वा पंचवण्णा' इत्यादि बादरपुद्गलद्रव्याणि प्रतीत्योक्तं, सर्वद्रव्यमध्ये कानिचित् पञ्चवर्णादीनीति भावार्थः, 'चउफासा' इत्येतच्च पुद्गलद्रव्याण्येव सूक्ष्माणि प्रतीत्योक्तं, 'एगगंधे'त्यादि च परमाण्वादि द्रव्याण्याश्रित्योक्तं, यदाह परमाणुद्रव्यमाश्रित्य–"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥१॥"ति, स्पर्शद्वयं च सूक्ष्मसम्बन्धिनां चतुर्णां स्पर्शानामन्यतरदविरुद्धं स्यात्, तथाहि–स्निग्धोष्णलक्षणं वा स्निग्धशीतलक्षणं वा रुक्षोष्णलक्षणं रूक्षशीतलक्षणं चेति, 'अवर्णे'त्यादि च धर्मास्तिकायादिद्रव्याण्याश्रित्योक्तं ॥ द्रव्याश्रितत्वात् प्रदेशपर्यवाणां द्रव्यसूत्रानन्तरं तत्सूत्रं, तत्र प्रदेशा–द्रव्यस्य निर्विभागा अंशाः, पर्यायास्तु धर्माः, ते चैवंकरणादेवं वाच्या–'सव्वपएसा णं भंते ! कइवण्णा पुच्छा ?, गोयमा ! अत्थेगइया सव्वपदेसा पंचवण्णा जाव अट्ठफासा'इत्यादि, एवं पर्यवसूत्रमपि, इह च मूर्त्तद्रव्याणां प्रदेशाः पर्यवाश्च मूर्त्तद्रव्यवत् पञ्चवर्णादयः अमूर्त्तद्रव्याणां वा अमूर्त्तद्रव्यवदवर्णादय इति, अतीताद्धादित्रयं वा मूर्त्तत्वादवर्णादिकं ॥ 'परिणामं परिणमइ'त्ति (सू. ४५०) स्वरूपं गच्छति, कतिवर्णादिना रूपेण परिणमतीत्यर्थः, 'पंचवण्णं'ति

१२ श० ५ उद्देशः

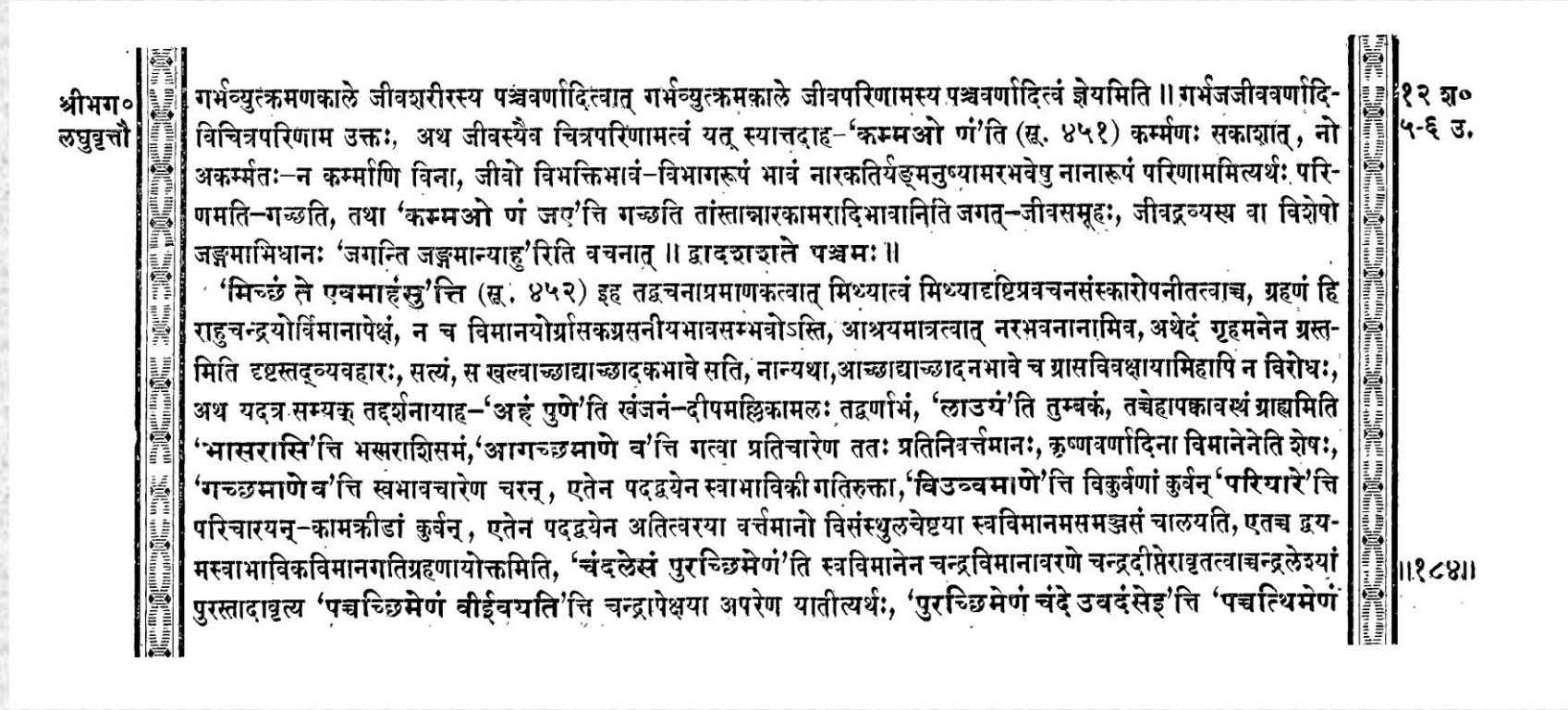

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गर्भव्युत्क्रमणकाले जीवशरीरस्य पञ्चवर्णादित्वात् गर्भव्युत्क्रमकाले जीवपरिणामस्य पञ्चवर्णादित्वं ज्ञेयमिति ॥ गर्भजजीववर्णादि-
विचित्रपरिणाम उक्तः, अथ जीवस्यैव चित्रपरिणामत्वं यत् स्यात्तदाह-'कम्मओ णं'ति (सू. ४५१) कर्म्मणः सकाशात्, नो
अकर्म्मतः-न कर्म्माणि विना, जीवो विभक्तिभावं-विभागरूपं भावं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु नानारूपं परिणाममित्यर्थः परि-
णमति-गच्छति, तथा 'कम्मओ णं जए'त्ति गच्छति तांस्तान्नारकामरादिभावानिति जगत्-जीवसमूहः, जीवद्रव्यस्य वा विशेषो
जङ्गमाभिधानः 'जगन्ति जङ्गमान्याहु'रिति वचनात् ॥ द्वादशशते पञ्चमः ॥

'मिच्छं ते एवमाहंसु'त्ति (सू. ४५२) इह तद्वचनाप्रमाणकत्वात् मिथ्यात्वं मिथ्यादृष्टिप्रवचनसंस्कारोपनीतत्वाच्च, ग्रहणं हि
राहुचन्द्रयोर्विमानापेक्षं, न च विमानयोर्ग्रासकग्रसनीयभावसम्भवोऽस्ति, आश्रयमात्रत्वात् नरभवनानामिव, अथेदं गृहमनेन ग्रस्त-
मिति दृष्टस्तद्व्यवहारः, सत्यं, स खल्वाच्छाद्याच्छादकभावे सति, नान्यथा,आच्छाद्याच्छादनभावे च ग्रासविवक्षायामिहापि न विरोधः,
अथ यदत्र सम्यक् तदर्शनायाह-'अहं पुणे'ति खंजनं-दीपमल्लिकामलः तद्वर्णाभं, 'लाउयं'ति तुम्बकं, तच्चेहापक्वावस्थं ग्राह्यमिति
'भासरासि'त्ति भस्मराशिसमं,'आगच्छमाणे व'त्ति गत्वा प्रतिचारेण ततः प्रतिनिवर्त्तमानः, कृष्णवर्णादिना विमानेनेति शेषः,
'गच्छमाणे व'त्ति स्वभावचारेण चरन्, एतेन पदद्वयेन स्वाभाविकी गतिरुक्ता,'विउव्वमाणे'त्ति विकुर्वणां कुर्वन् 'परियारे'त्ति
परिचारयन्-कामक्रीडां कुर्वन्, एतेन पदद्वयेन अतित्वरया वर्त्तमानो विसंस्थुलचेष्टया स्वविमानमसमञ्जसं चालयति, एतच्च द्वय-
मस्वाभाविकविमानगतिग्रहणायोक्तमिति, 'चंदलेसं पुरच्छिमेणं'ति स्वविमानेन चन्द्रविमानावरणे चन्द्रदीप्तेरावृतत्वाच्चन्द्रलेश्यां
पुरस्तादावृत्य 'पच्चच्छिमेणं वीईवयति'त्ति चन्द्रापेक्षया अपरेण यातीत्यर्थः, 'पुरच्छिमेणं चंदे उवदंसेइ'त्ति 'पच्चत्थिमेणं

१२ श० ५-६ उ.

॥१८४॥

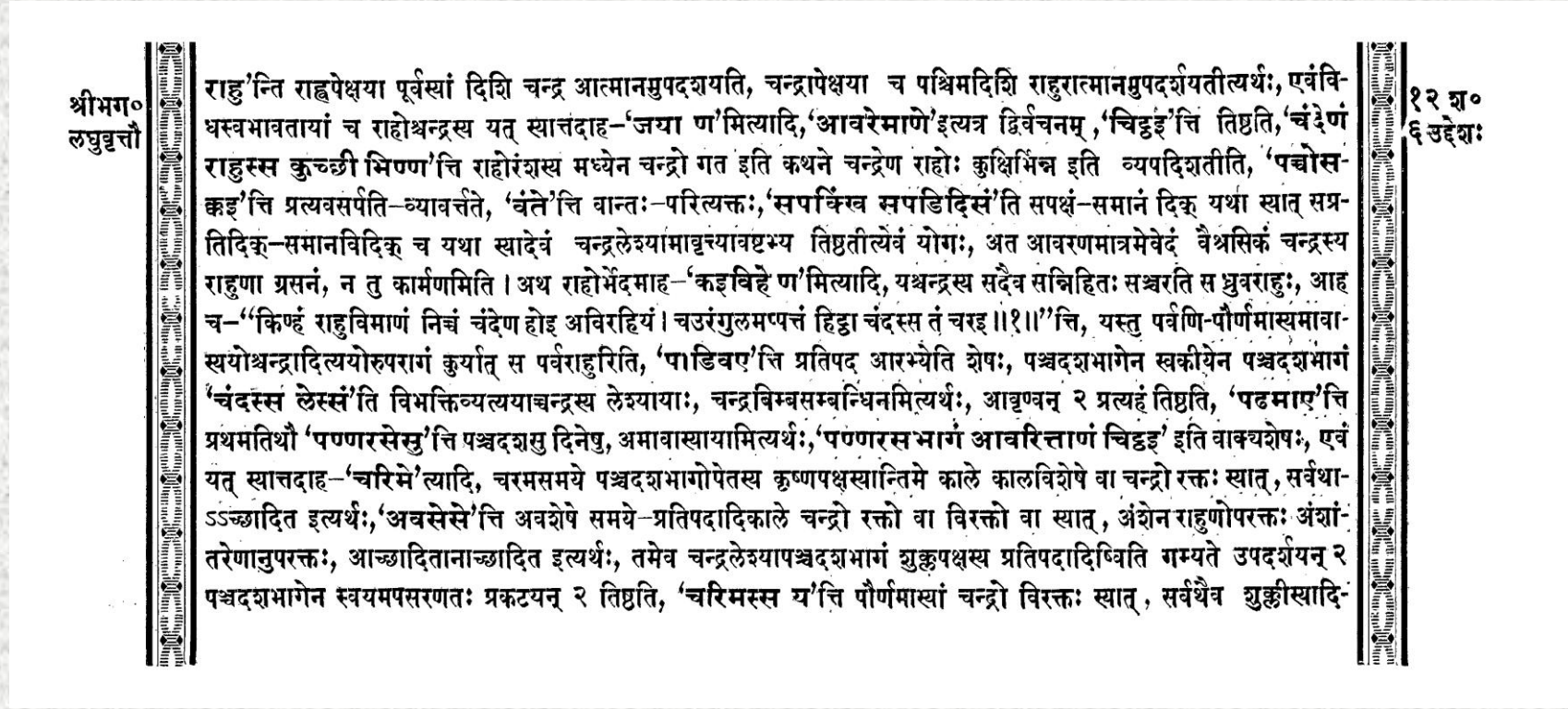

श्रीभग० लघुवृत्तौ

राहु'न्ति राह्वपेक्षया पूर्वस्यां दिशि चन्द्र आत्मानमुपदर्शयति, चन्द्रापेक्षया च पश्चिमदिशि राहुरात्मानमुपदर्शयतीत्यर्थः, एवंविधस्वभावतायां च राहोश्चन्द्रस्य यत् स्यात्तदाह–'जया ण'मित्यादि,'आवरेमाणे'इत्यत्र द्विर्वचनम्,'चिट्ठइ'त्ति तिष्ठति,'चंदेणं राहुस्स कुच्छी भिण्ण'त्ति राहोरंशस्य मध्येन चन्द्रो गत इति कथने चन्द्रेण राहोः कुक्षिर्भिन्न इति व्यपदिशतीति, 'पच्चोसक्कइ'त्ति प्रत्यवसर्पति–व्यावर्त्तते, 'वंते'त्ति वान्तः–परित्यक्तः,'सपक्खिंखु सपडिदिसं'ति सपक्षं–समानं दिक् यथा स्यात् सप्रतिदिक्–समानविदिक् च यथा स्यादेवं चन्द्रलेश्यामावृत्यावष्टभ्य तिष्ठतीत्येवं योगः, अत आवरणमात्रमेवेदं वैश्रसिकं चन्द्रस्य राहुणा ग्रसनं, न तु कार्मणमिति। अथ राहोर्भेदमाह–'कइविहे ण'मित्यादि, यश्चन्द्रस्य सदैव सन्निहितः सञ्चरति स ध्रुवराहुः, आह च–"किण्हं राहुविमाणं निच्चं चंदेण होइ अविरहियं। चउरंगुलमप्पत्तं हिट्ठा चंदस्स तं चरइ॥१॥"त्ति, यस्तु पर्वणि-पौर्णमास्यमावास्ययोश्चन्द्रादित्ययोरुपरागं कुर्यात् स पर्वराहुरिति, 'पाडिवए'त्ति प्रतिपद आरभ्येति शेषः, पञ्चदशभागेन स्वकीयेन पञ्चदशभागं 'चंदस्स लेस्सं'ति विभक्तिव्यत्ययाच्चन्द्रस्य लेश्यायाः, चन्द्रबिम्बसम्बन्धिनमित्यर्थः, आवृण्वन् २ प्रत्यहं तिष्ठति, 'पढमाए'त्ति प्रथमतिथौ 'पण्णरसेसु'त्ति पञ्चदशसु दिनेषु, अमावास्यायामित्यर्थः,'पण्णरसभागं आवरित्ताणं चिट्ठइ' इति वाक्यशेषः, एवं यत् स्यात्तदाह–'चरिमे'त्यादि, चरमसमये पञ्चदशभागोपेतस्य कृष्णपक्षस्यान्तिमे काले कालविशेषे वा चन्द्रो रक्तः स्यात्, सर्वथाऽऽच्छादित इत्यर्थः,'अवसेसे'त्ति अवशेषे समये–प्रतिपदादिकाले चन्द्रो रक्तो वा विरक्तो वा स्यात्, अंशेन राहुणोपरक्तः अंशांतरेणानुपरक्तः, आच्छादितानाच्छादित इत्यर्थः, तमेव चन्द्रलेश्यापञ्चदशभागं शुक्लपक्षस्य प्रतिपदादिष्विति गम्यते उपदर्शयन् २ पञ्चदशभागेन स्वयमपसरणतः प्रकटयन् २ तिष्ठति, 'चरिमस्स य'त्ति पौर्णमास्यां चन्द्रो विरक्तः स्यात्, सर्वथैव शुक्लीस्यादि-

१२ श० ६ उद्देशः

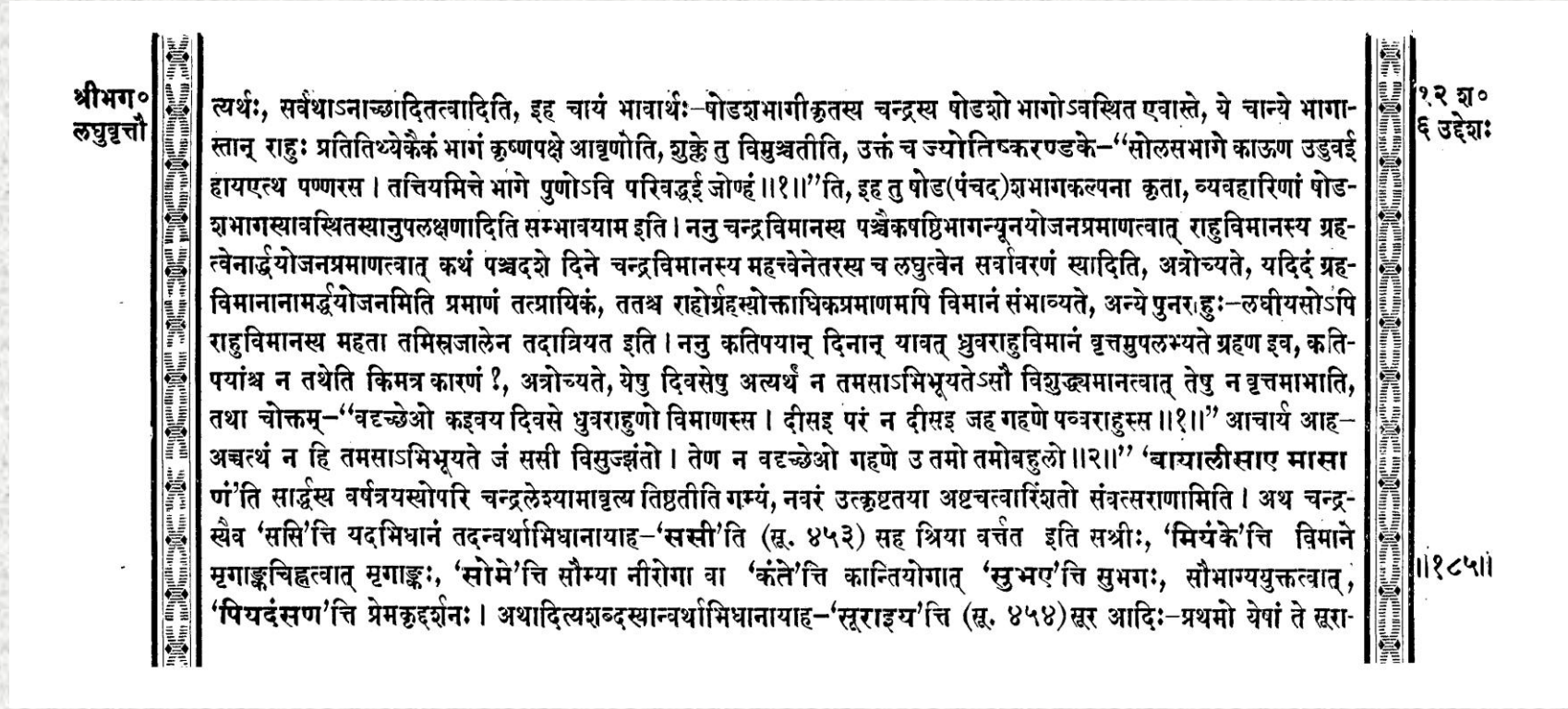

श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्यर्थः, सर्वथाऽनाच्छादितत्वादिति, इह चायं भावार्थः–षोडशभागीकृतस्य चन्द्रस्य षोडशो भागोऽवस्थित एवास्ते, ये चान्ये भागास्तान् राहुः प्रतितिथ्येकैकं भागं कृष्णपक्षे आवृणोति, शुक्ले तु विमुञ्चतीति, उक्तं च ज्योतिष्करण्डके–“सोलसभागे काऊण उडुवई हायएत्थ पण्णरस। तत्तियमित्ते भागे पुणोऽवि परिवड्ढई जोण्हं ॥१॥”ति, इह तु षोड(पंचद)शभागकल्पना कृता, व्यवहारिणां षोडशभागस्यावस्थितस्यानुपलक्षणादिति सम्भावयाम इति। ननु चन्द्रविमानस्य पञ्चैकषष्टिभागन्यूनयोजनप्रमाणत्वात् राहुविमानस्य ग्रहत्वेनार्द्धयोजनप्रमाणत्वात् कथं पञ्चदशे दिने चन्द्रविमानस्य महत्त्वेनेतरस्य च लघुत्वेन सर्वावरणं स्यादिति, अत्रोच्यते, यदिदं ग्रहविमानानामर्द्धयोजनमिति प्रमाणं तत्प्रायिकं, ततश्च राहोर्ग्रहस्योक्ताधिकप्रमाणमपि विमानं संभाव्यते, अन्ये पुनरा हुः–लघीयसोऽपि राहुविमानस्य महता तमिस्रजालेन तदावियत इति। ननु कतिपयान् दिनान् यावत् ध्रुवराहुविमानं वृत्तमुपलभ्यते ग्रहण इव, कतिपयांश्च न तथेति किमत्र कारणं ?, अत्रोच्यते, येषु दिवसेषु अत्यर्थं न तमसाऽभिभूयतेऽसौ विशुद्ध्यमानत्वात् तेषु न वृत्तमाभाति, तथा चोक्तम्–“वट्टच्छेओ कइवय दिवसे ध्रुवराहुणो विमाणस्स। दीसइ परं न दीसइ जह गहणे पव्वराहुस्स ॥१॥” आचार्य आह–अचत्थं न हि तमसाऽभिभूयते जं ससी विमुञ्झंतो। तेण न वट्टच्छेओ गहणे उ तमो तमोबहुलो ॥२॥” **‘बायालीसाए मासाणं’**ति सार्द्धस्य वर्षत्रयस्योपरि चन्द्रलेश्यामावृत्य तिष्ठतीति गम्यं, नवरं उत्कृष्टतया अष्टचत्वारिंशतो संवत्सराणामिति। अथ चन्द्रस्यैव **‘ससि’**त्ति यदभिधानं तदन्वर्थाभिधानायाह–**‘ससी’**ति (सू. ४५३) सह श्रिया वर्त्तत इति सश्रीः, **‘मियंके’**त्ति विमाने मृगाङ्कचिह्नत्वात् मृगाङ्कः, **‘सोमे’**त्ति सौम्या नीरोगा वा **‘कंते’**त्ति कान्तियोगात् **‘सुभए’**त्ति सुभगः, सौभाग्ययुक्तत्वात्, **‘पियदंसण’**त्ति प्रेमकृद्दर्शनः। अथादित्यशब्दस्यान्वर्थाभिधानायाह–**‘सूराइय’**त्ति (सू. ४५४) सूर आदिः–प्रथमो येषां ते सूरा-

१२ श० ६ उद्देशः

॥१८५॥

दिकाः, क इत्याह–समयः, तथाहि–सूर्योदयमवधिकृत्य अहोरात्रारम्भकस्समयो गण्यते आवलिका मुहूर्त्तादयश्चेति, 'आदिच्चे'त्ति आदौ अहोरात्रादीनां भव आदित्यः, त्यश्चेहार्षत्वादिति ॥ 'पढमजोव्वणुट्ठाण'त्ति (सू. ४५५) प्रथमयौवनोत्थाने-प्रथमयौवनोत्पत्तौ यद्बलं तत्तिष्ठतीति स तथा 'अचिर'त्ति अचिरवृत्तविवाहकार्यः,'वण्णओ महब्बल'त्ति महाबलोद्देशके वासवर्णको दृश्यः,'अविरत्ताए'त्ति विप्रियकरणेऽप्यविरक्तया **'विउसमणकालसमयंसि'** व्यवशमनं–पुंवेदविकारोपशमस्तस्य कालसमयस्तत्र स तथा तत्र, रतावसाने इत्यर्थः, 'एत्तो'त्ति इतः प्रागुक्तस्वरूपेभ्यः ॥ द्वादशशते षष्ठः ॥

'अयासयस्स'त्ति (सू. ४५६) षष्ठ्याश्चतुर्थत्वात् अजाशतायाः' **वाडगत्ताए**'ति अजावाटकमित्यर्थः,'**नरगत्ताए**'त्ति नरकावासपृथ्वीकायिकतयेत्यर्थः, असकृद्–अनेकशः 'अदुव'त्ति अथवा '**अणंतखुत्तो**'त्ति अनन्तकृत्वः–अनन्तवारान् ॥ '**असंखिज्जे सु पुढविकाइ**'त्ति (सू. ४५७) इह असङ्ख्यातेषु पृथ्वीकायिकावासेष्वेतावतैव सिद्धे यच्छतसहस्रग्रहणं तत्तेषामतिबहुत्वख्यापनार्थं, '**नो चेव णं देवित्ताए**'त्ति ईशानान्तेष्वेव देवस्थानेषु देव्य उत्पद्यन्ते, सनत्कुमारादिषु पुनर्नेतिकृत्वा 'नो चेव णं देवित्ताए' इत्युक्तं, '**नो चेव णं देवत्ताए वे**'ति अनुत्तरविमानेषु अनन्तकृत्वो देवा नोत्पद्यन्ते, देव्यश्च सर्वथैव नेति,'**अरित्ताए**'त्ति सामान्यतः शत्रुभावेन '**वेरियत्ताए**'त्ति विशेषाच्छत्रुतया '**घायगत्ताए**'त्ति मारकतया '**वहगत्ताए**'त्ति वधकतया, ताडकतयेत्यर्थः, '**पच्चामित्तत्ताए**'त्ति अमित्रसहायकतया '**दासत्ताए**'त्ति गृहदासीपुत्रतया '**पेसत्ताए**'त्ति प्रेष्यतया–आदेश्यतया '**भयगत्ताए**'त्ति भृतकतया–दुष्कालादौ पोषिततया '**भाइल्लगत्ताए**'त्ति कृष्यादिलाभस्य भागग्राहकत्वेन '**भोगपुरिसत्ताए**'त्ति भोगकारिनरतया अन्योपार्जितार्थैः, '**सीस**'त्ति शिक्षणीयतया '**वेसत्ताए**'त्ति द्वेष्यतया ॥ द्वादशशते सप्तमः ॥

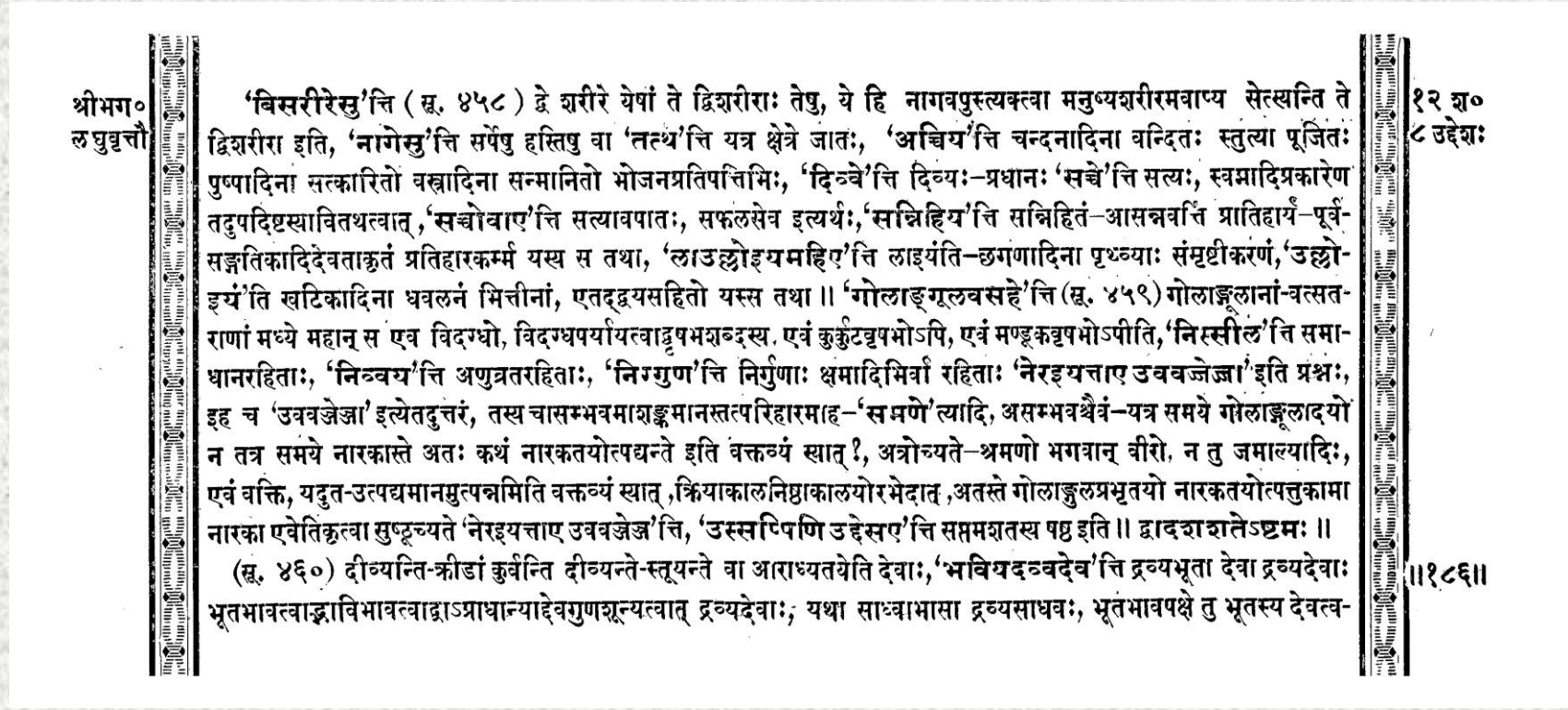

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'विसरीरेसु'त्ति (सू. ४५८) द्वे शरीरे येषां ते द्विशरीराः तेषु, ये हि नागवपुस्त्यक्त्वा मनुष्यशरीरमवाप्य सेत्स्यन्ति ते द्विशरीरा इति, 'नागेसु'त्ति सर्पेषु हस्तिषु वा 'तत्थ'त्ति यत्र क्षेत्रे जातः, 'अच्चिय'त्ति चन्दनादिना वन्दितः स्तुत्या पूजितः पुष्पादिना सत्कारितो वस्त्रादिना सन्मानितो भोजनप्रतिपत्तिभिः, 'दिव्वे'त्ति दिव्यः–प्रधानः 'सच्चे'त्ति सत्यः, स्वप्नादिप्रकारेण तदुपदिष्टस्याविततथत्वात्, 'सच्चोवाए'त्ति सत्यावपातः, सफलसेव इत्यर्थः, 'सन्निहिय'त्ति सन्निहितं–आसन्नवर्ति प्रातिहार्यं–पूर्वसङ्गतिकादिदेवताकृतं प्रतिहारकर्म्म यस्य स तथा, 'लाउल्लोइयमहिए'त्ति लाइयंति–छगणादिना पृथ्व्याः संमृष्टीकरणं, 'उल्लोइयं'ति खटिकादिना धवलनं भित्तीनां, एतद्द्वयसहितो यस्स तथा ॥ 'गोलाङ्गूलवसहे'त्ति (सू. ४५९) गोलाङ्गूलानां-वत्सतराणां मध्ये महान् स एव विदग्धो, विदग्धपर्यायत्वाद्वृषभशब्दस्य, एवं कुर्कुटवृषभोऽपि, एवं मण्डूकवृषभोऽपीति, 'निस्सील'त्ति समाधानरहिताः, 'निव्वय'त्ति अणुव्रतरहिताः, 'निग्गुण'त्ति निर्गुणाः क्षमादिभिर्वा रहिताः 'नेरइयत्ताए उववज्जेज्जा' इति प्रश्नः, इह च 'उववज्जेज्जा' इत्येतदुत्तरं, तस्य चासम्भवमाशङ्कमानस्तत्परिहारमाह–'समणे'त्यादि, असम्भवश्चैवं–यत्र समये गोलाङ्गूलादयो न तत्र समये नारकास्ते अतः कथं नारकतयोत्पद्यन्ते इति वक्तव्यं स्यात्?, अत्रोच्यते–श्रमणो भगवान् वीरो, न तु जमाल्यादिः, एवं वक्ति, यदुत-उत्पद्यमानमुत्पन्नमिति वक्तव्यं स्यात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्, अतस्ते गोलाङ्गुलप्रभृतयो नारकतयोत्पत्तुकामा नारका एवेतिकृत्वा सुष्ठूच्यते 'नेरइयत्ताए उववज्जेज्ज'त्ति, 'उस्सप्पिणि उद्देसए'त्ति सप्तमशतस्य षष्ठ इति ॥ द्वादशशतेऽष्टमः ॥

(सू. ४६०) दीव्यन्ति-क्रीडां कुर्वन्ति दीव्यन्ते-स्तूयन्ते वा आराध्यतयेति देवाः, 'भवियदव्वदेव'त्ति द्रव्यभूता देवा द्रव्यदेवाः भूतभावत्वाद्भाविभावत्वाद्वाऽप्राधान्यादेवगुणशून्यत्वात् द्रव्यदेवाः, यथा साध्वाभासा द्रव्यसाधवः, भूतभावपक्षे तु भूतस्य देवत्व-

१२ श० ८ उद्देशः

॥१८६॥

पर्यायस्य प्रतिपन्नकारणभावाद् देवत्वाच्युता द्रव्यदेवाः, भाविभावपक्षे तु देवतयोत्पत्स्यमानाः द्रव्यदेवाः, नरदेवाः—चक्रिणो राजानः, एवं धर्मदेवाः साधवः, देवाधिदेवा अर्हन्तः, भावदेवा देवत्वे वर्त्तमानाः,‘उप्पण्णसमत्तचक्करयणप्पहाण’त्ति उत्पन्नसमस्तरत्नप्रधानचक्राः, आर्षत्वान्निर्देशस्य,‘समिद्धकोस’त्ति समृद्धकोशाः, प्रधानभाण्डागारा इत्यर्थः॥ एवं देवान् प्ररूप्य तेषामेवोत्पादमाह—‘भेदो’त्ति (सू. ४६१) ‘जइ नेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभपुढविनेरइएहिंतो’ इत्यादिर्भेदो वाच्यः, ‘जहा वक्कंतीए’त्ति यथा प्रज्ञापनाषष्ठपदे, ‘असंखिज्जवासाउ’त्ति असङ्ख्यातवर्षायुष्ककर्म्मभूमिजाः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्नराः, असङ्ख्यातवर्षायुषामकर्मभूमिजादीनां साक्षादेव गृहीतत्वाद्, एतेभ्यश्चोद्धृता भव्यदेवा न स्युः, भावदेवेष्वेव तेषामुत्पादात्, सर्वार्थसिद्धिकास्तु भव्यद्रव्यसिद्धय एव स्युरत एतेभ्योऽन्ये सर्वे भव्यदेवतयोत्पादनीयाः। धर्मदेवसूत्रे ‘नवर’मित्यादि,‘तम’त्ति षष्ठपृथ्वी तत उद्धृतानां चारित्रं नास्ति, तथा अधःसप्तम्यास्तेजसो वायोरसङ्ख्यातवर्षायुष्ककर्म्मभूमिजेभ्यः अकर्म्मभूमिजेभ्योऽन्तरद्वीपजेभ्यश्चोद्धृतानां मानुषत्वाभावान्न चारित्रं, ततश्च न धर्म्मदेवत्वमिति। देवाधिदेवसूत्रे ‘तिसु पुढवीसु’त्ति तिसृभ्यः पृथ्वीभ्य उद्धृता देवाधिदेवा उत्पद्यन्ते, ‘सेसा खोडेय’त्ति शेषाः—पृथिव्यो निषेधयितव्या इत्यर्थः, ताभ्य उद्धृतानां देवाधिदेवत्वस्याभावादिति, ‘भावदेवाणं’ति इह च बहुतरस्थानेभ्य उद्धृता भवनवासितयोत्पद्यन्ते, असंज्ञिनामपि तेषूत्पादात्, अत उक्तं ‘जहा वक्कंतीए’त्ति यथा प्रज्ञापनायां भवनवासिनामुपपातः उक्तस्तथाऽत्र ज्ञेयः। अथ तेषामेव स्थितिमाह—‘जहन्नेणमंतोमुहुत्तं’ति (सू. ४६२) अन्तर्मुहूर्त्तायुषो मनुष्यादेर्देवेषूत्पादात् भव्यदेवस्य जघन्याऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिः, ‘तिण्णि पलिओवमाइं’ति उत्तरकुर्वादिमनुजादीनां देवेष्वेवोत्पादात् ते भव्यद्रव्यदेवास्तेषां यथोक्ता स्थितिः,‘सत्त वास’त्ति यथा ब्रह्मदत्तस्य,‘चउरासी’ति यथा भरतस्य, धर्म-

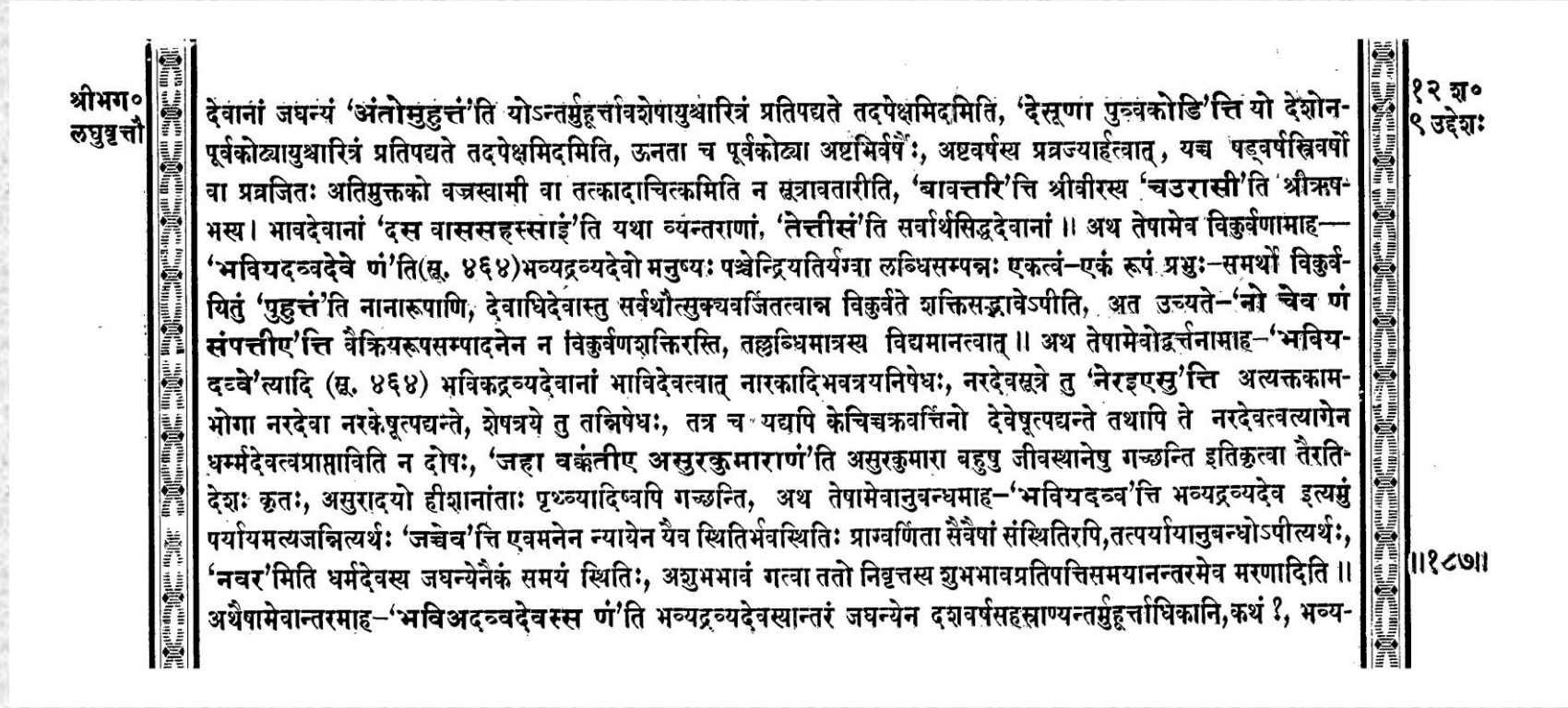

श्रीभग० लघुवृत्तौ

देवानां जघन्यं 'अंतोमुहुत्तं'ति योऽन्तर्मुहूर्त्तावशेषायुश्चारित्रं प्रतिपद्यते तदपेक्षमिदमिति, 'देसूणा पुव्वकोडि'त्ति यो देशोन-पूर्वकोट्यायुश्चारित्रं प्रतिपद्यते तदपेक्षमिदमिति, ऊनता च पूर्वकोट्या अष्टभिर्वर्षैः, अष्टवर्षस्य प्रव्रज्यार्हत्वात्, यच्च षड्वर्षस्त्रिवर्षो वा प्रव्रजितः अतिमुक्तको वज्रस्वामी वा तत्कादाचित्कमिति न सूत्रावतारीति, 'बावत्तरि'त्ति श्रीवीरस्य 'चउरासी'ति श्रीऋषभस्य। भावदेवानां 'दस वाससहस्साइं'ति यथा व्यन्तराणां, 'तेत्तीसं'ति सर्वार्थसिद्धदेवानां ॥ अथ तेषामेव विकुर्वणामाह—'भवियदव्वदेवे णं'ति(सू. ४६४)भव्यद्रव्यदेवो मनुष्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वा लब्धिसम्पन्नः एकत्वं—एकं रूपं प्रभुः—समर्थो विकुर्वयितुं 'पुहुत्तं'ति नानारूपाणि, देवाधिदेवास्तु सर्वथौत्सुक्यवर्जितत्वान्न विकुर्वते शक्तिसद्भावेऽपीति, अत उच्यते—'नो चेव णं संपत्तीए'त्ति वैक्रियरूपसम्पादनेन न विकुर्वणशक्तिरस्ति, तल्लब्धिमात्रस्य विद्यमानत्वात् ॥ अथ तेषामेवोद्वर्त्तनामाह—'भवियदव्वे'त्यादि (सू. ४६४) भविकद्रव्यदेवानां भाविदेवत्वात् नारकादिभवत्रयनिषेधः, नरदेवसूत्रे तु 'नेरइएसु'त्ति अत्यक्तकामभोगा नरदेवा नरकेषूत्पद्यन्ते, शेषत्रये तु तन्निषेधः, तत्र च यद्यपि केचिच्चक्रवर्त्तिनो देवेषूत्पद्यन्ते तथापि ते नरदेवत्वत्यागेन धर्म्मदेवत्वप्राप्ताविति न दोषः, 'जहा वक्कंतीए असुरकुमाराणं'ति असुरकुमारा बहुषु जीवस्थानेषु गच्छन्ति इतिकृत्वा तैरतिदेशः कृतः, असुरादयो हीशानांताः पृथ्व्यादिष्वपि गच्छन्ति, अथ तेषामेवानुबन्धमाह—'भवियदव्व'त्ति भव्यद्रव्यदेव इत्यमुं पर्यायमत्यजन्नित्यर्थः 'जच्चेव'त्ति एवमनेन न्यायेन यैव स्थितिर्भवस्थितिः प्राग्वर्णिता सैवैषां संस्थितिरपि,तत्पर्यायानुबन्धोऽपीत्यर्थः, 'नवर'मिति धर्मदेवस्य जघन्येनैकं समयं स्थितिः, अशुभभावं गत्वा ततो निवृत्तस्य शुभभावप्रतिपत्तिसमयानन्तरमेव मरणादिति ॥ अथैषामेवान्तरमाह—'भविअदव्वदेवस्स णं'ति भव्यद्रव्यदेवस्यान्तरं जघन्येन दशवर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताधिकानि,कथं ?, भव्य-

१२ श० ९ उद्देशः

॥१८७॥

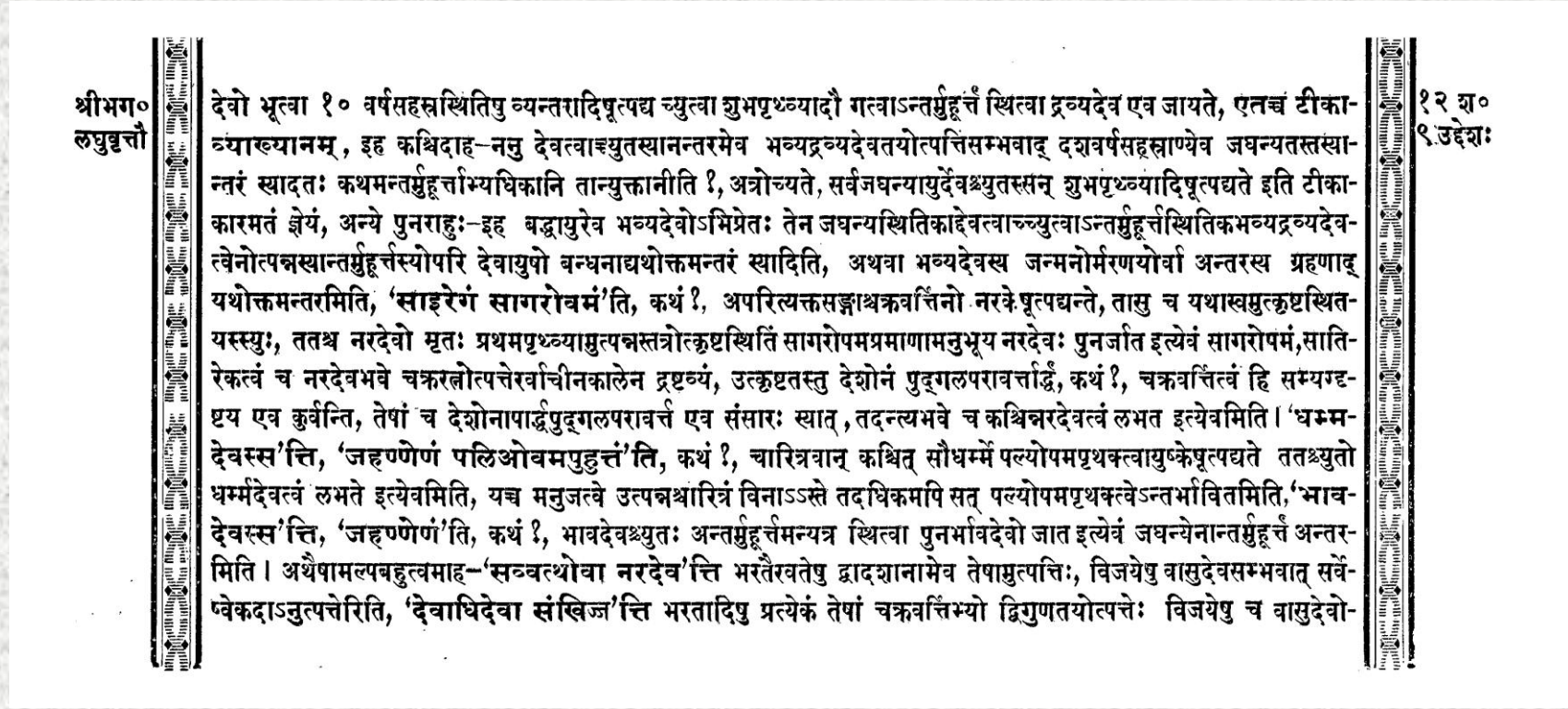

श्रीभग० लघुवृत्तौ

देवो भूत्वा १० वर्षसहस्रस्थितिषु व्यन्तरादिषूत्पद्य च्युत्वा शुभपृथ्व्यादौ गत्वाऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा द्रव्यदेव एव जायते, एतच्च टीकाव्याख्यानम्, इह कश्चिदाह–ननु देवत्वाच्च्युतस्थानन्तरमेव भव्यद्रव्यदेवतयोत्पत्तिसम्भवाद् दशवर्षसहस्राण्येव जघन्यतस्तस्यान्तरं स्यादतः कथमन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि तान्युक्तानीति ?, अत्रोच्यते, सर्वजघन्यायुर्देवश्च्युतस्सन् शुभपृथ्व्यादिषूत्पद्यते इति टीकाकारमतं ज्ञेयं, अन्ये पुनराहुः–इह बद्धायुरेव भव्यदेवोऽभिप्रेतः तेन जघन्यस्थितिकादेवत्वाच्च्युत्वाऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकभव्यद्रव्यदेवत्वेनोत्पन्नस्यान्तर्मुहूर्त्तस्योपरि देवायुषो बन्धनाद्यथोक्तमन्तरं स्यादिति, अथवा भव्यदेवस्य जन्ममोर्मरणयोर्वा अन्तरस्य ग्रहणाद् यथोक्तमन्तरमिति, **‘साइरेगं सागरोवमं’**ति, कथं ?, अपरित्यक्तसङ्गाश्चक्रवर्त्तिनो नरकेषूत्पद्यन्ते, तासु च यथास्वमुत्कृष्टस्थितयस्स्युः, ततश्च नरदेवो मृतः प्रथमपृथ्व्यामुत्पन्नस्तत्रोत्कृष्टस्थितिं सागरोपमप्रमाणामनुभूय नरदेवः पुनर्जात इत्येवं सागरोपमं,सातिरेकत्वं च नरदेवभवे चक्ररत्नोत्पत्तेरर्वाचीनकालेन द्रष्टव्यं, उत्कृष्टतस्तु देशोनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं, कथं ?, चक्रवर्त्तित्वं हि सम्यग्दृष्टय एव कुर्वन्ति, तेषां च देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्त एव संसारः स्यात्, तदन्त्यभवे च कश्चिन्नरदेवत्वं लभत इत्येवमिति। **‘धम्मदेवस्स’**त्ति, **‘जहण्णेणं पलिओवमपुहुत्तं’**ति, कथं ?, चारित्रवान् कश्चित् सौधर्म्मे पल्योपमपृथक्त्वायुष्केषूत्पद्यते ततश्च्युतो धर्म्मदेवत्वं लभते इत्येवमिति, यच्च मनुजत्वे उत्पन्नश्चारित्रं विनाऽऽस्ते तदधिकमपि सत् पल्योपमपृथक्त्वेऽन्तर्भावितमिति,**‘भावदेवस्स’**त्ति, **‘जहण्णेणं’**ति, कथं ?, भावदेवश्च्युतः अन्तर्मुहूर्त्तमन्यत्र स्थित्वा पुनर्भावदेवो जात इत्येवं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं अन्तरमिति। अथैषामल्पबहुत्वमाह–**‘सव्वत्थोवा नरदेव’**त्ति भरतैरवतेषु द्वादशानामेव तेषामुत्पत्तिः, विजयेषु वासुदेवसम्भवात् सर्वेष्वेकदाऽनुत्पत्तेरिति, **‘देवाधिदेवा संखिज्ज’**त्ति भरतादिषु प्रत्येकं तेषां चक्रवर्त्तिभ्यो द्विगुणतयोत्पत्तेः विजयेषु च वासुदेवो-

१२ श० ९ उद्देशः

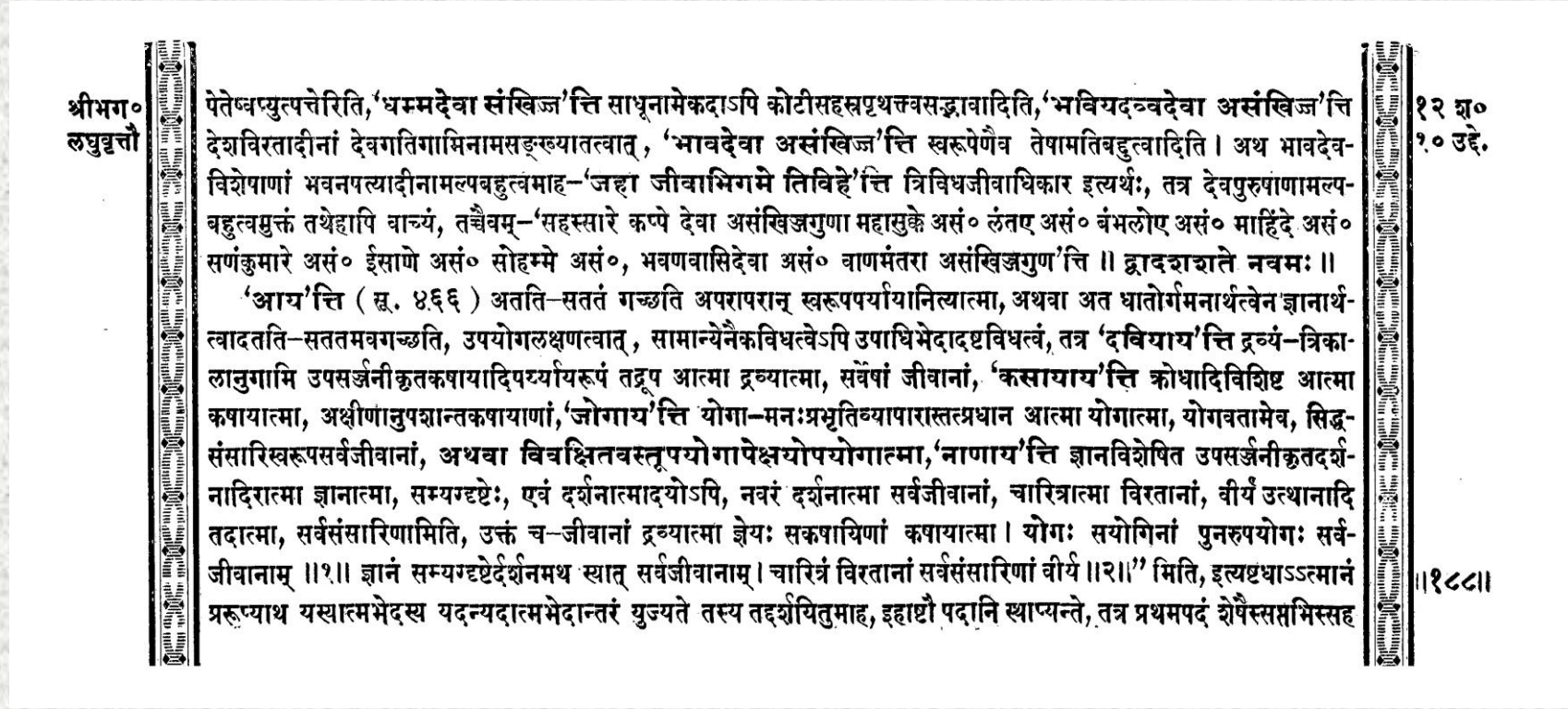

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पेतेष्वप्युत्पत्तेरिति,'धम्मदेवा संखिज्ज'त्ति साधूनामेकदाऽपि कोटीसहस्रपृथक्त्वसद्भावादिति,'भवियदव्वदेवा असंखिज्ज'त्ति देशविरतादीनां देवगतिगामिनामसङ्ख्यातत्वात्, 'भावदेवा असंखिज्ज'त्ति स्वरूपेणैव तेषामतिबहुत्वादिति। अथ भावदेवविशेषाणां भवनपत्यादीनामल्पबहुत्वमाह–'जहा जीवाभिगमे तिविहे'त्ति त्रिविधजीवाधिकार इत्यर्थः, तत्र देवपुरुषाणामल्पबहुत्वमुक्तं तथेहापि वाच्यं, तच्चैवम्–'सहस्सारे कप्पे देवा असंखिज्जगुणा महासुक्के असं० लंतए असं० बंभलोए असं० माहिंदे असं० सणंकुमारे असं० ईसाणे असं० सोहम्मे असं०, भवणवासिदेवा असं० वाणमंतरा असंखिज्जगुण'त्ति ॥ द्वादशशते नवमः ॥

'आय'त्ति (सू. ४६६) अतति–सततं गच्छति अपरापरान् स्वरूपपर्यायानित्यात्मा, अथवा अत धातोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानार्थत्वादतति–सततमवगच्छति, उपयोगलक्षणत्वात्, सामान्येनैकविधत्वेऽपि उपाधिभेदादष्टविधत्वं, तत्र 'दवियाय'त्ति द्रव्यं–त्रिकालानुगामि उपसर्जनीकृतकषायादिपर्य्यायरूपं तद्रूप आत्मा द्रव्यात्मा, सर्वेषां जीवानां, 'कसायाय'त्ति क्रोधादिविशिष्ट आत्मा कषायात्मा, अक्षीणानुपशान्तकषायाणां,'जोगाय'त्ति योगा–मनःप्रभृतिव्यापारास्तत्प्रधान आत्मा योगात्मा, योगवतामेव, सिद्धसंसारिस्वरूपसर्वजीवानां, अथवा विवक्षितवस्तूपयोगापेक्षयोपयोगात्मा,'नाणाय'त्ति ज्ञानविशेषित उपसर्जनीकृतदर्शनादिरात्मा ज्ञानात्मा, सम्यग्दृष्टेः, एवं दर्शनात्मादयोऽपि, नवरं दर्शनात्मा सर्वजीवानां, चारित्रात्मा विरतानां, वीर्यं उत्थानादि तदात्मा, सर्वसंसारिणामिति, उक्तं च–जीवानां द्रव्यात्मा ज्ञेयः सकषायिणां कषायात्मा। योगः सयोगिनां पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥१॥ ज्ञानं सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ स्यात् सर्वजीवानाम्। चारित्रं विरतानां सर्वसंसारिणां वीर्यं ॥२॥" मिति, इत्यष्टधाऽऽत्मानं प्ररूप्याथ यस्यात्मभेदस्य यदन्यदात्मभेदान्तरं युज्यते तस्य तदर्शयितुमाह, इहाष्टौ पदानि स्थाप्यन्ते, तत्र प्रथमपदं शेषैस्सप्तभिस्सह

१२ श० १० उद्दे.

॥१८८॥

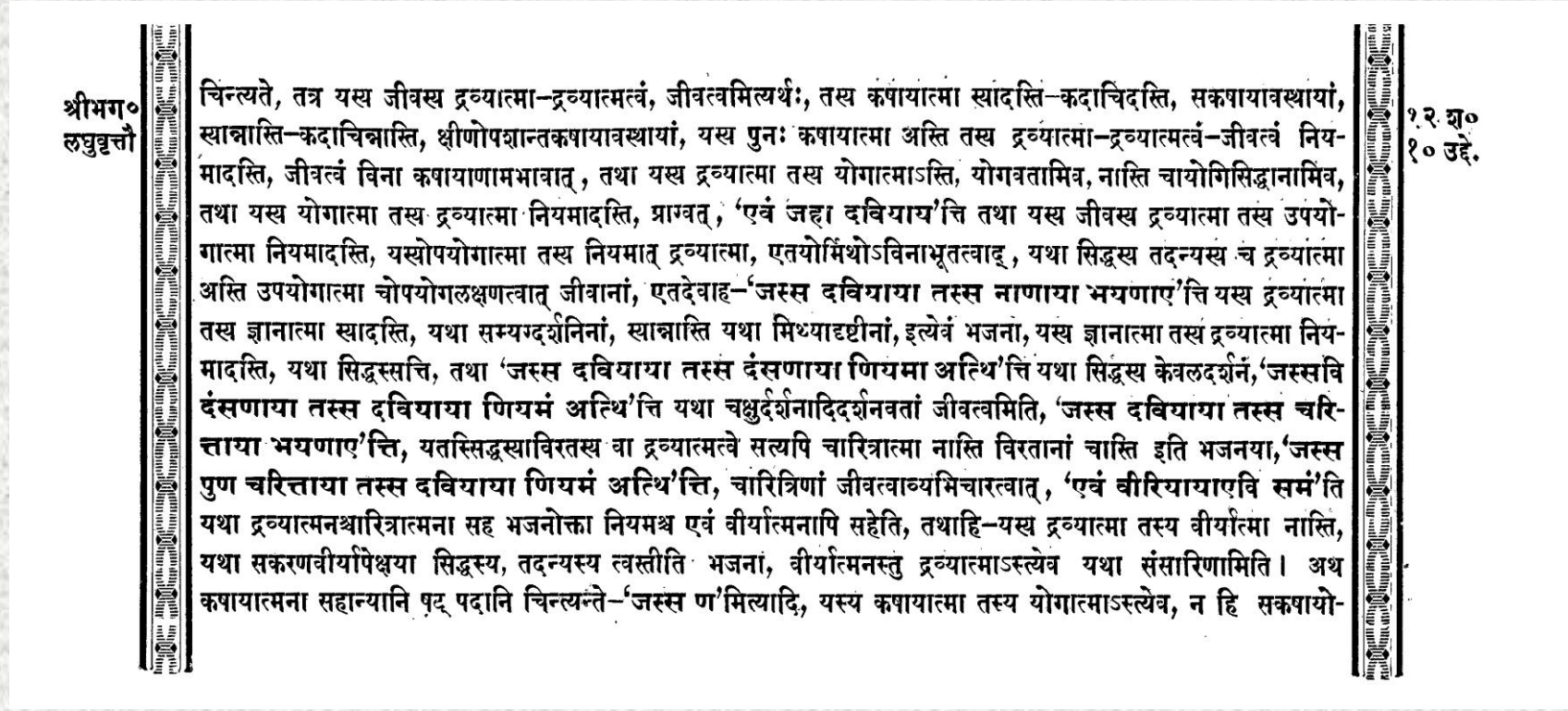

श्रीभग० लघुवृत्तौ

चिन्त्यते, तत्र यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा–द्रव्यात्मत्वं, जीवत्वमित्यर्थः, तस्य कषायात्मा स्यादस्ति–कदाचिदस्ति, सकषायावस्थायां, स्यान्नास्ति–कदाचिन्नास्ति, क्षीणोपशान्तकषायावस्थायां, यस्य पुनः कषायात्मा अस्ति तस्य द्रव्यात्मा–द्रव्यात्मत्वं–जीवत्वं नियमादस्ति, जीवत्वं विना कषायाणामभावात्, तथा यस्य द्रव्यात्मा तस्य योगात्माऽस्ति, योगवतामिव, नास्ति चायोगिसिद्धानामिव, तथा यस्य योगात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति, प्राग्वत्, 'एवं जहा दवियाय'त्ति तथा यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा तस्य उपयोगात्मा नियमादस्ति, यस्योपयोगात्मा तस्य नियमात् द्रव्यात्मा, एतयोर्मिथोऽविनाभूतत्वाद्, यथा सिद्धस्य तदन्यस्य च द्रव्यात्मा अस्ति उपयोगात्मा चोपयोगलक्षणत्वात् जीवानां, एतदेवाह–**'जस्स दवियाया तस्स नाणाया भयणाए'**त्ति यस्य द्रव्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति, यथा सम्यग्दर्शनिनां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृष्टीनां, इत्येवं भजना, यस्य ज्ञानात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति, यथा सिद्धस्सत्ति, तथा **'जस्स दवियाया तस्स दंसणाया णियमा अत्थि'**त्ति यथा सिद्धस्य केवलदर्शनं, **'जस्सवि दंसणाया तस्स दवियाया णियमं अत्थि'**त्ति यथा चक्षुर्दर्शनादिदर्शनवतां जीवत्वमिति, **'जस्स दवियाया तस्स चरित्ताया भयणाए'त्ति**, यतस्सिद्धस्याविरतस्य वा द्रव्यात्मत्वे सत्यपि चारित्रात्मा नास्ति विरतानां चास्ति इति भजनया, **'जस्स पुण चरित्ताया तस्स दवियाया णियमं अत्थि'त्ति**, चारित्रिणां जीवत्वाव्यभिचारत्वात्, **'एवं वीरियायाएवि समं'**ति यथा द्रव्यात्मनश्चारित्रात्मना सह भजनोक्ता नियमश्च एवं वीर्यात्मनापि सहेति, तथाहि–यस्य द्रव्यात्मा तस्य वीर्यात्मा नास्ति, यथा सकरणवीर्यापेक्षया सिद्धस्य, तदन्यस्य त्वस्तीति भजना, वीर्यात्मनस्तु द्रव्यात्माऽस्त्येव यथा संसारिणामिति। अथ कषायात्मना सहान्यानि षट् पदानि चिन्त्यन्ते–**'जस्स ण'**मित्यादि, यस्य कषायात्मा तस्य योगात्माऽस्त्येव, न हि सकषायो-

१२ श० १० उद्दे.

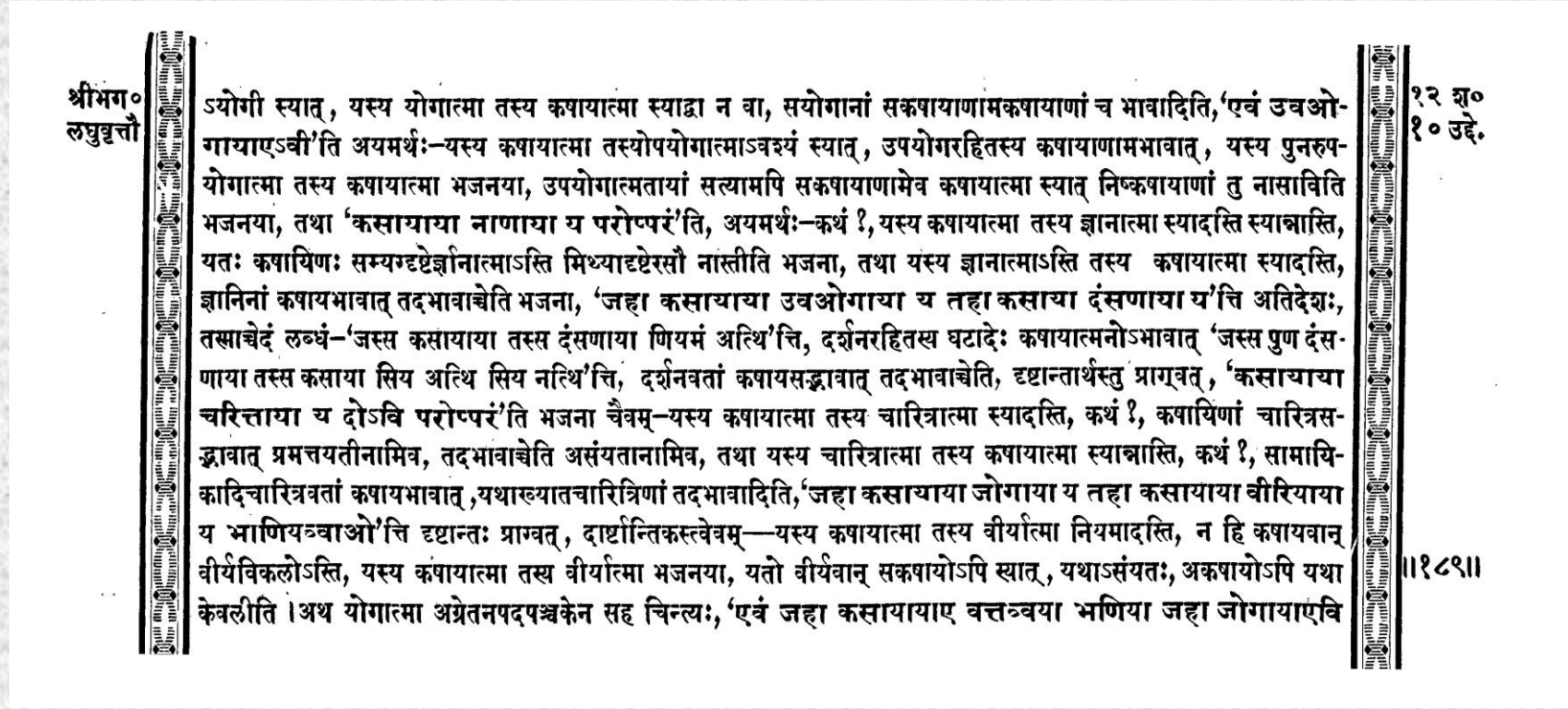

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ऽयोगी स्यात्, यस्य योगात्मा तस्य कषायात्मा स्याद्वा न वा, सयोगानां सकषायाणामकषायाणां च भावादिति,'एवं उवओगायाएऽवी'ति अयमर्थः–यस्य कषायात्मा तस्योपयोगात्माऽवश्यं स्यात्, उपयोगरहितस्य कषायाणामभावात्, यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य कषायात्मा भजनया, उपयोगात्मतायां सत्यामपि सकषायाणामेव कषायात्मा स्यात् निष्कषायाणां तु नासाविति भजनया, तथा 'कसायाया नाणाया य परोप्परं'ति, अयमर्थः–कथं ?, यस्य कषायात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति स्यान्नास्ति, यतः कषायिणः सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानात्माऽस्ति मिथ्यादृष्टेरसौ नास्तीति भजना, तथा यस्य ज्ञानात्माऽस्ति तस्य कषायात्मा स्यादस्ति, ज्ञानिनां कषायभावात् तदभावाच्चेति भजना, 'जहा कसायाया उवओगाया य तहा कसाया दंसणाया य'त्ति अतिदेशः, तस्माच्चेदं लब्धं–'जस्स कसायाया तस्स दंसणाया णियमं अत्थि'त्ति, दर्शनरहितस्य घटादेः कषायात्मनोऽभावात् 'जस्स पुण दंसणाया तस्स कसाया सिय अत्थि सिय नत्थि'त्ति, दर्शनवतां कषायसद्भावात् तदभावाच्चेति, दृष्टान्तार्थस्तु प्राग्वत्, 'कसायाया चरित्ताया य दोऽवि परोप्परं'ति भजना चैवम्–यस्य कषायात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति, कथं ?, कषायिणां चारित्रसद्भावात् प्रमत्तयतीनामिव, तदभावाच्चेति असंयतानामिव, तथा यस्य चारित्रात्मा तस्य कषायात्मा स्यान्नास्ति, कथं ?, सामायिकादिचारित्रवतां कषायभावात्,यथाख्यातचारित्रिणां तदभावादिति,'जहा कसायाया जोगाया य तहा कसायाया वीरियाया य भाणियव्वाओ'त्ति दृष्टान्तः प्राग्वत्, दार्ष्टान्तिकस्त्वेवम्—यस्य कषायात्मा तस्य वीर्यात्मा नियमादस्ति, न हि कषायवान् वीर्यविकलोऽस्ति, यस्य कषायात्मा तस्य वीर्यात्मा भजनया, यतो वीर्यवान् सकषायोऽपि स्यात्, यथाऽसंयतः, अकषायोऽपि यथा केवलीति ।अथ योगात्मा अग्रेतनपदपञ्चकेन सह चिन्त्यः,'एवं जहा कसायायाए वत्तव्वया भणिया जहा जोगायाएवि

१२ श० १० उद्दे.

॥१८९॥

उवरिमाहिं समं भाणियव्व'त्ति, सा चैवम्—यस्य योगात्मा तस्योपयोगात्मा नियमात्, यथा सयोगानां, यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति यथा सयोगानां, स्यान्नास्ति यथा अयोगिनां सिद्धानां वेति १, तथा यस्य योगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति सम्यग्दृष्टीनामिव, स्यान्नास्ति मिथ्यादृष्टीनामिव, यस्य ज्ञानात्मा तस्यापि योगात्मा स्यादस्ति, योगिनामिव, स्यान्नास्त्ययोगिनामिवेति २, तथा यस्य योगात्मा तस्य दर्शनात्माऽस्त्येव, योगिनामिव, यस्य च दर्शनात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति योगिनामिव, स्यान्नास्त्ययोगिनामिव ३, तथा यस्य योगात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति, विरतानामिव, स्यान्नास्ति अविरतानामिव, यस्यापि चारित्रात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति सयोगचारित्रवतामिव, स्यान्नास्त्ययोगिनामिवेति, वाचनान्तरे पुनरिदं दृश्यते–'जस्स चरित्ताया तस्स जोगाया नियमं'ति तत्र चारित्रस्य प्रत्युपेक्षणादिव्यापाररूपस्य विवक्षितत्वात् तस्य च योगाविनाभावित्वाद्यस्य चारित्रात्मा तस्य योगात्मा नियमादित्युच्यते ४, तथा यस्य योगात्मा तस्य वीर्यात्माऽस्त्येव, योगसद्भावे वीर्यस्यावश्यंभावात्, यस्य तु वीर्यात्मा तस्य योगात्मा भजनया, यतो वीर्यविशेषवान् सयोग्यपि स्याद्यथा सयोग्यपि केवल्यादिः, अयोग्यपि स्याद्यथा अयोगिकेवलीति। अथोपयोगात्मना सहान्यानि चत्वारि चिन्त्यंते, यथा यस्योपयोगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति, यथा सम्यग्दृशां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृशां, यस्य च ज्ञानात्मा तस्यावश्यमुपयोगात्मा, सिद्धानामिव १, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य दर्शनात्माऽस्त्येव, यस्यापि दर्शनात्मा तस्योपयोगात्माऽस्त्येव, यथा सिद्धादीनामिव २, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति स्यान्नास्ति, यथा संयतानामसंयतानां च, यस्य तु चारित्रात्मा तस्योपयोगात्माऽस्त्येव, यथा संयतानां ३ तथा यस्योपयोगात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति संसारिणामिव, स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्यो-

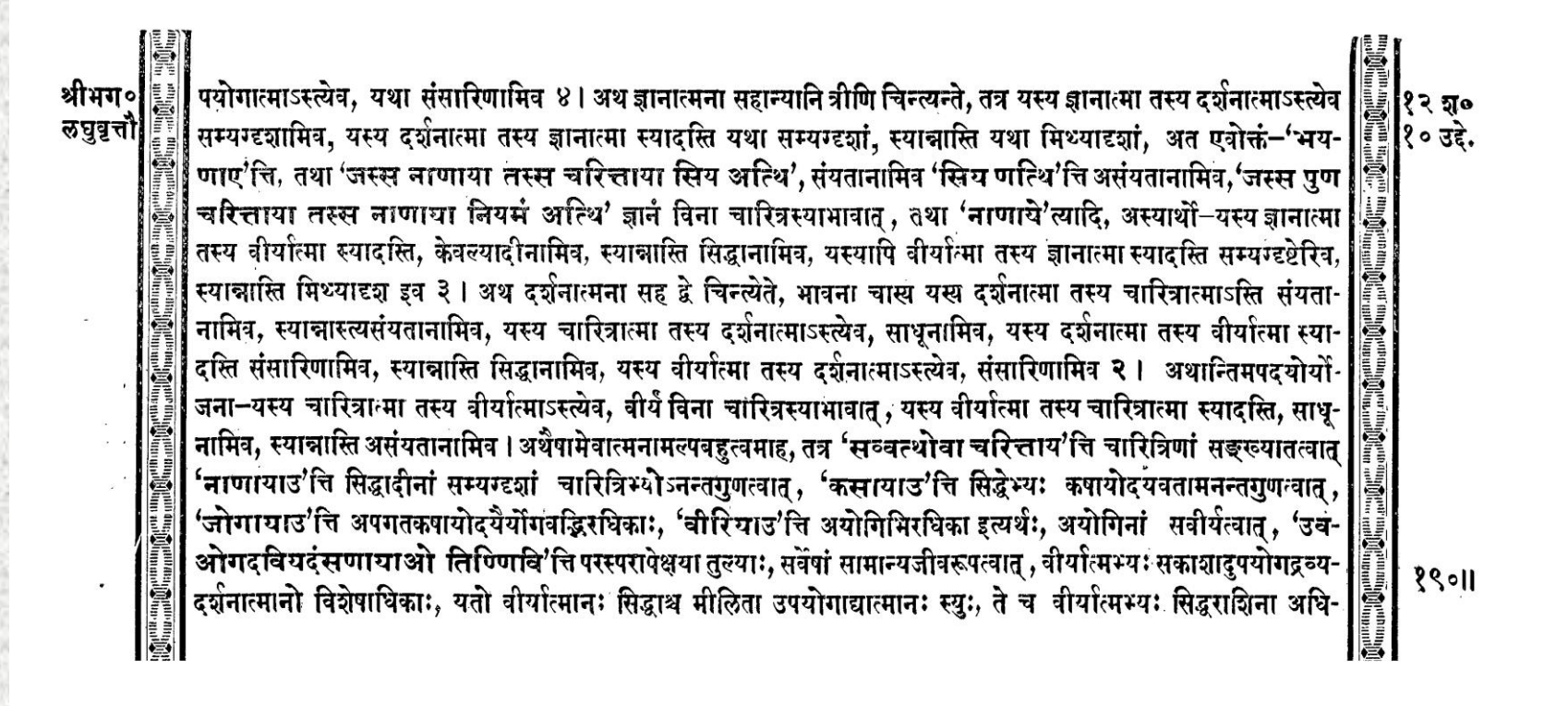

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पयोगात्माऽस्त्येव, यथा संसारिणामिव ४। अथ ज्ञानात्मना सहान्यानि त्रीणि चिन्त्यन्ते, तत्र यस्य ज्ञानात्मा तस्य दर्शनात्माऽस्त्येव सम्यग्दृशामिव, यस्य दर्शनात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृशां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृशां, अत एवोक्तं–'भयणाए'त्ति, तथा 'जस्स नाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि', संयतानामिव 'सिय णत्थि'त्ति असंयतानामिव,'जस्स पुण चरित्ताया तस्स नाणाया नियमं अत्थि' ज्ञानं विना चारित्रस्याभावात्, तथा 'नाणाये'त्यादि, अस्यार्थो–यस्य ज्ञानात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति, केवल्यादीनामिव, स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्यापि वीर्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति सम्यग्दृष्टेरिव, स्यान्नास्ति मिथ्यादृश इव ३। अथ दर्शनात्मना सह द्वे चिन्त्येते, भावना चास्य यस्य दर्शनात्मा तस्य चारित्रात्माऽस्ति संयतानामिव, स्यान्नास्त्यसंयतानामिव, यस्य चारित्रात्मा तस्य दर्शनात्माऽस्त्येव, साधूनामिव, यस्य दर्शनात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति संसारिणामिव, स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्य वीर्यात्मा तस्य दर्शनात्माऽस्त्येव, संसारिणामिव २। अथान्तिमपदयोर्योजना–यस्य चारित्रात्मा तस्य वीर्यात्माऽस्त्येव, वीर्यं विना चारित्रस्याभावात्, यस्य वीर्यात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति, साधूनामिव, स्यान्नास्ति असंयतानामिव। अथैषामेवात्मनामल्पबहुत्वमाह, तत्र 'सव्वत्थोवा चरित्ताय'त्ति चारित्रिणां सङ्ख्यातत्वात् 'नाणायाउ'त्ति सिद्धादीनां सम्यग्दृशां चारित्रिभ्योऽनन्तगुणत्वात्, 'कसायाउ'त्ति सिद्धेभ्यः कषायोदयवतामनन्तगुणत्वात्, 'जोगायाउ'त्ति अपगतकषायोदयैर्योगवद्भिरधिकाः, 'वीरियाउ'त्ति अयोगिभिरधिका इत्यर्थः, अयोगिनां सवीर्यत्वात्, 'उवओगदवियदंसणायाओ तिण्णिवि'त्ति परस्परापेक्षया तुल्याः, सर्वेषां सामान्यजीवरूपत्वात्, वीर्यात्मभ्यः सकाशादुपयोगद्रव्यदर्शनात्मानो विशेषाधिकाः, यतो वीर्यात्मानः सिद्धाश्च मीलिता उपयोगाद्यात्मानः स्युः, ते च वीर्यात्मभ्यः सिद्धराशिना अधि-

१२ श० १० उद्दे.

१९०॥

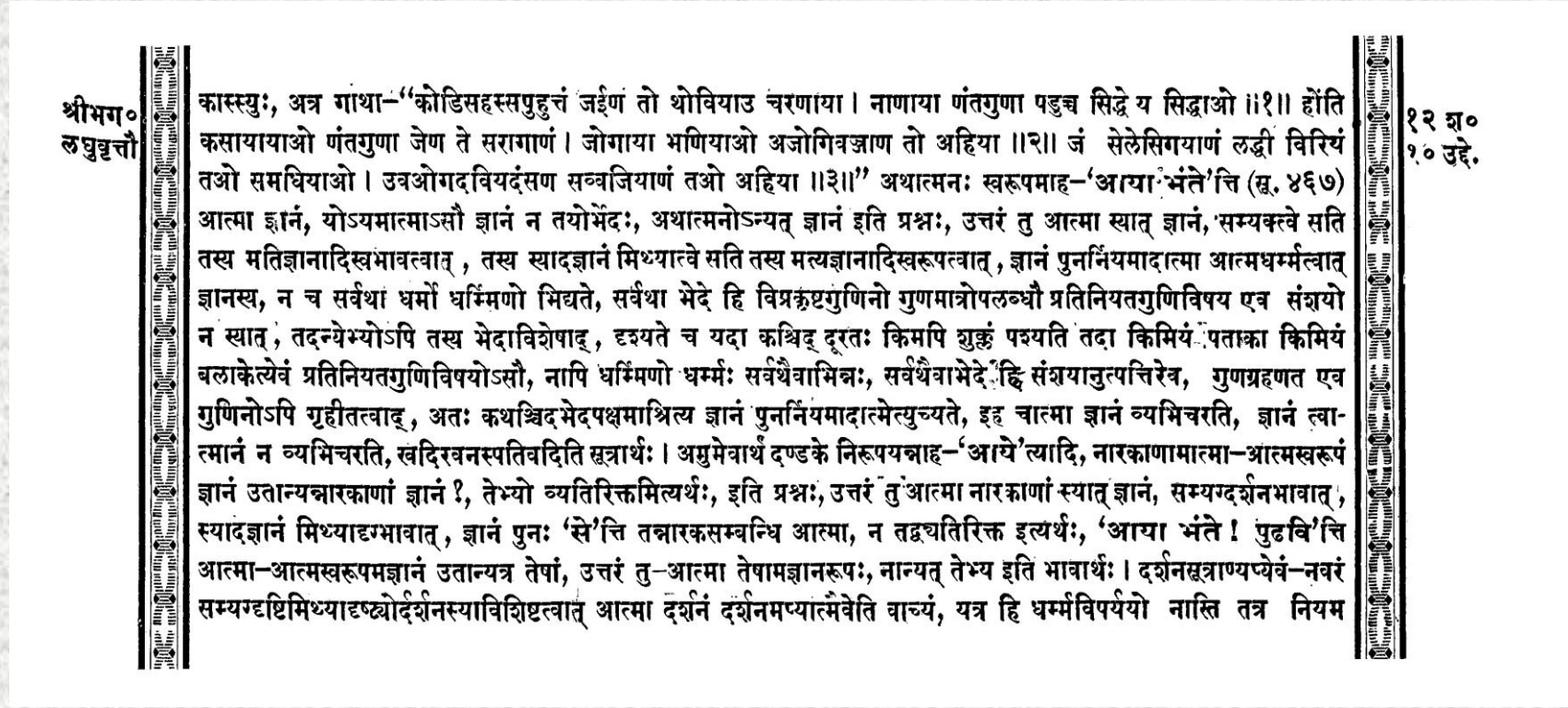

श्रीभग० लघुवृत्तौ

कास्स्युः, अत्र गाथा–"कोडिसहस्सपुहुत्तं जईणं तो थोवियाउ चरणाया। नाणाया णंतगुणा पडुच्च सिद्धे य सिद्धाओ ॥१॥ होंति कसायायाओ णंतगुणा जेण ते सरागाणं। जोगाया भणियाओ अजोगिवज्जाण तो अहिया ॥२॥ जं सेलेसिगयाणं लद्धी विरियं तओ समधियाओ। उवओगदवियदंसण सव्वजियाणं तओ अहिया ॥३॥" अथात्मनः स्वरूपमाह–'आया भंते'त्ति (सू. ४६७) आत्मा ज्ञानं, योऽयमात्माऽसौ ज्ञानं न तयोर्भेदः, अथात्मनोऽन्यत् ज्ञानं इति प्रश्नः, उत्तरं तु आत्मा स्यात् ज्ञानं, सम्यक्त्वे सति तस्य मतिज्ञानादिस्वभावत्वात्, तस्य स्यादज्ञानं मिथ्यात्वे सति तस्य मत्यज्ञानादिस्वरूपत्वात्, ज्ञानं पुनर्नियमादात्मा आत्मधर्म्मत्वात् ज्ञानस्य, न च सर्वथा धर्मो धर्म्मिणो भिद्यते, सर्वथा भेदे हि विप्रकृष्टगुणिनो गुणमात्रोपलब्धौ प्रतिनियतगुणिविषय एव संशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदाविशेषाद्, दृश्यते च यदा कश्चिद् दूरतः किमपि शुक्लं पश्यति तदा किमियं पताका किमियं बलाकेत्येवं प्रतिनियतगुणिविषयोऽसौ, नापि धर्म्मिणो धर्म्मः सर्वथैवाभिन्नः, सर्वथैवाभेदे हि संशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणत एव गुणिनोऽपि गृहीतत्वाद्, अतः कथञ्चिदभेदपक्षमाश्रित्य ज्ञानं पुनर्नियमादात्मेत्युच्यते, इह चात्मा ज्ञानं व्यभिचरति, ज्ञानं त्वात्मानं न व्यभिचरति, खदिरवनस्पतिवदिति सूत्रार्थः। अमुमेवार्थं दण्डके निरूपयन्नाह–'आये'त्यादि, नारकाणामात्मा–आत्मस्वरूपं ज्ञानं उतान्यन्नारकाणां ज्ञानं ?, तेभ्यो व्यतिरिक्तमित्यर्थः, इति प्रश्नः, उत्तरं तु आत्मा नारकाणां स्यात् ज्ञानं, सम्यग्दर्शनभावात्, स्यादज्ञानं मिथ्यादृग्भावात्, ज्ञानं पुनः 'से'त्ति तन्नारकसम्बन्धि आत्मा, न तद्व्यतिरिक्त इत्यर्थः, 'आया भंते ! पुढवि'त्ति आत्मा–आत्मस्वरूपमज्ञानं उतान्यत्र तेषां, उत्तरं तु–आत्मा तेषामज्ञानरूपः, नान्यत् तेभ्य इति भावार्थः। दर्शनसूत्राण्यप्येवं–नवरं सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योर्दर्शनस्याविशिष्टत्वात् आत्मा दर्शनं दर्शनमप्यात्मैवेति वाच्यं, यत्र हि धर्म्मविपर्ययो नास्ति तत्र नियम

१२ श० १० उद्दे.

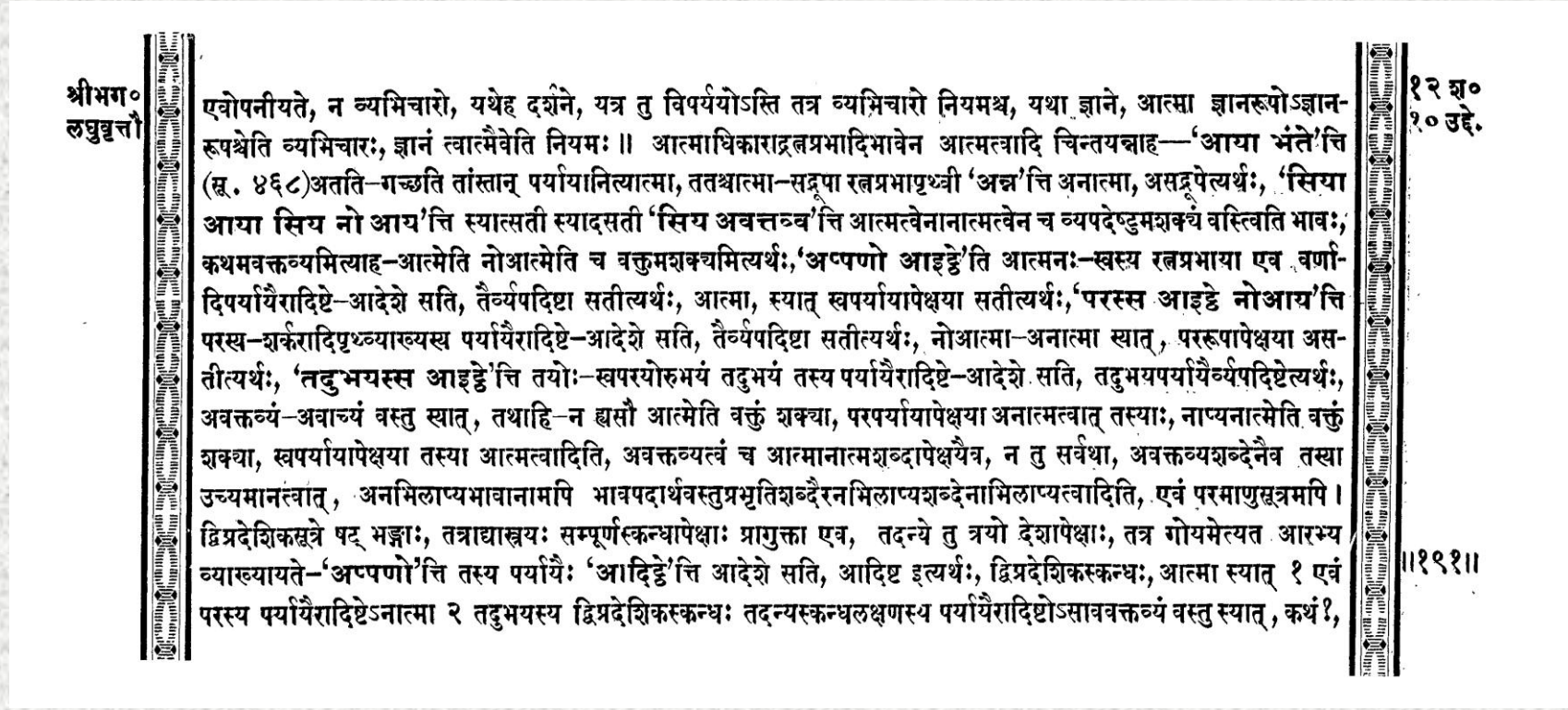

श्रीभग० लघुवृत्तौ

एवोपनीयते, न व्यभिचारो, यथेह दर्शने, यत्र तु विपर्ययोऽस्ति तत्र व्यभिचारो नियमश्च, यथा ज्ञाने, आत्मा ज्ञानरूपोऽज्ञानरूपश्चेति व्यभिचारः, ज्ञानं त्वात्मैवेति नियमः ॥ आत्माधिकाराद्रत्नप्रभादिभावेन आत्मत्वादि चिन्तयन्नाह—‘आया भंते’त्ति (सू. ४६८)अतति–गच्छति तांस्तान् पर्यायानित्यात्मा, ततश्चात्मा–सद्रूपा रत्नप्रभापृथ्वी ‘अन्न’त्ति अनात्मा, असद्रूपेत्यर्थः, ‘सिया आया सिय नो आय’त्ति स्यात्सती स्यादसती ‘सिय अवत्तव्व’त्ति आत्मत्वेनानात्मत्वेन च व्यपदेष्टुमशक्यं वस्त्विति भावः, कथमवक्तव्यमित्याह–आत्मेति नोआत्मेति च वक्तुमशक्यमित्यर्थः,‘अप्पणो आइट्ठे’ति आत्मनः–स्वस्य रत्नप्रभाया एव वर्णादिपर्यायैरादिष्टे–आदेशे सति, तैर्व्यपदिष्टा सतीत्यर्थः, आत्मा, स्यात् स्वपर्यायापेक्षया सतीत्यर्थः,‘परस्स आइट्ठे नोआय’त्ति परस्य–शर्करादिपृथ्व्याख्यस्य पर्यायैरादिष्टे–आदेशे सति, तैर्व्यपदिष्टा सतीत्यर्थः, नोआत्मा–अनात्मा स्यात्, पररूपापेक्षया असतीत्यर्थः, ‘तदुभयस्स आइट्ठे’त्ति तयोः–स्वपरयोरुभयं तदुभयं तस्य पर्यायैरादिष्टे–आदेशे सति, तदुभयपर्यायैर्व्यपदिष्टेत्यर्थः, अवक्तव्यं–अवाच्यं वस्तु स्यात्, तथाहि–न ह्यसौ आत्मेति वक्तुं शक्या, परपर्यायापेक्षया अनात्मत्वात् तस्याः, नाप्यनात्मेति वक्तुं शक्या, स्वपर्यायापेक्षया तस्या आत्मत्वादिति, अवक्तव्यत्वं च आत्मानात्मशब्दापेक्षयैव, न तु सर्वथा, अवक्तव्यशब्देनैव तस्या उच्यमानत्वात्, अनभिलाप्यभावानामपि भावपदार्थवस्तुप्रभृतिशब्दैरनभिलाप्यशब्देनाभिलाप्यत्वादिति, एवं परमाणुसूत्रमपि। द्विप्रदेशिकसूत्रे षट् भङ्गाः, तत्राद्यास्त्रयः सम्पूर्णस्कन्धापेक्षाः प्रागुक्ता एव, तदन्ये तु त्रयो देशापेक्षाः, तत्र गोयमेत्यत आरभ्य व्याख्यायते–‘अप्पणो’त्ति तस्य पर्यायैः ‘आदिट्ठे’त्ति आदेशे सति, आदिष्ट इत्यर्थः, द्विप्रदेशिकस्कन्धः, आत्मा स्यात् १ एवं परस्य पर्यायैरादिष्टेऽनात्मा २ तदुभयस्य द्विप्रदेशिकस्कन्धः तदन्यस्कन्धलक्षणस्य पर्यायैरादिष्टोऽसाववक्तव्यं वस्तु स्यात्, कथं?,

१२ श० १० उद्दे.

॥१९१॥

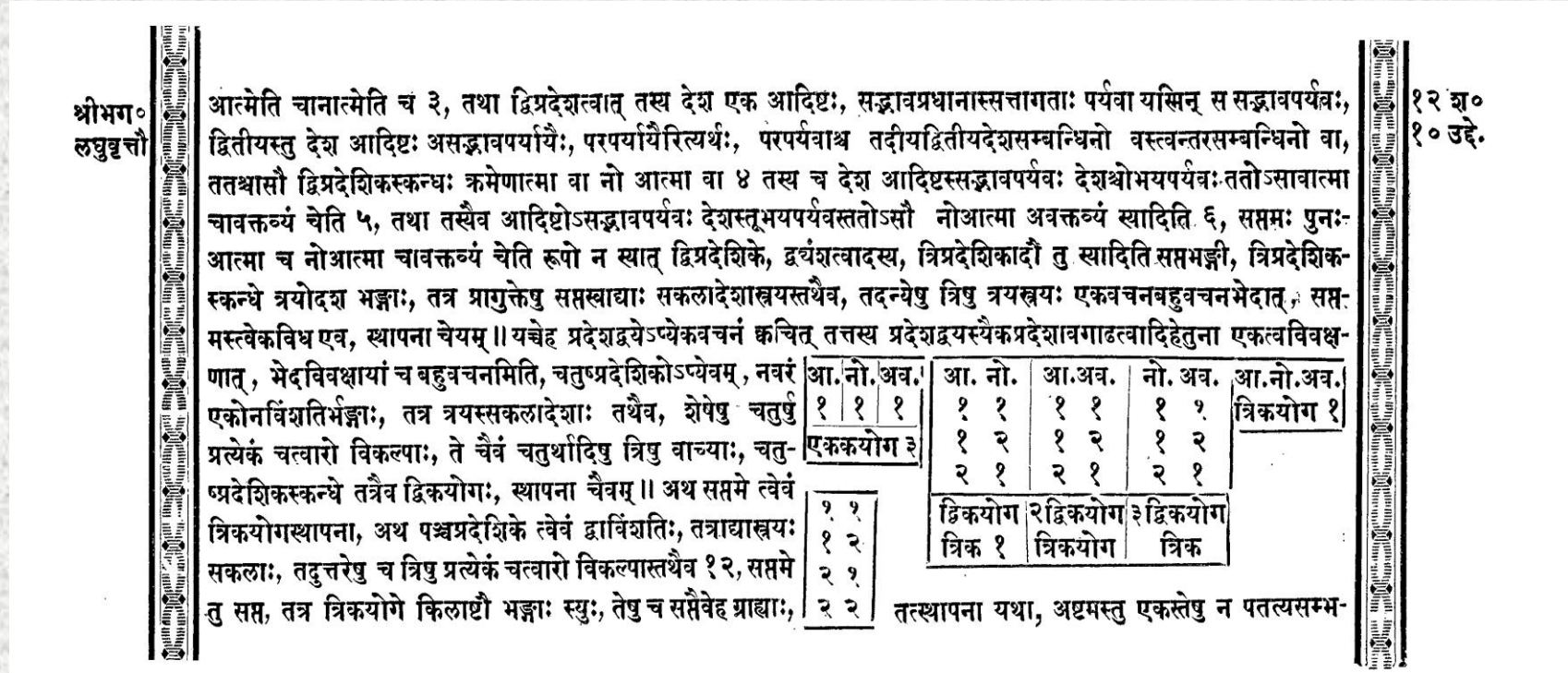

श्रीभग० लघुवृत्तौ

आत्मेति चानात्मेति च ३, तथा द्विप्रदेशत्वात् तस्य देश एक आदिष्टः, सद्भावप्रधानास्सत्तागताः पर्यवा यस्मिन् स सद्भावपर्यवः, द्वितीयस्तु देश आदिष्टः असद्भावपर्यायैः, परपर्यायैरित्यर्थः, परपर्यवाश्च तदीयद्वितीयदेशसम्बन्धिनो वस्त्वन्तरसम्बन्धिनो वा, ततश्चासौ द्विप्रदेशिकस्कन्धः क्रमेणात्मा वा नो आत्मा वा ४ तस्य च देश आदिष्टस्सद्भावपर्यवः देशश्चोभयपर्यवः ततोऽसावात्मा चावक्तव्यं चेति ५, तथा तस्यैव आदिष्टोऽसद्भावपर्यवः देशस्तूभयपर्यवस्ततोऽसौ नोआत्मा अवक्तव्यं स्यादिति ६, सप्तमः पुनः- आत्मा च नोआत्मा चावक्तव्यं चेति रूपो न स्यात् द्विप्रदेशिके, द्व्यंशत्वादस्य, त्रिप्रदेशिकादौ तु स्यादिति सप्तभङ्गी, त्रिप्रदेशिक-स्कन्धे त्रयोदश भङ्गाः, तत्र प्रागुक्तेषु सप्तस्वाद्याः सकलादेशास्त्रयस्तथैव, तदन्येषु त्रिषु त्रयस्त्रयः एकवचनबहुवचनभेदात्, सप्त-मस्त्वेकविध एव, स्थापना चेयम् ॥ यच्चेह प्रदेशद्वयेऽप्येकवचनं क्वचित् तत्तस्य प्रदेशद्वयस्यैकप्रदेशावगाढत्वादिहेतुना एकत्वविवक्ष-णात्, भेदविवक्षायां च बहुवचनमिति, चतुष्प्रदेशिकोऽप्येवम्, नवरं एकोनविंशतिर्भङ्गाः, तत्र त्रयस्सकलादेशाः तथैव, शेषेषु चतुर्षु प्रत्येकं चत्वारो विकल्पाः, ते चैवं चतुर्थादिषु त्रिषु वाच्याः, चतु-ष्प्रदेशिकस्कन्धे तत्रैव द्विकयोगः, स्थापना चैवम् ॥ अथ सप्तमे त्वेवं त्रिकयोगस्थापना, अथ पञ्चप्रदेशिके त्वेवं द्वाविंशतिः, तत्राद्यास्त्रयः सकलाः, तदुत्तरेषु च त्रिषु प्रत्येकं चत्वारो विकल्पास्तथैव १२, सप्तमे तु सप्त, तत्र त्रिकयोगे किलाष्टौ भङ्गाः स्युः, तेषु च सप्तैवेह ग्राह्याः,

आ.	नो.	अव.
१	१	१

एककयोग ३

आ.	नो.
१	१
१	२
२	१

आ.	अव.
१	१
१	२
२	१

नो.	अव.
१	१
१	२
२	१

आ.	नो.	अव.
१	१	१
१	१	२
१	२	१
१	२	२

त्रिकयोग १

द्विकयोग त्रिक १	२ द्विकयोग त्रिकयोग	३ द्विकयोग त्रिक

तत्स्थापना यथा, अष्टमस्तु एकस्तेषु न पतत्यसम्भ-

१२ श० १० उद्दे.

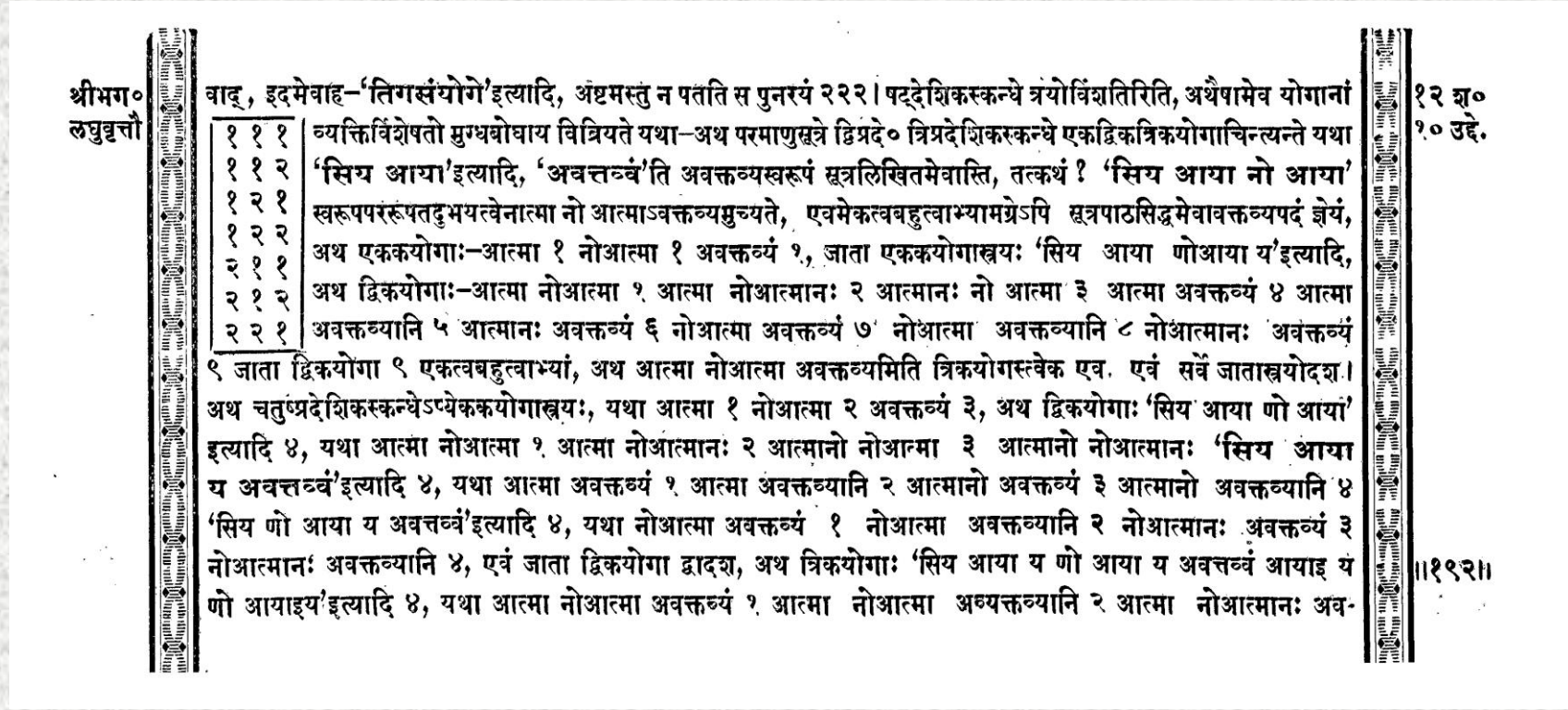

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वाद्, इदमेवाह–'तिगसंयोगे'इत्यादि, अष्टमस्तु न पतति स पुनरयं २२२। षट्देशिकस्कन्धे त्रयोविंशतिरिति, अथैषामेव योगानां व्यक्तिविशेषतो मुग्धबोधाय विवियते यथा–अथ परमाणुसूत्रे द्विप्रदे० त्रिप्रदेशिकस्कन्धे एकद्विकत्रिकयोगाचिन्त्यन्ते यथा 'सिय आया'इत्यादि, 'अवत्तव्वं'ति अवक्तव्यस्वरूपं सूत्रलिखितमेवास्ति, तत्कथं ? 'सिय आया नो आया' स्वरूपपररूपतदुभयत्वेनात्मा नो आत्माऽवक्तव्यमुच्यते, एवमेकत्वबहुत्वाभ्यामग्रेऽपि सूत्रपाठसिद्धमेवावक्तव्यपदं ज्ञेयं, अथ एककयोगाः–आत्मा १ नोआत्मा १ अवक्तव्यं १, जाता एककयोगास्त्रयः 'सिय आया णोआया य'इत्यादि, अथ द्विकयोगाः–आत्मा नोआत्मा १ आत्मा नोआत्मानः २ आत्मानः नो आत्मा ३ आत्मा अवक्तव्यं ४ आत्मा अवक्तव्यानि ५ आत्मानः अवक्तव्यं ६ नोआत्मा अवक्तव्यं ७ नोआत्मा अवक्तव्यानि ८ नोआत्मानः अवक्तव्यं ९ जाता द्विकयोगा ९ एकत्वबहुत्वाभ्यां, अथ आत्मा नोआत्मा अवक्तव्यमिति त्रिकयोगस्त्वेक एव. एवं सर्वे जातास्त्रयोदश। अथ चतुष्प्रदेशिकस्कन्धेऽप्येककयोगास्त्रयः, यथा आत्मा १ नोआत्मा २ अवक्तव्यं ३, अथ द्विकयोगाः 'सिय आया णो आया' इत्यादि ४, यथा आत्मा नोआत्मा १ आत्मा नोआत्मानः २ आत्मानो नोआत्मा ३ आत्मानो नोआत्मानः 'सिय आया य अवत्तव्वं'इत्यादि ४, यथा आत्मा अवक्तव्यं १ आत्मा अवक्तव्यानि २ आत्मानो अवक्तव्यं ३ आत्मानो अवक्तव्यानि ४ 'सिय णो आया य अवत्तव्वं'इत्यादि ४, यथा नोआत्मा अवक्तव्यं १ नोआत्मा अवक्तव्यानि २ नोआत्मानः अवक्तव्यं ३ नोआत्मानः अवक्तव्यानि ४, एवं जाता द्विकयोगा द्वादश, अथ त्रिकयोगाः 'सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाइ य णो आयाइय'इत्यादि ४, यथा आत्मा नोआत्मा अवक्तव्यं १ आत्मा नोआत्मा अव्यक्तव्यानि २ आत्मा नोआत्मानः अव-

१ १ १	१२ श०	
१ १ २	१० उद्दे.	
१ २ १		
१ २ २		
२ १ १		
२ १ २		
२ २ १		

॥१९२॥

प्रत सूत्रांक [४३७-४६८] + गाथा

दीप अनुक्रम [५२९-५६२]

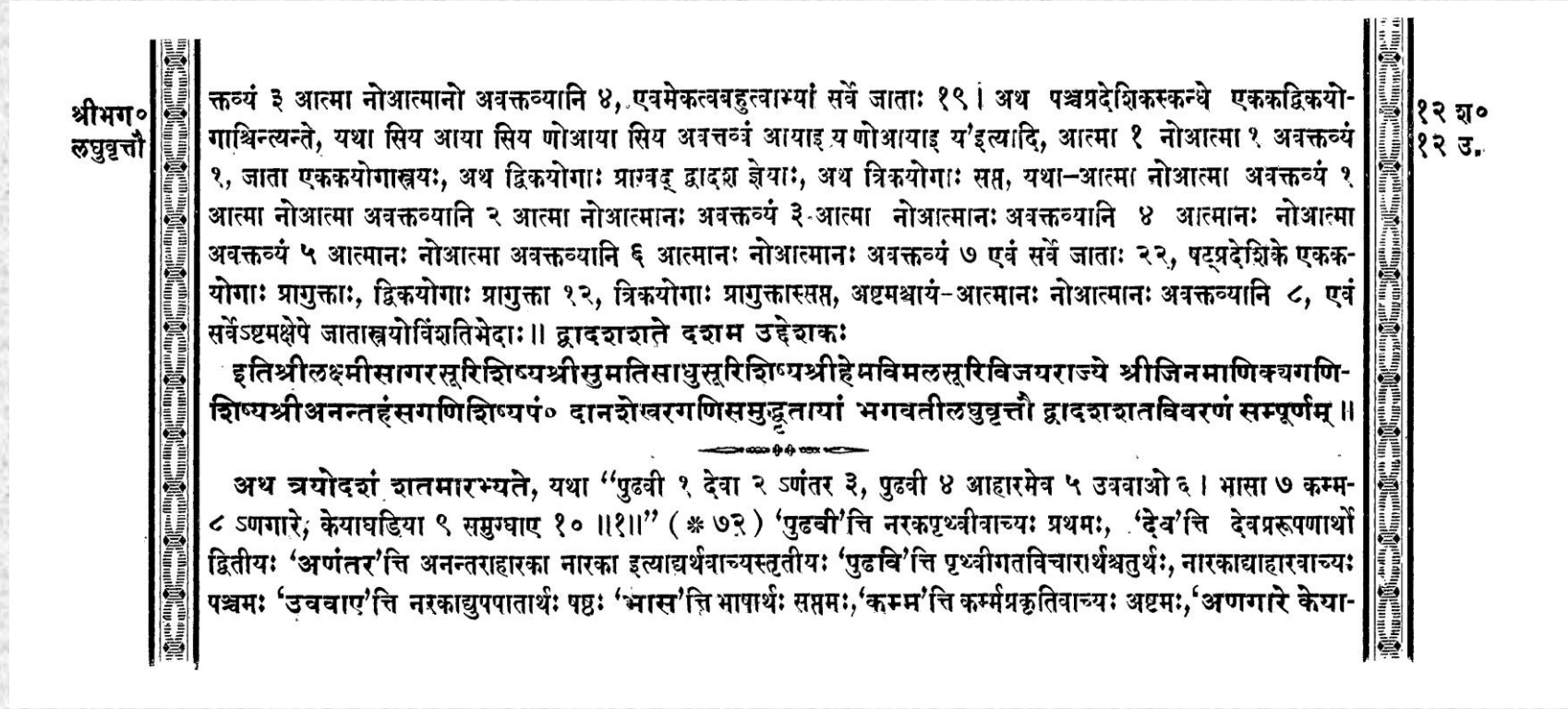

श्रीभग० लघुवृत्तौ

१२ श० १२ उ.

क्तव्यं ३ आत्मा नोआत्मानो अवक्तव्यानि ४, एवमेकत्वबहुत्वाभ्यां सर्वे जाताः १९। अथ पञ्चप्रदेशिकस्कन्धे एककद्विकयोगाश्चिन्त्यन्ते, यथा सिय आया सिय णोआया सिय अवत्तव्वं आयाइ य णोआयाइ य'इत्यादि, आत्मा १ नोआत्मा १ अवक्तव्यं १, जाता एककयोगास्त्रयः, अथ द्विकयोगाः प्राग्वद् द्वादश ज्ञेयाः, अथ त्रिकयोगाः सप्त, यथा–आत्मा नोआत्मा अवक्तव्यं १ आत्मा नोआत्मा अवक्तव्यानि २ आत्मा नोआत्मानः अवक्तव्यं ३-आत्मा नोआत्मानः अवक्तव्यानि ४ आत्मानः नोआत्मा अवक्तव्यं ५ आत्मानः नोआत्मा अवक्तव्यानि ६ आत्मानः नोआत्मानः अवक्तव्यं ७ एवं सर्वे जाताः २२, षट्प्रदेशिके एककयोगाः प्रागुक्ताः, द्विकयोगाः प्रागुक्ता १२, त्रिकयोगाः प्रागुक्तास्सप्त, अष्टमश्चायं-आत्मानः नोआत्मानः अवक्तव्यानि ८, एवं सर्वेऽष्टमक्षेपे जातास्त्रयोविंशतिभेदाः॥ द्वादशशते दशम उद्देशकः

इतिश्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यश्रीसुमतिसाधुसूरिशिष्यश्रीहेमविमलसूरिविजयराज्ये श्रीजिनमाणिक्यगणिशिष्यश्रीअनन्तहंसगणिशिष्यपं० दानशेखरगणिसमुद्धृतायां भगवतीलघुवृत्तौ द्वादशशतविवरणं सम्पूर्णम्॥

अथ त्रयोदशं शतमारभ्यते, यथा “पुढवी १ देवा २ ऽणंतर ३, पुढवी ४ आहारमेव ५ उववाओ ६। भासा ७ कम्म-८ ऽणगारे; केयाघडिया ९ समुग्घाए १० ॥१॥” (* ७२) 'पुढवी'त्ति नरकपृथ्वीवाच्यः प्रथमः, 'देव'त्ति देवप्ररूपणार्थो द्वितीयः 'अणंतर'त्ति अनन्तराहारका नारका इत्याद्यर्थवाच्यस्तृतीयः 'पुढवि'त्ति पृथ्वीगतविचारार्थश्चतुर्थः, नारकाद्याहारवाच्यः पञ्चमः 'उववाए'त्ति नरकाद्युपपातार्थः षष्ठः 'भास'त्ति भाषार्थः सप्तमः,'कम्म'त्ति कर्म्मप्रकृतिवाच्यः अष्टमः,'अणगारे केया-

*** अत्र शतक-१२ समाप्तं. अथ शतक-१३ आरभ्यते

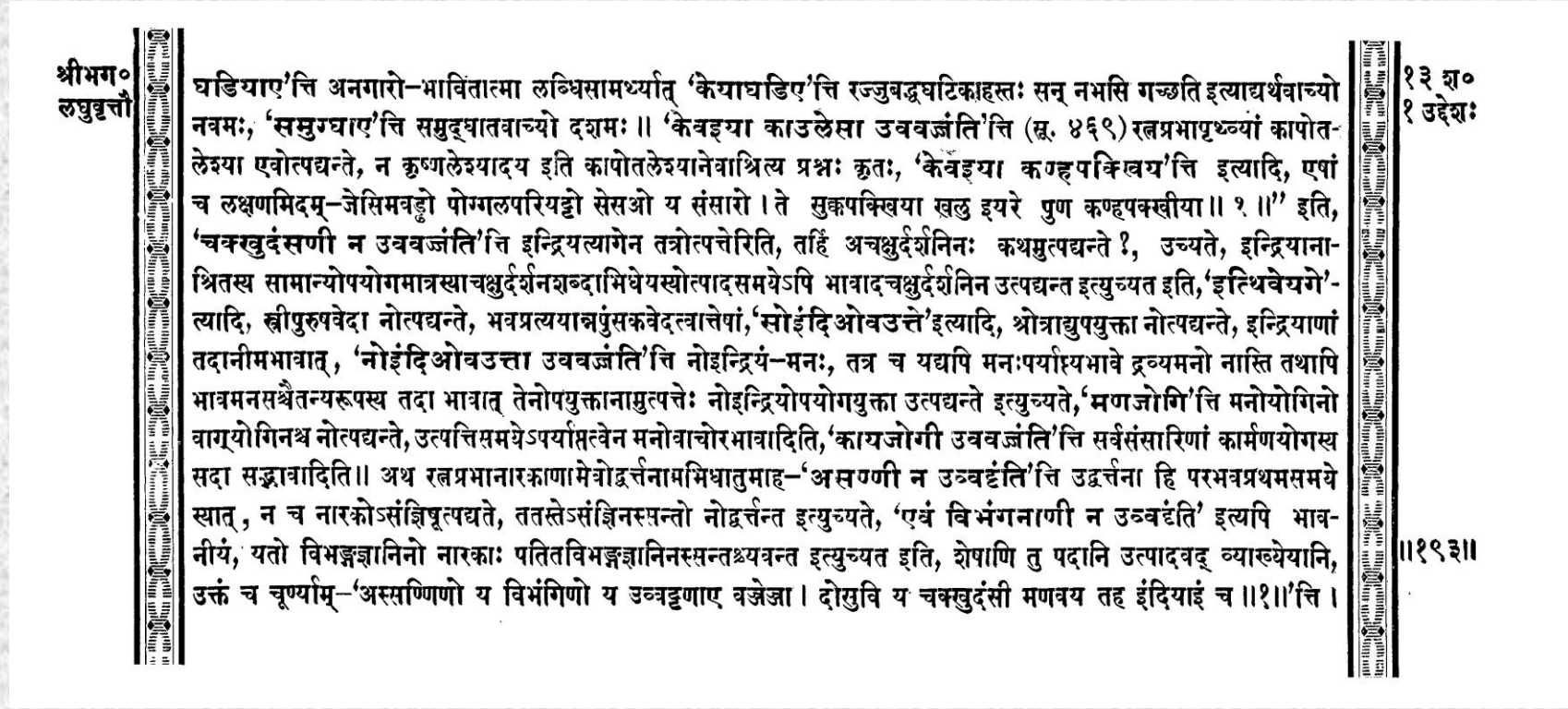

श्रीभग० लघुवृत्तौ

घडियाए'त्ति अनगारो–भावितात्मा लब्धिसामर्थ्यात् 'केयाघडिए'त्ति रज्जुबद्धघटिकाहस्तः सन् नभसि गच्छति इत्याद्यर्थवाच्यो नवमः, 'समुग्घाए'त्ति समुद्घातवाच्यो दशमः ॥ 'केवइया काउलेसा उववज्जंति'त्ति (सू. ४६९) रत्नप्रभापृथ्व्यां कापोतलेश्या एवोत्पद्यन्ते, न कृष्णलेश्यादय इति कापोतलेश्यानेवाश्रित्य प्रश्नः कृतः, 'केवइया कण्हपक्खिय'त्ति इत्यादि, एषां च लक्षणमिदम्–जेसिमवड्ढो पोग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु इयरे पुण कण्हपक्खीया॥ १ ॥" इति, 'चक्खुदंसणी न उववज्जंति'त्ति इन्द्रियत्यागेन तत्रोत्पत्तेरिति, तर्हि अचक्षुर्दर्शनिनः कथमुत्पद्यन्ते ?, उच्यते, इन्द्रियानाश्रितस्य सामान्योपयोगमात्रस्याचक्षुर्दर्शनशब्दाभिधेयस्योत्पादसमयेऽपि भावादचक्षुर्दर्शनिन उत्पद्यन्त इत्युच्यत इति, 'इत्थिवेयगे'त्यादि, स्त्रीपुरुषवेदा नोत्पद्यन्ते, भवप्रत्ययान्नपुंसकवेदत्वात्तेषां, 'सोइंदिओवउत्ते'इत्यादि, श्रोत्राद्युपयुक्ता नोत्पद्यन्ते, इन्द्रियाणां तदानीमभावात्, 'नोइंदिओवउत्ता उववज्जंति'त्ति नोइन्द्रियं–मनः, तत्र च यद्यपि मनःपर्याप्त्यभावे द्रव्यमनो नास्ति तथापि भावमनसश्चैतन्यरूपस्य तदा भावात् तेनोपयुक्तानामुत्पत्तेः नोइन्द्रियोपयोगयुक्ता उत्पद्यन्ते इत्युच्यते, 'मणजोगि'त्ति मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च नोत्पद्यन्ते, उत्पत्तिसमयेऽपर्याप्तत्वेन मनोवाचोरभावादिति, 'कायजोगी उववज्जंति'त्ति सर्वसंसारिणां कार्मणयोगस्य सदा सद्भावादिति॥ अथ रत्नप्रभानारकाणामेवोद्वर्त्तनामभिधातुमाह–'असण्णी न उव्वट्टंति'त्ति उद्वर्त्तना हि परभवप्रथमसमये स्यात्, न च नारकोऽसंज्ञिषूत्पद्यते, ततस्तेऽसंज्ञिनस्सन्तो नोद्वर्त्तन्त इत्युच्यते, 'एवं विभंगनाणी न उव्वट्टंति' इत्यपि भावनीयं, यतो विभङ्गज्ञानिनो नारकाः पतितविभङ्गज्ञानिनस्सन्तश्च्यवन्त इत्युच्यत इति, शेषाणि तु पदानि उत्पादवद् व्याख्येयानि, उक्तं च चूर्ण्याम्–'असण्णिणो य विभंगिणो य उव्वट्टणाए वज्जेज्जा। दोसुवि य चक्खुदंसी मणवय तह इंदियाइं च ॥१॥'त्ति।

१३ श० १ उद्देशः

॥१९३॥

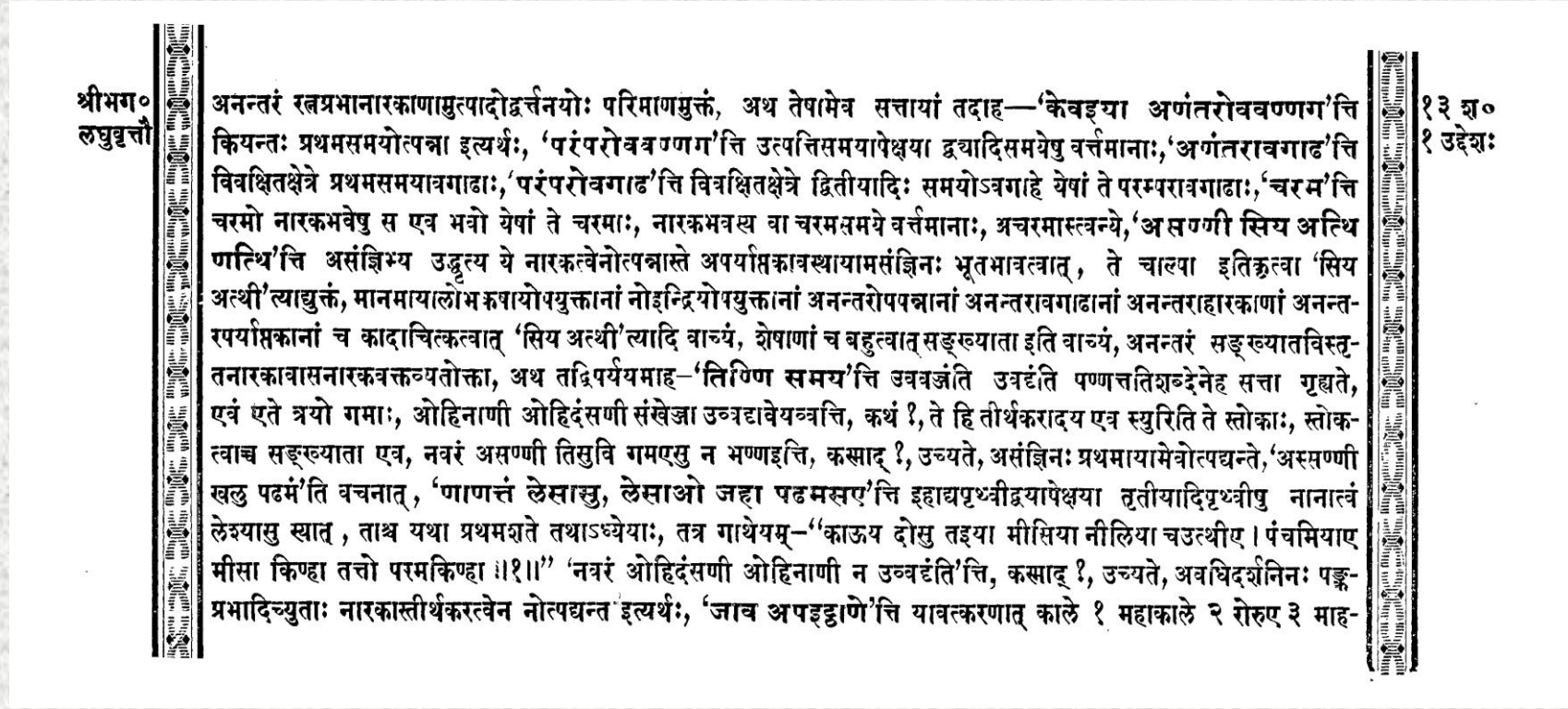

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अनन्तरं रत्नप्रभानारकाणामुत्पादोद्वर्त्तनयोः परिमाणमुक्तं, अथ तेषामेव सत्तायां तदाह—'केवइया अणंतरोववण्णग'त्ति कियन्तः प्रथमसमयोत्पन्ना इत्यर्थः, 'परंपरोववण्णग'त्ति उत्पत्तिसमयापेक्षया द्व्यादिसमयेषु वर्त्तमानाः,'अणंतरावगाढ'त्ति विवक्षितक्षेत्रे प्रथमसमयावगाढाः,'परंपरोवगाढ'त्ति विवक्षितक्षेत्रे द्वितीयादिः समयोऽवगाहे येषां ते परम्परावगाढाः,'चरम'त्ति चरमो नारकभवेषु स एव भवो येषां ते चरमाः, नारकभवस्य वा चरमसमये वर्त्तमानाः, अचरमास्त्वन्ये,'असण्णी सिय अत्थि णत्थि'त्ति असंज्ञिभ्य उद्वृत्य ये नारकत्वेनोत्पन्नास्ते अपर्याप्तकावस्थायामसंज्ञिनः भूतभावत्वात्, ते चाल्पा इतिकृत्वा 'सिय अत्थी'त्याद्युक्तं, मानमायालोभकषायोपयुक्तानां नोइन्द्रियोपयुक्तानां अनन्तरोपपन्नानां अनन्तरावगाढानां अनन्ताहारकाणां अनन्तरपर्याप्तकानां च कादाचित्कत्वात् 'सिय अत्थी'त्यादि वाच्यं, शेषाणां च बहुत्वात् सङ्ख्याता इति वाच्यं, अनन्तरं सङ्ख्यातविस्तृतनारकावासनारकवक्तव्यतोक्ता, अथ तद्विपर्ययमाह–'तिण्णि समय'त्ति उववज्जंति उववट्टंति पण्णत्तितिशब्देनेह सत्ता गृह्यते, एवं एते त्रयो गमाः, ओहिनाणी ओहिदंसणी संखेज्जा उव्वट्टावेयव्वत्ति, कथं ?, ते हि तीर्थकरादय एव स्युरिति ते स्तोकाः, स्तोकत्वाच्च सङ्ख्याता एव, नवरं असण्णी तिसुवि गमएसु न भण्णइत्ति, कस्माद् ?, उच्यते, असंज्ञिनः प्रथमायामेवोत्पद्यन्ते,'असण्णी खलु पढमं'ति वचनात्, 'णाणत्तं लेसासु, लेसाओ जहा पढमसए'त्ति इहाद्यपृथ्वीद्वयापेक्षया तृतीयादिपृथ्वीषु नानात्वं लेश्यासु स्यात्, ताश्च यथा प्रथमशते तथाऽध्येयाः, तत्र गाथेयम्–"काऊय दोसु तइया मीसिया नीलिया चउत्थीए। पंचमियाए मीसा किण्हा तत्तो परमकिण्हा ॥१॥" 'नवरं ओहिदंसणी ओहिनाणी न उव्वट्टंति'त्ति, कस्माद् ?, उच्यते, अवधिदर्शनिनः पङ्कप्रभादिच्युताः नारकास्तीर्थकरत्वेन नोत्पद्यन्त इत्यर्थः, 'जाव अपइट्ठाणे'त्ति यावत्करणात् काले १ महाकाले २ रोरुए ३ माह-

१३ श० १ उद्देशः

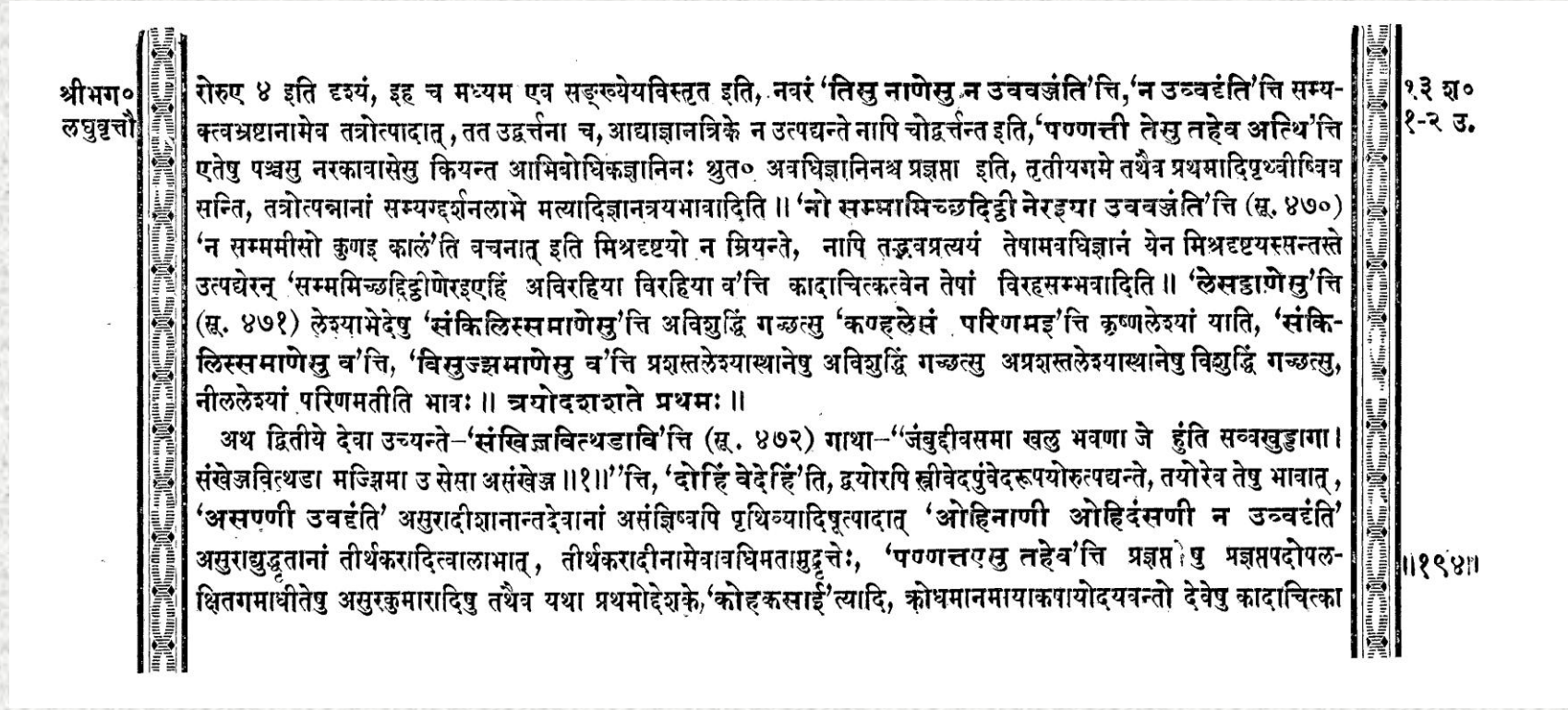

श्रीभग० लघुवृत्तौ

रोरुए ४ इति दृश्यं, इह च मध्यम एव सङ्ख्येयविस्तृत इति, नवरं 'तिसु नाणेसु न उववज्जंति'त्ति,'न उव्वट्टंति'त्ति सम्यक्त्वभ्रष्टानामेव तत्रोत्पादात्, तत उद्वर्त्तना च, आद्याज्ञानत्रिके न उत्पद्यन्ते नापि चोद्वर्त्तन्त इति,'पण्णत्ती तेसु तहेव अत्थि'त्ति एतेषु पञ्चसु नरकावासेसु कियन्त आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुत० अवधिज्ञानिनश्च प्रज्ञप्ता इति, तृतीयगमे तथैव प्रथमादिपृथ्वीष्विव सन्ति, तत्रोत्पन्नानां सम्यग्दर्शनलाभे मत्यादिज्ञानत्रयभावादिति ॥ 'नो सम्मामिच्छदिट्ठी नेरइया उववज्जंति'त्ति (सू. ४७०) 'न सम्ममीसो कुणइ कालं'ति वचनात् इति मिश्रदृष्टयो न म्रियन्ते, नापि तद्भवप्रत्ययं तेषामवधिज्ञानं येन मिश्रदृष्टयस्तन्तस्ते उत्पद्येरन् 'सम्ममिच्छद्दिट्ठीणेरइएहिं अविरहिया विरहिया व'त्ति कादाचित्कत्वेन तेषां विरहसम्भवादिति ॥ 'लेसडाणेसु'त्ति (सू. ४७१) लेश्याभेदेषु 'संकिलिस्समाणेसु'त्ति अविशुद्धिं गच्छत्सु 'कण्हलेसं परिणमइ'त्ति कृष्णलेश्यां याति, 'संकिलिस्समाणेसु व'त्ति, 'विसुज्झमाणेसु व'त्ति प्रशस्तलेश्यास्थानेषु अविशुद्धिं गच्छत्सु अप्रशस्तलेश्यास्थानेषु विशुद्धिं गच्छत्सु, नीललेश्यां परिणमतीति भावः ॥ त्रयोदशशते प्रथमः ॥

अथ द्वितीये देवा उच्यन्ते–'संखिज्जवित्थडा वि'त्ति (सू. ४७२) गाथा–"जंबुद्दीवसमा खलु भवणा जे हुंति सव्वखुड्डागा। संखेज्जवित्थडा मज्झिमा उ सेसा असंखेज्ज ॥१॥"त्ति, 'दोहिं वेदेहिं'ति, द्वयोरपि स्त्रीवेदपुंवेदरूपयोरुत्पद्यन्ते, तयोरेव तेषु भावात्, 'असण्णी उववज्जंति' असुरादीशानान्तदेवानां असंज्ञिष्वपि पृथिव्यादिषूत्पादात् 'ओहिनाणी ओहिदंसणी न उव्वट्टंति' असुराद्युद्धृतानां तीर्थकरादित्वालाभात्, तीर्थकरादीनामेवावधिमतामुद्वृत्तेः, 'पण्णत्तएसु तहेव'त्ति प्रज्ञप्तेषु प्रज्ञप्तपदोपलक्षितगमाधीतेषु असुरकुमारादिषु तथैव यथा प्रथमोद्देशके,'कोहकसाई'त्यादि, क्रोधमानमायाकषायोदयवन्तो देवेषु कादाचित्का

१३ श० १-२ उ.

॥१९४॥

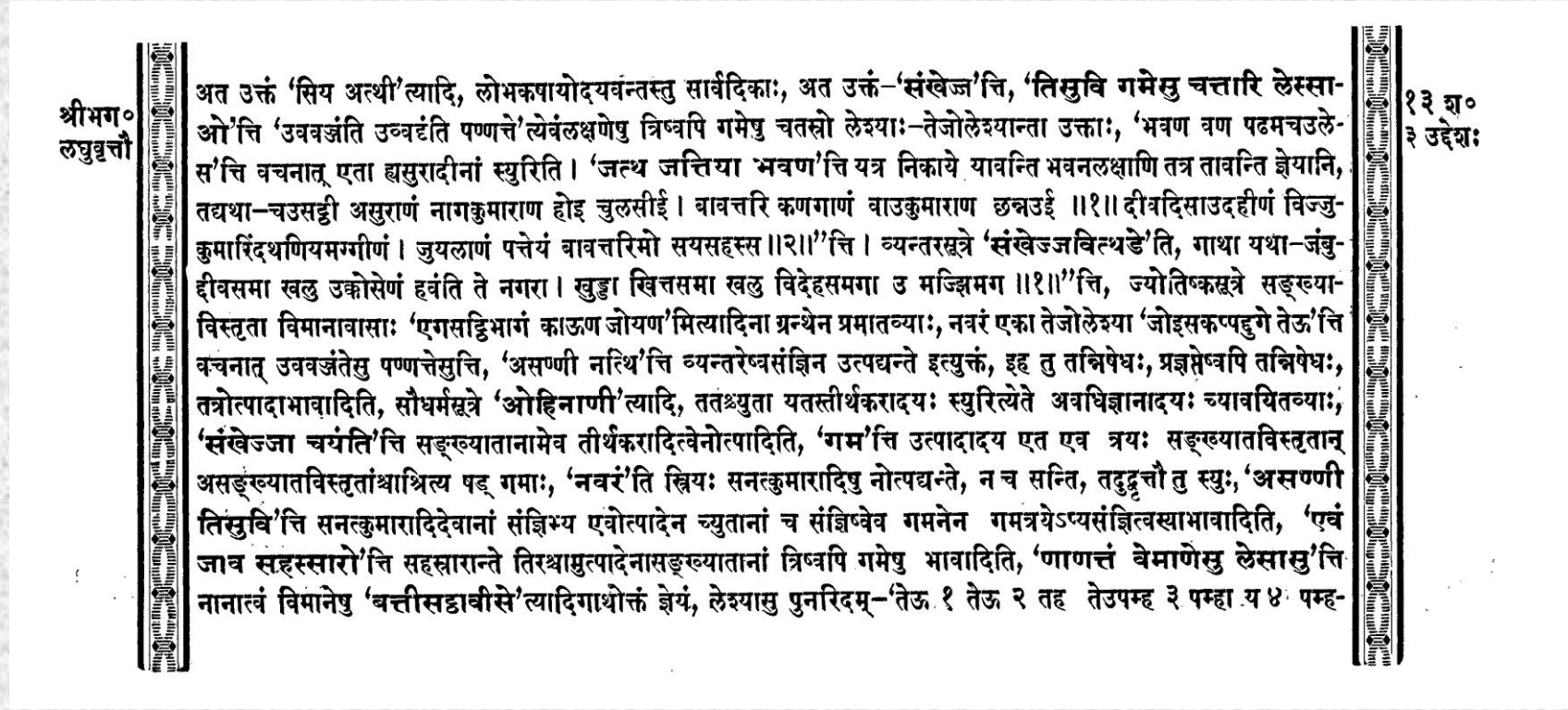

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अत उक्तं 'सिय अत्थी'त्यादि, लोभकषायोदयवन्तस्तु सार्वदिकाः, अत उक्तं–'संखेज्ज'त्ति, 'तिसुवि गमेसु चत्तारि लेस्सा-ओ'त्ति 'उववज्जंति उव्वट्टंति पण्णत्ते'त्येवंलक्षणेषु त्रिष्वपि गमेषु चतस्रो लेश्याः–तेजोलेश्यान्ता उक्ताः, 'भवण वण पढमचउले-स'त्ति वचनात् एता ह्यसुरादीनां स्युरिति। 'जत्थ जत्तिया भवण'त्ति यत्र निकाये यावन्ति भवनलक्षाणि तत्र तावन्ति ज्ञेयानि, तद्यथा–चउसट्ठी असुराणं नागकुमाराण होइ चुलसीई। बावत्तरि कणगाणं वाउकुमाराण छन्नउई ॥१॥ दीवदिसाउदहीणं विज्जु-कुमारिंदथणियमग्गीणं। जुयलाणं पत्तेयं बावत्तरिमो सयसहस्स ॥२॥"त्ति। व्यन्तरसूत्रे 'संखेज्जवित्थडे'ति, गाथा यथा–जंबु-दीवसमा खलु उक्कोसेणं हवंति ते नगरा। खुड्डा खित्तसमा खलु विदेहसमगा उ मज्झिमग ॥१॥"त्ति, ज्योतिष्कसूत्रे सङ्ख्या-विस्तृता विमानावासाः 'एगसट्ठिभागं काऊण जोयण'मित्यादिना ग्रन्थेन प्रमातव्याः, नवरं एका तेजोलेश्या 'जोइसकप्पदुगे तेऊ'त्ति वचनात् उववज्जंतेसु पण्णत्तेसुत्ति, 'असण्णी नत्थि'त्ति व्यन्तरेष्वसंज्ञिन उत्पद्यन्ते इत्युक्तं, इह तु तन्निषेधः, प्रज्ञप्तेष्वपि तन्निषेधः, तत्रोत्पादाभावादिति, सौधर्मसूत्रे 'ओहिनाणी'त्यादि, ततश्च्युता यतस्तीर्थकरादयः स्युरित्येते अवधिज्ञानादयः च्यावयितव्याः, 'संखेज्जा चयंति'त्ति सङ्ख्यातानामेव तीर्थकरादित्वेनोत्पादिति, 'गम'त्ति उत्पादादय एत एव त्रयः सङ्ख्यातविस्तृतान् असङ्ख्यातविस्तृतांश्चाश्रित्य षड् गमाः, 'नवरं'ति स्त्रियः सनत्कुमारादिषु नोत्पद्यन्ते, न च सन्ति, तदुद्वृत्तौ तु स्युः, 'असण्णी तिसुवि'त्ति सनत्कुमारादिदेवानां संज्ञिभ्य एवोत्पादेन च्युतानां च संज्ञिष्वेव गमनेन गमत्रयेऽप्यसंज्ञित्वस्याभावादिति, 'एवं जाव सहस्सारो'त्ति सहस्रारान्ते तिरश्चामुत्पादेनासङ्ख्यातानां त्रिष्वपि गमेषु भावादिति, 'णाणत्तं भेमाणेसु लेसासु'त्ति नानात्वं विमानेषु 'बत्तीसट्ठावीसे'त्यादिगाथोक्तं ज्ञेयं, लेश्यासु पुनरिदम्–'तेऊ १ तेऊ २ तह तेउपम्ह ३ पम्हा य ४ पम्ह-

१३ श० ३ उद्देशः

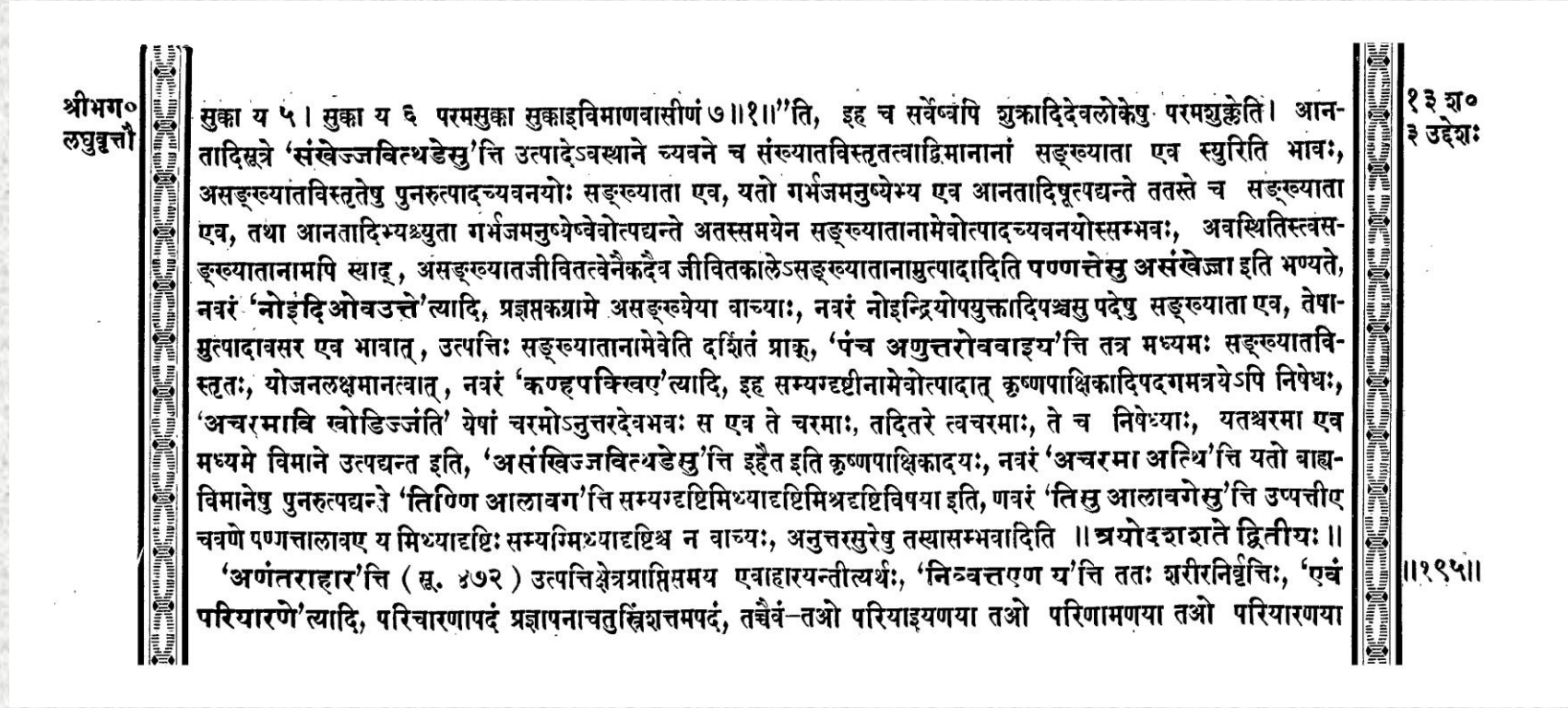

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सुक्का य ५। सुक्का य ६ परमसुक्का सुक्काइविमाणवासीणं ७॥१॥”ति, इह च सर्वेष्वपि शुक्रादिदेवलोकेषु परमशुक्लेति। आनतादिसूत्रे ‘संखेज्जवित्थडेसु’त्ति उत्पादेऽवस्थाने च्यवने च संख्यातविस्तृतत्वाद्विमानानां सङ्ख्याता एव स्युरिति भावः, असङ्ख्यातविस्तृतेषु पुनरुत्पादच्यवनयोः सङ्ख्याता एव, यतो गर्भजमनुष्येभ्य एव आनतादिषूत्पद्यन्ते ततस्ते च सङ्ख्याता एव, तथा आनतादिभ्यश्च्युता गर्भजमनुष्येष्वेवोत्पद्यन्ते अतस्समयेन सङ्ख्यातानामेवोत्पादच्यवनयोस्सम्भवः, अवस्थितिस्त्वसङ्ख्यातानामपि स्याद्, असङ्ख्यातजीवितत्वेनैकदैव जीवितकालेऽसङ्ख्यातानामुत्पादादिति पण्णत्तेसु असंखेज्जा इति भण्यते, नवरं ‘नोइंदिओवउत्ते’त्यादि, प्रज्ञप्तकग्रामे असङ्ख्येया वाच्याः, नवरं नोइन्द्रियोपयुक्तादिपञ्चसु पदेषु सङ्ख्याता एव, तेषामुत्पादावसर एव भावात्, उत्पत्तिः सङ्ख्यातानामेवेति दर्शितं प्राक्, ‘पंच अणुत्तरोववाइय’त्ति तत्र मध्यमः सङ्ख्यातविस्तृतः, योजनलक्षमानत्वात्, नवरं ‘कण्हपक्खिए’त्यादि, इह सम्यग्दृष्टीनामेवोत्पादात् कृष्णपाक्षिकादिपदगमत्रयेऽपि निषेधः, ‘अचरमावि खोडिज्जंति’ येषां चरमोऽनुत्तरदेवभवः स एव ते चरमाः, तदितरे त्वचरमाः, ते च निषेध्याः, यतश्चरमा एव मध्यमे विमाने उत्पद्यन्त इति, ‘असंखिज्जवित्थडेसु’त्ति इहैत इति कृष्णपाक्षिकादयः, नवरं ‘अचरमा अत्थि’त्ति यतो बाह्यविमानेषु पुनरुत्पद्यन्ते ‘तिण्णि आलावग’त्ति सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिमिश्रदृष्टिविषया इति, णवरं ‘तिसु आलावगेसु’त्ति उप्पत्तीए चवणे पण्णत्तालावए य मिथ्यादृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिश्च न वाच्यः, अनुत्तरसुरेषु तस्यासम्भवादिति ॥ त्रयोदशशते द्वितीयः ॥

‘अणंतराहार’त्ति (सू. ४७२) उत्पत्तिक्षेत्रप्राप्तिसमय एवाहारयन्तीत्यर्थः, ‘निव्वत्तएण य’त्ति ततः शरीरनिर्वृत्तिः, ‘एवं परियारणे’त्यादि, परिचारणापदं प्रज्ञापनाचतुस्त्रिंशत्तमपदं, तच्चैवं–तओ परियाइयणया तओ परिणामणया तओ परियारणया

१३ श० ३ उद्देशः

॥१९५॥

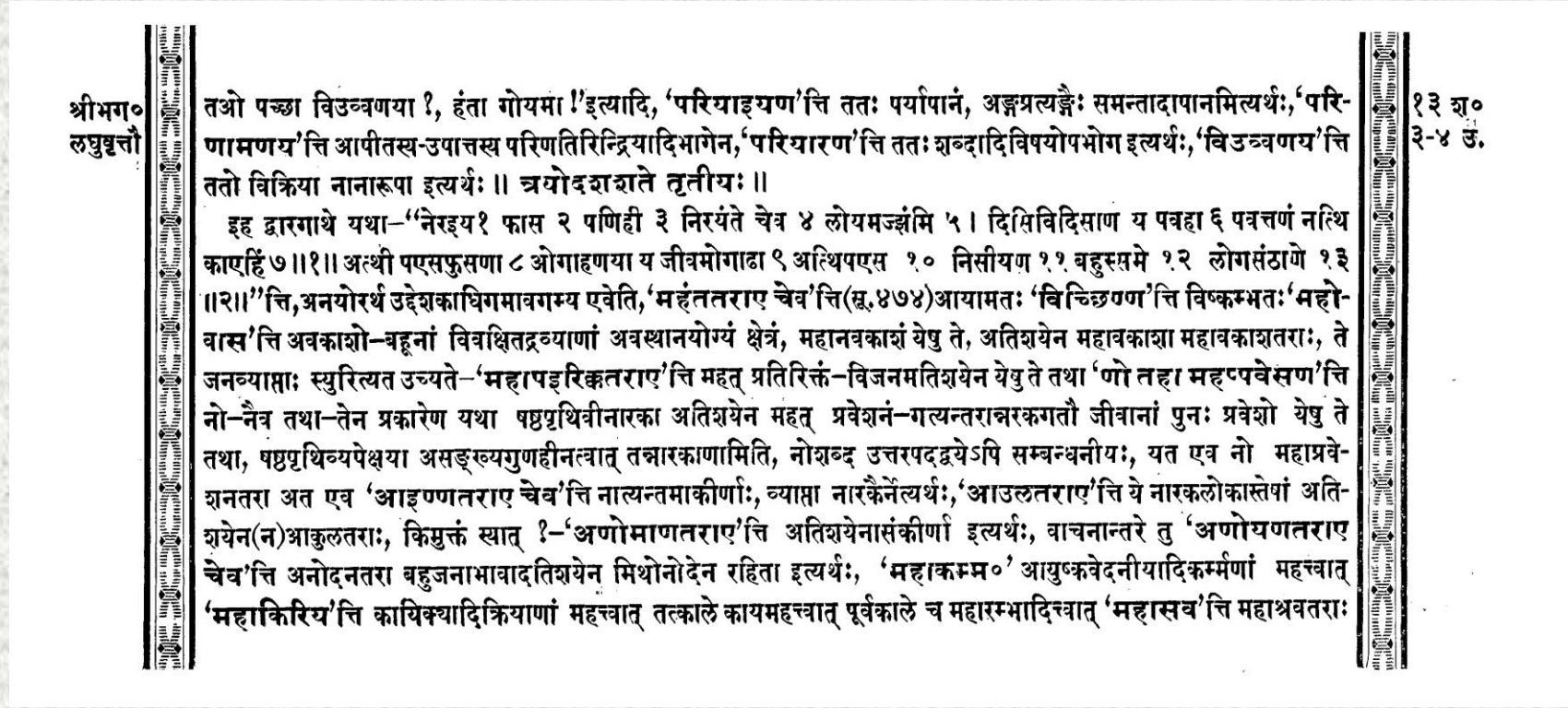

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तओ पच्छा विउव्वणया ?, हंता गोयमा !’इत्यादि, ‘परियाइयण’त्ति ततः पर्यापानं, अङ्गप्रत्यङ्गैः समन्तादापानमित्यर्थः,‘परिणामणय’त्ति आपीतस्य-उपात्तस्य परिणतिरिन्द्रियादिभागेन,‘परियारण’त्ति ततः शब्दादिविषयोपभोग इत्यर्थः,‘विउव्वणय’त्ति ततो विक्रिया नानारूपा इत्यर्थः ॥ त्रयोदशशते तृतीयः ॥

इह द्वारगाथे यथा–“नेरइय१ फास २ पणिही ३ निरयंते चेव ४ लोयमज्झंमि ५। दिसिविदिसाण य पवहा ६ पवत्तणं नत्थि काएहिं ७ ॥१॥ अत्थी पएसफुसणा ८ ओगाहणया य जीवमोगाढा ९ अत्थिपएस १० निसीयण ११ बहुस्समे १२ लोगसंठाणे १३ ॥२॥”त्ति,अनयोरर्थं उद्देशकाधिगमावगम्य एवेति,‘महंततराए चेव’त्ति(सू.४७४)आयामतः ‘विच्छिण्ण’त्ति विष्कम्भतः‘महोवास’त्ति अवकाशो–बहूनां विवक्षितद्रव्याणां अवस्थानयोग्यं क्षेत्रं, महानवकाशं येषु ते, अतिशयेन महावकाशा महावकाशतराः, ते जनव्याप्ताः स्युरित्यत उच्यते–‘महापइरिक्कतराए’त्ति महत् प्रतिरिक्तं–विजनमतिशयेन येषु ते तथा ‘णो तहा महप्पवेसण’त्ति नो–नैव तथा–तेन प्रकारेण यथा षष्ठपृथिवीनारका अतिशयेन महत् प्रवेशनं–गत्यन्तरान्नरकगतौ जीवानां पुनः प्रवेशो येषु ते तथा, षष्ठपृथिव्यपेक्षया असङ्ख्यगुणहीनत्वात् तन्नारकाणामिति, नोशब्द उत्तरपदद्वयेऽपि सम्बन्धनीयः, यत एव नो महाप्रवेशनतरा अत एव ‘आइण्णतराए चेव’त्ति नात्यन्तमाकीर्णाः, व्याप्ता नारकैर्नेत्यर्थः,‘आउलतराए’त्ति ये नारकलोकास्तेषां अतिशयेन(न)आकुलतराः, किमुक्तं स्यात् ?–‘अणोमाणतराए’त्ति अतिशयेनासंकीर्णा इत्यर्थः, वाचनान्तरे तु ‘अणोयणतराए चेव’त्ति अनोदनतरा बहुजनाभावादतिशयेन मिथोनोदेन रहिता इत्यर्थः, ‘महाकम्म०’ आयुष्कवेदनीयादिकर्म्मणां महत्त्वात् ‘महाकिरिय’त्ति कायिक्यादिक्रियाणां महत्त्वात् तत्काले कायमहत्त्वात् पूर्वकाले च महारम्भादित्वात् ‘महासव’त्ति महाश्रवतराः

१३ श० ३-४ उ.

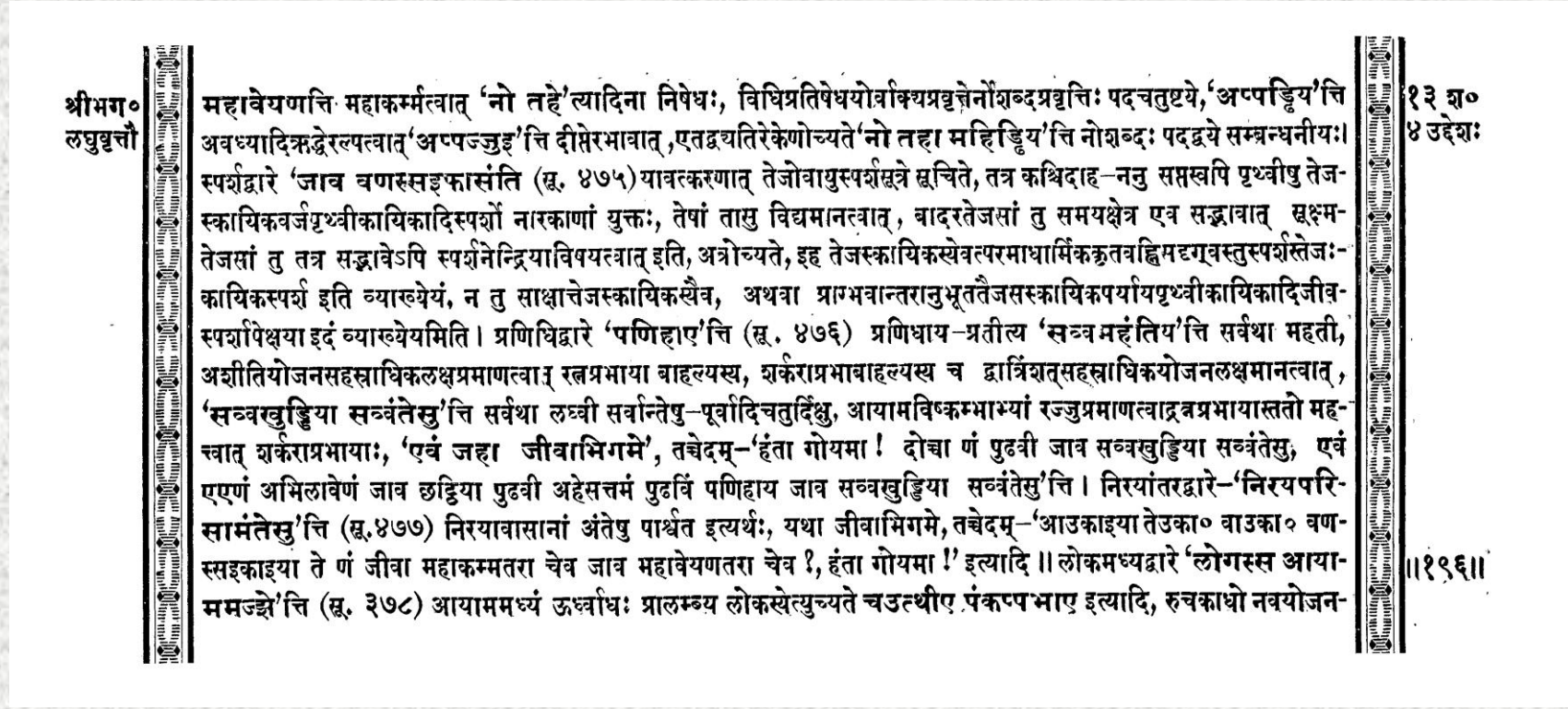

श्रीभग० लघुवृत्तौ

महावेयणत्ति महाकर्म्मत्वात् ‘नो तहे’त्यादिना निषेधः, विधिप्रतिषेधयोर्वाक्यप्रवृत्तेर्नोशब्दप्रवृत्तिः पदचतुष्टये,‘अप्पड्ढिय’त्ति अवध्यादिऋद्धेरल्पत्वात्‘अप्पज्जुइ’त्ति दीप्तेरभावात्,एतद्व्यतिरेकेणोच्यते‘नो तहा महिड्ढिय’त्ति नोशब्दः पदद्वये सम्बन्धनीयः। स्पर्शद्वारे ‘जाव वणस्सइफासंति (सू. ४७५) यावत्करणात् तेजोवायुस्पर्शसूत्रे सूचिते, तत्र कश्चिदाह–ननु सप्तस्वपि पृथ्वीषु तेजस्कायिकवर्जपृथ्वीकायिकादिस्पर्शो नारकाणां युक्तः, तेषां तासु विद्यमानत्वात्, बादरतेजसां तु समयक्षेत्र एव सद्भावात् सूक्ष्मतेजसां तु तत्र सद्भावेऽपि स्पर्शनेन्द्रियाविषयत्वात् इति, अत्रोच्यते, इह तेजस्कायिकस्येवत्परमाधार्मिककृतवह्निमदग्वस्तुस्पर्शस्तेजःकायिकस्पर्श इति व्याख्येयं, न तु साक्षात्तेजस्कायिकस्यैव, अथवा प्राग्भवान्तरानुभूततैजसस्कायिकपर्यायपृथ्वीकायिकादिजीवस्पर्शापेक्षया इदं व्याख्येयमिति। प्रणिधिद्वारे ‘पणिहाए’त्ति (सू. ४७६) प्रणिधाय–प्रतीत्य ‘सव्वमहंतिय’त्ति सर्वथा महती, अशीतियोजनसहस्राधिकलक्षप्रमाणत्वात् रत्नप्रभाया बाहल्यस्य, शर्कराप्रभाबाहल्यस्य च द्वात्रिंशत्सहस्राधिकयोजनलक्षमानत्वात्, ‘सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु’त्ति सर्वथा लघ्वी सर्वान्तेषु–पूर्वादिचतुर्दिक्षु, आयामविष्कम्भाभ्यां रज्जुप्रमाणत्वाद्रत्नप्रभायास्ततो महत्त्वात् शर्कराप्रभायाः, ‘एवं जहा जीवाभिगमे’, तच्चेदम्–‘हंता गोयमा ! दोच्चा णं पुढवी जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु, एवं एएणं अभिलावेणं जाव छट्ठिया पुढवी अहेसत्तमं पुढविं पणिहाय जाव सव्वखुड्डिया सव्वंतेसु’त्ति। निरयांतरद्वारे–‘निरयपरिसामंतेसु’त्ति (सू.४७७) निरयावासानां अंतेषु पार्श्वत इत्यर्थः, यथा जीवाभिगमे, तच्चेदम्–‘आउकाइया तेउका० वाउका० वणस्सइकाइया ते णं जीवा महाकम्मतरा चेव जाव महावेयणतरा चेव ?, हंता गोयमा !’ इत्यादि ॥ लोकमध्यद्वारे ‘लोगस्स आयाममज्झे’त्ति (सू. ३७८) आयाममध्यं ऊर्ध्वाधः प्रालम्ब्य लोकस्येत्युच्यते चउत्थीए पंकप्पभाए इत्यादि, रुचकाधो नवयोजन-

१३ श० ४ उद्देशः

॥१९६॥

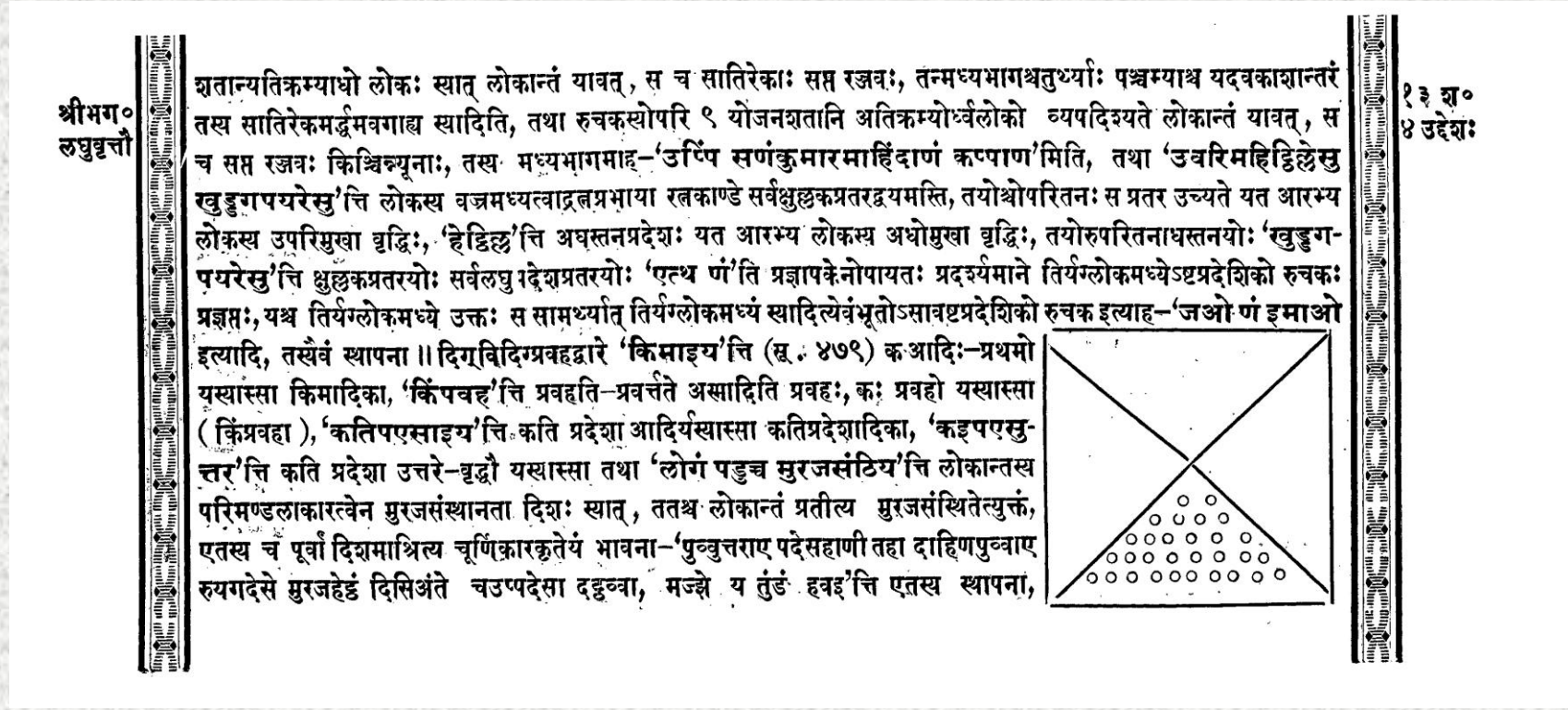

श्रीभग० लघुवृत्तौ

शतान्यतिक्रम्याधो लोकः स्यात् लोकान्तं यावत्, स च सातिरेकाः सप्त रज्जवः, तन्मध्यभागश्चतुर्थ्याः पञ्चम्याश्च यदवकाशान्तरं तस्य सातिरेकमर्द्धमवगाह्य स्यादिति, तथा रुचकस्योपरि ९ योजनशतानि अतिक्रम्योर्ध्वलोको व्यपदिश्यते लोकान्तं यावत्, स च सप्त रज्जवः किञ्चिन्यूनाः, तस्य मध्यभागमाह–'उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाण'मिति, तथा 'उवरिमहिट्ठिल्लेसु खुड्डगपयरेसु'त्ति लोकस्य वज्रमध्यत्वाद्रत्नप्रभाया रत्नकाण्डे सर्वक्षुल्लकप्रतरद्वयमस्ति, तयोश्चोपरितनः स प्रतर उच्यते यत आरभ्य लोकस्य उपरिमुखा वृद्धिः, 'हेट्ठिल्ल'त्ति अधस्तनप्रदेशः यत आरभ्य लोकस्य अधोमुखा वृद्धिः, तयोरुपरितनाधस्तनयोः 'खुड्डग-पयरेसु'त्ति क्षुल्लकप्रतरयोः सर्वलघुप्रदेशप्रतरयोः 'एत्थ णं'ति प्रज्ञापकेनोपायतः प्रदर्श्यमाने तिर्यग्लोकमध्येऽष्टप्रदेशिको रुचकः प्रज्ञप्तः, यश्च तिर्यग्लोकमध्ये उक्तः स सामर्थ्यात् तिर्यग्लोकमध्यं स्यादित्येवंभूतोऽसावष्टप्रदेशिको रुचक इत्याह–'जओ णं इमाओ इत्यादि, तस्यैवं स्थापना ॥ दिग्विदिग्प्रवहद्वारे 'किमाइय'त्ति (सू. ४७९) कआदिः–प्रथमो यस्यास्सा किमादिका, 'किंपवह'त्ति प्रवहति–प्रवर्त्तते अस्मादिति प्रवहः, कः प्रवहो यस्यास्सा (किंप्रवहा), 'कतिपएसाइय'त्ति कति प्रदेशा आदिर्यस्यास्सा कतिप्रदेशादिका, 'कइपएसु-त्तर'त्ति कति प्रदेशा उत्तरे–वृद्धौ यस्यास्सा तथा 'लोगं पडुच्च मुरजसंठिय'त्ति लोकान्तस्य परिमण्डलाकारत्वेन मुरजसंस्थानता दिशः स्यात्, ततश्च लोकान्तं प्रतीत्य मुरजसंस्थितेत्युक्तं, एतस्य च पूर्वां दिशमाश्रित्य चूर्णिकारकृतेयं भावना–'पुव्वुत्तराए पदेसहाणी तहा दाहिणपुव्वाए रुयगदेसे मुरजहेट्ठं दिसिअंते चउप्पदेसा दट्ठव्वा, मज्झे य तुंडं हवइ'त्ति एतस्य स्थापना,

१३ श० ४ उद्देशः

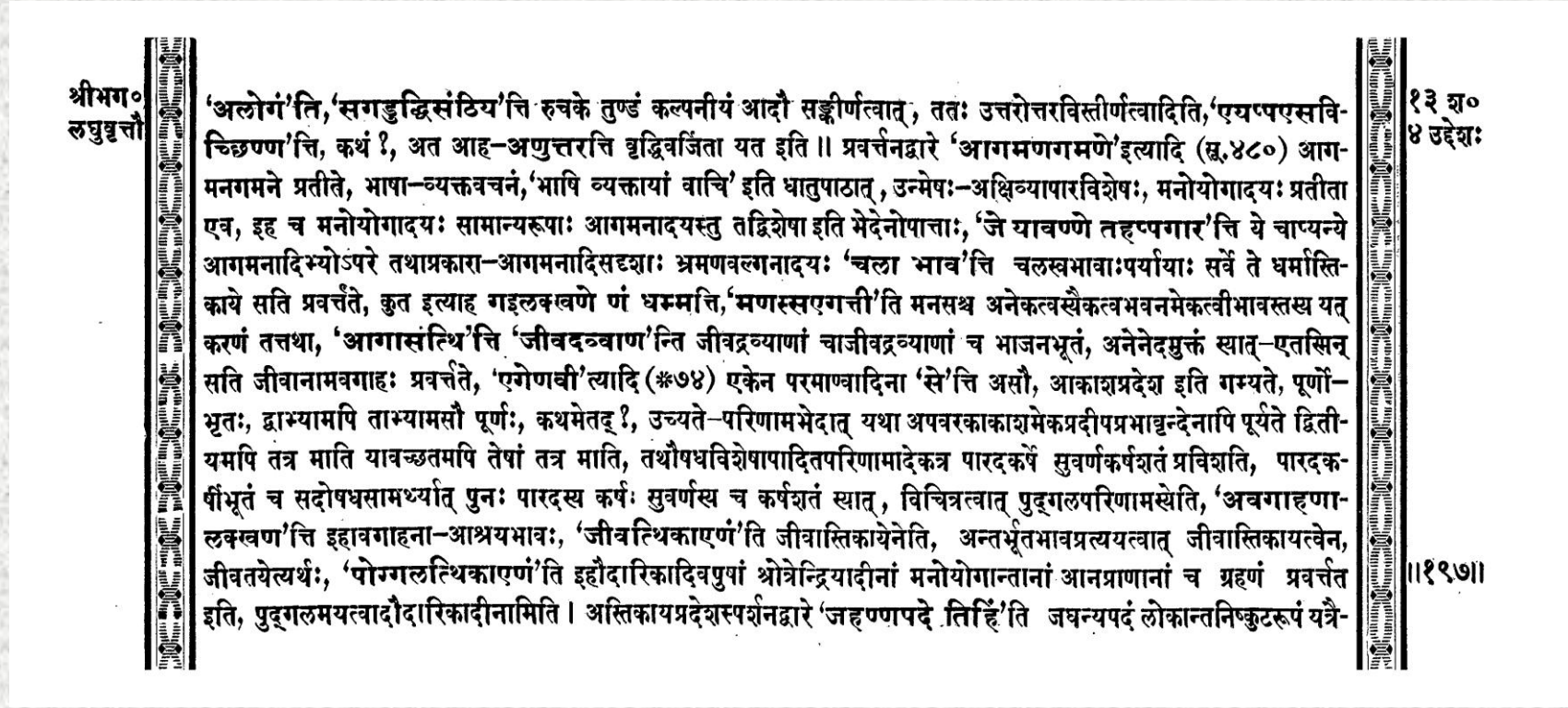

श्रीभग० लघुवृत्तौ

‘अलोगं’त्ति,‘सगडुद्धिसंठिय’त्ति रुचके तुण्डं कल्पनीयं आदौ सङ्कीर्णत्वात्, ततः उत्तरोत्तरविस्तीर्णत्वादिति,‘एयप्पएसविच्छिण्ण’त्ति, कथं ?, अत आह–अणुत्तरत्ति वृद्धिवर्जिता यत इति ॥ प्रवर्त्तनद्वारे ‘आगमणगमणे’इत्यादि (सू.४८०) आगमनगमने प्रतीते, भाषा–व्यक्तवचनं,‘भाषि व्यक्तायां वाचि’ इति धातुपाठात्, उन्मेषः–अक्षिव्यापारविशेषः, मनोयोगादयः प्रतीता एव, इह च मनोयोगादयः सामान्यरूपाः आगमनादयस्तु तद्विशेषा इति भेदेनोपात्ताः, ‘जे यावण्णे तहप्पगार’त्ति ये चाप्यन्ये आगमनादिभ्योऽपरे तथाप्रकारा–आगमनादिसदृशाः भ्रमणवल्गनादयः ‘चला भाव’त्ति चलस्वभावाःपर्यायाः सर्वे ते धर्मास्तिकाये सति प्रवर्त्तते, कुत इत्याह गइलक्खणे णं धम्मत्ति,‘मणस्सएगत्ती’ति मनसश्च अनेकत्वस्यैकत्वभवनमेकत्वीभावस्तस्य यत् करणं तत्तथा, ‘आगासत्थि’त्ति ‘जीवदव्वाण’न्ति जीवद्रव्याणां चाजीवद्रव्याणां च भाजनभूतं, अनेनेदमुक्तं स्यात्–एतस्मिन् सति जीवानामवगाहः प्रवर्त्तते, ‘एगेणवी’त्यादि (*७४) एकेन परमाण्वादिना ‘से’त्ति असौ, आकाशप्रदेश इति गम्यते, पूर्णो–भूतः, द्वाभ्यामपि ताभ्यामसौ पूर्णः, कथमेतद् ?, उच्यते–परिणामभेदात् यथा अपवरकाकाशमेकप्रदीपप्रभावृन्देनापि पूर्यते द्वितीयमपि तत्र माति यावच्छतमपि तेषां तत्र माति, तथौषधविशेषापादितपरिणामादेकत्र पारदकर्षे सुवर्णकर्षशतं प्रविशति, पारदकर्षीभूतं च सदोषधसामर्थ्यात् पुनः पारदस्य कर्षः सुवर्णस्य च कर्षशतं स्यात्, विचित्रत्वात् पुद्गलपरिणामस्येति, ‘अवगाहणालक्खण’त्ति इहावगाहना–आश्रयभावः, ‘जीवत्थिकाएणं’ति जीवास्तिकायेनेति, अन्तर्भूतभावप्रत्ययत्वात् जीवास्तिकायत्वेन, जीवतयेत्यर्थः, ‘पोग्गलत्थिकाएणं’ति इहौदारिकादिवपुषां श्रोत्रेन्द्रियादीनां मनोयोगान्तानां आनप्राणानां च ग्रहणं प्रवर्त्तत इति, पुद्गलमयत्वादौदारिकादीनामिति । अस्तिकायप्रदेशस्पर्शनद्वारे ‘जहण्णपदे तिहिं’ति जघन्यपदं लोकान्तनिष्कुटरूपं यत्रै-

१३ श० ४ उद्देशः

॥१९७॥

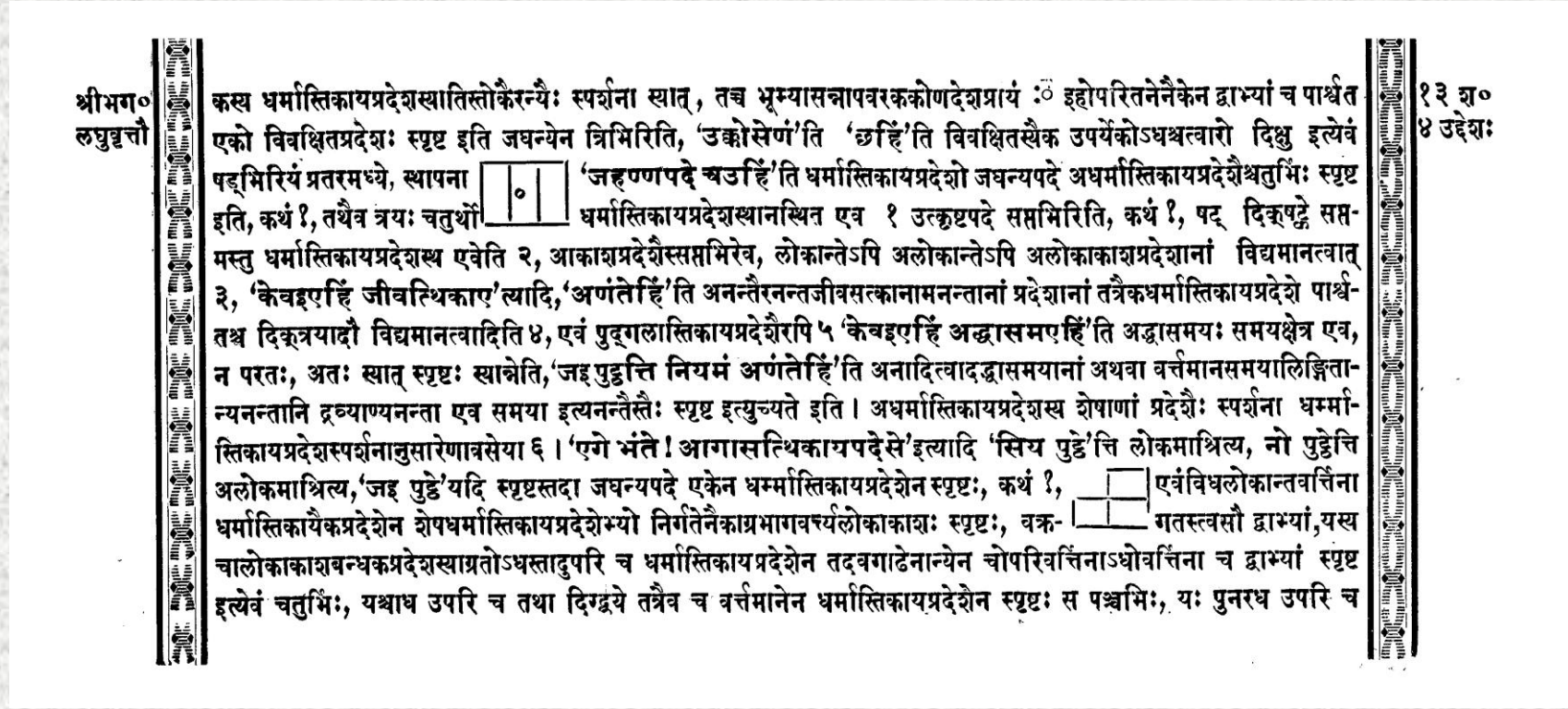

श्रीभग० लघुवृत्तौ

कस्य धर्मास्तिकायप्रदेशस्यातिस्तोकैरन्यैः स्पर्शना स्यात्, तच्च भूम्यासन्नापवरककोणदेशप्रायं ॐ इहोपरितनेनैकेन द्वाभ्यां च पार्श्वत एको विवक्षितप्रदेशः स्पृष्ट इति जघन्येन त्रिभिरिति, 'उक्कोसेणं'ति 'छहिं'ति विवक्षितस्यैक उपर्येकोऽधश्चत्वारो दिक्षु इत्येवं षड्भिरियं प्रतरमध्ये, स्थापना  'जहण्णपदे चउहिं'ति धर्मास्तिकायप्रदेशो जघन्यपदे अधर्मास्तिकायप्रदेशैश्चतुर्भिः स्पृष्ट इति, कथं ?, तथैव त्रयः चतुर्थो धर्मास्तिकायप्रदेशस्थानस्थित एव १ उत्कृष्टपदे सप्तभिरिति, कथं ?, षट् दिक्षष्ठे सप्तमस्तु धर्मास्तिकायप्रदेशस्थ एवेति २, आकाशप्रदेशैस्सप्तभिरेव, लोकान्तेऽपि अलोकान्तेऽपि अलोकाकाशप्रदेशानां विद्यमानत्वात् ३, 'केवइएहिं जीवत्थिकाए'त्यादि,'अणंतेहिं'ति अनन्तैरनन्तजीवसत्कानामनन्तानां प्रदेशानां तत्रैकधर्मास्तिकायप्रदेशे पार्श्वतश्च दिक्त्रयादौ विद्यमानत्वादिति ४, एवं पुद्गलास्तिकायप्रदेशैरपि ५ 'केवइएहिं अद्धासमएहिं'ति अद्धासमयः समयक्षेत्र एव, न परतः, अतः स्यात् स्पृष्टः स्यान्नेति,'जइ पुट्ठ त्ति नियमं अणंतेहिं'ति अनादित्वादद्धासमयानां अथवा वर्त्तमानसमयालिङ्गितान्यनन्तानि द्रव्याण्यनन्ता एव समया इत्यनन्तैस्तैः स्पृष्ट इत्युच्यते इति। अधर्मास्तिकायप्रदेशस्य शेषाणां प्रदेशैः स्पर्शना धर्म्मास्तिकायप्रदेशस्पर्शनानुसारेणावसेया ६। 'एगे भंते! आगासत्थिकायपदेसे'इत्यादि 'सिय पुट्ठे'त्ति लोकमाश्रित्य, नो पुट्ठेत्ति अलोकमाश्रित्य,'जइ पुट्ठे'यदि स्पृष्टस्तदा जघन्यपदे एकेन धर्म्मास्तिकायप्रदेशेन स्पृष्टः, कथं ?,  एवंविधलोकान्तवर्त्तिना धर्मास्तिकायैकप्रदेशेन शेषधर्मास्तिकायप्रदेशेभ्यो निर्गतेनैकाग्रभागवर्त्यलोकाकाशः स्पृष्टः, वक्र- गतस्त्वसौ द्वाभ्यां,यस्य चालोकाकाशबन्धकप्रदेशस्याग्रतोऽधस्तादुपरि च धर्मास्तिकायप्रदेशेन तदवगाढेनान्येन चोपरिवर्त्तिनाऽधोवर्त्तिना च द्वाभ्यां स्पृष्ट इत्येवं चतुर्भिः, यश्चाध उपरि च तथा दिग्द्वये तत्रैव च वर्त्तमानेन धर्मास्तिकायप्रदेशेन स्पृष्टः स पञ्चभिः, यः पुनरध उपरि च

१३ श० ४ उद्देशः

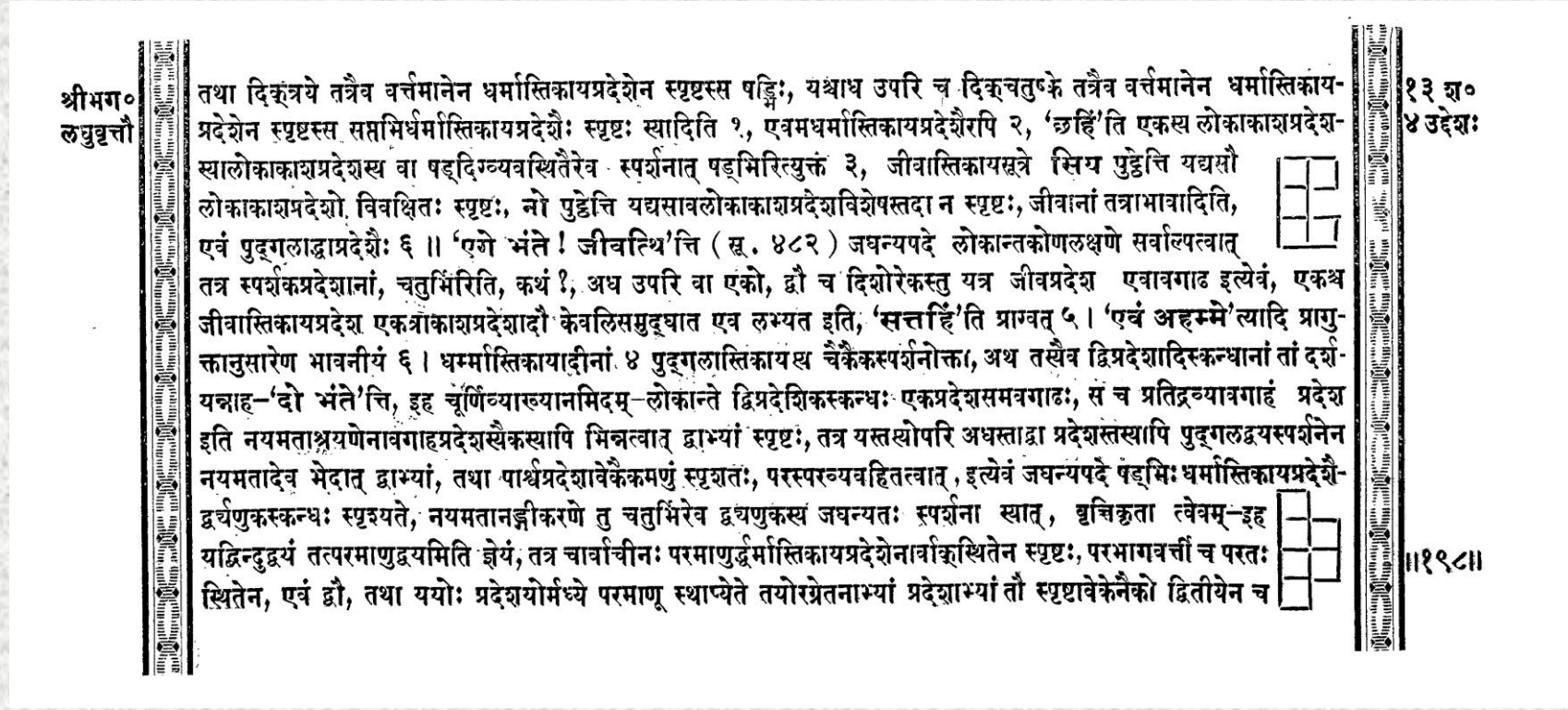

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तथा दिक्त्रये तत्रैव वर्त्तमानेन धर्मास्तिकायप्रदेशेन स्पृष्टस्स षड्भिः, यश्चाध उपरि च दिक्चतुष्के तत्रैव वर्त्तमानेन धर्मास्तिकाय-
प्रदेशेन स्पृष्टस्स सप्तभिर्धर्मास्तिकायप्रदेशैः स्पृष्टः स्यादिति १, एवमधर्मास्तिकायप्रदेशैरपि २, 'छहिं'ति एकस्य लोकाकाशप्रदेश-
स्यालोकाकाशप्रदेशस्य वा षड्दिग्व्यवस्थितैरेव स्पर्शनात् षड्भिरित्युक्तं ३, जीवास्तिकायसूत्रे सिय पुट्ठेत्ति यद्यसौ
लोकाकाशप्रदेशो विवक्षितः स्पृष्टः, नो पुट्ठेत्ति यद्यसावलोकाकाशप्रदेशविशेषस्तदा न स्पृष्टः, जीवानां तत्राभावादिति,
एवं पुद्गलाद्धाप्रदेशैः ६ ॥ 'एगे भंते ! जीवत्थि'त्ति (सू. ४८२) जघन्यपदे लोकान्तकोणलक्षणे सर्वाल्पत्वात्
तत्र स्पर्शकप्रदेशानां, चतुर्भिरिति, कथं ?, अध उपरि वा एको, द्वौ च दिशोरेकस्तु यत्र जीवप्रदेश एवावगाढ इत्येवं, एकश्च
जीवास्तिकायप्रदेश एकत्राकाशप्रदेशादौ केवलिसमुद्घात एव लभ्यत इति, 'सत्तहिं'ति प्राग्वत् ५। 'एवं अहम्मे'त्यादि प्रागु-
क्तानुसारेण भावनीयं ६। धर्म्मास्तिकायादीनां ४ पुद्गलास्तिकायस्य चैकैकस्पर्शनोक्ता, अथ तस्यैव द्विप्रदेशादिस्कन्धानां तां दर्श-
यन्नाह–'दो भंते'त्ति, इह चूर्णिव्याख्यानमिदम्–लोकान्ते द्विप्रदेशिकस्कन्धः एकप्रदेशसमवगाढः, स च प्रतिद्रव्यावगाहं प्रदेश
इति नयमताश्रयणेनावगाहप्रदेशस्यैकस्यापि भिन्नत्वात् द्वाभ्यां स्पृष्टः, तत्र यस्तस्योपरि अधस्ताद्वा प्रदेशस्तस्यापि पुद्गलद्वयस्पर्शनेन
नयमतादेव भेदात् द्वाभ्यां, तथा पार्श्वप्रदेशावेकैकमणुं स्पृशतः, परस्परव्यवहितत्वात्, इत्येवं जघन्यपदे षड्भिः धर्मास्तिकायप्रदेशै-
र्द्व्यणुकस्कन्धः स्पृश्यते, नयमतानङ्गीकरणे तु चतुर्भिरेव द्व्यणुकस्य जघन्यतः स्पर्शना स्यात्, वृत्तिकृता त्वेवम्–इह
यद्विन्दुद्वयं तत्परमाणुद्वयमिति ज्ञेयं, तत्र चार्वाचीनः परमाणुर्द्धर्मास्तिकायप्रदेशेनार्वाक्स्थितेन स्पृष्टः, परभागवर्त्ती च परतः
स्थितेन, एवं द्वौ, तथा ययोः प्रदेशयोर्मध्ये परमाणू स्थाप्येते तयोरग्रेतनाभ्यां प्रदेशाभ्यां तौ स्पृष्टावेकेनैको द्वितीयेन च

१३ श० ४ उद्देशः

॥१९८॥

द्वितीय इति चत्वारो, द्वौ चावगाढत्वादेव स्पृष्टावित्येवं षट्। 'बारसहिं'ति, कथं?, परमाणुद्वयेन द्वौ द्विप्रदेशावगाढत्वात् स्पृष्टौ, द्वौ चाधस्तनावुपरितनौ च द्वौ, पूर्वापरपार्श्वयोश्च द्वौ द्वौ, दक्षिणान्तपार्श्वयोश्चैकैक इति द्वादश १, एवमधर्मास्तिकायप्रदेशैरपि २। 'बारसहिं'ति इह जघन्यपदं नास्ति, लोकान्तेऽप्याकाशप्रदेशानां विद्यमानत्वात् द्वादशमिरित्युक्तम् ३। 'सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स'त्ति अयमर्थः–'दो भंते! पोग्गलत्थिकायपदेसा केवइएहिं जीवत्थिकायपदेसेहिं पुट्ठा?, गोयमा! अणंतेहिं ४, एवं पुद्गलास्तिकायप्रदेशैरपि ५, अद्धासमयैः स्यात्स्पृष्टौ स्यान्न, यदि स्पृष्टौ तदा नियमादनन्तैरिति ६। 'तिण्णि भंते!'त्ति 'अट्ठहिं'ति, कथं?, प्रागुक्तनयमतेन अवगाढप्रदेशस्त्रिधा, अधस्तनोऽपि त्रिधा, उपरितनोऽपि च त्रिधा, द्वौ पार्श्वत इत्यष्टौ। 'सत्तरसहिं'ति प्राग्वद्भावनीयः, इह च सर्वत्र जघन्यपदे विवक्षितपरमाणुभ्यो द्विगुणा द्विरूपाधिकाश्च स्पर्शकप्रदेशाः स्युः, उत्कृष्टपदे तु उत्कृष्टपदापेक्षया विवक्षितपरमाणुभ्यः पञ्चगुणा द्विरूपाधिकाश्च ते स्युः, तत्र चैकाणोर्द्विगुणत्वे द्वौ द्वयसहितत्वे च चत्वारो जघन्यपदे स्पर्शकाः प्रदेशाः स्युः, एवं द्व्यणुकत्र्यणुकादिष्वपि, स्थापना। 'सव्वत्थ उक्कोसपयं भाणियव्वं'ति सर्वत्र–एकप्रदेशिकाद्यनन्तप्रदेशिकान्ते सूत्रगणे उत्कृष्टपदमेव, न जघन्यकमित्यर्थः, आकाशस्य सर्वत्र विद्यमानत्वादिति, 'तिण्णेव'त्ति यत्सङ्ख्येयकमयः स्कन्धः तेनैव प्रदेशसङ्ख्येयकेन द्विगुणेन द्विरूपाधिकेन स्पृष्टः, इह भावना–विंशतिप्रदेशिकः स्कन्धो लोकान्ते एकप्रदेशे स्थितः, स च नयमतेन विंशत्याऽवगाढ

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	
४	६	८	१०	१२	१४	१४	१४	१०	२०	२२
७	१२	१७	२२	२७	३२	३७	४२	४७	५२	

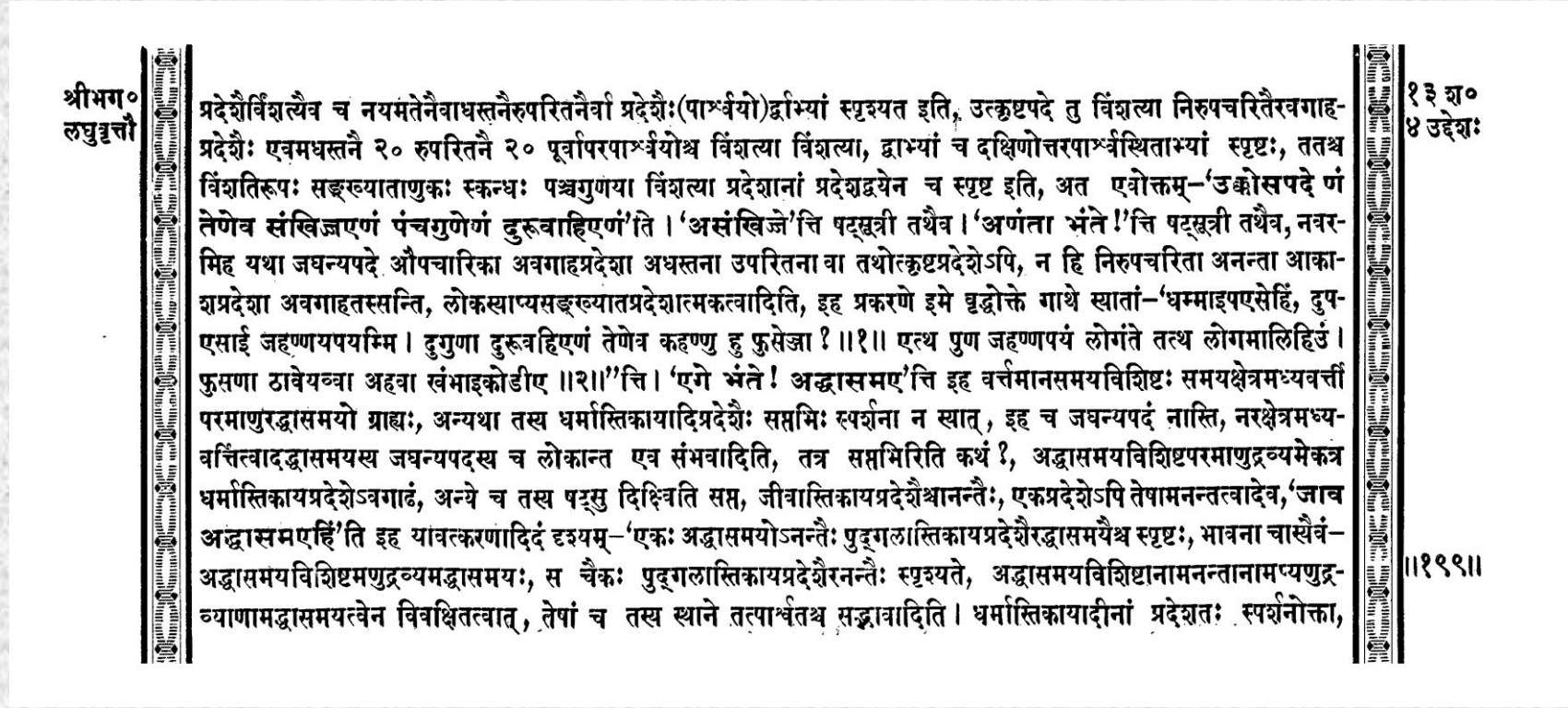

श्रीभग० लघुवृत्तौ

प्रदेशैर्विंशत्यैव च नयमतेनैवाधस्तनैरुपरितनैर्वा प्रदेशैः(पार्श्वयो)र्द्वाभ्यां स्पृश्यत इति, उत्कृष्टपदे तु विंशत्या निरुपचरितैरवगाह-प्रदेशैः एवमधस्तनै २० रुपरितनै २० पूर्वापरपार्श्वयोश्च विंशत्या विंशत्या, द्वाभ्यां च दक्षिणोत्तरपार्श्वस्थिताभ्यां स्पृष्टः, ततश्च विंशतिरूपः सङ्ख्यातागुकः स्कन्धः पञ्चगुणया विंशत्या प्रदेशानां प्रदेशद्वयेन च स्पृष्ट इति, अत एवोक्तम्–‘उक्कोसपदे णं तेणेव संखिज्जएणं पंचगुणेणं दुरूवाहिएणं’ति । ‘असंखिज्जे’त्ति षट्सूत्री तथैव । ‘अणंता भंते !’त्ति षट्सूत्री तथैव, नवर-मिह यथा जघन्यपदे औपचारिका अवगाहप्रदेशा अधस्तना उपरितना वा तथोत्कृष्टप्रदेशेऽपि, न हि निरुपचरिता अनन्ता आका-शप्रदेशा अवगाहतस्सन्ति, लोकस्याप्यसङ्ख्यातप्रदेशात्मकत्वादिति, इह प्रकरणे इमे वृद्धोक्ते गाथे स्तातां–‘धम्माइपएसेहिं, दुप-एसाई जहण्णयपयम्मि । दुगुणा दुरूवहिएणं तेणेव कहण्णु हु फुसेज्जा ? ॥१॥ एत्थ पुण जहण्णपयं लोगंते तत्थ लोगमालिहिउं । फुसणा ठावेयव्वा अहवा खंभाइकोडीए ॥२॥”त्ति । ‘एगे भंते ! अद्धासमए’त्ति इह वर्त्तमानसमयविशिष्टः समयक्षेत्रमध्यवर्त्ती परमाणुरद्धासमयो ग्राह्यः, अन्यथा तस्य धर्मास्तिकायादिप्रदेशैः सप्तभिः स्पर्शना न स्यात्, इह च जघन्यपदं नास्ति, नरक्षेत्रमध्य-वर्त्तित्वाद्द्धासमयस्य जघन्यपदस्य च लोकान्त एव संभवादिति, तत्र सप्तभिरिति कथं ?, अद्धासमयविशिष्टपरमाणुद्रव्यमेकत्र धर्मास्तिकायप्रदेशेऽवगाढं, अन्ये च तस्य षट्सु दिक्ष्विति सप्त, जीवास्तिकायप्रदेशैश्चानन्तैः, एकप्रदेशेऽपि तेषामनन्तत्वादेव,‘जाव अद्धासमएहिं’ति इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–‘एकः अद्धासमयोऽनन्तैः पुद्गलास्तिकायप्रदेशैरद्धासमयैश्च स्पृष्टः, भावना चास्यैवं–अद्धासमयविशिष्टमणुद्रव्यमद्धासमयः, स चैकः पुद्गलास्तिकायप्रदेशैरनन्तैः स्पृश्यते, अद्धासमयविशिष्टानामनन्तानामप्यणुद्र-व्याणामद्धासमयत्वेन विवक्षितत्वात्, तेषां च तस्य स्थाने तत्पार्श्वतश्च सद्भावादिति । धर्मास्तिकायादीनां प्रदेशतः स्पर्शनोक्ता,

१३ श० ४ उद्देशः

॥१९९॥

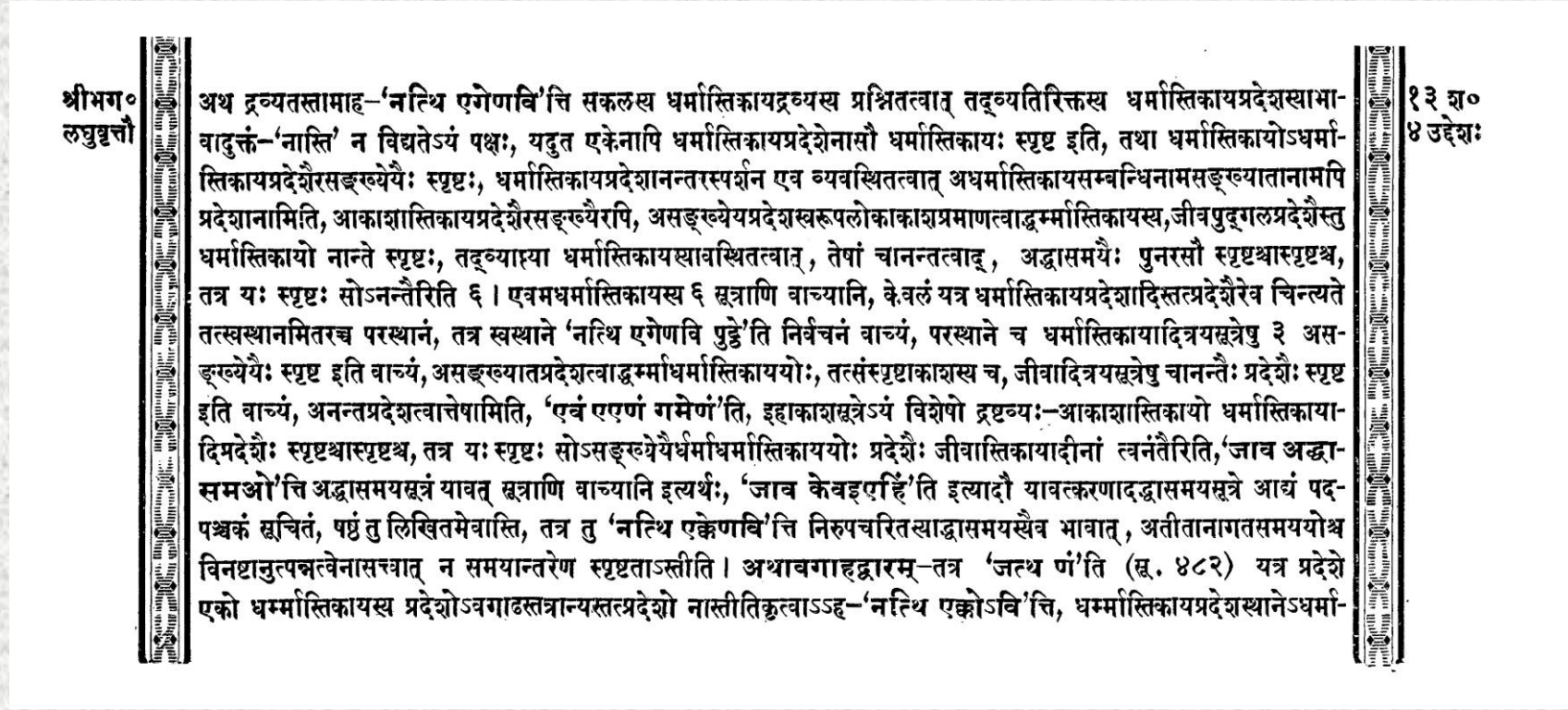

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अथ द्रव्यतस्तामाह–'नत्थि एगेणवि'त्ति सकलस्य धर्मास्तिकायद्रव्यस्य प्रश्नितत्वात् तद्व्यतिरिक्तस्य धर्मास्तिकायप्रदेशस्याभावादुक्तं–'नास्ति' न विद्यतेऽयं पक्षः, यदुत एकेनापि धर्मास्तिकायप्रदेशेनासौ धर्मास्तिकायः स्पृष्ट इति, तथा धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायप्रदेशैरसङ्ख्येयैः स्पृष्टः, धर्मास्तिकायप्रदेशानन्तरस्पर्शन एव व्यवस्थितत्वात् अधर्मास्तिकायसम्बन्धिनामसङ्ख्यातानामपि प्रदेशानामिति, आकाशास्तिकायप्रदेशैरसङ्ख्यैरपि, असङ्ख्येयप्रदेशस्वरूपलोकाकाशप्रमाणत्वाद्धर्म्मास्तिकायस्य,जीवपुद्गलप्रदेशैस्तु धर्मास्तिकायो नान्ते स्पृष्टः, तद्व्याप्या धर्मास्तिकायस्यावस्थितत्वात्, तेषां चानन्तत्वाद्, अद्धासमयैः पुनरसौ स्पृष्टश्चास्पृष्टश्च, तत्र यः स्पृष्टः सोऽनन्तैरिति ६। एवमधर्मास्तिकायस्य ६ सूत्राणि वाच्यानि, केवलं यत्र धर्मास्तिकायप्रदेशादिस्तत्प्रदेशैरेव चिन्त्यते तत्स्वस्थानमितरच्च परस्थानं, तत्र स्वस्थाने 'नत्थि एगेणवि पुट्ठे'ति निर्वचनं वाच्यं, परस्थाने च धर्मास्तिकायादित्रयसूत्रेषु ३ असङ्ख्येयैः स्पृष्ट इति वाच्यं, असङ्ख्यातप्रदेशत्वाद्धर्म्माधर्मास्तिकाययोः, तत्संस्पृष्टाकाशस्य च, जीवादित्रयसूत्रेषु चानन्तैः प्रदेशैः स्पृष्ट इति वाच्यं, अनन्तप्रदेशत्वात्तेषामिति, 'एवं एएणं गमेणं'ति, इहाकाशसूत्रेऽयं विशेषो द्रष्टव्यः–आकाशास्तिकायो धर्मास्तिकायादिप्रदेशैः स्पृष्टश्चास्पृष्टश्च, तत्र यः स्पृष्टः सोऽसङ्ख्येयैर्धर्माधर्मास्तिकाययोः प्रदेशैः जीवास्तिकायादीनां त्वनंतैरिति,'जाव अद्धासमओ'त्ति अद्धासमयसूत्रं यावत् सूत्राणि वाच्यानि इत्यर्थः, 'जाव केवइएहिं'ति इत्यादौ यावत्करणाददासमयसूत्रे आद्यं पदपञ्चकं सूचितं, षष्ठं तु लिखितमेवास्ति, तत्र तु 'नत्थि एक्केणवि'त्ति निरुपचरितत्वाद्धासमयस्यैव भावात्, अतीतानागतसमययोश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेनासत्त्वात् न समयान्तरेण स्पृष्टताऽस्तीति। अथावगाहद्वारम्–तत्र 'जत्थ णं'ति (सू. ४८२) यत्र प्रदेशे एको धर्म्मास्तिकायस्य प्रदेशोऽवगाढस्तत्रान्यस्तत्प्रदेशो नास्तीतिकृत्वाऽऽह–'नत्थि एक्कोऽवि'त्ति, धर्म्मास्तिकायप्रदेशस्थानेऽधर्मा-

१३ श० ४ उद्देशः

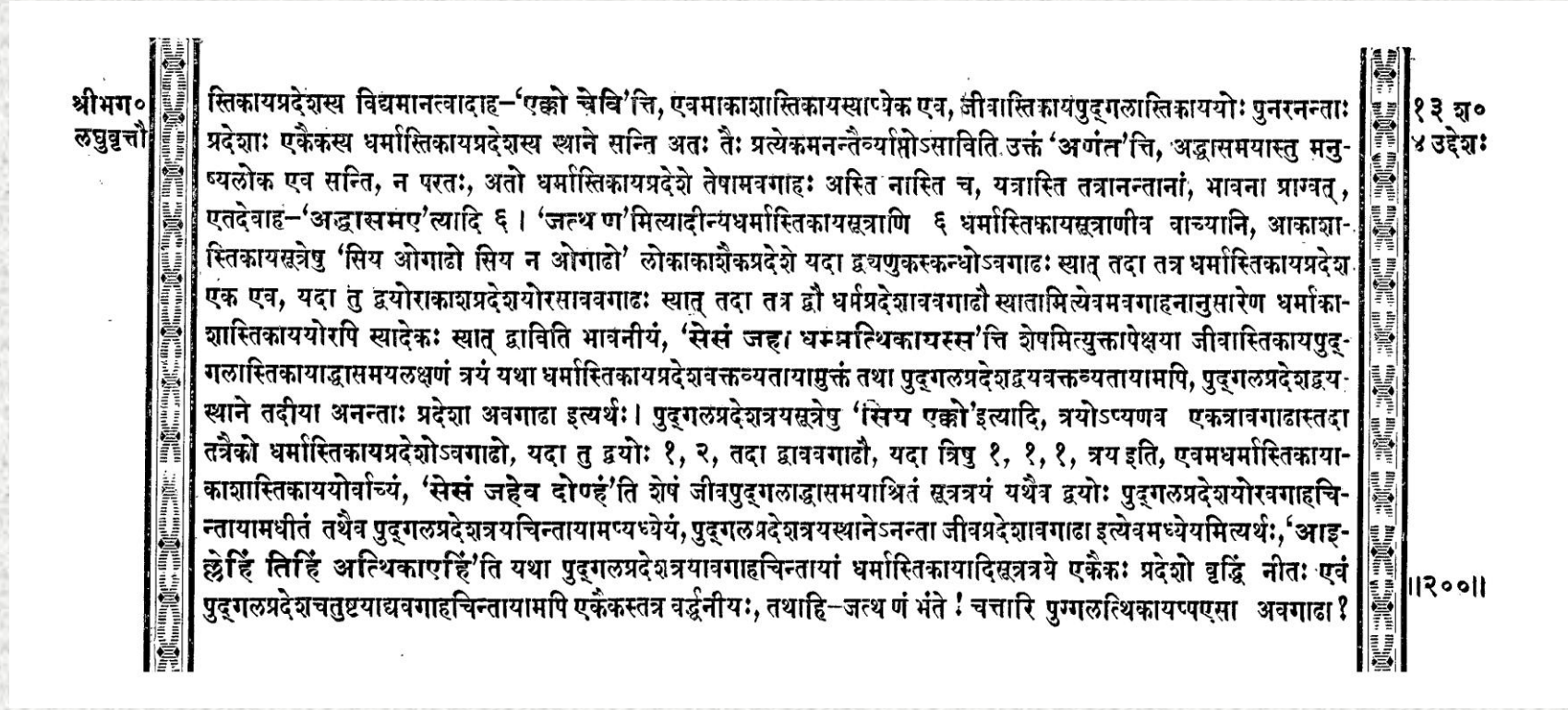

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्तिकायप्रदेशस्य विद्यमानत्वादाह–‘एक्को चेवि’त्ति, एवमाकाशास्तिकायस्याप्येक एव, जीवास्तिकायपुद्गलास्तिकाययोः पुनरनन्ताः प्रदेशाः एकैकस्य धर्मास्तिकायप्रदेशस्य स्थाने सन्ति अतः तैः प्रत्येकमनन्तैर्व्याप्तोऽसाविति उक्तं ‘अणंत’त्ति, अद्धासमयास्तु मनुष्यलोक एव सन्ति, न परतः, अतो धर्मास्तिकायप्रदेशे तेषामवगाहः अस्ति नास्ति च, यत्रास्ति तत्रानन्तानां, भावना प्राग्वत्, एतदेवाह–‘अद्धासमए’त्यादि ६। ‘जत्थ ण’मित्यादीन्यधर्मास्तिकायसूत्राणि ६ धर्मास्तिकायसूत्राणीव वाच्यानि, आकाशास्तिकायसूत्रेषु ‘सिय ओगाढो सिय न ओगाढो’ लोकाकाशैकप्रदेशे यदा द्व्यणुकस्कन्धोऽवगाढः स्यात् तदा तत्र धर्मास्तिकायप्रदेश एक एव, यदा तु द्वयोराकाशप्रदेशयोरसाववगाढः स्यात् तदा तत्र द्वौ धर्मप्रदेशाववगाढौ स्यातामित्येवमवगाहनानुसारेण धर्माकाशास्तिकाययोरपि स्यादेकः स्यात् द्वाविति भावनीयं, **‘सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स’**त्ति शेषमित्युक्तापेक्षया जीवास्तिकायपुद्गलास्तिकायाद्धासमयलक्षणं त्रयं यथा धर्मास्तिकायप्रदेशवक्तव्यतायामुक्तं तथा पुद्गलप्रदेशद्वयवक्तव्यतायामपि, पुद्गलप्रदेशद्वयस्थाने तदीया अनन्ताः प्रदेशा अवगाढा इत्यर्थः। पुद्गलप्रदेशत्रयसूत्रेषु **‘सिय एक्को’**इत्यादि, त्रयोऽप्यणव एकत्रावगाढास्तदा तत्रैको धर्मास्तिकायप्रदेशोऽवगाढो, यदा तु द्वयोः १, २, तदा द्वावगाढौ, यदा त्रिषु १, १, १, त्रय इति, एवमधर्मास्तिकायाकाशास्तिकाययोर्वाच्यं, **‘सेसं जहेव दोण्हं’**ति शेषं जीवपुद्गलाद्धासमयाश्रितं सूत्रत्रयं यथैव द्वयोः पुद्गलप्रदेशयोरवगाहचिन्तायामधीतं तथैव पुद्गलप्रदेशत्रयचिन्तायामप्यध्येयं, पुद्गलप्रदेशत्रयस्थानेऽनन्ता जीवप्रदेशावगाढा इत्येवमध्येयमित्यर्थः, **‘आइल्लेहिं तिहिं अत्थिकाएहिं’**ति यथा पुद्गलप्रदेशत्रयावगाहचिन्तायां धर्मास्तिकायादिसूत्रत्रये एकैकः प्रदेशो वृद्धिं नीतः एवं पुद्गलप्रदेशचतुष्टयाद्यवगाहचिन्तायामपि एकैकस्तत्र वर्द्धनीयः, तथाहि–जत्थ णं भंते ! चत्तारि पुग्गलत्थिकायप्पएसा अवगाढा ?

१३ श० ४ उद्देशः

॥२००॥

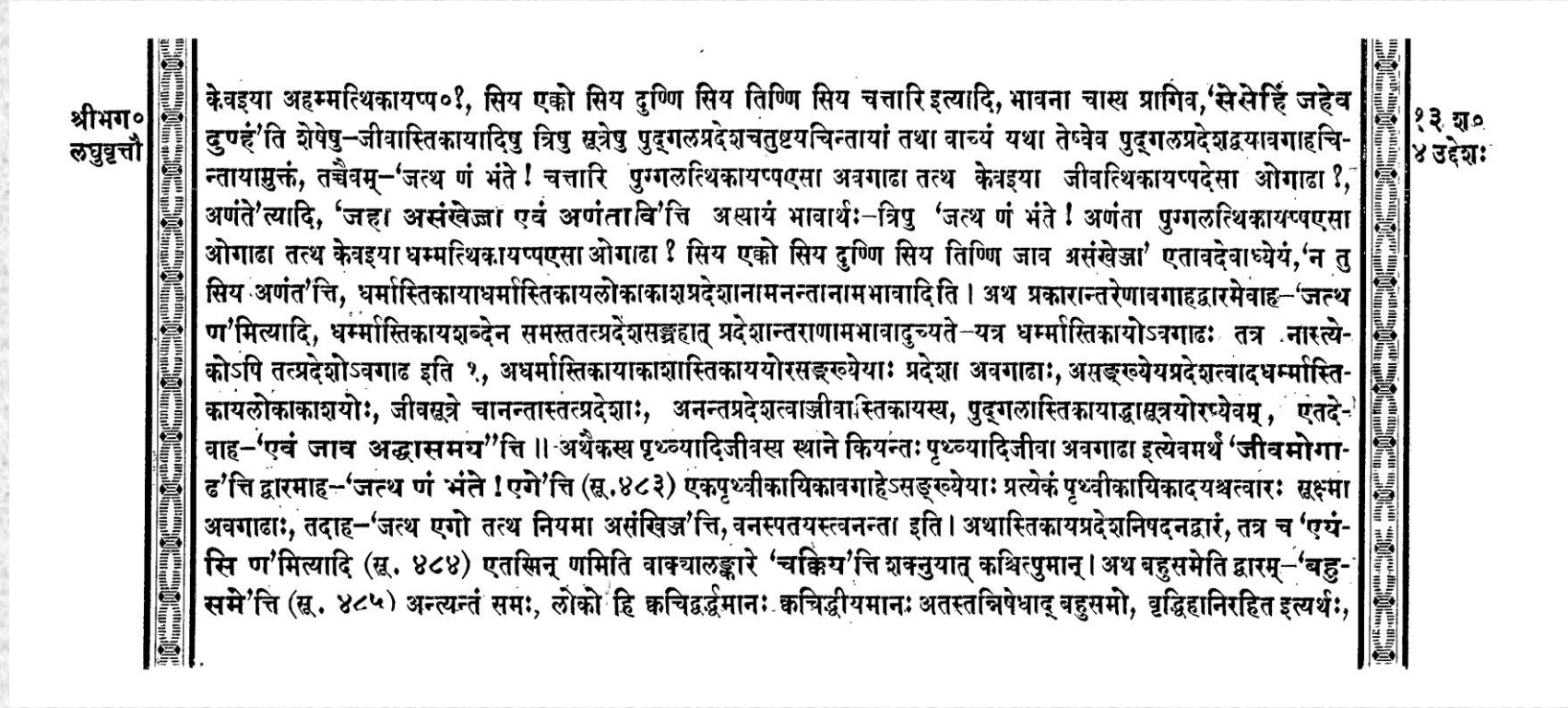

श्रीभग० लघुवृत्तौ

केवइया अहम्मत्थिकायप्प०?, सिय एक्को सिय दुण्णि सिय तिण्णि सिय चत्तारि इत्यादि, भावना चास्य प्रागिव,'सेसेहिं जहेव दुप्पहं'ति शेषेषु–जीवास्तिकायादिषु त्रिषु सूत्रेषु पुद्गलप्रदेशचतुष्टयचिन्तायां तथा वाच्यं यथा तेष्वेव पुद्गलप्रदेशद्वयावगाहचिन्तायामुक्तं, तच्चैवम्–'जत्थ णं भंते! चत्तारि पुग्गलत्थिकायप्पएसा अवगाढा तत्थ केवइया जीवत्थिकायप्पदेसा ओगाढा?, अणंते'त्यादि, 'जहा असंखेज्जा एवं अणंताऽवि'त्ति अस्यायं भावार्थः–त्रिषु 'जत्थ णं भंते! अणंता पुग्गलत्थिकायप्पएसा ओगाढा तत्थ केवइया धम्मत्थिकायप्पएसा ओगाढा? सिय एक्को सिय दुण्णि सिय तिण्णि जाव असंखेज्जा' एतावदेवाध्येयं,'न तु सिय अणंत'त्ति, धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायलोकाकाशप्रदेशानामनन्तानामभावादिति। अथ प्रकारान्तरेणावगाहद्वारमेवाह–'जत्थ ण'मित्यादि, धर्म्मास्तिकायशब्देन समस्ततत्प्रदेशसङ्ग्रहात् प्रदेशान्तराणामभावादुच्यते–यत्र धर्म्मास्तिकायोऽवगाढः तत्र नास्त्येकोऽपि तत्प्रदेशोऽवगाढ इति १, अधर्मास्तिकायाकाशास्तिकाययोरसङ्ख्येयाः प्रदेशा अवगाढाः, असङ्ख्येयप्रदेशत्वादधर्म्मास्तिकायलोकाकाशयोः, जीवसूत्रे चानन्तास्तत्प्रदेशाः, अनन्तप्रदेशत्वाज्जीवास्तिकायस्य, पुद्गलास्तिकायाद्वासूत्रयोरप्येवम्, एतदेवाह–'एवं जाव अद्धासमय'त्ति॥ अथैकस्य पृथ्व्यादिजीवस्य स्थाने कियन्तः पृथ्व्यादिजीवा अवगाढा इत्येवमर्थं 'जीवमोगाढ'त्ति द्वारमाह–'जत्थ णं भंते! एगे'त्ति (सू.४८३) एकपृथ्वीकायिकावगाहेऽसङ्ख्येयाः प्रत्येकं पृथ्वीकायिकादयश्चत्वारः सूक्ष्मा अवगाढाः, तदाह–'जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखिज्ज'त्ति, वनस्पतयस्त्वनन्ता इति। अथास्तिकायप्रदेशनिषदनद्वारं, तत्र च 'एयंसि ण'मित्यादि (सू. ४८४) एतस्मिन् णमिति वाक्यालङ्कारे 'चक्किय'त्ति शक्नुयात् कश्चित्पुमान्। अथ बहुसमेति द्वारम्–'बहुसमे'त्ति (सू. ४८५) अन्त्यन्तं समः, लोको हि क्वचिद्वर्द्धमानः क्वचिद्धीयमानः अतस्तन्निषेधाद् बहुसमो, वृद्धिहानिरहित इत्यर्थः,

१३ श० ४ उद्देशः

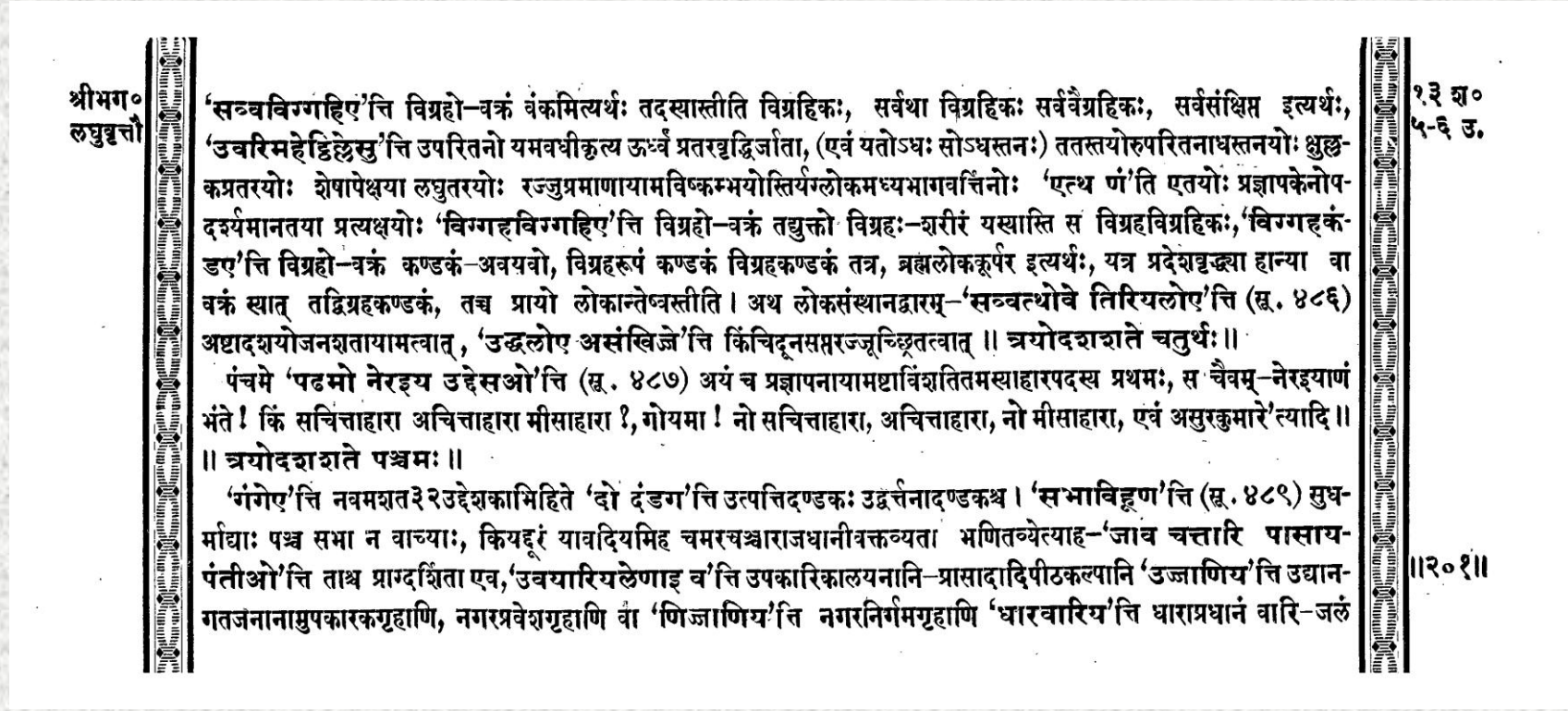

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'सव्वविग्गहिए'त्ति विग्रहो–वक्रं वंकमित्यर्थः तदस्यास्तीति विग्रहिकः, सर्वथा विग्रहिकः सर्वविग्रहिकः, सर्वसंक्षिप्त इत्यर्थः, 'उवरिमहेट्ठिल्लेसु'त्ति उपरितनो यमवधीकृत्य ऊर्ध्वं प्रतरवृद्धिर्जाता, (एवं यतोऽधः सोऽधस्तनः) ततस्तयोरुपरितनाधस्तनयोः क्षुल्लकप्रतरयोः शेषापेक्षया लघुतरयोः रज्जुप्रमाणायामविष्कम्भयोस्तिर्यग्लोकमध्यभागवर्त्तिनोः 'एत्थ णं'ति एतयोः प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानतया प्रत्यक्षयोः 'विग्गहविग्गहिए'त्ति विग्रहो–वक्रं तद्युक्तो विग्रहः–शरीरं यस्यास्ति स विग्रहविग्रहिकः,'विग्गहकंडए'त्ति विग्रहो–वक्रं कण्डकं–अवयवो, विग्रहरूपं कण्डकं विग्रहकण्डकं तत्र, ब्रह्मलोककूर्पर इत्यर्थः, यत्र प्रदेशवृद्ध्या हान्या वा वक्रं स्यात् तद्विग्रहकण्डकं, तच्च प्रायो लोकान्तेष्वस्तीति। अथ लोकसंस्थानद्वारम्–'सव्वत्थोवे तिरियलोए'त्ति (सू. ४८६) अष्टादशयोजनशतायामत्वात्, 'उड्ढलोए असंखिज्जे'त्ति किंचिदूनसप्तरज्जूच्छ्रितत्वात् ॥ त्रयोदशशते चतुर्थः॥

पंचमे 'पढमो नेरइय उद्देसओ'त्ति (सू. ४८७) अयं च प्रज्ञापनायामष्टाविंशतितमस्याहारपदस्य प्रथमः, स चैवम्–नेरइयाणं भंते! किं सचित्ताहारा अचित्ताहारा मीसाहारा?, गोयमा! नो सचित्ताहारा, अचित्ताहारा, नो मीसाहारा, एवं असुरकुमारे'त्यादि॥ ॥ त्रयोदशशते पञ्चमः॥

'गंगेए'त्ति नवमशत३२उद्देशकाभिहिते 'दो दंडग'त्ति उत्पत्तिदण्डकः उद्वर्त्तनादण्डकश्च। 'सभाविहूण'त्ति (सू. ४८९) सुधर्माद्याः पञ्च सभा न वाच्याः, कियदूरं यावदियमिह चमरचञ्चाराजधानीवक्तव्यता भणितव्येत्याह–'जाव चत्तारि पासायपंतीओ'त्ति ताश्च प्राग्दर्शिता एव,'उवयारियलेणाइ व'त्ति उपकारिकालयनानि–प्रासादादिपीठकल्पानि 'उज्जाणिय'त्ति उद्यानगतजनानामुपकारकगृहाणि, नगरप्रवेशगृहाणि वा 'णिज्जाणिय'त्ति नगरनिर्गमगृहाणि 'धारवारिय'त्ति धाराप्रधानं वारि–जलं

१३ श० ५-६ उ.

॥२०१॥

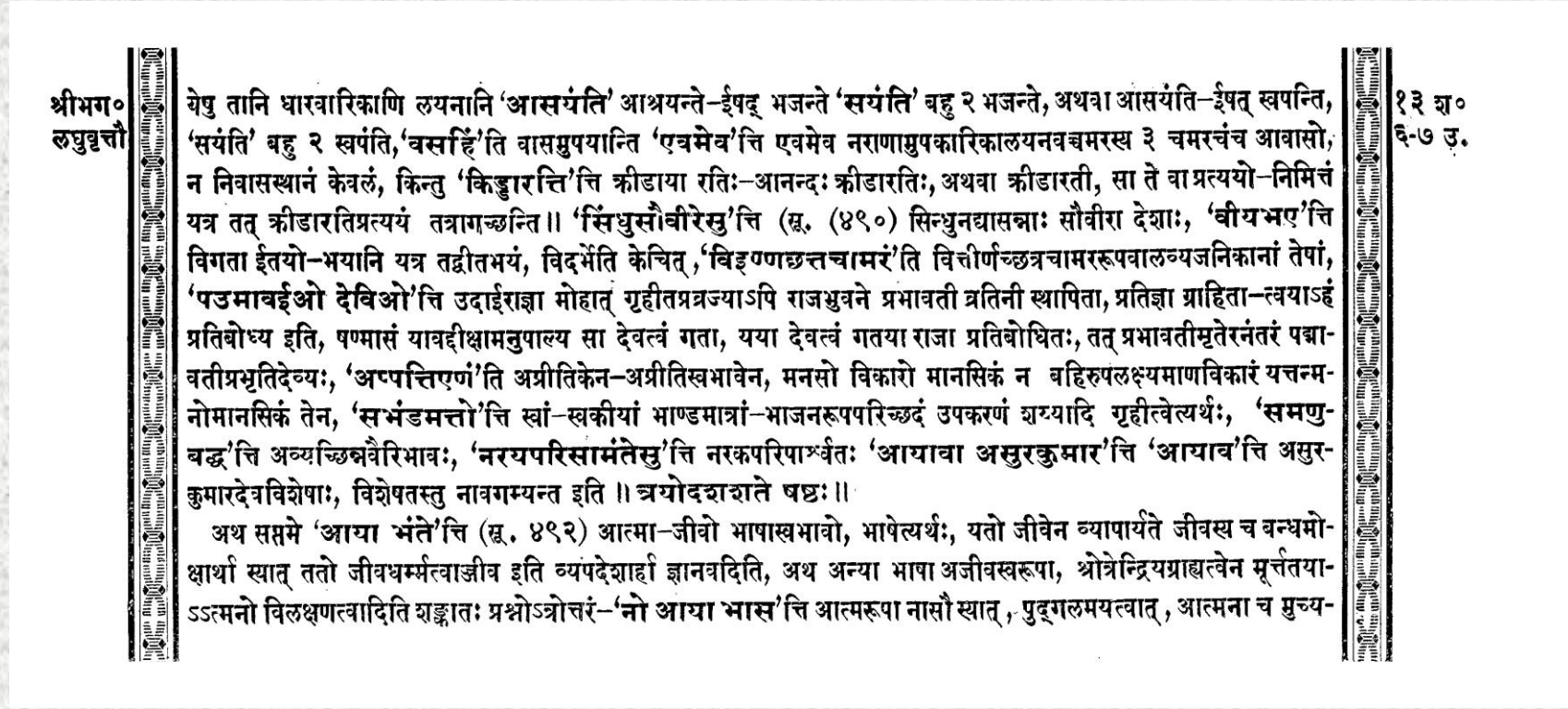

श्रीभग० लघुवृत्तौ

येषु तानि धारवारिकाणि लयनानि 'आसयंति' आश्रयन्ते-ईषद् भजन्ते 'सयंति' बहु २ भजन्ते, अथवा आसयंति-ईषत् स्वपन्ति, 'सयंति' बहु २ स्वपंति,'वसहिं'ति वासमुपयान्ति 'एवमेव'त्ति एवमेव नराणामुपकारिकालयनवच्चमरस्य ३ चमरचंच आवासो, न निवासस्थानं केवलं, किन्तु 'किड्डारत्ति'त्ति क्रीडाया रतिः-आनन्दः क्रीडारतिः, अथवा क्रीडारती, सा ते वा प्रत्ययो-निमित्तं यत्र तत् क्रीडारतिप्रत्ययं तत्रागच्छन्ति॥ 'सिंधुसौवीरेसु'त्ति (सू. (४९०) सिन्धुनद्यासन्नाः सौवीरा देशाः, 'वीयभए'त्ति विगता ईतयो-भयानि यत्र तद्वीतभयं, विदर्भेति केचित्,'विइण्णछत्तचामरं'ति वित्तीर्णच्छत्रचामररूपवालव्यजनिकानां तेषां, 'पउमावईओ देविओ'त्ति उदाईराज्ञा मोहात् गृहीतप्रव्रज्याऽपि राजभुवने प्रभावती व्रतिनी स्थापिता, प्रतिज्ञा ग्राहिता-त्वयाऽहं प्रतिबोध्य इति, षण्मासं यावद्दीक्षामनुपाल्य सा देवत्वं गता, यया देवत्वं गतया राजा प्रतिबोधितः, तत् प्रभावतीमृतेरनंतरं पद्मावतीप्रभृतिदेव्यः, 'अप्पत्तिएणं'ति अप्रीतिकेन-अप्रीतिस्वभावेन, मनसो विकारो मानसिकं न बहिरुपलक्ष्यमाणविकारं यत्तन्मनोमानसिकं तेन, 'सभंडमत्तो'त्ति स्वां-स्वकीयां भाण्डमात्रां-भाजनरूपपरिच्छदं उपकरणं शय्यादि गृहीत्वेत्यर्थः, 'समणुबद्ध'त्ति अव्यच्छिन्नवैरिभावः, 'नरयपरिसामंतेसु'त्ति नरकपरिपार्श्वतः 'आयावा असुरकुमार'त्ति 'आयाव'त्ति असुरकुमारदेवविशेषाः, विशेषतस्तु नावगम्यन्त इति ॥ त्रयोदशशते षष्ठः॥

अथ सप्तमे 'आया भंते'त्ति (सू. ४९२) आत्मा-जीवो भाषास्वभावो, भाषेत्यर्थः, यतो जीवेन व्यापार्यते जीवस्य च बन्धमोक्षार्था स्यात् ततो जीवधर्म्मत्वाज्जीव इति व्यपदेशार्हा ज्ञानवदिति, अथ अन्या भाषा अजीवस्वरूपा, श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वेन मूर्त्ततयाऽऽत्मनो विलक्षणत्वादिति शङ्कातः प्रश्नोऽत्रोत्तरं-'नो आया भास'त्ति आत्मरूपा नासौ स्यात्, पुद्गलमयत्वात्, आत्मना च मुच्य-

१३ श० ६-७ उ.

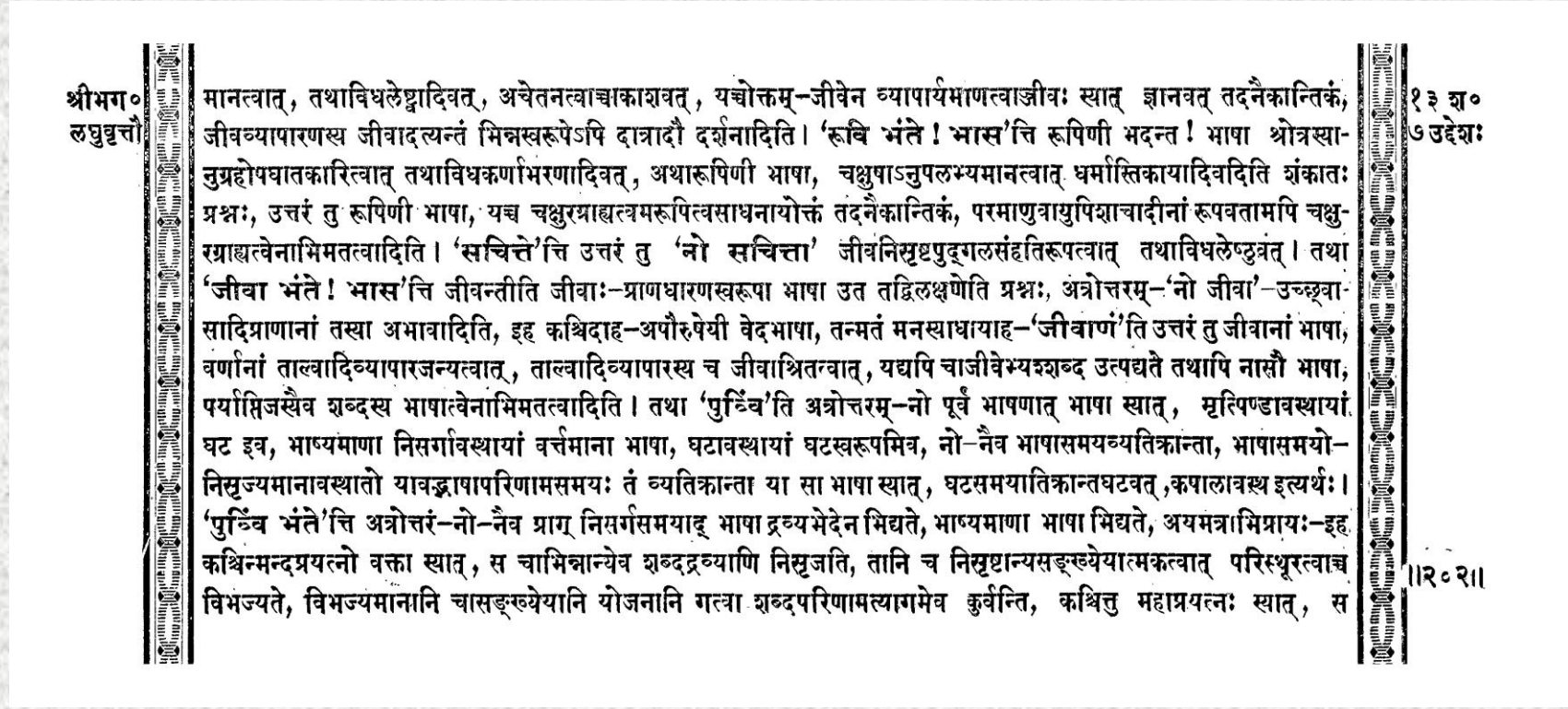

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मानत्वात्, तथाविधलेष्ट्वादिवत्, अचेतनत्वाच्चाकाशवत्, यच्चोक्तम्–जीवेन व्यापार्यमाणत्वाज्जीवः स्यात् ज्ञानवत् तदनैकान्तिकं, जीवव्यापारणस्य जीवादत्यन्तं भिन्नस्वरूपेऽपि दात्रादौ दर्शनादिति। ‘रूवि भंते! भास’त्ति रूपिणी भदन्त! भाषा श्रोत्रस्यानुग्रहोपघातकारित्वात् तथाविधकर्णाभरणादिवत्, अथारूपिणी भाषा, चक्षुषाऽनुपलभ्यमानत्वात् धर्मास्तिकायादिवदिति शंकातः प्रश्नः, उत्तरं तु रूपिणी भाषा, यच्च चक्षुरग्राह्यत्वमरूपित्वसाधनायोक्तं तदनैकान्तिकं, परमाणुवायुपिशाचादीनां रूपवतामपि चक्षुरग्राह्यत्वेनाभिमतत्वादिति। ‘सचित्ते’त्ति उत्तरं तु ‘नो सचित्ता’ जीवनिसृष्टपुद्गलसंहतिरूपत्वात् तथाविधलेष्ठुवत्। तथा ‘जीवा भंते! भास’त्ति जीवन्तीति जीवाः–प्राणधारणस्वरूपा भाषा उत तद्विलक्षणेति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्–‘नो जीवा’–उच्छ्वासादिप्राणानां तस्या अभावादिति, इह कश्चिदाह–अपौरुषेयी वेदभाषा, तन्मतं मनस्याधायाह–‘जीवाणं’ति उत्तरं तु जीवानां भाषा, वर्णानां तालवादिव्यापारजन्यत्वात्, तालवादिव्यापारस्य च जीवाश्रितत्वात्, यद्यपि चाजीवेभ्यश्शब्द उत्पद्यते तथापि नासौ भाषा, पर्याप्तिजस्यैव शब्दस्य भाषात्वेनाभिमतत्वादिति। तथा ‘पुव्विं’ति अत्रोत्तरम्–नो पूर्वं भाषणात् भाषा स्यात्, मृत्पिण्डावस्थायां घट इव, भाष्यमाणा निसर्गावस्थायां वर्त्तमाना भाषा, घटावस्थायां घटस्वरूपमिव, नो–नैव भाषासमयव्यतिक्रान्ता, भाषासमयो–निसृज्यमानावस्थातो यावद्भाषापरिणामसमयः तं व्यतिक्रान्ता या सा भाषा स्यात्, घटसमयातिक्रान्तघटवत्, कपालावस्थ इत्यर्थः। ‘पुव्विं भंते’त्ति अत्रोत्तरं–नो–नैव प्राग् निसर्गसमयाद् भाषा द्रव्यभेदेन भिद्यते, भाष्यमाणा भाषा भिद्यते, अयमत्राभिप्रायः–इह कश्चिन्मन्दप्रयत्नो वक्ता स्यात्, स चाभिन्नान्येव शब्दद्रव्याणि निसृजति, तानि च निसृष्टान्यसङ्ख्येयात्मकत्वात् परिस्थूरत्वाच्च विभज्यते, विभज्यमानानि चासङ्ख्येयानि योजनानि गत्वा शब्दपरिणामत्यागमेव कुर्वन्ति, कश्चित्तु महाप्रयत्नः स्यात्, स

१३ श० ७ उद्देशः

॥२०२॥

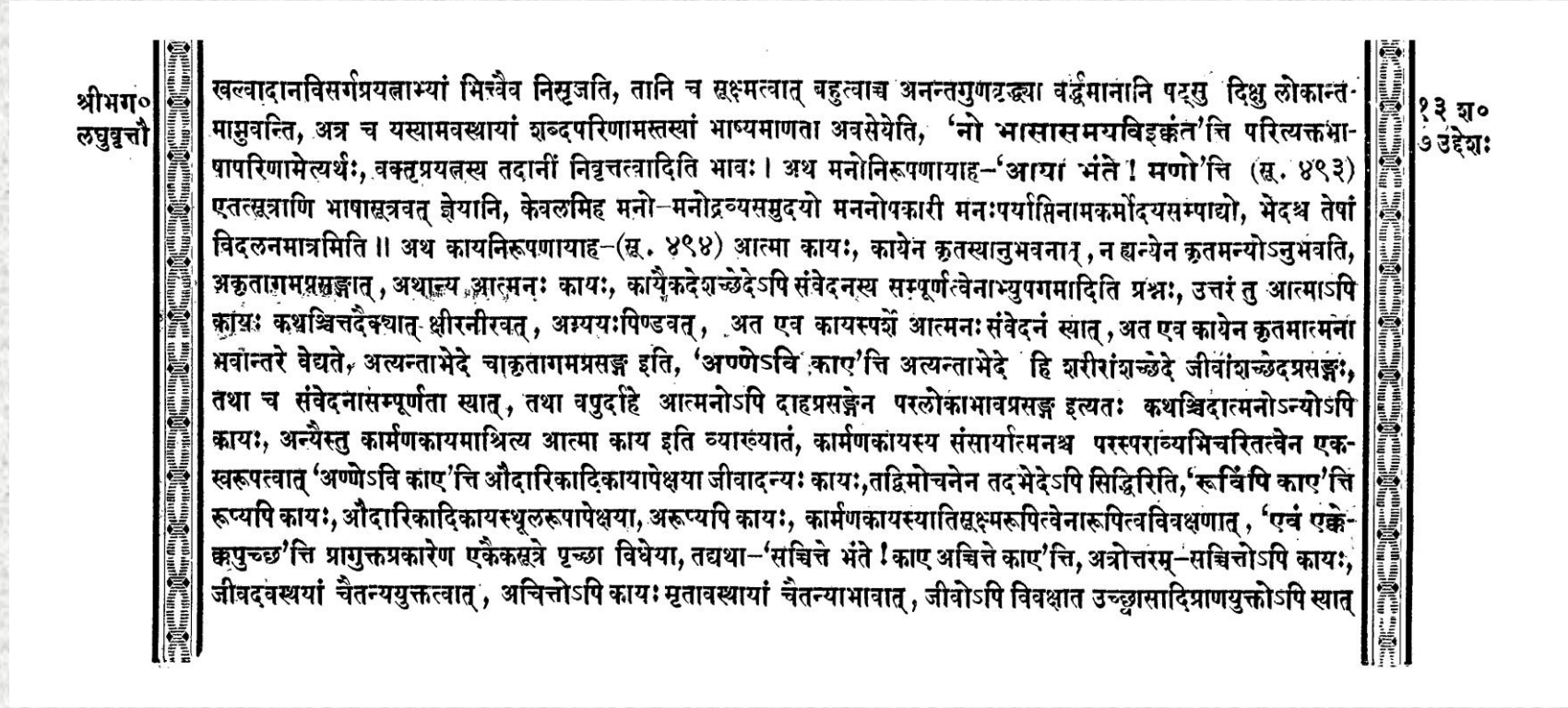

श्रीभग० लघुवृत्तौ

खल्वादानविसर्गप्रयत्नाभ्यां भित्त्वैव निसृजति, तानि च सूक्ष्मत्वात् बहुत्वाच्च अनन्तगुणवृद्ध्या वर्द्धमानानि षट्सु दिक्षु लोकान्तमनुवन्ति, अत्र च यस्यामवस्थायां शब्दपरिणामस्तस्यां भाष्यमाणता अवसेयेति, ‘नो भासासमयविइक्कंत’त्ति परित्यक्तभाषापरिणामेत्यर्थः, वक्तृप्रयत्नस्य तदानीं निवृत्तत्वादिति भावः। अथ मनोनिरूपणायाह–‘आया भंते ! मणो’त्ति (सू. ४९३) एतत्सूत्राणि भाषासूत्रवत् ज्ञेयानि, केवलमिह मनो–मनोद्रव्यसमुदयो मननोपकारी मनःपर्याप्तिनामकर्मोदयसम्पाद्यो, भेदश्च तेषां विदलनमात्रमिति ॥ अथ कायनिरूपणायाह–(सू. ४९४) आत्मा कायः, कायेन कृतस्यानुभवनात्, न ह्यन्येन कृतमन्योऽनुभवति, अकृतागमप्रसङ्गात्, अथान्य आत्मनः कायः, कायैकदेशच्छेदेऽपि संवेदनस्य सम्पूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्नः, उत्तरं तु आत्माऽपि कायः कथञ्चित्तदैक्यात् क्षीरनीरवत्, अन्ययःपिण्डवत्, अत एव कायस्पर्शे आत्मनः संवेदनं स्यात्, अत एव कायेन कृतमात्मना भवान्तरे वेद्यते, अत्यन्ताभेदे चाकृतागमप्रसङ्ग इति, ‘अण्णेऽवि काए’त्ति अत्यन्ताभेदे हि शरीरांशच्छेदे जीवांशच्छेदप्रसङ्गः, तथा च संवेदनासम्पूर्णता स्यात्, तथा वपुर्दाहे आत्मनोऽपि दाहप्रसङ्गेन परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यतः कथञ्चिदात्मनोऽन्योऽपि कायः, अन्यैस्तु कार्मणकायमाश्रित्य आत्मा काय इति व्याख्यातं, कार्मणकायस्य संसार्यात्मनश्च परस्पराव्यभिचरितत्वेन एकस्वरूपत्वात् ‘अण्णेऽवि काए’त्ति औदारिकादिकायापेक्षया जीवादन्यः कायः,तद्विमोचनेन तदभेदेऽपि सिद्धिरिति,‘रूविंपि काए’त्ति रूप्यपि कायः, औदारिकादिकायस्थूलरूपापेक्षया, अरूप्यपि कायः, कार्मणकायस्यातिसूक्ष्मरूपित्वेनारूपित्वविवक्षणात्, ‘एवं एक्केक्कपुच्छ’त्ति प्रागुक्तप्रकारेण एकैकसूत्रे पृच्छा विधेया, तद्यथा–‘सचित्ते भंते ! काए अचित्ते काए’त्ति, अत्रोत्तरम्–सचित्तोऽपि कायः, जीवदवस्थायां चैतन्ययुक्तत्वात्, अचित्तोऽपि कायः मृतावस्थायां चैतन्याभावात्, जीवोऽपि विवक्षात उच्छ्वासादिप्राणयुक्तोऽपि स्यात्

१३ श० ७ उद्देशः

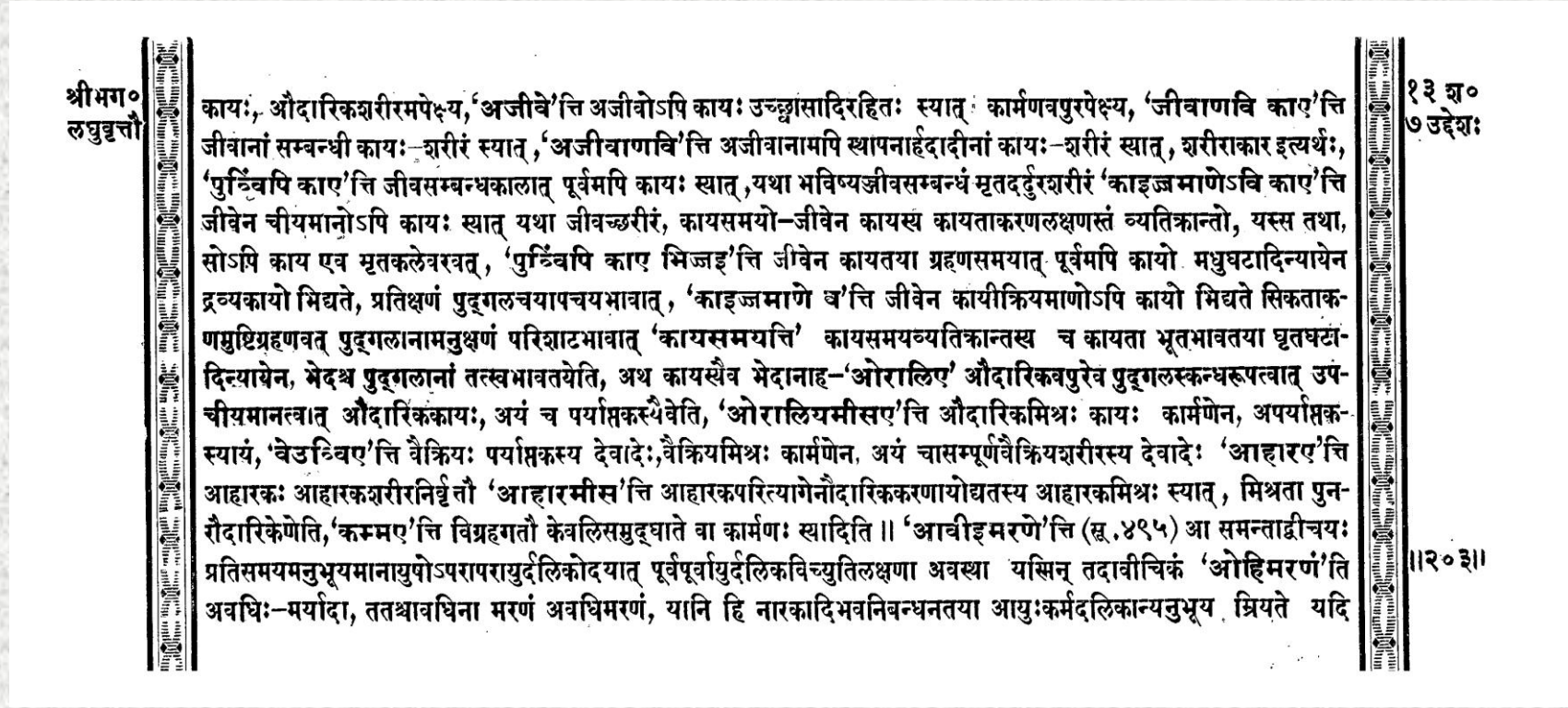

श्रीभग० लघुवृत्तौ

कायः, औदारिकशरीरमपेक्ष्य, 'अजीवे'त्ति अजीवोऽपि कायः उच्छ्वासादिरहितः स्यात् कार्मणवपुरपेक्ष्य, 'जीवाणवि काए'त्ति जीवानां सम्बन्धी कायः–शरीरं स्यात्, 'अजीवाणवि'त्ति अजीवानामपि स्थापनार्हदादीनां कायः–शरीरं स्यात्, शरीराकार इत्यर्थः, 'पुढविंपि काए'त्ति जीवसम्बन्धकालात् पूर्वमपि कायः स्यात्, यथा भविष्यज्जीवसम्बन्धं मृतदर्दुरशरीरं 'काइज्जमाणेऽवि काए'त्ति जीवेन चीयमानोऽपि कायः स्यात् यथा जीवच्छरीरं, कायसमयो–जीवेन कायस्य कायताकरणलक्षणस्तं व्यतिक्रान्तो, यस्स तथा, सोऽपि काय एव मृतकलेवरवत्, 'पुढविंपि काए भिज्जइ'त्ति जीवेन कायतया ग्रहणसमयात् पूर्वमपि कायो मधुघटादिन्यायेन द्रव्यकायो भिद्यते, प्रतिक्षणं पुद्गलचयापचयभावात्, 'काइज्जमाणे ध'त्ति जीवेन कायीक्रियमाणोऽपि कायो भिद्यते सिकताकणमुष्टिग्रहणवत् पुद्गलानामनुक्षणं परिशाटभावात् 'कायसमयत्ति' कायसमयव्यतिक्रान्तस्य च कायता भूतभावतया घृतघटादिन्यायेन, भेदश्च पुद्गलानां तत्स्वभावतयेति, अथ कायस्यैव भेदानाह–'ओरालिए' औदारिकवपुरेव पुद्गलस्कन्धरूपत्वात् उपचीयमानत्वात् औदारिककायः, अयं च पर्याप्तकस्यैवेति, 'ओरालियमीसए'त्ति औदारिकमिश्रः कायः कार्मणेन, अपर्याप्तकस्यायं, 'वेउव्विए'त्ति वैक्रियः पर्याप्तकस्य देवादेः, वैक्रियमिश्रः कार्मणेन, अयं चासम्पूर्णवैक्रियशरीरस्य देवादेः 'आहारए'त्ति आहारकः आहारकशरीरनिर्वृत्तौ 'आहारमीस'त्ति आहारकपरित्यागेनौदारिककरणायोद्यतस्य आहारकमिश्रः स्यात्, मिश्रता पुनरौदारिकेणेति, 'कम्मए'त्ति विग्रहगतौ केवलिसमुद्घाते वा कार्मणः स्यादिति ॥ 'आवीइमरणे'त्ति (सू.४९५) आ समन्ताद्वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरापरायुर्दलिकोदयात् पूर्वपूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन् तदावीचिकं 'ओहिमरणं'ति अवधिः–मर्यादा, ततश्चावधिना मरणं अवधिमरणं, यानि हि नारकादिभवनिबन्धनतया आयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते यदि

१३ श० ७ उद्देशः

॥२०३॥

पुनस्तान्येवानुभूय मरिष्यते तदा तदवधिमरणमुच्यते, तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणावधिं यावज्जीवस्य मृतत्वात्, सम्भवति च गृहीतोज्झितानां ग्रहणं, परिणामवैचित्र्यात्, 'आइयंतिमरणं'ति अत्यन्ते भवमात्यन्तिकं तच्च तत् मरणं च २, यानि हि नारकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते, मृतश्च न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यत इत्येवं यन्मरणं तत्तद्द्रव्यापेक्षया अत्यन्तभावित्वादात्यन्तिकमिति, बालमरणम्–अविरतमरणं, पण्डितमरणं–सर्वविरतमरणं। तत्रावीचिकमरणं पञ्चधा द्रव्यादिभेदेन, द्रव्यावीचिकमरणं च चतुर्द्धा नारकादिभेदात्, तत्र नारकद्रव्यावीचिकमरणमाह–'जण्णं'ति, यद्–यस्माद्धेतोर्नारकद्रव्ये नारकजीवत्वे वर्त्तमाना मरन्तीति योगः, 'नेरइयाउयत्ताए'त्ति नैरयिकायुष्कतया, गहियाइं स्पर्शनतः, 'बद्धाइं' बन्धनतः, 'पुट्ठाइं' पोषितानि प्रदेशप्रक्षेपतः 'कडाइं' विशिष्टानुभागतः 'पट्ठवियाइं' स्थितिसम्पादनेन निविट्ठाइं जीवप्रदेशेषु 'अभिनिविट्ठाइं' जीवप्रदेशेष्वभिव्याप्त्या निविष्टानि, अतिगाढतां गतानीत्यर्थः, 'अभिसमण्णागयाइं' अभिसमन्वागतानि उदयावलिकायामागतानि द्रव्याणि 'निरंतरं'ति निरन्तरम्–अव्यवच्छेदेन, सकलसमयेष्वित्यर्थः, म्रियन्ते विमुञ्चन्तीत्यर्थः, 'इतिकट्टु'त्ति इतिहेतोर्नारकद्रव्यावीचिकमरणमुच्यत इति 'एवं जाव भावावीचियमरणे'त्ति, इह यावत्करणात्कालावीचिकमरणं स्यादिति, भवावीचिकमरणमपि द्रष्टव्यम्, तच्चेदं सूत्रम्—'कालावीइयमरणे णं भंते! कइविहे पण्णत्ते, गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते, तं०–नेरइयकालावीइमरणे ४, से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ–नेरइकालावीइमरणे?, गोयमा! जण्णं नेरइया नेरइयकाले वट्टमाणे'त्यादि, एवं भवावीचिकमरणमप्यध्येयम्, नैरयिकद्रव्यावधिमरणसूत्रे जण्णमित्यादि, एवं चेहाक्षरघटना–नैरयिकद्रव्ये वर्त्तमाना ये नैरयिका यानि द्रव्याणि साम्प्रतं मियन्ते–त्यजन्ति तानि द्रव्याण्यनागतकाले पुनस्ते इति गम्यम्, मरिष्यन्ते–त्यक्ष्यन्तीति यत्तत् नैरयिकद्रव्यावधिमरणमुच्यते

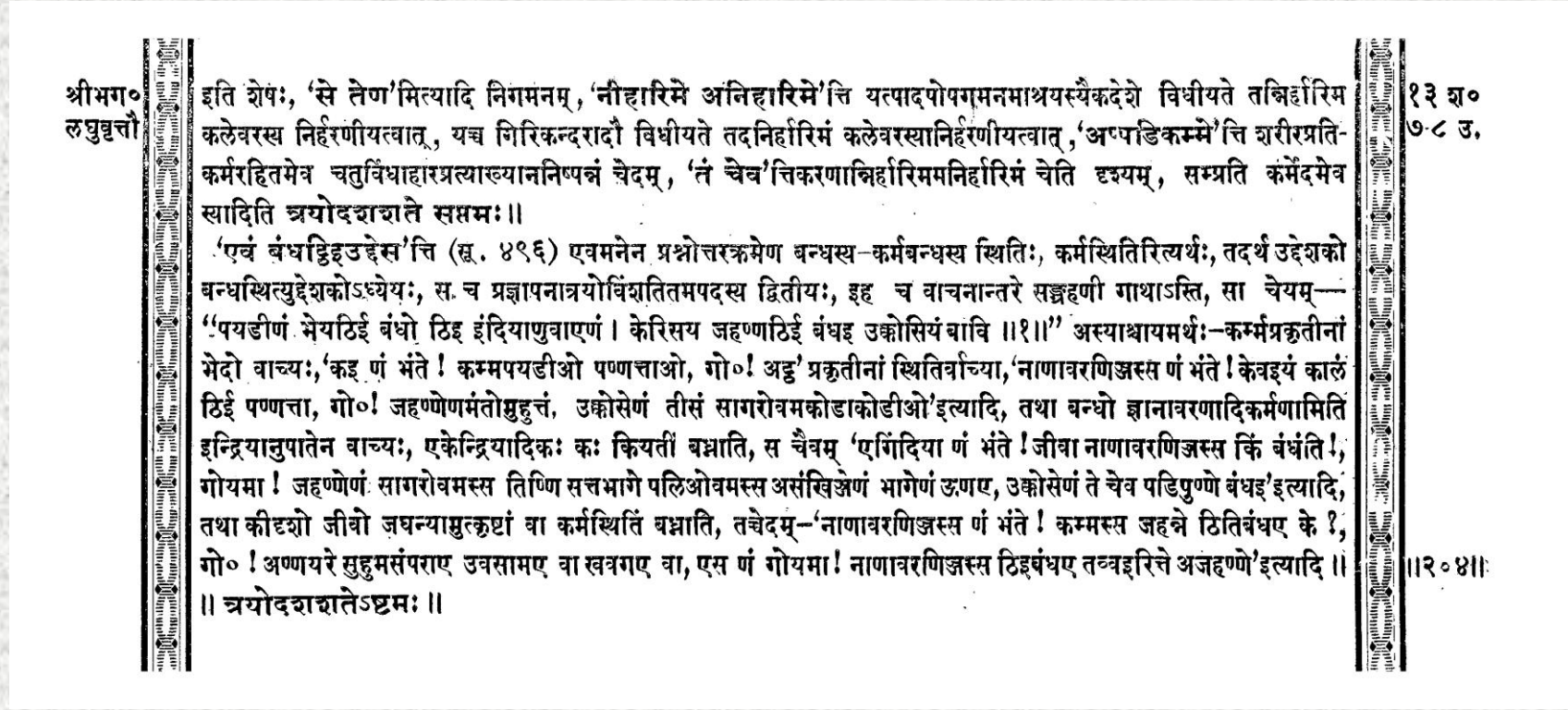

श्रीभग० लघुवृत्तौ

इति शेषः, 'से तेण'मित्यादि निगमनम्, 'नीहारिमे अनिहारिमे'त्ति यत्पादपोपगमनमाश्रयस्यैकदेशे विधीयते तन्निर्हारिम कलेवरस्य निर्हरणीयत्वात्, यच्च गिरिकन्दरादौ विधीयते तदनिर्हारिमं कलेवरस्यानिर्हरणीयत्वात्, 'अप्पडिकम्मे'त्ति शरीरप्रतिकर्मरहितमेव चतुर्विधाहारप्रत्याख्याननिष्पन्नं चेदम्, 'तं चेव'त्तिकरणान्निर्हारिममनिर्हारिमं चेति द्रष्टव्यम्, सम्प्रति कर्मेदमेव स्यादिति **त्रयोदशशते सप्तमः॥**

'एवं बंधट्ठिइउद्देस'त्ति (सू. ४९६) एवमनेन प्रश्नोत्तरक्रमेण बन्धस्य-कर्मबन्धस्य स्थितिः, कर्मस्थितिरित्यर्थः, तदर्थ उद्देशको बन्धस्थित्युद्देशकोऽध्येयः, स च प्रज्ञापनात्रयोविंशतितमपदस्य द्वितीयः, इह च वाचनान्तरे सङ्ग्रहणी गाथाऽस्ति, सा चेयम्—"पयडीणं भेयठिई बंधो ठिइ इंदियाणुवाएणं। केरिसय जहण्णठिई बंधइ उक्कोसियं वावि ॥१॥" अस्याश्चायमर्थः-कर्म्मप्रकृतीनां भेदो वाच्यः,'कइ णं भंते! कम्मपयडीओ पण्णत्ताओ, गो०! अट्ठ' प्रकृतीनां स्थितिर्वाच्या,'नाणावरणिज्जस्स णं भंते! केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता, गो०! जहण्णेणमंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ'इत्यादि, तथा बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मणामिति इन्द्रियानुपातेन वाच्यः, एकेन्द्रियादिकः कः कियतीं बध्नाति, स चैवम् 'एगिंदिया णं भंते! जीवा नाणावरणिज्जस्स किं बंधंति!, गोयमा! जहण्णेणं सागरोवमस्स तिण्णि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखिज्जेणं भागेणं ऊणए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधइ'इत्यादि, तथा कीदृशो जीवो जघन्यामुत्कृष्टां वा कर्मस्थितिं बध्नाति, तच्चेदम्-'नाणावरणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स जहन्ने ठितिबंधए के?, गो०! अण्णयरे सुहुमसंपराए उवसामए वा खवगए वा, एस णं गोयमा! नाणावरणिज्जस्स ठिइबंधए तव्वइरित्ते अजहण्णे'इत्यादि॥ **॥ त्रयोदशशतेऽष्टमः॥**

१३ श० ७-८ उ. ॥२०४॥

प्रत सूत्रांक [४६९-४९८] + गाथा

दीप अनुक्रम [५६३-५९३]

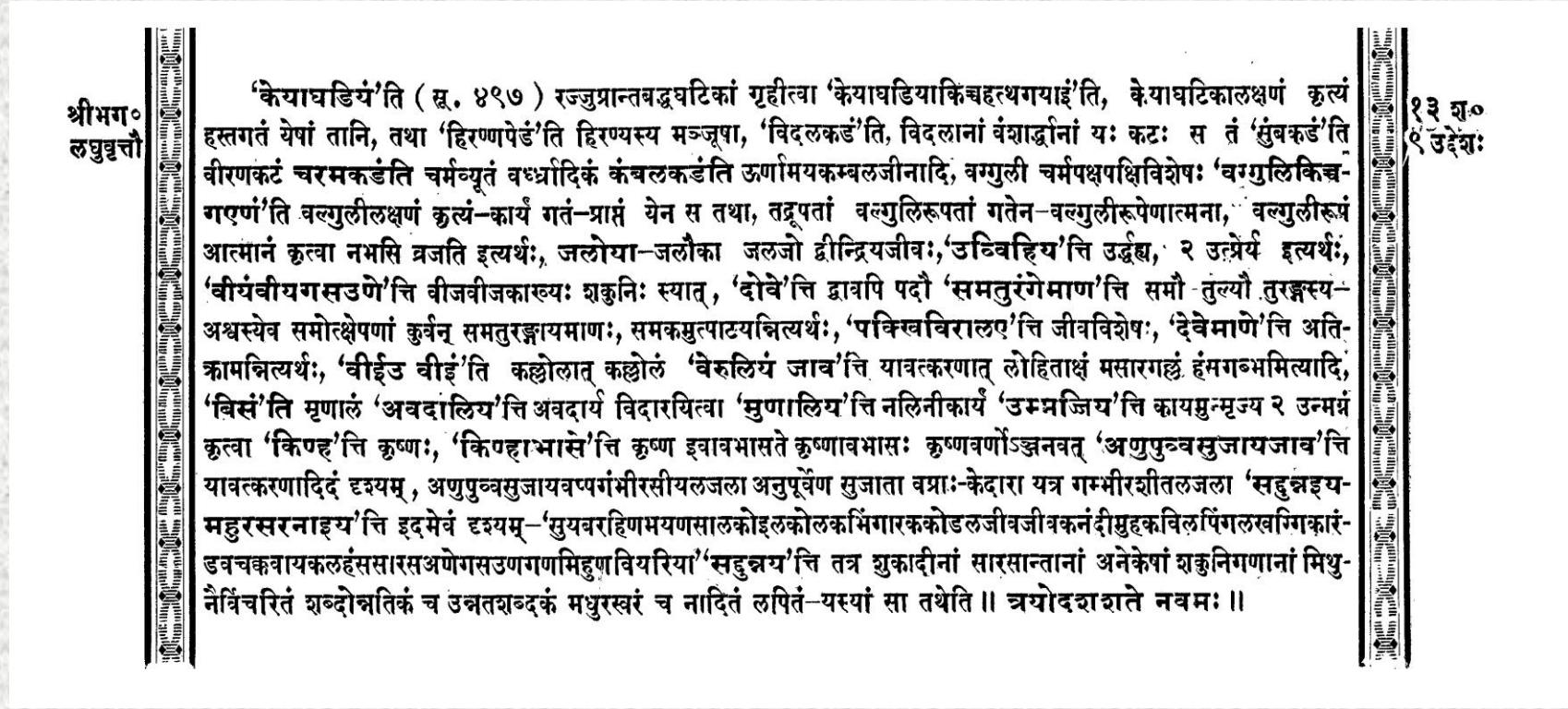

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'केयाघडियं'ति (सू. ४९७) रज्जुप्रान्तबद्धघटिकां गृहीत्वा 'केयाघडियाकिच्चहत्थगयाइं'ति, केयाघटिकालक्षणं कृत्यं हस्तगतं येषां तानि, तथा 'हिरण्णपेडं'ति हिरण्यस्य मञ्जूषा, 'विदलकडं'ति, विदलानां वंशार्द्धानां यः कटः स तं 'सुंबकडं'ति वीरणकटं **चरमकडंति** चर्मव्यूतं वर्ध्रादिकं **कंबलकडंति** ऊर्णामयकम्बलजीनादि, वग्गुली चर्मपक्षपक्षिविशेषः 'वग्गुलिकिच्चगएणं'ति वल्गुलीलक्षणं कृत्यं–कार्यं गतं–प्राप्तं येन स तथा, तद्रूपतां वल्गुलिरूपतां गतेन–वल्गुलीरूपेणात्मना, वल्गुलीरूपं आत्मानं कृत्वा नभसि व्रजति इत्यर्थः, **जलोया**–जलौका जलजो द्वीन्द्रियजीवः,'उव्विहिय'त्ति उर्द्धम्, २ उत्प्रेर्य इत्यर्थः, **'वीयंवीयगसउणे'त्ति** वीजवीजकाख्यः शकुनिः स्यात्, 'दोवे'त्ति द्वावपि पदौ 'समतुरंगेमाण'त्ति समौ तुल्यौ तुरङ्गस्य–अश्वस्येव समोत्क्षेपणां कुर्वन् समतुरङ्गायमाणः, समकमुत्पाटयन्नित्यर्थः, 'पक्खिविरालए'त्ति जीवविशेषः, 'देवेमाणे'त्ति अतिक्रामन्नित्यर्थः, **'वीईउ वीइं'ति** कल्लोलात् कल्लोलं **'वेरुलियं जाव'त्ति** यावत्करणात् लोहिताक्षं मसारगल्लं हंसगब्भमित्यादि, **'बिसं'ति** मृणालं **'अवदालिय'त्ति** अवदार्य विदारयित्वा **'मुणालिय'त्ति** नलिनीकार्यं **'उम्मज्जिय'त्ति** कायमुन्मृज्य २ उन्मग्नं कृत्वा **'किण्ह'त्ति** कृष्णः, **'किण्हाभासे'त्ति** कृष्ण इवावभासते कृष्णावभासः कृष्णवर्णोऽञ्जनवत् **'अणुपुव्वसुजायजाव'त्ति** यावत्करणादिदं दृश्यम्, अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजला अनुपूर्वेण सुजाता वप्राः-केदारा यत्र गम्भीरशीतलजला **'सहुन्नइयमहुरसरनाइय'त्ति** इदमेवं दृश्यम्–'सुयबरहिणमयणसालकोइलकोलकभिंगारककोडलजीवजीवकनंदीमुहकविलपिंगलखग्गिकारंडवचक्कवायकलहंससारसअणेगसउणगणमिहुणवियरिया''**सहुन्नय**'त्ति तत्र शुकादीनां सारसान्तानां अनेकेषां शकुनिगणानां मिथुनैर्विचरितं शब्दोन्नतिकं च उन्नतशब्दकं मधुरस्वरं च नादितं लपितं–यस्यां सा तथेति॥ त्रयोदशशते नवमः॥

१३ श०९ उद्देशः

प्रत सूत्रांक [४६९-४९८] + गाथा

दीप अनुक्रम [५६३-५९३]

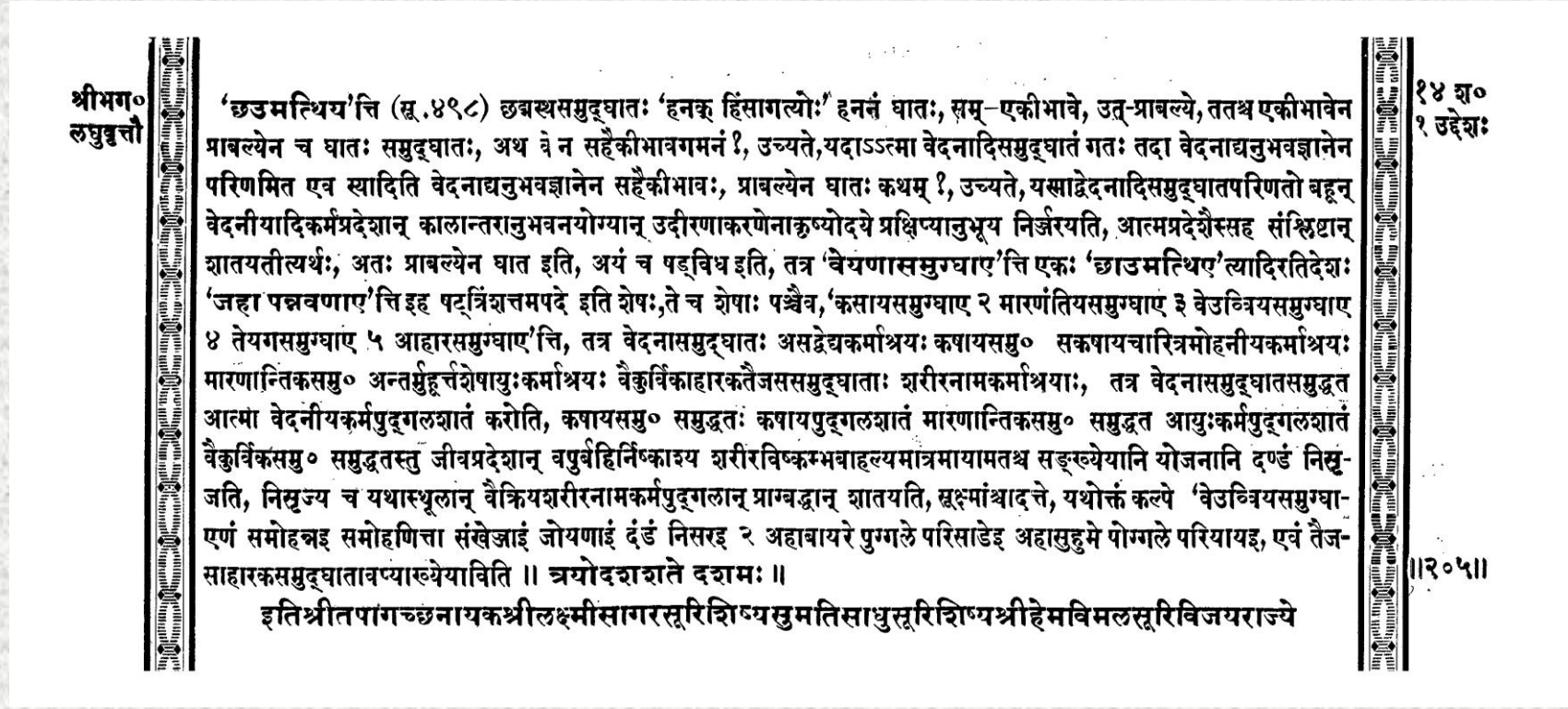

श्रीभग० लघुवृत्तौ

‘छउमत्थिय’त्ति (सू.४९८) छद्मस्थसमुद्घातः ‘हनक् हिंसागत्योः’ हननं घातः, समु–एकीभावे, उत्-प्राबल्ये, ततश्च एकीभावेन प्राबल्येन च घातः समुद्घातः, अथ वे न सहैकीभावगमनं ?, उच्यते,यदाऽऽत्मा वेदनादिसमुद्घातं गतः तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानेन परिणमित एव स्यादिति वेदनाद्यनुभवज्ञानेन सहैकीभावः, प्राबल्येन घातः कथम् ?, उच्यते, यस्माद्वेदनादिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभवनयोग्यान् उदीरणाकरणेनाकृष्योदये प्रक्षिप्यानुभूय निर्जरयति, आत्मप्रदेशैस्सह संश्लिष्टान् शातयतीत्यर्थः, अतः प्राबल्येन घात इति, अयं च षड्विध इति, तत्र ‘वेयणासमुग्घाए’त्ति एकः ‘छाउमत्थिए’त्यादिरतिदेशः ‘जहा पन्नवणाए’त्ति इह षट्त्रिंशत्तमपदे इति शेषः,ते च शेषाः पञ्चैव,‘कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४ तेयगसमुग्घाए ५ आहारसमुग्घाए’त्ति, तत्र वेदनासमुद्घातः असद्वेद्यकर्माश्रयः कषायसमु० सकषायचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः मारणान्तिकसमु० अन्तर्मुहूर्त्तशेषायुःकर्माश्रयः वैकुर्विकाहारकतैजससमुद्घाताः शरीरनामकर्माश्रयाः, तत्र वेदनासमुद्घातसमुद्गत आत्मा वेदनीयकर्मपुद्गलशातं करोति, कषायसमु० समुद्गतः कषायपुद्गलशातं मारणान्तिकसमु० समुद्गत आयुःकर्मपुद्गलशातं वैकुर्विकसमु० समुद्गतस्तु जीवप्रदेशान् वपुर्बहिर्निष्काश्य शरीरविष्कम्भबाहल्यमात्रमायामतश्च सङ्ख्येयानि योजनानि दण्डं निसृजति, निसृज्य च यथास्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान् प्राग्बद्धान् शातयति, सूक्ष्मांश्चादत्ते, यथोक्तं कल्पे ‘वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहन्नइ समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसरइ २ अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ अहासुहुमे पोग्गले परियायइ, एवं तैजसाहारकसमुद्घातावप्याख्येयाविति ॥ त्रयोदशशते दशमः ॥

इतिश्रीतपागच्छनायकश्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यसुमतिसाधुसूरिशिष्यश्रीहेमविमलसूरिविजयराज्ये

१४ श० १ उद्देशः

॥२०५॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक-१३, उद्देशक: १० एव वर्तते. मूल संपादने यत् शतक-१४ उद्देशक: १ मुद्रितं, तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

प्रत सूत्रांक [४९९-५३८] + गाथा

दीप अनुक्रम [५९४-६३८]

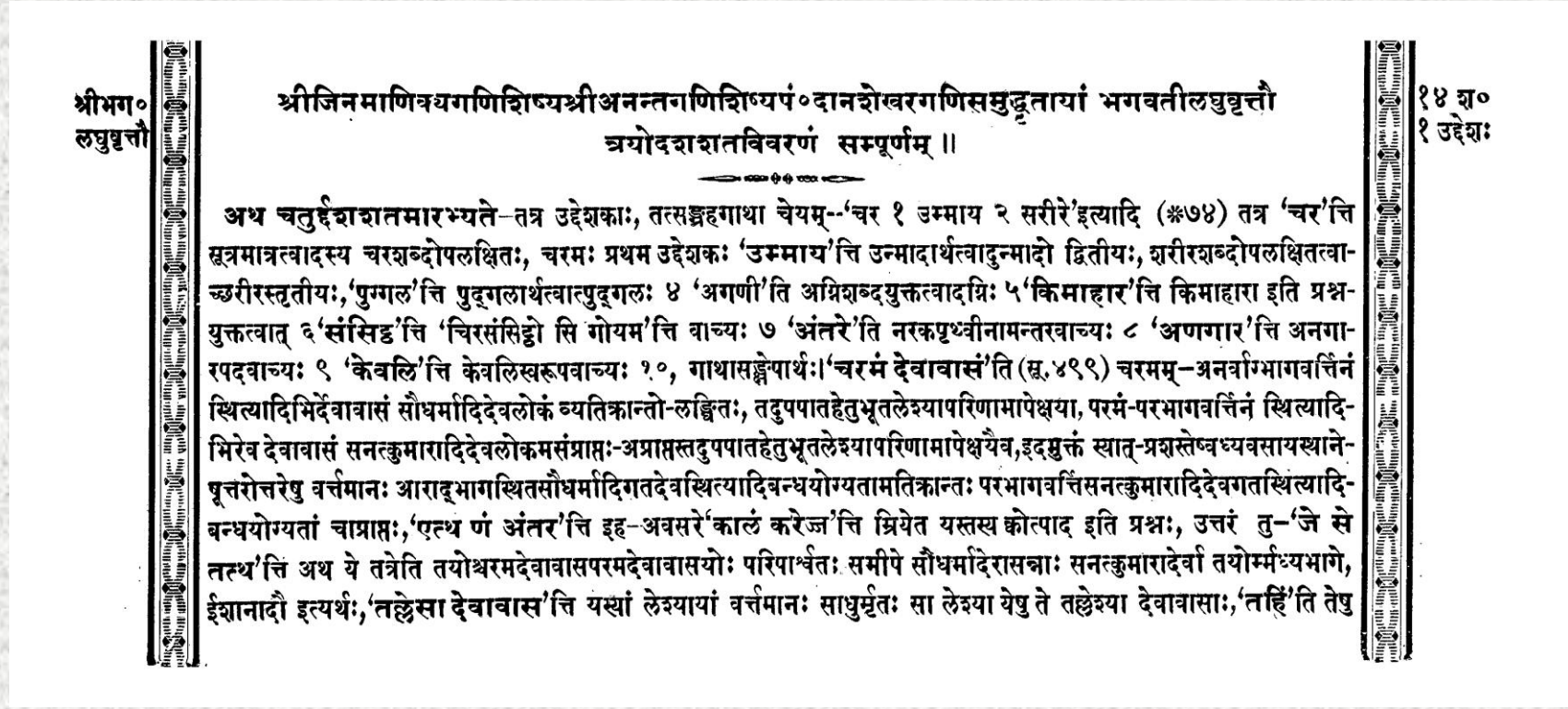

श्रीभग० लघुवृत्तौ

श्रीजिनमाणिक्यगणिशिष्यश्रीअनन्तगणिशिष्यपं०दानशेखरगणिसमुद्धृतायां भगवतीलघुवृत्तौ त्रयोदशशतविवरणं सम्पूर्णम् ॥

१४ श० १ उद्देशः

अथ चतुर्दशशतमारभ्यते–तत्र उद्देशकाः, तत्सङ्ग्रहगाथा चेयम्–'चर १ उम्माय २ सरीरे'इत्यादि (*७४) तत्र 'चर'त्ति सूत्रमात्रत्वादस्य चरशब्दोपलक्षितः, चरमः प्रथम उद्देशकः 'उम्माय'त्ति उन्मादार्थत्वादुन्मादो द्वितीयः, शरीरशब्दोपलक्षितत्वाच्छरीरस्तृतीयः,'पुग्गल'त्ति पुद्गलार्थत्वात्पुद्गलः ४ 'अगणी'ति अग्निशब्दयुक्तत्वादग्निः ५'किमाहार'त्ति किमाहारा इति प्रश्नयुक्तत्वात् ६'संसिट्ठ'त्ति 'चिरसंसिट्ठो सि गोयम'त्ति वाच्यः ७ 'अंतरे'ति नरकपृथ्वीनामन्तरवाच्यः ८ 'अणगार'त्ति अनगारपदवाच्यः ९ 'केवलि'त्ति केवलिस्वरूपवाच्यः १०, गाथासङ्केपार्थः।'चरमं देवावासं'ति (सू.४९९) चरमम्–अनर्वाग्भागवर्त्तिनं स्थित्यादिभिर्देवावासं सौधर्मादिदेवलोकं व्यतिक्रान्तो-लङ्घितः, तदुपपातहेतुभूतलेश्यापरिणामापेक्षया, परमं-परभागवर्त्तिनं स्थित्यादिभिरेव देवावासं सनत्कुमारादिदेवलोकमसंप्राप्तः-अप्राप्तस्तदुपपातहेतुभूतलेश्यापरिणामापेक्षयैव,इदमुक्तं स्यात्-प्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषूत्तरोत्तरेषु वर्त्तमानः आराद्भागस्थितसौधर्मादिगतदेवस्थित्यादिबन्धयोग्यतामतिक्रान्तः परभागवर्त्तिसनत्कुमारादिदेवगतस्थित्यादिबन्धयोग्यतां चाप्राप्तः,'एत्थ णं अंतर'त्ति इह–अवसरे'कालं करेज्ज'त्ति म्रियेत यस्तस्य क्वोत्पाद इति प्रश्नः, उत्तरं तु–'जे से तत्थ'त्ति अथ ये तत्रेति तयोश्चरमदेवावासपरमदेवावासयोः परिपार्श्वतः समीपे सौधर्मादेरासन्नाः सनत्कुमारादेर्वा तयोर्मध्यभागे, ईशानादौ इत्यर्थः,'तल्लेसा देवावास'त्ति यस्यां लेश्यायां वर्त्तमानः साधुर्मृतः सा लेश्या येषु ते तल्लेश्या देवावासाः,'तहिं'ति तेषु

*** अत्र शतक-१३ समाप्तं. अथ शतक-१४ आरभ्यते

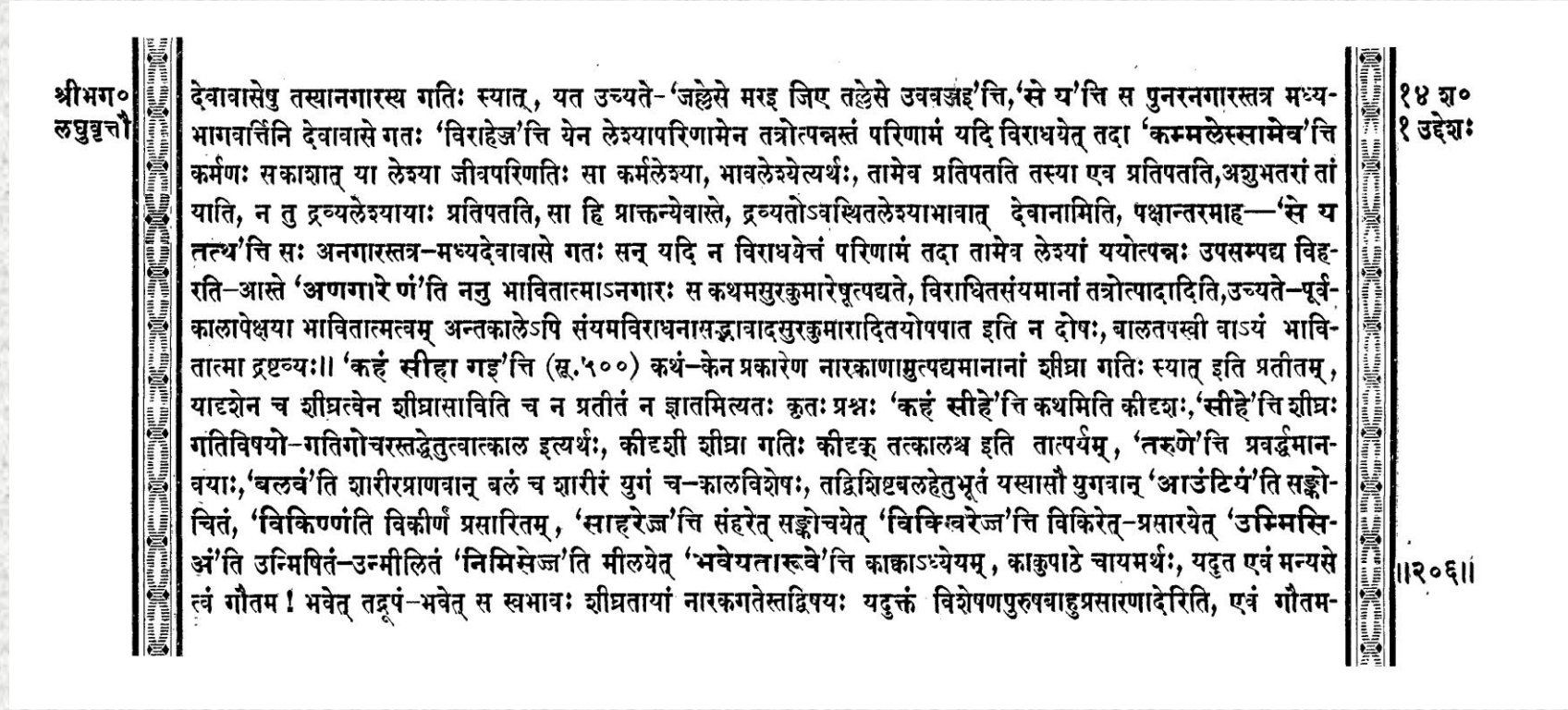

श्रीभग० लघुवृत्तौ

देवावासेषु तस्यानगारस्य गतिः स्यात्, यत उच्यते-'जल्लेसे मरइ जिए तल्लेसे उववज्जइ'त्ति,'से य'त्ति स पुनरनगारस्तत्र मध्य-भागवर्त्तिनि देवावासे गतः 'विराहेज्ज'त्ति येन लेश्यापरिणामेन तत्रोत्पन्नस्तं परिणामं यदि विराधयेत् तदा 'कम्मलेस्सामेव'त्ति कर्मणः सकाशात् या लेश्या जीवपरिणतिः सा कर्मलेश्या, भावलेश्येत्यर्थः, तामेव प्रतिपतति तस्या एव प्रतिपतति,अशुभतरां तां याति, न तु द्रव्यलेश्यायाः प्रतिपतति, सा हि प्राक्तन्येवास्ते, द्रव्यतोऽवस्थितलेश्याभावात् देवानामिति, पक्षान्तरमाह—'से य तत्थ'त्ति सः अनगारस्तत्र—मध्यदेवावासे गतः सन् यदि न विराधयेत्तं परिणामं तदा तामेव लेश्यां ययोत्पन्नः उपसम्पद्य विह-रति—आस्ते 'अणगारे णं'ति ननु भावितात्माऽनगारः स कथमसुरकुमारेषूत्पद्यते, विराधितसंयमानां तत्रोत्पादादिति,उच्यते—पूर्व-कालापेक्षया भावितात्मत्वम् अन्तकालेऽपि संयमविराधनासद्भावादसुरकुमारादितयोपपात इति न दोषः, बालतपस्वी वाऽयं भावि-तात्मा द्रष्टव्यः॥ 'कहं सीहा गइ'त्ति (सू.५००) कथं—केन प्रकारेण नारकाणामुत्पद्यमानानां शीघ्रा गतिः स्यात् इति प्रतीतम्, यादृशेन च शीघ्रत्वेन शीघ्रासाविति च न प्रतीतं न ज्ञातमित्यतः कृतः प्रश्नः 'कहं सीहे'त्ति कथमिति कीदृशः,'सीहे'त्ति शीघ्रः गतिविषयो—गतिगोचरस्तद्धेतुत्वात्काल इत्यर्थः, कीदृशी शीघ्रा गतिः कीदृक् तत्कालश्च इति तात्पर्यम्, 'तरुणे'त्ति प्रवर्द्धमान-वयाः,'बलवं'ति शारीरप्राणवान् बलं च शारीरं युगं च—कालविशेषः, तद्विशिष्टबलहेतुभूतं यस्यासौ युगवान् 'आउंटियं'ति सङ्को-चितं, 'विकिण्णंति विकीर्णं प्रसारितम्, 'साहरेज्ज'त्ति संहरेत् सङ्कोचयेत् 'विक्खिरेज्ज'त्ति विकिरेत्—प्रसारयेत् 'उम्मिसि-अं'ति उन्मिषितं—उन्मीलितं 'निमिसेज्ज'ति मीलयेत् 'भवेयतारूवे'त्ति काक्काऽध्येयम्, काकुपाठे चायमर्थः, यदुत एवं मन्यसे त्वं गौतम ! भवेत् तद्रूपं—भवेत् स स्वभावः शीघ्रतायां नारकगतेस्तद्विषयः यदुक्तं विशेषणपुरुषबाहुप्रसारणादेरिति, एवं गौतम-

१४ श० १ उद्देशः

॥२०६॥

मतमाशङ्क्याह श्रीभगवान्–नायमर्थः समर्थः, कस्मादेवमित्याह–'नेरइयाणं'ति अयमभिप्रायो-नारकाणां गतिरेकद्वित्रिसमया बाहु-प्रसारणादिका वाऽसङ्ख्येयसमया इति, कथं तादृशी गतिः स्यात् नारकाणामिति ?, 'एगसमएण व'त्ति एकेन समयेन उप-पद्यन्त इति योगः, ते च ऋजुगत्यैव, वाशब्दो विकल्पे, इह च विग्रहशब्दो न सम्बन्धितः, तस्यैकसामयिकस्याभावात्, 'दुसमएण-व'त्ति द्वौ समयौ यत्र स द्विसमयस्तेन विग्रहेण, एवं त्रिसमयेन वा विग्रहेण–वक्रेण, तत्र स द्विसमयो विग्रहो यदा भरतस्य पूर्व-स्या दिशो नरके पश्चिमायामुत्पद्यते तदा एकेन समयेनाधो याति, द्वितीयेन तु तिर्यगुत्पत्तिस्थानमिति, त्रिसमयविग्रहस्त्वेवम्–यदा

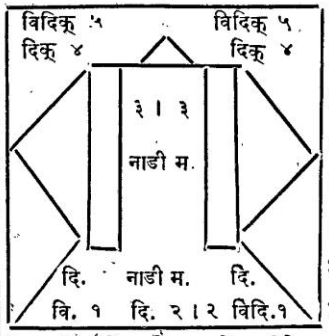

भरतस्य पूर्वदक्षिणयोर्दिशोर्नरके अपरोत्तरायां दिशि गत्वोत्पद्यते तदा एकेनाधः समश्रेण्या याति, द्वितीयेन च तिर्यक् पश्चिमायां, तृतीयेन तिर्यगेव वायव्यां दिशि उत्पत्तिस्थानमिति,तदनेन गति-काल उक्तः एवं यादृशी शीघ्रा गतिस्तदुक्तमिति, 'तदा सीहागइ'त्ति, यथोत्कृष्टः समयत्रये स्यात् तदा 'सीहे गइविसए'त्ति, 'एगिंदियाणं'ति, उत्कर्षतश्चतुःसमयो विग्रहो–वक्रगतिः स्यात्, कथं ?, उच्यते–त्रसनाड्या बहिस्तादधोलोके विदिशो दिशं यात्येवेन, जीवानामनुश्रेणि-गमनात्, द्वितीयेन तु लोकमध्ये प्रविशति, तृतीयेनोर्ध्वं याति, चतुर्थेन तु त्रसनाडीतो नित्यदि-गव्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानमिति प्राप्नोति, एतच्च बाहुल्यमङ्गीकृत्योच्यते, अन्यथा पञ्चसमयो विग्रहो भवेत् एकेन्द्रियाणां, तथाहि–स्थापना चेयम्। त्रसनाड्या बहिस्तादधोलोके विदिशो दिशं यात्ये-केन द्वितीयेन लोकमध्ये तृतीयेनार्ध्वलोके चतुर्थेन ततस्तिर्यक् पूर्वादिदिशा निर्गच्छति, ततः पञ्चमेन विदिगव्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानं

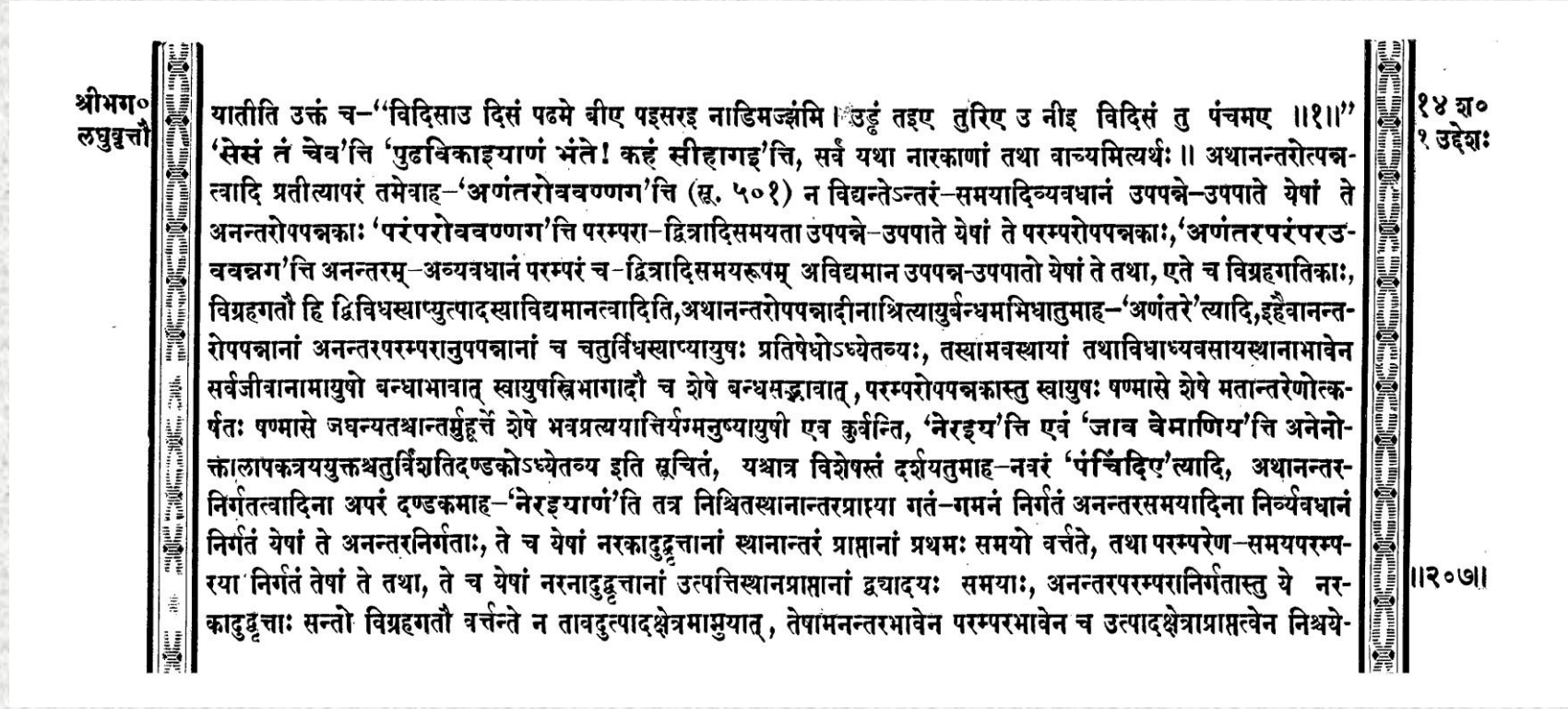

श्रीभग० लघुवृत्तौ

यातीति उक्तं च–"विदिसाउ दिसं पढमे बीए पइसरइ नाडिमज्झंमि। उड्ढं तइए तुरिए उ नीइ विदिसं तु पंचमए ॥१॥" 'सेसं तं चेव'त्ति 'पुढविकाइयाणं भंते! कहं सीहागइ'त्ति, सर्वं यथा नारकाणां तथा वाच्यमित्यर्थः ॥ अथानन्तरोत्पन्नत्वादि प्रतीत्यापरं तमेवाह–'अणंतरोववण्णग'त्ति (सू. ५०१) न विद्यन्तेऽन्तरं–समयादिव्यवधानं उपपन्ने–उपपाते येषां ते अनन्तरोपपन्नकाः 'परंपरोववण्णग'त्ति परम्परा–द्वित्रादिसमयता उपपन्ने–उपपाते येषां ते परम्परोपपन्नकाः,'अणंतरपरंपरउववन्नग'त्ति अनन्तरम्–अव्यवधानं परम्परं च–द्वित्रादिसमयरूपम् अविद्यमान उपपन्न-उपपातो येषां ते तथा, एते च विग्रहगतिकाः, विग्रहगतौ हि द्विविधस्याप्युत्पादस्याविद्यमानत्वादिति,अथानन्तरोपपन्नादीनाश्रित्यायुर्बन्धमभिधातुमाह–'अणंतरे'त्यादि,इहैवानन्तरोपपन्नानां अनन्तरपरम्परानुपपन्नानां च चतुर्विधस्याप्यायुषः प्रतिषेधोऽध्येतव्यः, तस्यामवस्थायां तथाविधाध्यवसायस्थानाभावेन सर्वजीवानामायुषो बन्धाभावात् स्वायुषस्त्रिभागादौ च शेषे बन्धसद्भावात्, परम्परोपपन्नकास्तु स्वायुषः षण्मासे शेषे मतान्तरेणोत्कर्षतः षण्मासे जघन्यतश्चान्तर्मुहूर्त्ते शेषे भवप्रत्ययात्तिर्यग्मनुष्यायुषी एव कुर्वन्ति, 'नेरइय'त्ति एवं 'जाव वेमाणिय'त्ति अनेनोक्तालापकत्रययुक्तश्चतुर्विंशतिदण्डकोऽध्येतव्य इति सूचितं, यश्चात्र विशेषस्तं दर्शयतुमाह–नवरं 'पंचिंदिए'त्यादि, अथानन्तरनिर्गतत्वादिना अपरं दण्डकमाह–'नेरइयाणं'ति तत्र निश्चितस्थानान्तरप्राप्त्या गतं–गमनं निर्गतं अनन्तरसमयादिना निर्व्यवधानं निर्गतं येषां ते अनन्तरनिर्गताः, ते च येषां नरकादुद्वृत्तानां स्थानान्तरं प्राप्तानां प्रथमः समयो वर्त्तते, तथा परम्परेण–समयपरम्परया निर्गतं तेषां ते तथा, ते च येषां नरनादुद्वृत्तानां उत्पत्तिस्थानप्राप्तानां द्व्यादयः समयाः, अनन्तरपरम्परानिर्गतास्तु ये नरकादुद्वृत्ताः सन्तो विग्रहगतौ वर्त्तन्ते न तावदुत्पादक्षेत्रमाप्नुयात्, तेषामनन्तरभावेन परम्परभावेन च उत्पादक्षेत्राप्राप्तत्वेन निश्चये-

१४ श० १ उद्देशः

॥२०७॥

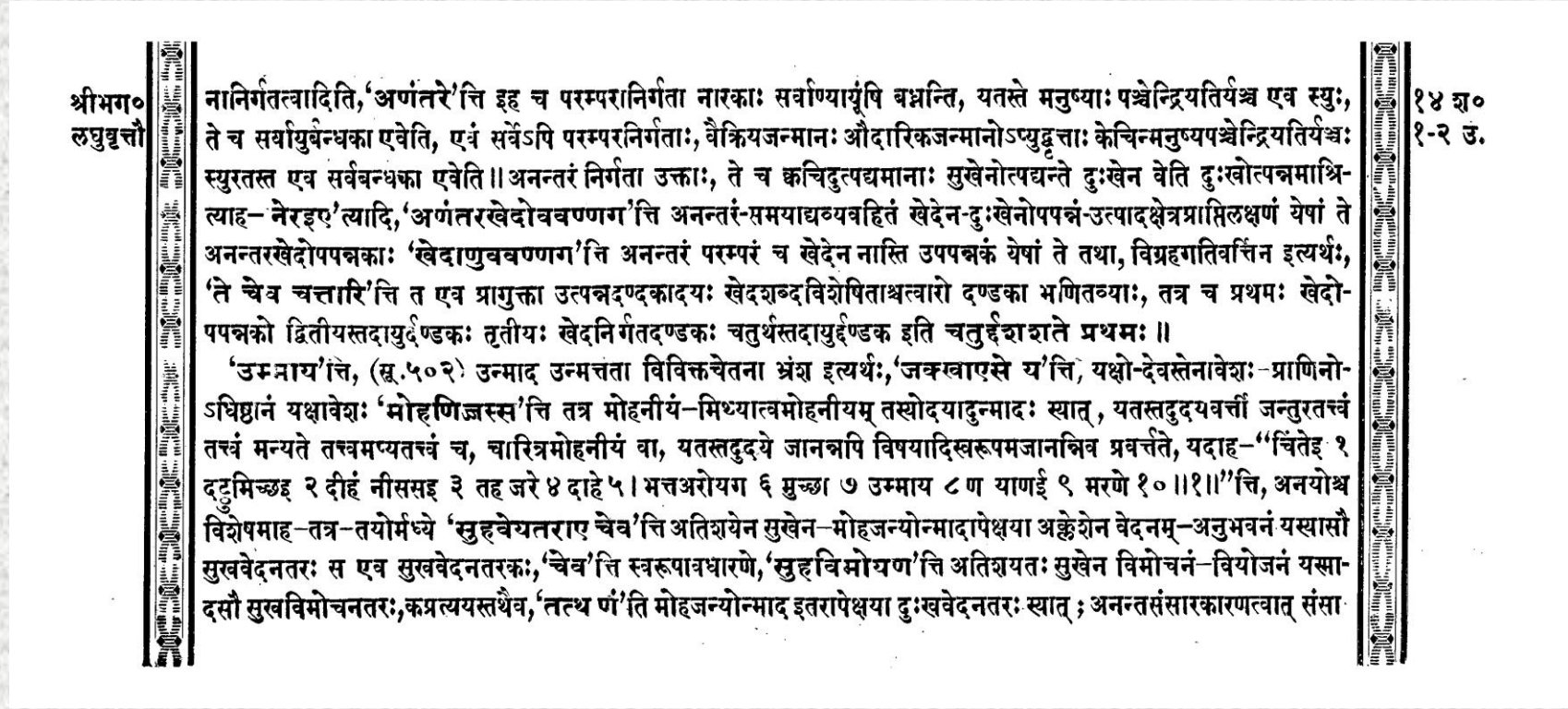

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नानिर्गतत्वादिति,'अणंतरे'त्ति इह च परम्परानिर्गता नारकाः सर्वाण्यायूंषि बध्नन्ति, यतस्ते मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च एव स्युः, ते च सर्वायुर्बन्धका एवेति, एवं सर्वेऽपि परम्परनिर्गताः, वैक्रियजन्मानः औदारिकजन्मानोऽप्युद्वृत्ताः केचिन्मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः स्युरतस्त एव सर्वबन्धका एवेति॥ अनन्तरं निर्गता उक्ताः, ते च क्वचिदुत्पद्यमानाः सुखेनोत्पद्यन्ते दुःखेन वेति दुःखोत्पन्नमाश्रित्याह– नेरइए'त्यादि,'अणंतरखेदोववण्णग'त्ति अनन्तरं-समयाद्यव्यवहितं खेदेन-दुःखेनोपपन्नं-उत्पादक्षेत्रप्राप्तिलक्षणं येषां ते अनन्तरखेदोपपन्नकाः 'खेदाणुववण्णग'त्ति अनन्तरं परम्परं च खेदेन नास्ति उपपन्नकं येषां ते तथा, विग्रहगतिवर्त्तिन इत्यर्थः, 'ते चेव चत्तारि'त्ति त एव प्रागुक्ता उत्पन्नदण्दकादयः खेदशब्दविशेषिताश्चत्वारो दण्डका भणितव्याः, तत्र च प्रथमः खेदोपपन्नको द्वितीयस्तदायुर्दण्डकः तृतीयः खेदनिर्गतदण्डकः चतुर्थस्तदायुर्दण्डक इति चतुर्दशशते प्रथमः॥

'उम्माय'त्ति, (सू.५०२) उन्माद उन्मत्तता विविक्तचेतना भ्रंश इत्यर्थः,'जक्खाएसे य'त्ति, यक्षो-देवस्तेनावेशः-प्राणिनोऽधिष्ठानं यक्षावेशः 'मोहणिज्जस्स'त्ति तत्र मोहनीयं–मिथ्यात्वमोहनीयम् तस्योदयादुन्मादः स्यात्, यतस्तदुदयवर्त्ती जन्तुरतत्त्वं तत्त्वं मन्यते तत्त्वमप्यतत्त्वं च, चारित्रमोहनीयं वा, यतस्तदुदये जानन्नपि विषयादिस्वरूपमजानन्निव प्रवर्त्तते, यदाह–"चिंतेइ १ दट्ठुमिच्छइ २ दीहं नीससइ ३ तह जरे ४ दाहे ५। भत्तअरोयग ६ मुच्छा ७ उम्माय ८ ण याणई ९ मरणे १०॥१॥"त्ति, अनयोश्च विशेषमाह–तत्र–तयोर्मध्ये 'सुहवेयतराए चेव'त्ति अतिशयेन सुखेन–मोहजन्योन्मादापेक्षया अक्लेशेन वेदनम्–अनुभवनं यस्यासौ सुखवेदनतरः स एव सुखवेदनतरकः,'चेव'त्ति स्वरूपावधारणे,'सुहविमोयण'त्ति अतिशयतः सुखेन विमोचनं–वियोजनं यस्मादसौ सुखविमोचनतरः,कप्रत्ययस्तथैव,'तत्थ णं'ति मोहजन्योन्माद इतरापेक्षया दुःखवेदनतरः स्यात्; अनन्तसंसारकारणत्वात् संसा

१४ श० १-२ उ.

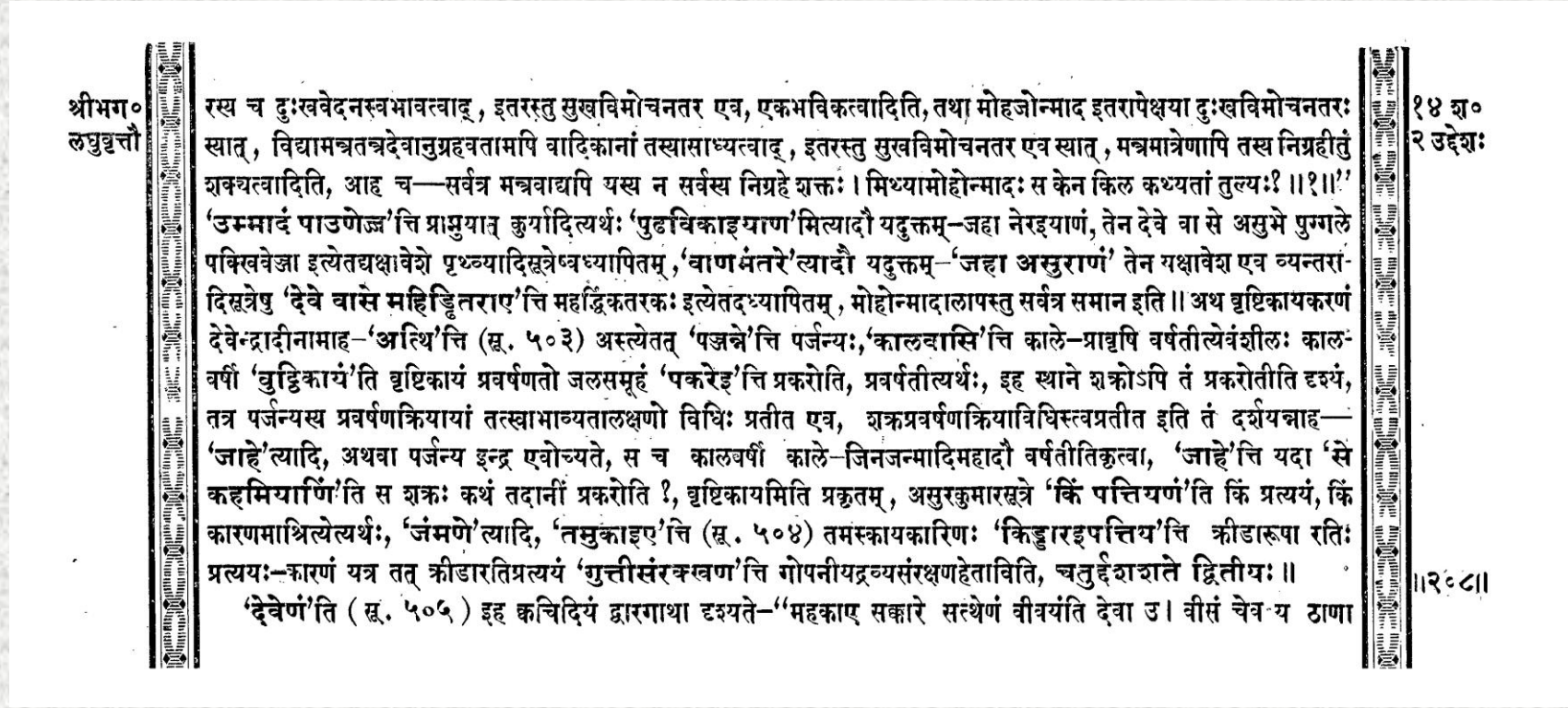

श्रीभग० लघुवृत्तौ

रस्य च दुःखवेदनस्वभावत्वाद्, इतरस्तु सुखविमोचनतर एव, एकभविकत्वादिति, तथा मोहजोन्माद इतरापेक्षया दुःखविमोचनतरः स्यात्, विद्यामन्त्रतन्त्रदेवानुग्रहवतामपि वादिकानां तस्यासाध्यत्वाद्, इतरस्तु सुखविमोचनतर एव स्यात्, मन्त्रमात्रेणापि तस्य निग्रहीतुं शक्यत्वादिति, आह च—सर्वत्र मन्त्रवाद्यपि यस्य न सर्वस्य निग्रहे शक्तः। मिथ्यामोहोन्मादः स केन किल कथ्यतां तुल्यः? ॥१॥" 'उम्मादं पाउणेज्ज'त्ति प्राप्नुयात् कुर्यादित्यर्थः 'पुढविकाइयाण'मित्यादौ यदुक्तम्—जहा नेरइयाणं, तेन देवे वा से असुभे पुग्गले पक्खिवेज्जा इत्येतद्यक्षावेशे पृथ्व्यादिसूत्रेष्वध्यापितम्, 'वाणमंतरे'त्यादौ यदुक्तम्—'जहा असुराणं' तेन यक्षावेश एव व्यन्तरादिसूत्रेषु 'देवे वासे महिड्ढितराए'त्ति महर्द्धिकतरकः इत्येतदध्यापितम्, मोहोन्मादालापस्तु सर्वत्र समान इति॥ अथ वृष्टिकायकरणं देवेन्द्रादीनामाह—'अत्थि'त्ति (सू. ५०३) अस्त्येतत् 'पज्जन्ने'त्ति पर्जन्यः, 'कालवासि'त्ति काले—प्रावृषि वर्षतीत्येवंशीलः कालवर्षी 'वुट्ठिकायं'ति वृष्टिकायं प्रवर्षणतो जलसमूहं 'पकरेइ'त्ति प्रकरोति, प्रवर्षतीत्यर्थः, इह स्थाने शक्रोऽपि तं प्रकरोतीति दृश्यं, तत्र पर्जन्यस्य प्रवर्षणक्रियायां तत्स्वाभाव्यतालक्षणो विधिः प्रतीत एव, शक्रप्रवर्षणक्रियाविधिस्त्वप्रतीत इति तं दर्शयन्नाह—'जाहे'त्यादि, अथवा पर्जन्य इन्द्र एवोच्यते, स च कालवर्षी काले—जिनजन्मादिमहादौ वर्षतीतिकृत्वा, 'जाहे'त्ति यदा 'से कहमियाणिं'ति स शक्रः कथं तदानीं प्रकरोति ?, वृष्टिकायमिति प्रकृतम्, असुरकुमारसूत्रे 'किं पत्तियणं'ति किं प्रत्ययं, किं कारणमाश्रित्येत्यर्थः, 'जंमणे'त्यादि, 'तमुकाइए'त्ति (सू. ५०४) तमस्कायकारिणः 'किड्डारइपत्तिय'त्ति क्रीडारूपा रतिः प्रत्ययः—कारणं यत्र तत् क्रीडारतिप्रत्ययं 'गुत्तीसंरक्खण'त्ति गोपनीयद्रव्यसंरक्षणहेताविति, चतुर्दशशते द्वितीयः॥

'देवेणं'ति (सू. ५०५) इह क्वचिदियं द्वारगाथा दृश्यते—"महकाए सक्कारे सत्थेणं वीयंति देवा उ। वीसं चेव य ठाणा

१४ श० २ उद्देशः

॥२०८॥

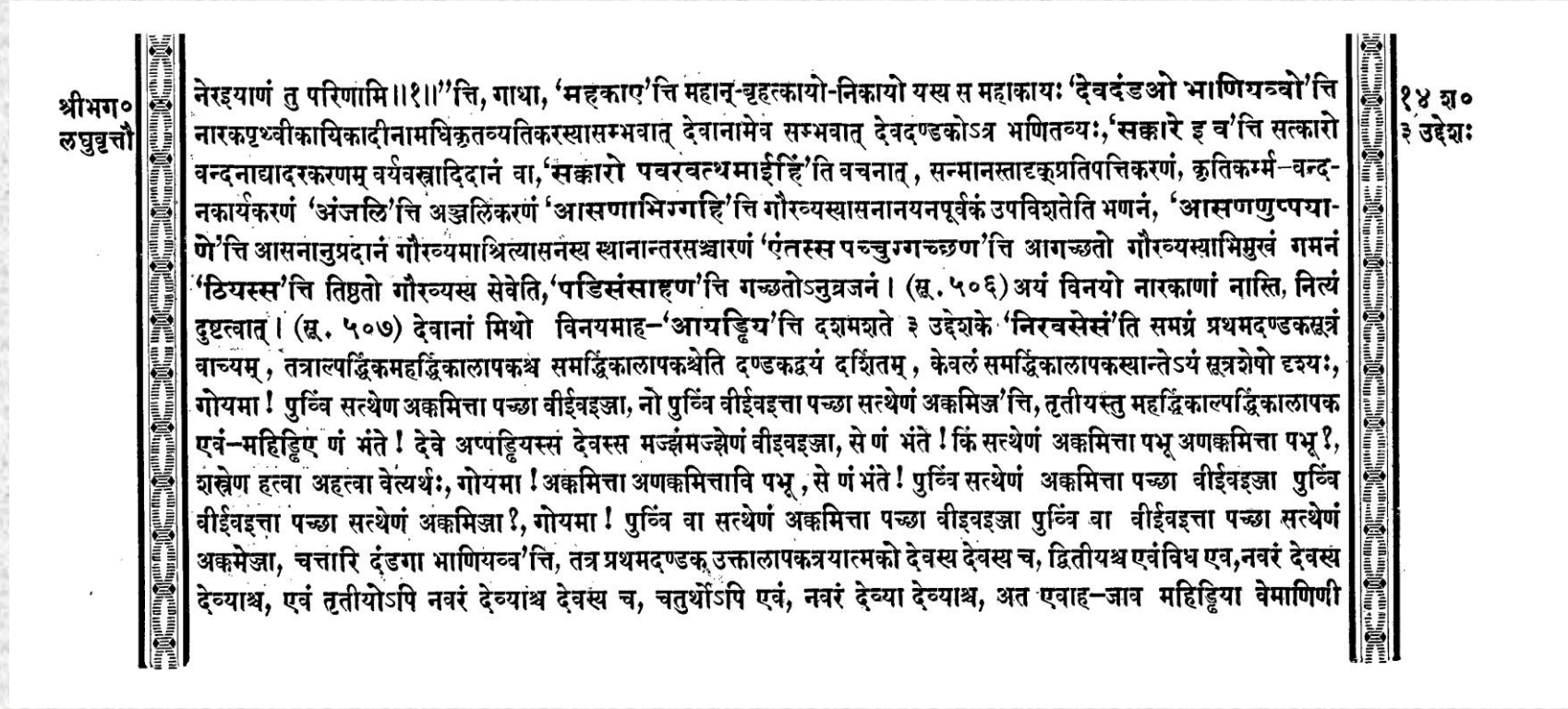

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नेरइयाणं तु परिणामि॥१॥"त्ति, गाथा, 'महकाए'त्ति महान्-बृहत्कायो-निकायो यस्य स महाकायः 'देवदंडओ भाणियव्वो'त्ति नारकपृथ्वीकायिकादीनामधिकृतव्यतिकरस्यासम्भवात् देवानामेव सम्भवात् देवदण्डकोऽत्र भणितव्यः,'सक्कारे इ व'त्ति सत्कारो वन्दनाद्यादरकरणम् वस्त्रादिदानं वा,'सक्कारो पवरवत्थमाईहिं'ति वचनात्, सन्मानस्तादृक्प्रतिपत्तिकरणं, कृतिकर्म्म–वन्दनकार्यकरणं 'अंजलि'त्ति अञ्जलिकरणं 'आसणाभिग्गहि'त्ति गौरव्यस्यासनानयनपूर्वकं उपविशतेति भणनं, 'आसणणुप्पयाणे'त्ति आसनानुप्रदानं गौरव्यमाश्रित्यासनस्य स्थानान्तरसञ्चारणं 'एंतस्स पच्चुग्गच्छण'त्ति आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखं गमनं 'ठियस्स'त्ति तिष्ठतो गौरव्यस्य सेवेति,'पडिसंसाहण'त्ति गच्छतोऽनुव्रजनं। (सू.५०६) अयं विनयो नारकाणां नास्ति, नित्यं दुष्टत्वात्। (सू. ५०७) देवानां मिथो विनयमाह–'आयड्ढिय'त्ति दशमशते ३ उद्देशके 'निरवसेसं'ति समग्रं प्रथमदण्डकसूत्रं वाच्यम्, तत्राल्पर्द्धिकमहर्द्धिकालापकश्च समर्द्धिकालापकश्चेति दण्डकद्वयं दर्शितम्, केवलं समर्द्धिकालापकस्यान्तेऽयं सूत्रशेषो दृश्यः, गोयमा! पुव्विं सत्थेण अक्कमित्ता पच्छा वीईवइज्जा, नो पुव्विं वीईवइत्ता पच्छा सत्थेणं अक्कमिज्ज'त्ति, तृतीयस्तु महर्द्धिकाल्पर्द्धिकालापक एवं–महिड्ढिए णं भंते! देवे अप्पड्ढियस्स देवस्स मज्झंमज्झेणं वीईवइज्जा, से णं भंते! किं सत्थेणं अक्कमित्ता पभू अणक्कमित्ता पभू?, शस्त्रेण हत्वा अहत्वा वेत्यर्थः, गोयमा! अक्कमित्ता अणक्कमित्तावि पभू, से णं भंते! पुव्विं सत्थेणं अक्कमित्ता पच्छा वीईवइज्जा पुव्विं वीईवइत्ता पच्छा सत्थेणं अक्कमिज्जा?, गोयमा! पुव्विं वा सत्थेणं अक्कमित्ता पच्छा वीइवइज्जा पुव्विं वा वीईवइत्ता पच्छा सत्थेणं अक्कमेज्जा, चत्तारि दंडगा भाणियव्व'त्ति, तत्र प्रथमदण्डक उक्तालापकत्रयात्मको देवस्य देवस्य च, द्वितीयश्च एवंविध एव,नवरं देवस्य देव्याश्च, एवं तृतीयोऽपि नवरं देव्याश्च देवस्य च, चतुर्थोऽपि एवं, नवरं देव्या देव्याश्च, अत एवाह–जाव महिड्ढिया वेमाणिणी

१४ श० ३ उद्देशः

प्रत सूत्रांक [४९९-५३८] + गाथा

दीप अनुक्रम [५९४-६३८]

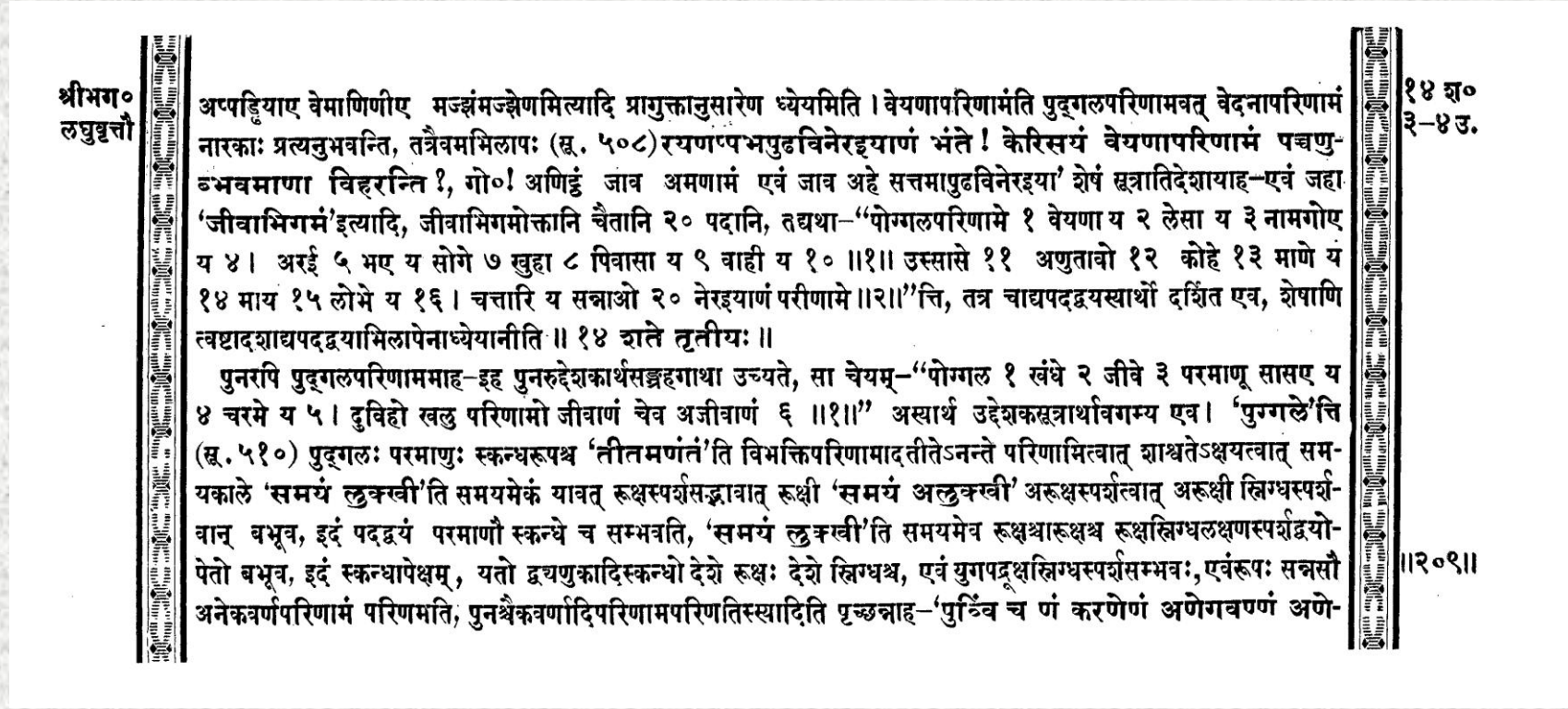

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अप्पड्डियाए वेमाणिणीए मज्झंमज्झेणमित्यादि प्रागुक्तानुसारेण ध्येयमिति । वेयणापरिणामंति पुद्गलपरिणामवत् वेदनापरिणामं नारकाः प्रत्यनुभवन्ति, तत्रैवमभिलापः (सू. ५०८) रयणप्पभपुढविनेरइयाणं भंते! केरिसयं वेयणापरिणामं पच्चणुब्भवमाणा विहरन्ति?, गो०! अणिट्ठं जाव अमणामं एवं जाव अहे सत्तमापुढविनेरइया' शेषं सूत्रातिदेशायाह–एवं जहा 'जीवाभिगमं'इत्यादि, जीवाभिगमोक्तानि चैतानि २० पदानि, तद्यथा–"पोग्गलपरिणामे १ वेयणा य २ लेसा य ३ नामगोए य ४। अरई ५ भए य सोगे ७ खुहा ८ पिवासा य ९ वाही य १० ॥१॥ उस्सासे ११ अणुतावो १२ कोहे १३ माणे य १४ माय १५ लोभे य १६। चत्तारि य सन्नाओ २० नेरइयाणं परीणामे ॥२॥"त्ति, तत्र चाद्यपदद्वयस्यार्थो दर्शित एव, शेषाणि त्वष्टादशाद्यपदद्वयाभिलापेनाध्येयानीति ॥ १४ शते तृतीयः ॥

पुनरपि पुद्गलपरिणाममाह–इह पुनरुद्देशकार्थसङ्ग्रहगाथा उच्यते, सा चेयम्–"पोग्गल १ खंधे २ जीवे ३ परमाणू सासए य ४ चरमे य ५। दुविहो खलु परिणामो जीवाणं चेव अजीवाणं ६ ॥१॥" अस्यार्थ उद्देशकसूत्रार्थावगम्य एव। 'पुग्गले'त्ति (सू. ५१०) पुद्गलः परमाणुः स्कन्धरूपश्च 'तीतमणंतं'ति विभक्तिपरिणामादतीतेऽनन्ते परिणामित्वात् शाश्वतेऽक्षयत्वात् समयकाले 'समयं लुक्खी'ति समयमेकं यावत् रूक्षस्पर्शसद्भावात् रूक्षी 'समयं अलुक्खी' अरूक्षस्पर्शत्वात् अरूक्षी स्निग्धस्पर्शवान् बभूव, इदं पदद्वयं परमाणौ स्कन्धे च सम्भवति, 'समयं लुक्खी'ति समयमेव रूक्षश्चारूक्षश्च रूक्षस्निग्धलक्षणस्पर्शद्वयोपेतो बभूव, इदं स्कन्धापेक्षम्, यतो द्व्यणुकादिस्कन्धो देशे रूक्षः देशे स्निग्धश्च, एवं युगपद्रूक्षस्निग्धस्पर्शसम्भवः, एवंरूपः सन्नसौ अनेकवर्णपरिणामं परिणमति, पुनश्चैकवर्णादिपरिणामपरिणतिस्स्यादिति पृच्छन्नाह–'पुढिंव च णं करणेणं अणेगवण्णं अणे-

१४ श० ३–४ उ.

॥२०९॥

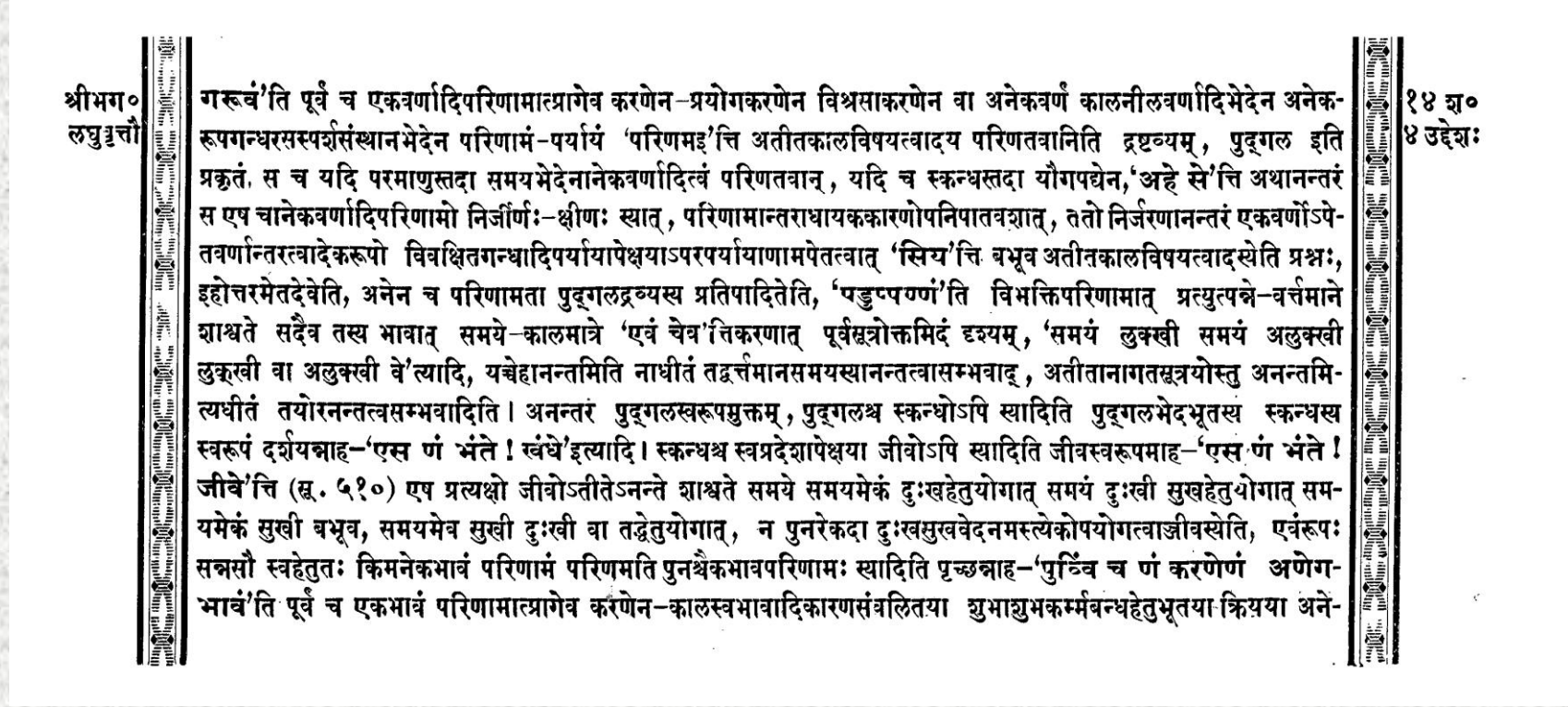

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गरूवं'ति पूर्वं च एकवर्णादिपरिणामात्प्रागेव करणेन–प्रयोगकरणेन विश्रसाकरणेन वा अनेकवर्णं कालनीलवर्णादिभेदेन अनेकरूपगन्धरसस्पर्शसंस्थानभेदेन परिणामं–पर्यायं 'परिणमइ'त्ति अतीतकालविषयत्वादय परिणतवानिति द्रष्टव्यम्, पुद्गल इति प्रकृतं, स च यदि परमाणुस्तदा समयभेदेनानेकवर्णादित्वं परिणतवान्, यदि च स्कन्धस्तदा यौगपद्येन,'अहे से'त्ति अथानन्तरं स एष चानेकवर्णादिपरिणामो निर्जीर्णः–क्षीणः स्यात्, परिणामान्तराधायककारणोपनिपातवशात्, ततो निर्जरणानन्तरं एकवर्णोऽपेतवर्णान्तरत्वादेकरूपो विवक्षितगन्धादिपर्यायापेक्षयाऽपरपर्यायाणामपेतत्वात् 'सिय'त्ति बभूव अतीतकालविषयत्वादस्येति प्रश्नः, इहोत्तरमेतदेवेति, अनेन च परिणामता पुद्गलद्रव्यस्य प्रतिपादितेति, 'पडुप्पण्णं'ति विभक्तिपरिणामात् प्रत्युत्पन्ने–वर्त्तमाने शाश्वते सदैव तस्य भावात् समये–कालमात्रे 'एवं चेव'त्तिकरणात् पूर्वसूत्रोक्तमिदं दृश्यम्, 'समयं लुक्खी समयं अलुक्खी लुक्खी वा अलुक्खी वे'त्यादि, यच्चेहानन्तमिति नाधीतं तद्वर्त्तमानसमयस्यानन्तत्वासम्भवाद्, अतीतानागतसूत्रयोस्तु अनन्तमित्यधीतं तयोरनन्तत्वसम्भवादिति। अनन्तरं पुद्गलस्वरूपमुक्तम्, पुद्गलश्च स्कन्धोऽपि स्यादिति पुद्गलभेदभूतस्य स्कन्धस्य स्वरूपं दर्शयन्नाह–'एस णं भंते! खंधे'इत्यादि। स्कन्धश्च स्वप्रदेशापेक्षया जीवोऽपि स्यादिति जीवस्वरूपमाह–'एस णं भंते! जीवे'त्ति (सू. ५१०) एष प्रत्यक्षो जीवोऽतीतेऽनन्ते शाश्वते समये समयमेकं दुःखहेतुयोगात् समयं दुःखी सुखहेतुयोगात् समयमेकं सुखी बभूव, समयमेव सुखी दुःखी वा तद्धेतुयोगात्, न पुनरेकदा दुःखसुखवेदनमस्त्येकोपयोगत्वाज्जीवस्येति, एवंरूपः सन्नसौ स्वहेतुतः किमनेकभावं परिणामं परिणमति पुनश्चैकभावपरिणामः स्यादिति पृच्छन्नाह–'पुव्विं च णं करणेणं अणेगभावं'ति पूर्वं च एकभावं परिणामात्प्रागेव करणेन–कालस्वभावादिकारणसंवलितया शुभाशुभकर्म्मबन्धहेतुभूतया क्रियया अने-

१४ श० ४ उद्देशः

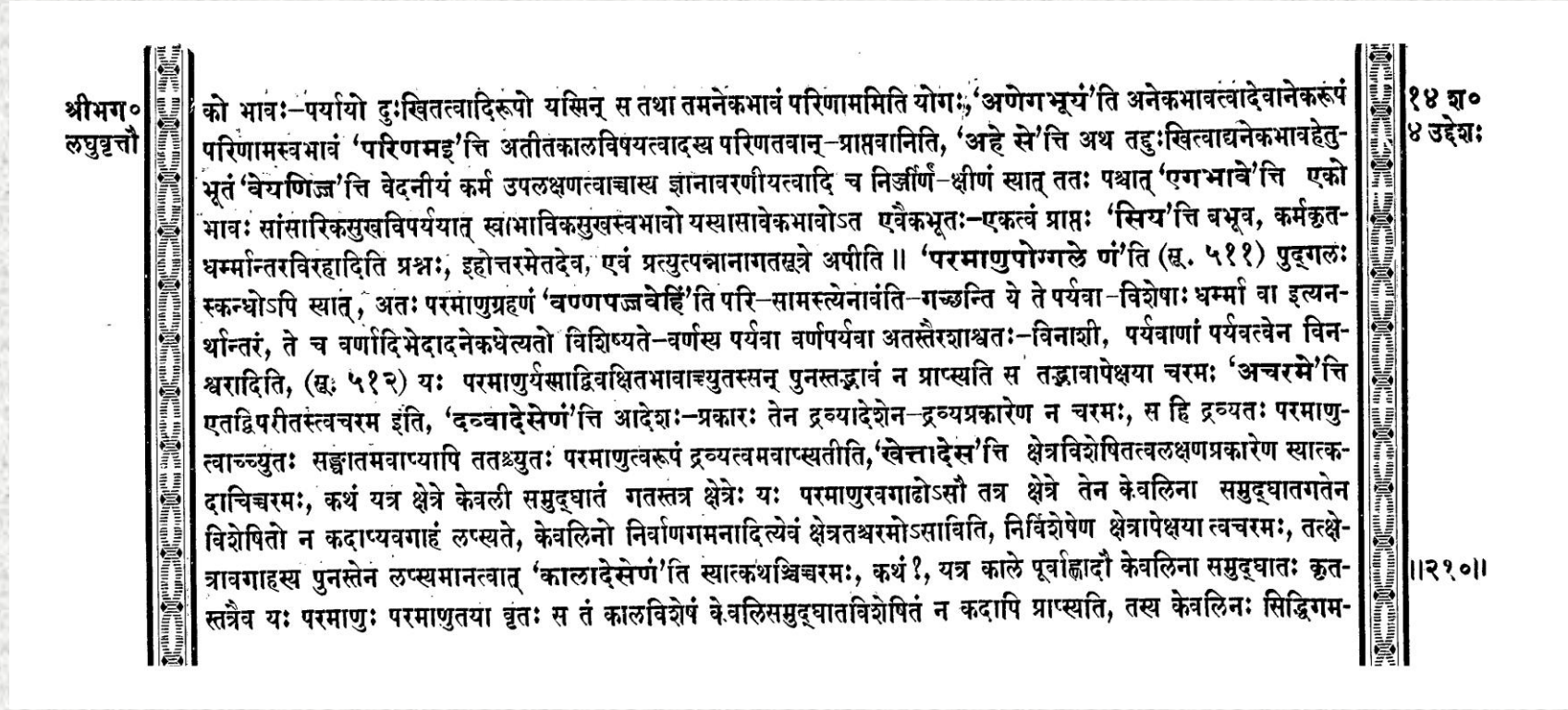

श्रीभग० लघुवृत्तौ

को भावः–पर्यायो दुःखितत्वादिरूपो यस्मिन् स तथा तमनेकभावं परिणाममिति योगः, ‘अणेगभूयं’ति अनेकभावत्वादेवानेकरूपं परिणामस्वभावं ‘परिणमइ’त्ति अतीतकालविषयत्वादस्य परिणतवान्–प्राप्तवानिति, ‘अहे से’त्ति अथ तदुःखित्वाद्यनेकभावहेतुभूतं ‘वेयणिज्ज’त्ति वेदनीयं कर्म उपलक्षणत्वाच्चास्य ज्ञानावरणीयत्वादि च निर्जीर्णं–क्षीणं स्यात् ततः पश्चात् ‘एगभावे’त्ति एको भावः सांसारिकसुखविपर्ययात् स्वाभाविकसुखस्वभावो यस्यासावेकभावोऽत एवैकभूतः–एकत्वं प्राप्तः ‘सिय’त्ति बभूव, कर्मकृतधर्म्मान्तरविरहादिति प्रश्नः, इहोत्तरमेतदेव, एवं प्रत्युत्पन्नानागतसूत्रे अपीति ॥ ‘परमाणुपोग्गले णं’ति (सू. ५११) पुद्गलः स्कन्धोऽपि स्यात्, अतः परमाणुग्रहणं ‘वण्णपज्जवेहिं’ति परि–सामस्त्येनावंति–गच्छन्ति ये ते पर्यवा–विशेषाः धर्म्मा वा इत्यनर्थान्तरं, ते च वर्णादिभेदादनेकधेत्यतो विशिष्यते–वर्णस्य पर्यवा वर्णपर्यवा अतस्तैरशाश्वतः–विनाशी, पर्यवाणां पर्यवत्वेन विनश्वरादिति, (सू. ५१२) यः परमाणुर्यस्माद्विवक्षितभावाच्च्युतस्सन् पुनस्तद्भावं न प्राप्स्यति स तद्भावापेक्षया चरमः ‘अचरमे’त्ति एतद्विपरीतस्त्वचरम इति, ‘दव्वादेसेणं’त्ति आदेशः–प्रकारः तेन द्रव्यादेशेन–द्रव्यप्रकारेण न चरमः, स हि द्रव्यतः परमाणुत्वाच्च्युतः सङ्घातमवाप्यापि ततश्च्युतः परमाणुत्वरूपं द्रव्यत्वमवाप्स्यतीति, ‘खेत्तादेस’त्ति क्षेत्रविशेषितत्वलक्षणप्रकारेण स्यात्कदाचिच्चरमः, कथं यत्र क्षेत्रे केवली समुद्घातं गतस्तत्र क्षेत्रेः यः परमाणुरवगाढोऽसौ तत्र क्षेत्रे तेन केवलिना समुद्घातगतेन विशेषितो न कदाप्यवगाहं लप्स्यते, केवलिनो निर्वाणगमनादित्येवं क्षेत्रतश्चरमोऽसाविति, निर्विशेषेण क्षेत्रापेक्षया त्वचरमः, तत्क्षेत्रावगाहस्य पुनस्तेन लप्स्यमानत्वात् ‘कालादेसेणं’ति स्यात्कथञ्चिच्चरमः, कथं?, यत्र काले पूर्वाह्णादौ केवलिना समुद्घातः कृतस्तत्रैव यः परमाणुः परमाणुतया वृतः स तं कालविशेषं केवलिसमुद्घातविशेषितं न कदापि प्राप्स्यति, तस्य केवलिनः सिद्धिगम-

१४ श० ४ उद्देशः

॥२१०॥

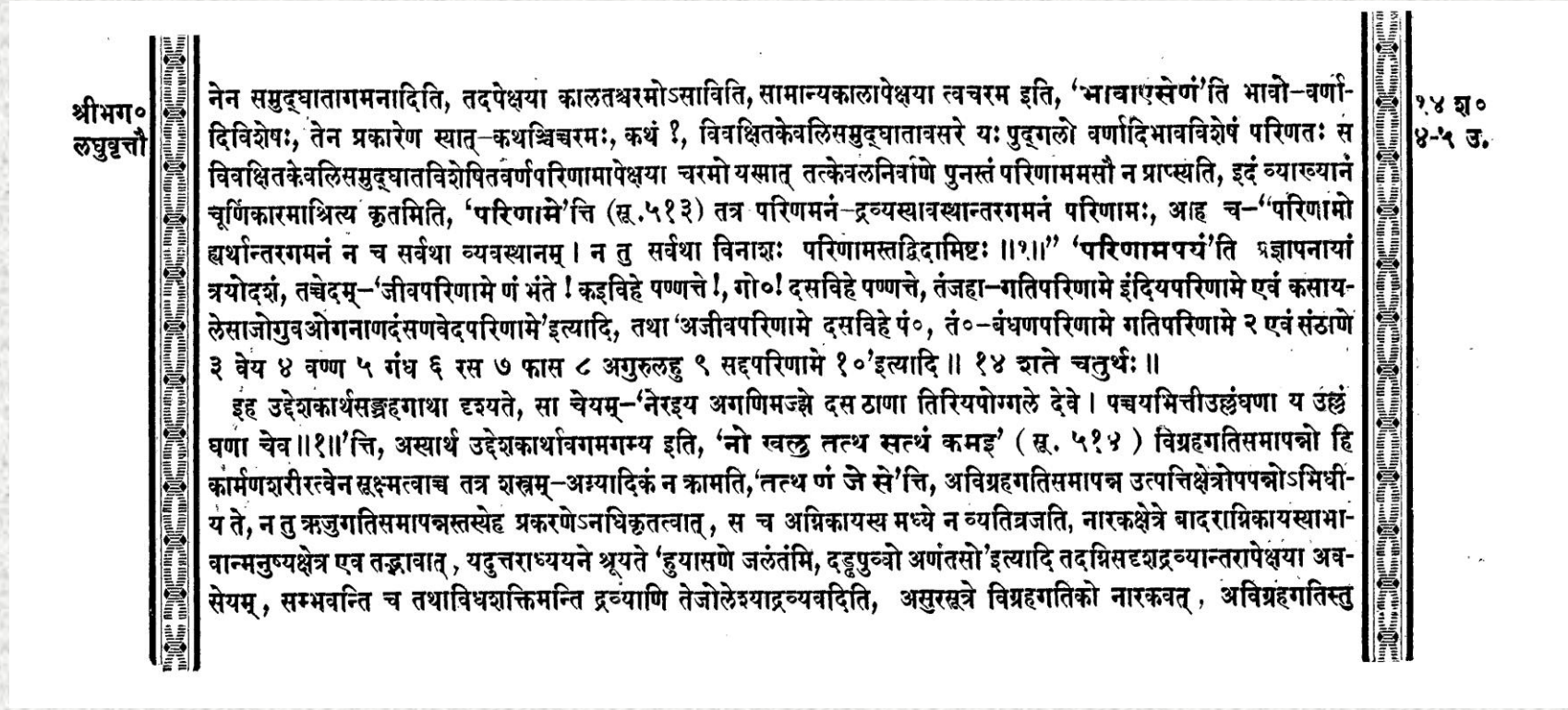

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नेन समुद्घातागमनादिति, तदपेक्षया कालतश्चरमोऽसाविति, सामान्यकालापेक्षया त्वचरम इति, ‘भावाएसेणं’ति भावो–वर्णादिविशेषः, तेन प्रकारेण स्यात्–कथञ्चिच्चरमः, कथं ?, विवक्षितकेवलिसमुद्घातावसरे यः पुद्गलो वर्णादिभावविशेषं परिणतः स विवक्षितकेवलिसमुद्घातविशेषितवर्णपरिणामापेक्षया चरमो यस्मात् तत्केवलनिर्वाणे पुनस्तं परिणाममसौ न प्राप्स्यति, इदं व्याख्यानं चूर्णिकारमाश्रित्य कृतमिति, ‘परिणामे’त्ति (सू.५१३) तत्र परिणमनं–द्रव्यस्यावस्थान्तरगमनं परिणामः, आह च–“परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्। न तु सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥” ‘परिणामपयं’ति प्रज्ञापनायां त्रयोदशं, तच्चेदम्–‘जीवपरिणामे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते !, गो०! दसविहे पण्णत्ते, तंजहा–गतिपरिणामे इंदियपरिणामे एवं कसायलेसाजोगुवओगनाणदंसणवेदपरिणामे’इत्यादि, तथा ‘अजीवपरिणामे दसविहे पं०, तं०–बंधणपरिणामे गतिपरिणामे २ एवं संठाणे ३ वेय ४ वण्ण ५ गंध ६ रस ७ फास ८ अगुरुलहु ९ सद्दपरिणामे १०’इत्यादि ॥ १४ शते चतुर्थः ॥

इह उद्देशकार्थसङ्ग्रहगाथा दृश्यते, सा चेयम्–‘नेरइय अगणिमज्झे दस ठाणा तिरियपोग्गले देवे। पंचयभित्तीउल्लंघणा य उल्लंघणा चेव ॥१॥’त्ति, अस्यार्थ उद्देशकार्थावगमगम्य इति, ‘नो खलु तत्थ सत्थं कमइ’ (सू. ५१४) विग्रहगतिसमापन्नो हि कार्मणशरीरत्वेन सूक्ष्मत्वाच्च तत्र शस्त्रम्–अग्न्यादिकं न क्रामति, ‘तत्थ णं जे से’त्ति, अविग्रहगतिसमापन्न उत्पत्तिक्षेत्रोपपन्नोऽभिधीयते, न तु ऋजुगतिसमापन्नस्तस्येह प्रकरणेऽनधिकृतत्वात्, स च अग्निकायस्य मध्ये न व्यतिव्रजति, नारकक्षेत्रे बादराग्निकायस्याभावान्मनुष्यक्षेत्र एव तद्भावात्, यदुत्तराध्ययने श्रूयते ‘हुयासणे जलंतंमि, दड्ढपुव्वो अणंतसो’इत्यादि तदग्निसदृशद्रव्यान्तरापेक्षया अवसेयम्, सम्भवन्ति च तथाविधशक्तिमन्ति द्रव्याणि तेजोलेश्याद्रव्यवदिति, असुरसूत्रे विग्रहगतिको नारकवत्, अविग्रहगतिस्तु

१४ श० ४-५ उ.

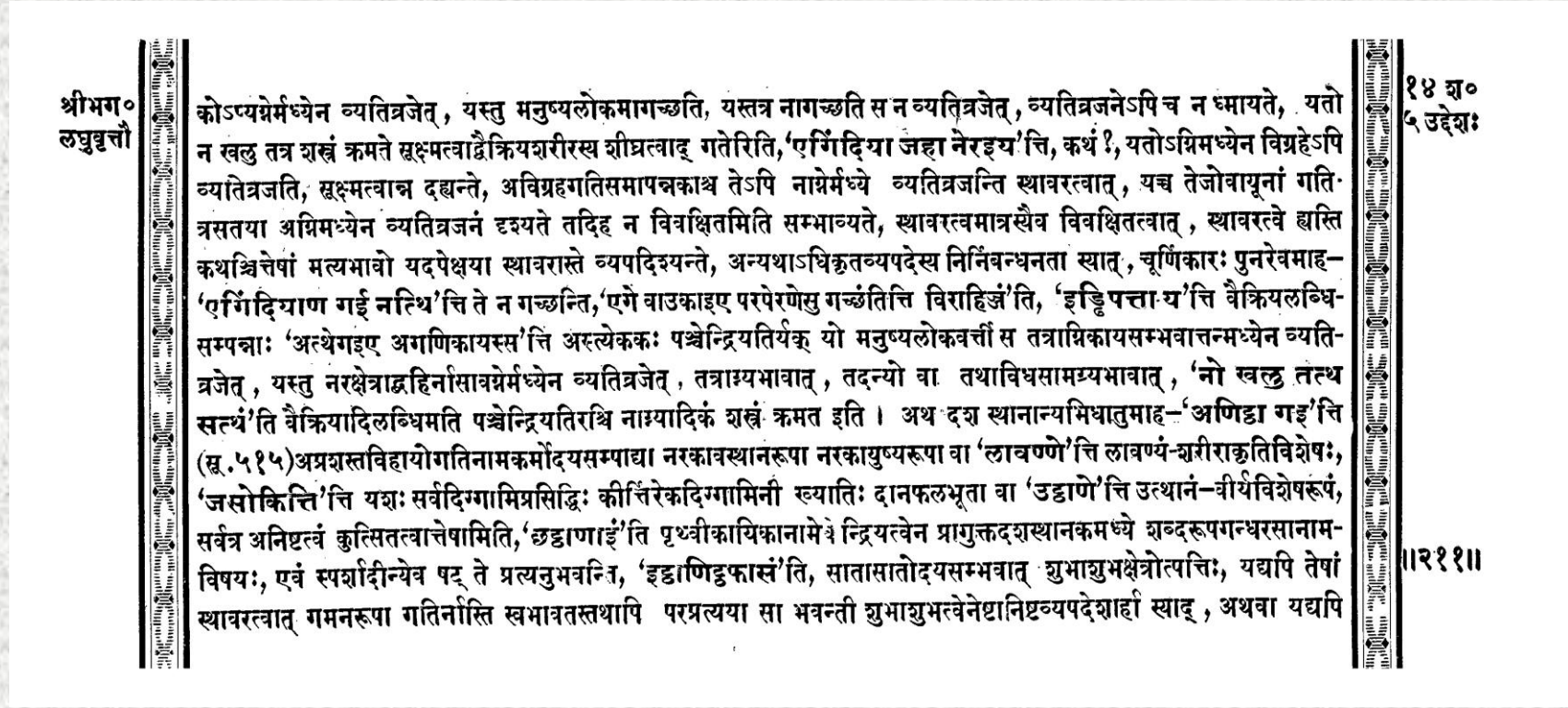

श्रीभग० लघुवृत्तौ

कोऽप्यग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजेत्, यस्तु मनुष्यलोकमागच्छति, यस्तत्र नागच्छति स न व्यतिव्रजेत्, व्यतिव्रजनेऽपि च न ध्मायते, यतो न खलु तत्र शस्त्रं क्रमते सूक्ष्मत्वाद्वैक्रियशरीरस्य शीघ्रत्वाद् गतेरिति,‘एगिंदिया जहा नेरइय’त्ति, कथं ?, यतोऽग्निमध्येन विग्रहेऽपि व्यतिव्रजति, सूक्ष्मत्वान्न दह्यन्ते, अविग्रहगतिसमापन्नकाश्च तेऽपि नाग्नेर्मध्ये व्यतिव्रजन्ति स्थावरत्वात्, यच्च तेजोवायूनां गतित्रसतया अग्निमध्येन व्यतिव्रजनं दृश्यते तदिह न विवक्षितमिति सम्भाव्यते, स्थावरत्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्, स्थावरत्वे ह्यस्ति कथञ्चित्तेषां मत्यभावो यदपेक्षया स्थावरास्ते व्यपदिश्यन्ते, अन्यथाऽधिकृतव्यपदेश्य निर्निबन्धनता स्यात्, चूर्णिकारः पुनरेवमाह–‘एगिंदियाण गई नत्थि’त्ति ते न गच्छन्ति,‘एगे वाउकाइए परपेरणेसु गच्छंतित्ति विराहिज्जं’ति, ‘इड्ढिपत्ता य’त्ति वैक्रियलब्धिसम्पन्नाः ‘अत्थेगइए अगणिकायस्स’त्ति अस्त्येककः पञ्चेन्द्रियतिर्यक् यो मनुष्यलोकवर्त्ती स तत्राग्निकायसम्भवात्तन्मध्येन व्यतिव्रजेत्, यस्तु नरक्षेत्राद्बहिर्नासावग्नेर्मध्येन व्यतिव्रजेत्, तत्राग्न्यभावात्, तदन्यो वा तथाविधसामग्र्यभावात्, ‘नो खलु तत्थ सत्थं’ति वैक्रियादिलब्धिमति पञ्चेन्द्रियतिरश्चि नाग्न्यादिकं शस्त्रं क्रमत इति। अथ दश स्थानान्यभिधातुमाह–‘अणिट्ठा गइ’त्ति (सू.५१५)अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मोदयसम्पाद्या नरकावस्थानरूपा नरकायुष्यरूपा वा ‘लावण्णे’त्ति लावण्यं-शरीराकृतिविशेषः, ‘जसोकित्ति’त्ति यशः सर्वदिग्गामिप्रसिद्धिः कीर्त्तिरेकदिग्गामिनी ख्यातिः दानफलभूता वा ‘उट्ठाणे’त्ति उत्थानं–वीर्यविशेषरूपं, सर्वत्र अनिष्टत्वं कुत्सितत्वात्तेषामिति,‘छट्ठाणाइं’ति पृथ्वीकायिकानामेकेन्द्रियत्वेन प्रागुक्तदशस्थानकमध्ये शब्दरूपगन्धरसानामविषयः, एवं स्पर्शादीन्येव षट् ते प्रत्यनुभवन्ति, ‘इट्ठाणिट्ठफासं’ति, सातासातोदयसम्भवात् शुभाशुभक्षेत्रोत्पत्तिः, यद्यपि तेषां स्थावरत्वात् गमनरूपा गतिर्नास्ति स्वभावतस्तथापि परप्रत्यया सा भवन्ती शुभाशुभत्वेनेष्टानिष्टव्यपदेशार्हा स्याद्, अथवा यद्यपि

१४ श० ५ उद्देशः

॥२११॥

पापरूपत्वात् तिर्यग्गतिरनिष्टैव स्यात्, तथा ईषत्प्राग्भारा अप्रतिष्ठानादिक्षेत्रोत्पत्तिद्वारेणेष्टानिष्टा गतिस्तेषां भावनीयेति, 'इट्ठाणिट्ठा ठिइ'त्ति सा च गतिवद् भावनीया,'लावण्णे'त्ति इदं च मण्यंधपाषाणवस्तुषु भावनीयम्, 'जसोकित्ति'त्ति प्रसिद्धिरप्रसिद्धिरूपा यशःकीर्त्तिर्मण्यादिष्वेवावसेयेति, 'उट्ठाणं जाव'त्ति उत्थानादि च यद्यपि तेषां स्थावरत्वान्नास्ति तथापि प्राग्भवानुभूतोत्थानादिसंस्कारवशात्तदिष्टमनिष्टं चावसेयमिति, 'सत्तट्ठाणाइं'त्ति शब्दरूपगन्धानां तदविषयत्वात् रसस्पर्शादिस्थानानि च शेषाणि एकेन्द्रियाणामिवेष्टानिष्टान्यवसेयानि,गतिस्तु तेषां त्रसत्वाद् गमनरूपा द्विविधाऽप्यस्ति,स्थितिस्तूत्पत्तिस्थानविशेषेणेष्टानिष्टावसेयेति। अथ 'तिरियपुग्गले'ति द्वारमाह–'बाहिरए'त्ति (सू.५१६) भवधारणीयवपुर्भिन्नान् 'अपरियाइत्त'त्ति अपर्यादाय–अगृहीत्वा 'भित्तिं'ति तिर्यग्प्राकारवरंडिकादिभित्तिं 'उल्लंघित्तए'त्ति उल्लङ्घयितुं सकृदुल्लङ्घनेन 'पलंघित्तए'त्ति प्रलङ्घयितुं पुनः २ उल्लङ्घनेन ॥ १४ शते पञ्चमः ॥

'किमाहार'त्ति (सू. ५१७) किमाहारयन्ति इति किमाहाराः 'किंपरिणाम'त्ति किमाहारितं सत्परिणामयंति इति किंपरिणामाः 'किंजोणीय'त्ति किं योनिः–उत्पत्तिस्थानं येषां ते किंयोनिकाः, एवं किंस्थितिकाः स्थितिः–अवस्थानहेतुः ?, अत्रोत्तरम्–क्रमेणैव व्यक्तं दृश्यम्, नवरं 'पुग्गलजोणिय'त्ति पुद्गलाः शीतादिस्पर्शा योनी येषां ते, नारका हि शीतयोनयः उष्णयोनयश्च, 'पुग्गलठिइ'त्ति पुद्गलाः–आयुःकर्मपुद्गला स्थितिर्येषां नरके स्थितिहेतुत्वात् ते, अथ कस्मात्ते पुद्गलस्थितयः स्युः?, अत आह–'कम्मोवगे'त्ति कर्म्म–ज्ञानावरणादिपुद्गलरूपं बन्धनद्वारेणोपगच्छन्ति इति कर्मोपगाः,कर्म निदानं-नारकत्वनिमित्तं कर्मबन्धहेतुत्वं वा येषां ते कर्मनिदानाः, कर्म्मणः–कर्मपुद्गलेभ्यः सकाशात् स्थितिर्येषां ते कर्म्मस्थितयः, 'कम्मुणामेव'त्ति कर्मणैव हेतुभूतेन

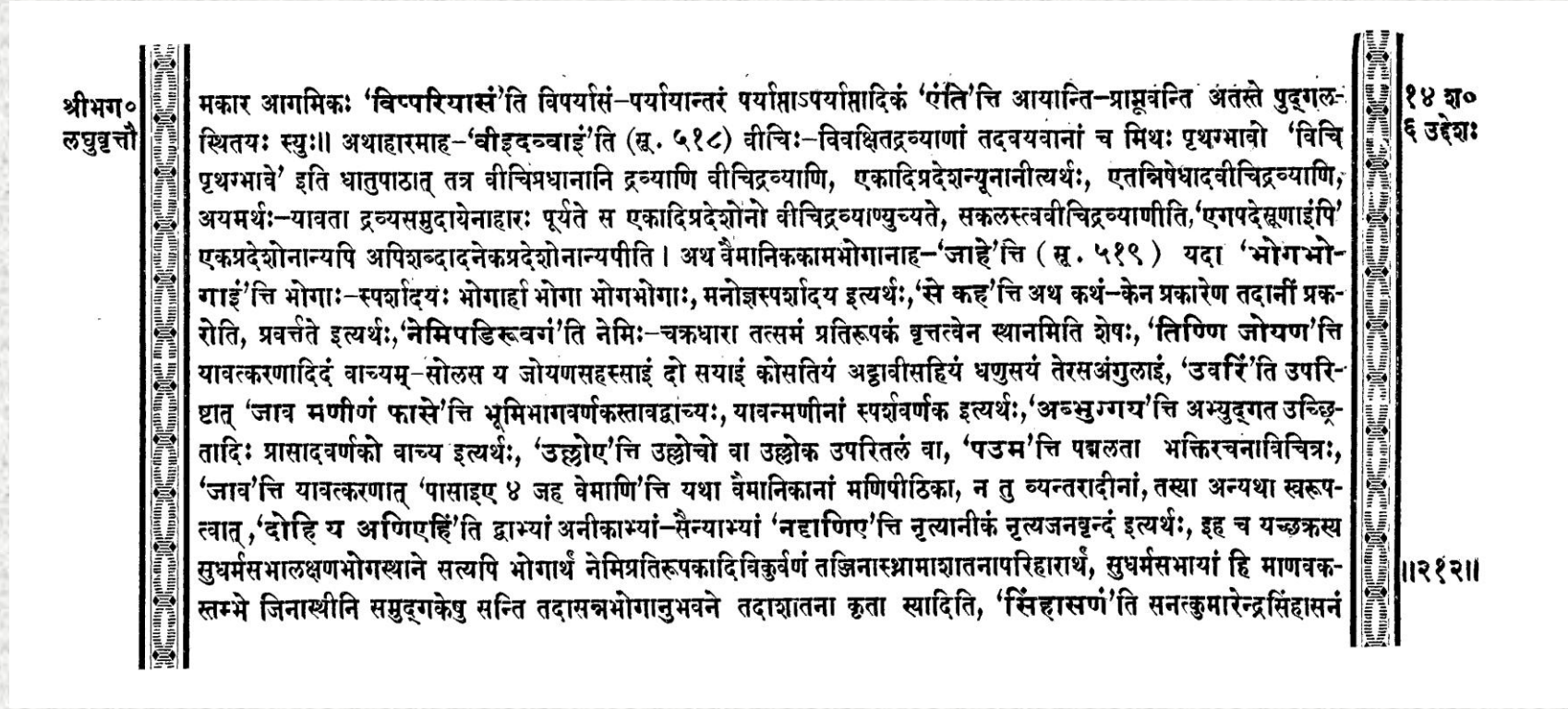

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मकार आगमिकः 'विप्परियासं'ति विपर्यासं–पर्यायान्तरं पर्यासाऽपर्याप्तादिकं 'एंति'त्ति आयान्ति–प्राप्नुवन्ति अंतस्ते पुद्गल-स्थितयः स्युः॥ अथाहारमाह–'वीइदव्वाइं'ति (सू. ५१८) वीचिः–विवक्षितद्रव्याणां तदवयवानां च मिथः पृथग्भावो 'विचि पृथग्भावे' इति धातुपाठात् तत्र वीचिप्रधानानि द्रव्याणि वीचिद्रव्याणि, एकादिप्रदेशन्यूनानीत्यर्थः, एतन्निषेधादवीचिद्रव्याणि, अयमर्थः–यावता द्रव्यसमुदायेनाहारः पूर्यते स एकादिप्रदेशोनो वीचिद्रव्याण्युच्यते, सकलस्त्ववीचिद्रव्याणीति,'एगपदेसूणाइंपि' एकप्रदेशोनान्यपि अपिशब्दादनेकप्रदेशोनान्यपीति। अथ वैमानिककामभोगानाह–'जाहे'त्ति (सू. ५१९) यदा 'भोगभोगाइं'त्ति भोगाः–स्पर्शादयः भोगार्हा भोगा भोगभोगाः, मनोज्ञस्पर्शादय इत्यर्थः,'से कहं'त्ति अथ कथं–केन प्रकारेण तदानीं प्रकरोति, प्रवर्त्तते इत्यर्थः,'नेमिपडिरूवगं'ति नेमिः–चक्रधारा तत्समं प्रतिरूपकं वृत्तत्वेन स्थानमिति शेषः, 'तिण्णि जोयण'त्ति यावत्करणादिदं वाच्यम्–सोलस य जोयणसहस्साइं दो सयाइं कोसतियं अट्ठावीसहियं धणुसयं तेरसअंगुलाइं, 'उवरिं'ति उपरिष्टात् 'जाव मणीणं फासे'त्ति भूमिभागवर्णकस्तावद्वाच्यः, यावन्मणीनां स्पर्शवर्णक इत्यर्थः,'अब्भुग्गय'त्ति अभ्युद्गत उच्छ्रितादिः प्रासादवर्णको वाच्य इत्यर्थः, 'उल्लोए'त्ति उल्लोचो वा उल्लोक उपरितलं वा, 'पउम'त्ति पद्मलता भक्तिरचनाविचित्रः, 'जाव'त्ति यावत्करणात् 'पासाइए ४ जह वेमाणि'त्ति यथा वैमानिकानां मणिपीठिका, न तु व्यन्तरादीनां, तस्या अन्यथा स्वरूपत्वात्,'दोहि य अणिएहिं'ति द्वाभ्यां अनीकाभ्यां–सैन्याभ्यां 'नट्टाणिए'त्ति नृत्यानीकं नृत्यजनवृन्दं इत्यर्थः, इह च यच्छक्रस्य सुधर्मसभालक्षणभोगस्थाने सत्यपि भोगार्थं नेमिप्रतिरूपकादिविकुर्वणं तज्जिनास्थ्नामाशातनापरिहारार्थं, सुधर्मसभायां हि माणवकस्तम्भे जिनास्थीनि समुद्गकेषु सन्ति तदासन्नभोगानुभवने तदाशातना कृता स्यादिति, 'सिंहासणं'ति सनत्कुमारेन्द्रसिंहासनं

१४ श० ६ उद्देशः

॥२१२॥

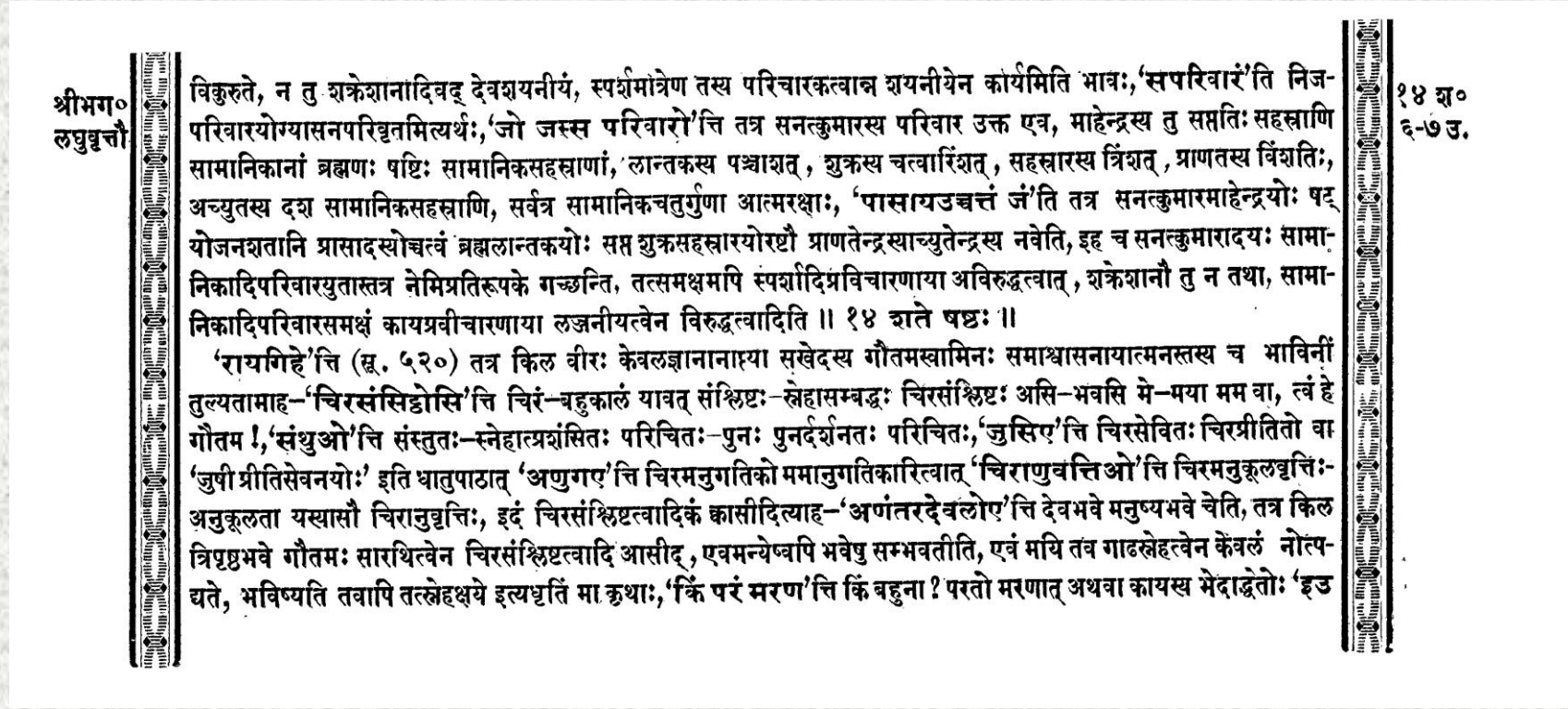

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विकुरुते, न तु शक्रेशानादिवद् देवशयनीयं, स्पर्शमात्रेण तस्य परिचारकत्वान्न शयनीयेन कार्यमिति भावः,'सपरिवारं'ति निज-परिवारयोग्यासनपरिवृतमित्यर्थः,'जो जस्स परिवारो'त्ति तत्र सनत्कुमारस्य परिवार उक्त एव, माहेन्द्रस्य तु सप्ततिः सहस्राणि सामानिकानां ब्रह्मणः षष्टिः सामानिकसहस्राणां, लान्तकस्य पञ्चाशत्, शुक्रस्य चत्वारिंशत्, सहस्रारस्य त्रिंशत्, प्राणतस्य विंशतिः, अच्युतस्य दश सामानिकसहस्राणि, सर्वत्र सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षाः, 'पासायउच्चत्तं जं'ति तत्र सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः षट् योजनशतानि प्रासादस्योच्चत्वं ब्रह्मलान्तकयोः सप्त शुक्रसहस्रारयोरष्टौ प्राणतेन्द्रस्याच्युतेन्द्रस्य नवेति, इह च सनत्कुमारादयः सामा-निकादिपरिवारयुतास्तत्र नेमिप्रतिरूपके गच्छन्ति, तत्समक्षमपि स्पर्शादिप्रविचारणाया अविरुद्धत्वात्, शक्रेशानौ तु न तथा, सामा-निकादिपरिवारसमक्षं कायप्रवीचारणाया लज्जनीयत्वेन विरुद्धत्वादिति ॥ १४ शते षष्ठः ॥

'रायगिहे'त्ति (सू. ५२०) तत्र किल वीरः केवलज्ञानानाप्या सखेदस्य गौतमस्वामिनः समाश्वासनायात्मनस्तस्य च भाविनीं तुल्यतामाह–'चिरसंसिट्ठोसि'त्ति चिरं–बहुकालं यावत् संश्लिष्टः–स्नेहासम्बद्धः चिरसंश्लिष्टः असि–भवसि मे–मया मम वा, त्वं हे गौतम !,'संथुओ'त्ति संस्तुतः–स्नेहात्प्रशंसितः परिचितः–पुनः पुनर्दर्शनतः परिचितः,'जुसिए'त्ति चिरसेवितः चिरप्रीतितो वा 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इति धातुपाठात् 'अणुगए'त्ति चिरमनुगतिको ममानुगतिकारित्वात् 'चिराणुवत्तिओ'त्ति चिरमनुकूलवृत्तिः-अनुकूलता यस्यासौ चिरानुवृत्तिः, इदं चिरसंश्लिष्टत्वादिकं क्वासीदित्याह–'अणंतरदेवलोए'त्ति देवभवे मनुष्यभवे चेति, तत्र किल त्रिपृष्ठभवे गौतमः सारथित्वेन चिरसंश्लिष्टत्वादि आसीद्, एवमन्येष्वपि भवेषु सम्भवतीति, एवं मयि तव गाढस्नेहत्वेन केवलं नोत्प-द्यते, भविष्यति तवापि तत्स्नेहक्षये इत्यधृतिं मा कृथाः,'किं परं मरण'त्ति किं बहुना ? परतो मरणात् अथवा कायस्य भेदाद्धेतोः 'इउ

१४ श० ६-७ उ.

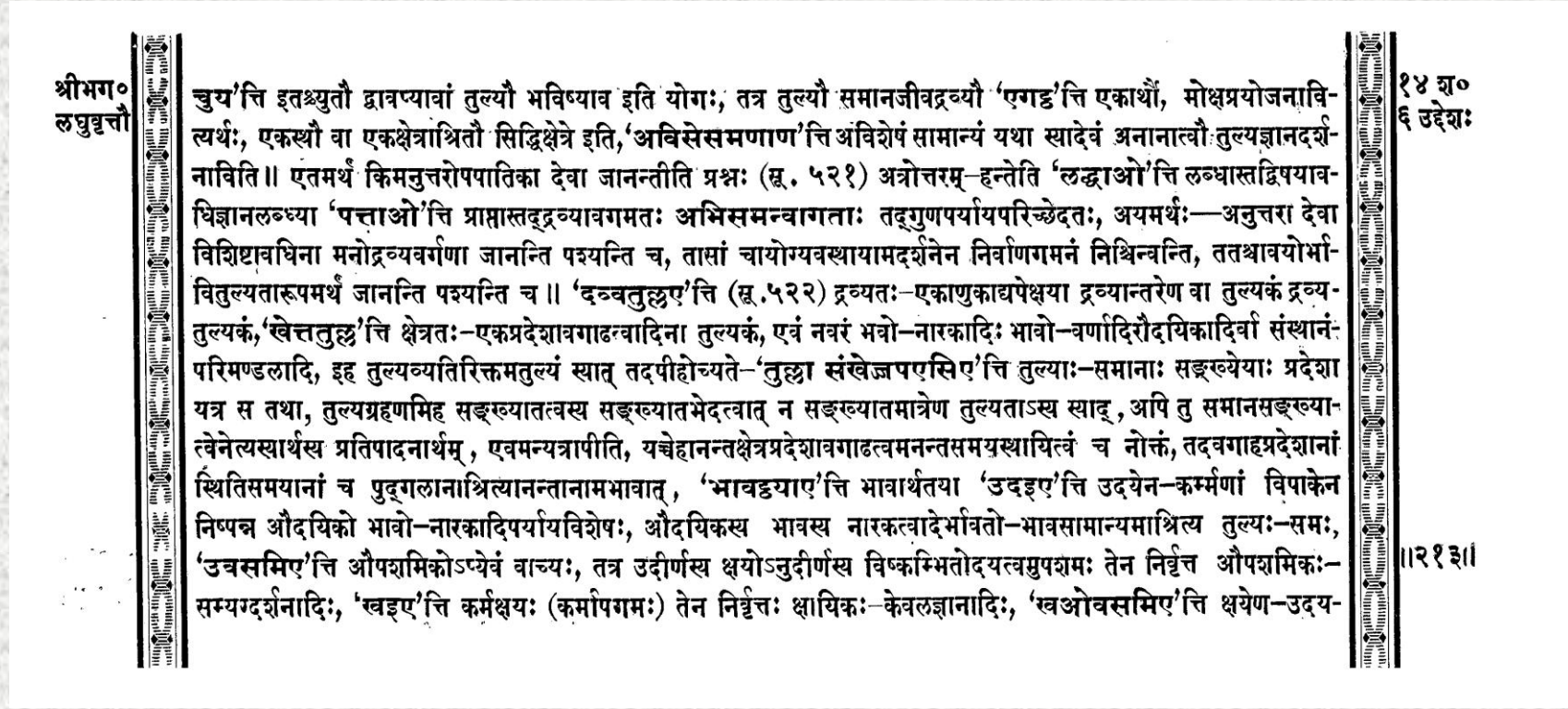

श्रीभग० लघुवृत्तौ

चुय'त्ति इतश्च्युतौ द्वावप्यावां तुल्यौ भविष्याव इति योगः, तत्र तुल्यौ समानजीवद्रव्यौ 'एगट्ठ'त्ति एकार्थौ, मोक्षप्रयोजनावित्यर्थः, एकस्थौ वा एकक्षेत्राश्रितौ सिद्धिक्षेत्रे इति,'अविसेसमणाण'त्ति अविशेषं सामान्यं यथा स्यादेवं अनानात्वौ तुल्यज्ञानदर्शनाविति॥ एतमर्थं किमनुत्तरोपपातिका देवा जानन्तीति प्रश्नः (सू. ५२१) अत्रोत्तरम्–हन्तेति 'लद्धाओ'त्ति लब्धास्तद्विषयावधिज्ञानलब्ध्या 'पत्ताओ'त्ति प्राप्तास्तद्द्रव्यावगमतः अभिसमन्वागताः तद्गुणपर्यायपरिच्छेदतः, अयमर्थः—अनुत्तरा देवा विशिष्टावधिना मनोद्रव्यवर्गणा जानन्ति पश्यन्ति च, तासां चायोग्यवस्थायामदर्शनेन निर्वाणगमनं निश्चिन्वन्ति, ततश्चावयोर्भावितुल्यतारूपमर्थं जानन्ति पश्यन्ति च॥ 'दव्वतुल्लए'त्ति (सू.५२२) द्रव्यतः–एकाणुकाद्यपेक्षया द्रव्यान्तरेण वा तुल्यकं द्रव्यतुल्यकं,'खेत्ततुल्ल'त्ति क्षेत्रतः–एकप्रदेशावगाढत्वादिना तुल्यकं, एवं नवरं भवो–नारकादिः भावो–वर्णादिरौदयिकादिर्वा संस्थानं–परिमण्डलादि, इह तुल्यव्यतिरिक्तमतुल्यं स्यात् तदपीहोच्यते–'तुल्ला संखेज्जपएसिए'त्ति तुल्याः–समानाः सङ्ख्येयाः प्रदेशा यत्र स तथा, तुल्यग्रहणमिह सङ्ख्यातत्वस्य सङ्ख्यातभेदत्वात् न सङ्ख्यातमात्रेण तुल्यताऽस्य स्याद्, अपि तु समानसङ्ख्यात्वेनेत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थम्, एवमन्यत्रापीति, यच्चेहानन्तक्षेत्रप्रदेशावगाढत्वमनन्तसमयस्थायित्वं च नोक्तं, तदवगाहप्रदेशानां स्थितिसमयानां च पुद्गलानाश्रित्यानन्तानामभावात्, 'भावट्ठयाए'त्ति भावार्थतया 'उदइए'त्ति उदयेन–कर्म्मणां विपाकेन निष्पन्न औदयिको भावो–नारकादिपर्यायविशेषः, औदयिकस्य भावस्य नारकत्वादेर्भावतो–भावसामान्यमाश्रित्य तुल्यः–समः, 'उवसमिए'त्ति औपशमिकोऽप्येवं वाच्यः, तत्र उदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य विष्कम्भितोदयत्वमुपशमः तेन निर्वृत्त औपशमिकः–सम्यग्दर्शनादिः, 'खइए'त्ति कर्मक्षयः (कर्मापगमः) तेन निर्वृत्तः क्षायिकः–केवलज्ञानादिः, 'खओवसमिए'त्ति क्षयेण–उदय-

१४ श० ६ उद्देशः

॥२१३॥

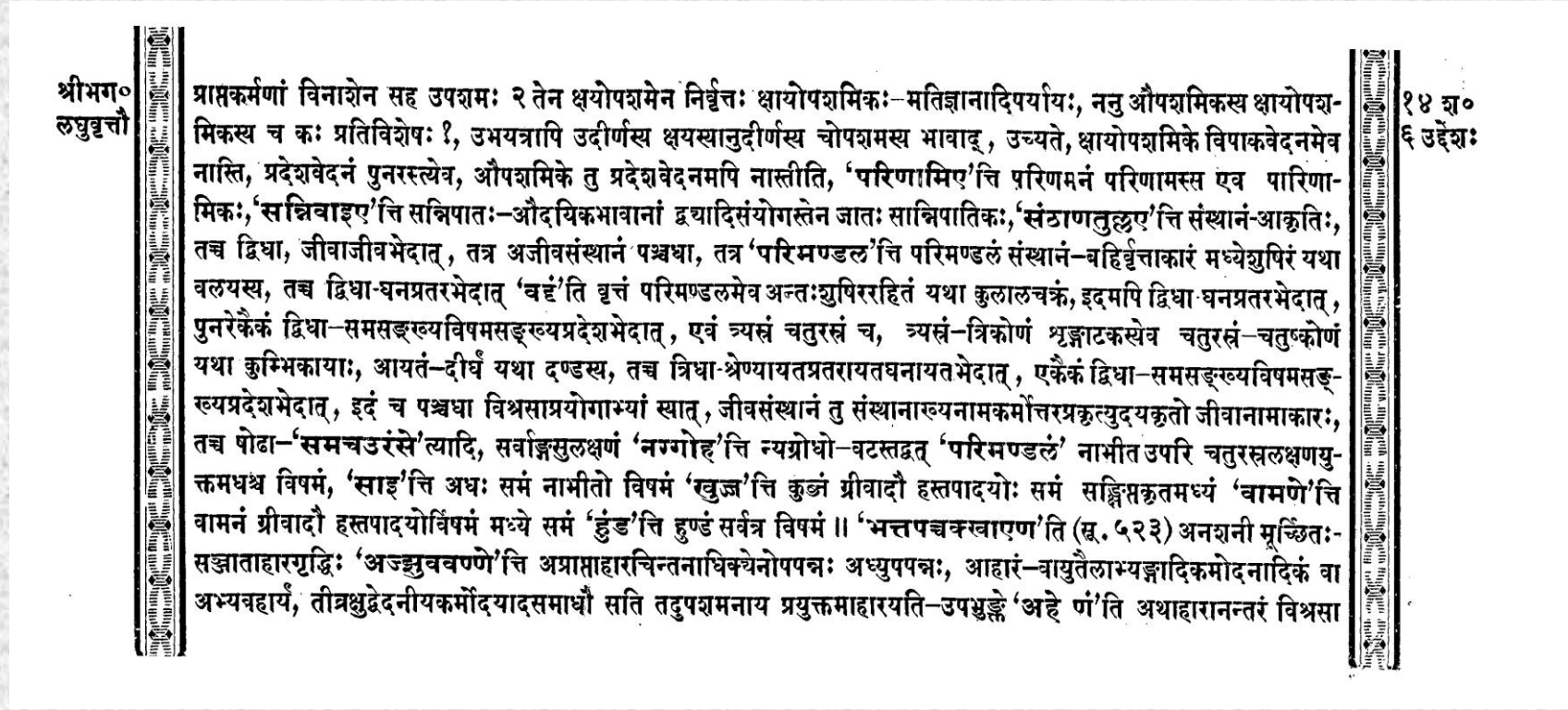

श्रीभग० लघुवृत्तौ

प्राप्तकर्मणां विनाशेन सह उपशमः २ तेन क्षयोपशमेन निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः–मतिज्ञानादिपर्यायः, ननु औपशमिकस्य क्षायोपशमिकस्य च कः प्रतिविशेषः ?, उभयत्रापि उदीर्णस्य क्षयस्यानुदीर्णस्य चोपशमस्य भावाद्, उच्यते, क्षायोपशमिके विपाकवेदनमेव नास्ति, प्रदेशवेदनं पुनरस्त्येव, औपशमिके तु प्रदेशवेदनमपि नास्तीति, **'परिणामिए'**त्ति परिणमनं परिणामस्स एव पारिणामिकः,**'सन्निवाइए'**त्ति सन्निपातः–औदयिकभावानां द्वयादिसंयोगस्तेन जातः सान्निपातिकः,**'संठाणतुल्लए'**त्ति संस्थानं-आकृतिः, तच्च द्विधा, जीवाजीवभेदात्, तत्र अजीवसंस्थानं पञ्चधा, तत्र **'परिमण्डल'**त्ति परिमण्डलं संस्थानं–बहिर्वृत्ताकारं मध्येशुषिरं यथा वलयस्य, तच्च द्विधा-घनप्रतरभेदात् **'वट्ट'**ंति वृत्तं परिमण्डलमेव अन्तःशुषिररहितं यथा कुलालचक्रं, इदमपि द्विधा घनप्रतरभेदात्, पुनरेकैकं द्विधा–समसङ्ख्यविषमसङ्ख्यप्रदेशभेदात्, एवं त्र्यस्रं चतुरस्रं च, त्र्यस्रं–त्रिकोणं शृङ्गाटकस्येव चतुरस्रं–चतुष्कोणं यथा कुम्भिकायाः, आयतं–दीर्घं यथा दण्डस्य, तच्च त्रिधा-श्रेण्यायतप्रतरायतघनायतभेदात्, एकैकं द्विधा–समसङ्ख्यविषमसङ्ख्यप्रदेशभेदात्, इदं च पञ्चधा विश्रसाप्रयोगाभ्यां स्यात्, जीवसंस्थानं तु संस्थानाख्यनामकर्मोत्तरप्रकृत्युदयकृतो जीवानामाकारः, तच्च षोढा–**'समचउरंसे'**त्यादि, सर्वाङ्गसुलक्षणं **'नग्गोह'**त्ति न्यग्रोधो–वटस्तद्वत् **'परिमण्डलं'** नाभीत उपरि चतुरस्रलक्षणयुक्तमधश्च विषमं, **'साइ'**त्ति अधः समं नाभीतो विषमं **'खुज्ज'**त्ति कुब्जं ग्रीवादौ हस्तपादयोः समं सन्निवेशकृतमध्यं **'वामणे'**त्ति वामनं ग्रीवादौ हस्तपादयोर्विषमं मध्ये समं **'हुंड'**त्ति हुण्डं सर्वत्र विषमं ॥ **'भत्तपच्चक्खाएण'**ति (सू. ५२३) अनशनी मूर्च्छितः-सञ्जाताहारगृद्धिः **'अज्झुववण्णे'**त्ति अप्राप्ताहारचिन्तनाधिक्येनोपपन्नः अध्युपपन्नः, आहारं–वायुतैलाभ्यङ्गादिकमोदनादिकं वा अभ्यवहार्यं, तीव्रक्षुद्वेदनीयकर्मोदयादसमाधौ सति तदुपशमनाय प्रयुक्तमाहारयति–उपभुङ्क्ते **'अहे णं'**ति अथाहारानन्तरं विश्रसा

१४ श० ६ उद्देशः

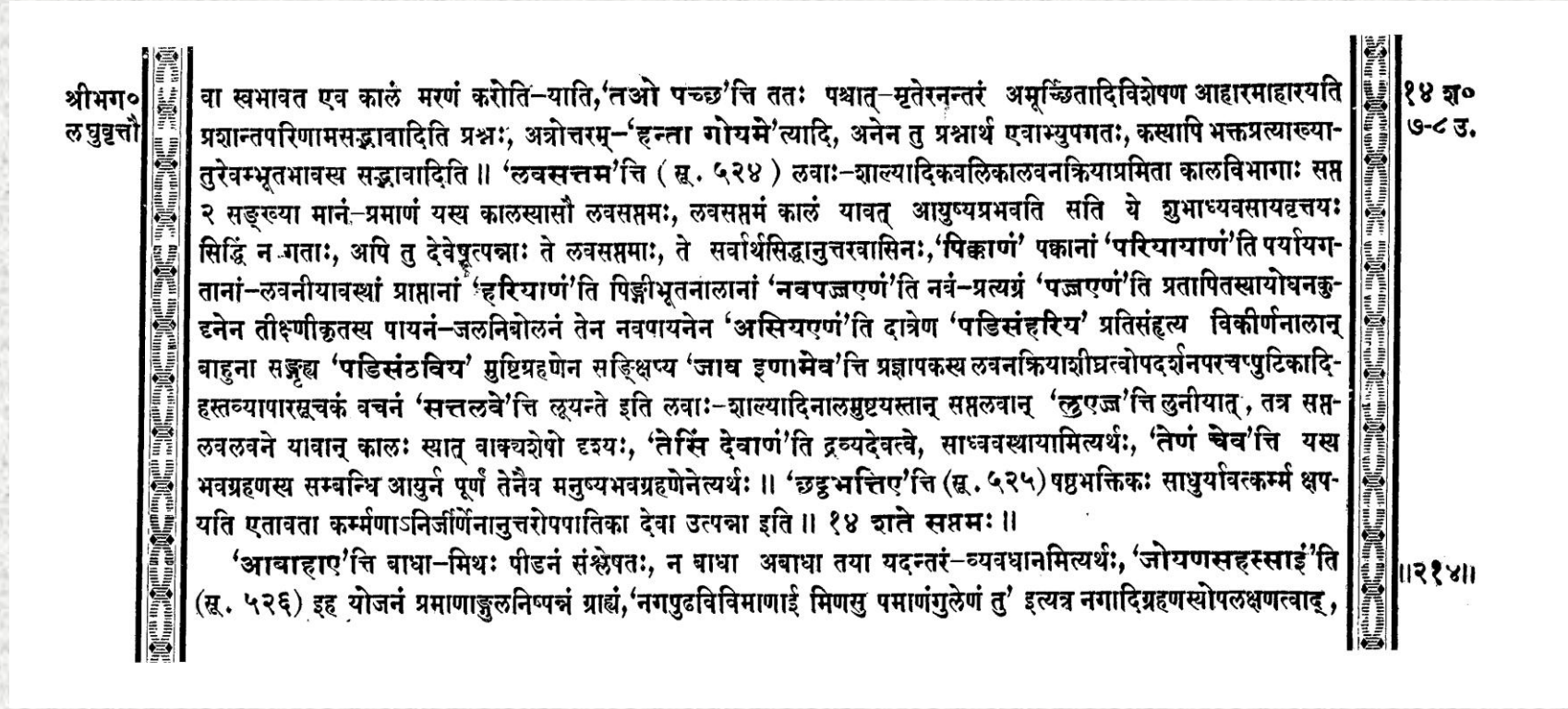

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वा स्वभावत एव कालं मरणं करोति–याति,'तओ पच्छ'त्ति ततः पश्चात्–मृतेरनन्तरं अमूर्च्छितादिविशेषण आहारमाहारयति प्रशान्तपरिणामसद्भावादिति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्–'हन्ता गोयमे'त्यादि, अनेन तु प्रश्नार्थ एवाभ्युपगतः, कस्यापि भक्तप्रत्याख्यातुरेवम्भूतभावस्य सद्भावादिति ॥ 'लवसत्तम'त्ति (सू. ५२४) लवाः–शाल्यादिकवलिकालवनक्रियाप्रमिता कालविभागाः सप्त २ सङ्ख्या मानं–प्रमाणं यस्य कालस्यासौ लवसप्तमः, लवसप्तमं कालं यावत् आयुष्यप्रभवति सति ये शुभाध्यवसायवृत्तयः सिद्धिं न गताः, अपि तु देवेषूत्पन्नाः ते लवसप्तमाः, ते सर्वार्थसिद्धानुत्तरवासिनः,'पिक्काणं' पक्वानां 'परियायाणं'ति पर्यायगतानां–लवनीयावस्थां प्राप्तानां 'हरियाणं'ति पिङ्गीभूतनालानां 'नवपज्जएणं'ति नवं–प्रत्यग्रं 'पज्जएणं'ति प्रतापितस्यायोघनकुट्टनेन तीक्ष्णीकृतस्य पायनं–जलनिबोलनं तेन नवपायनेन 'असियएणं'ति दात्रेण 'पडिसंहरिय' प्रतिसंहृत्य विकीर्णनालान् बाहुना सङ्गृह्य 'पडिसंठविय' मुष्टिग्रहणेन सङ्क्षिप्य 'जाव इणामेव'त्ति प्रज्ञापकस्य लवनक्रियाशीघ्रत्वोपदर्शनपरचप्पुटिकादिहस्तव्यापारसूचकं वचनं 'सत्तलवे'त्ति लूयन्ते इति लवाः–शाल्यादिनालमुष्टयस्तान् सप्तलवान् 'लुएज्ज'त्ति लुनीयात्, तत्र सप्तलवलवने यावान् कालः स्यात् वाक्यशेषो दृश्यः, 'तेसिं देवाणं'ति द्रव्यदेवत्वे, साध्ववस्थायामित्यर्थः, 'तेणं चेव'त्ति यस्य भवग्रहणस्य सम्बन्धि आयुर्न पूर्णं तेनैव मनुष्यभवग्रहणेनेत्यर्थः ॥ 'छट्ठभत्तिए'त्ति (सू. ५२५) षष्ठभक्तिकः साधुर्यावत्कर्म्म क्षपयति एतावता कर्म्मणाऽनिर्जीर्णेनानुत्तरोपपातिका देवा उत्पन्ना इति ॥ १४ शते सप्तमः ॥

'आबाहाए'त्ति बाधा–मिथः पीडनं संश्लेषतः, न बाधा अबाधा तया यदन्तरं–व्यवधानमित्यर्थः, 'जोयणसहस्साइं'ति (सू. ५२६) इह योजनं प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नं ग्राह्यं,'नगपुढविविमाणाई मिणसु पमाणंगुलेणं तु' इत्यत्र नगादिग्रहणस्योपलक्षणत्वाद्,

१४ श० ७-८ उ.

॥२१४॥

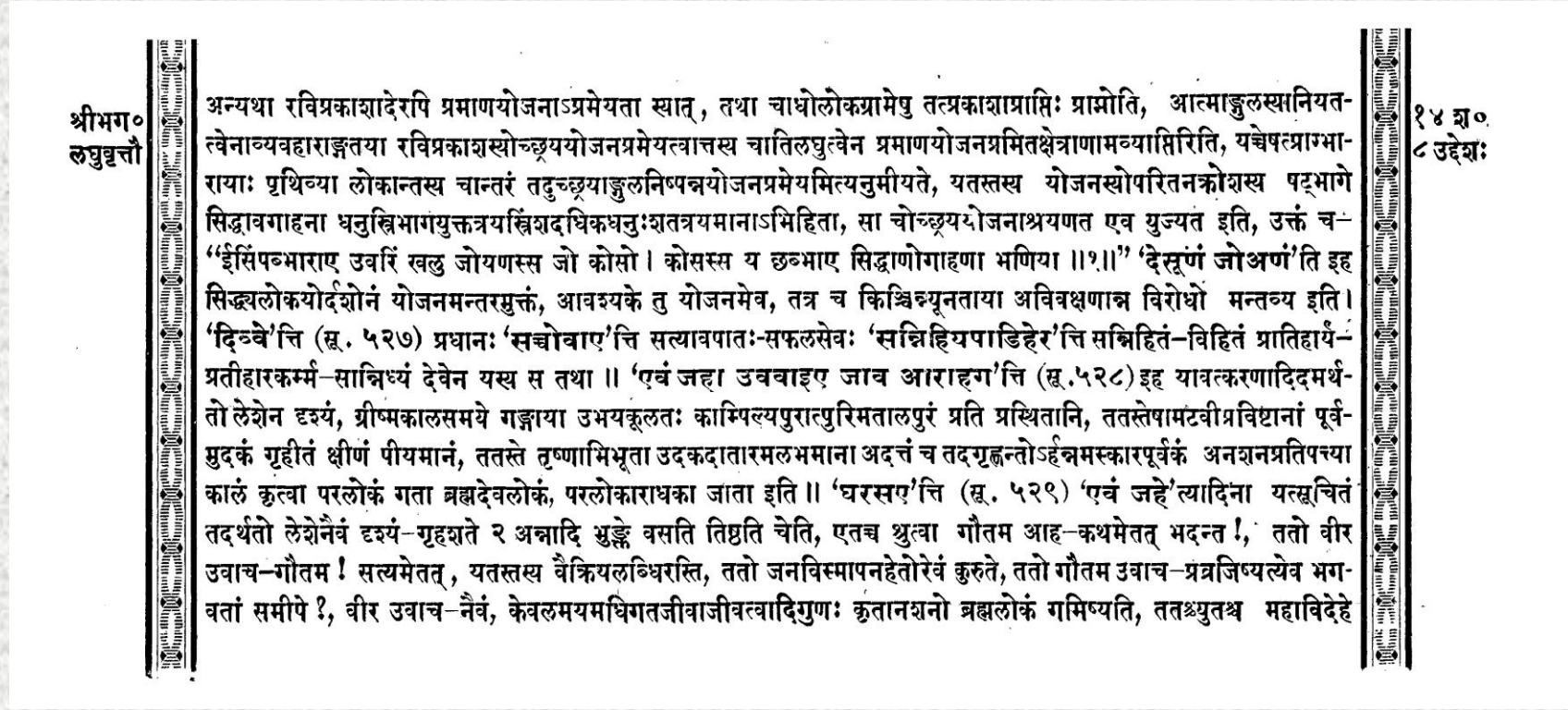

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अन्यथा रविप्रकाशादेरपि प्रमाणयोजनाऽप्रमेयता स्यात्, तथा चाधोलोकग्रामेषु तत्प्रकाशाप्राप्तिः प्राप्नोति, आत्माङ्गुलस्यानियतत्वेनाव्यवहाराङ्गतया रविप्रकाशस्योच्छ्रययोजनप्रमेयत्वात्तस्य चातिलघुत्वेन प्रमाणयोजनप्रमितक्षेत्राणामव्याप्तिरिति, यच्चेषत्प्राग्भारायाः पृथिव्या लोकान्तस्य चान्तरं तदुच्छ्रयाङ्गुलनिष्पन्नयोजनप्रमेयमित्यनुमीयते, यतस्तस्य योजनस्योपरितनक्रोशस्य षट्भागे सिद्धावगाहना धनुस्त्रिभागयुक्तत्रयस्त्रिंशदधिकधनुःशतत्रयमानाऽभिहिता, सा चोच्छ्रययोजनाश्रयणत एव युज्यत इति, उक्तं च–"ईसिंपब्भाराए उवरिं खलु जोयणस्स जो कोसो। कोसस्स य छब्भाए सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥१॥" 'देसूणं जोअणं'ति इह सिद्ध्यलोकयोर्दशोनं योजनमन्तरमुक्तं, आवश्यके तु योजनमेव, तत्र च किञ्चिन्यूनताया अविवक्षणान्न विरोधो मन्तव्य इति। 'दिव्वे'त्ति (सू. ५२७) प्रधानः 'सच्चोवाए'त्ति सत्यावपातः-सफलसेवः 'सन्निहियपाडिहेर'त्ति सन्निहितं–विहितं प्रातिहार्यं–प्रतीहारकर्म्म–सान्निध्यं देवेन यस्य स तथा ॥ 'एवं जहा उववाइए जाव आराहग'त्ति (सू.५२८) इह यावत्करणादिदमर्थतो लेशेन दृश्यं, ग्रीष्मकालसमये गङ्गाया उभयकूलतः काम्पिल्यपुरात्पुरिमतालपुरं प्रति प्रस्थितानि, ततस्तेषामटवीप्रविष्टानां पूर्वमुदकं गृहीतं क्षीणं पीयमानं, ततस्ते तृष्णाभिभूता उदकदातारमलभमाना अदत्तं च तदगृह्णन्तोऽर्हन्नमस्कारपूर्वकं अनशनप्रतिपत्त्या कालं कृत्वा परलोकं गता ब्रह्मदेवलोकं, परलोकाराधका जाता इति ॥ 'घरसए'त्ति (सू. ५२९) 'एवं जहे'त्यादिना यत्सूचितं तदर्थतो लेशेनैवं दृश्यं–गृहशते २ अन्नादि भुङ्क्ते वसति तिष्ठति चेति, एतच्च श्रुत्वा गौतम आह–कथमेतत् भदन्त!, ततो वीर उवाच–गौतम! सत्यमेतत्, यतस्तस्य वैक्रियलब्धिरस्ति, ततो जनविस्मापनहेतोरेवं करुते, ततो गौतम उवाच–प्रव्रजिष्यत्येव भगवतां समीपे?, वीर उवाच–नैवं, केवलमयमधिगतजीवाजीवत्वादिगुणः कृतानशनो ब्रह्मलोकं गमिष्यति, ततश्च्युतश्च महाविदेहे

१४ श० ८ उद्देशः

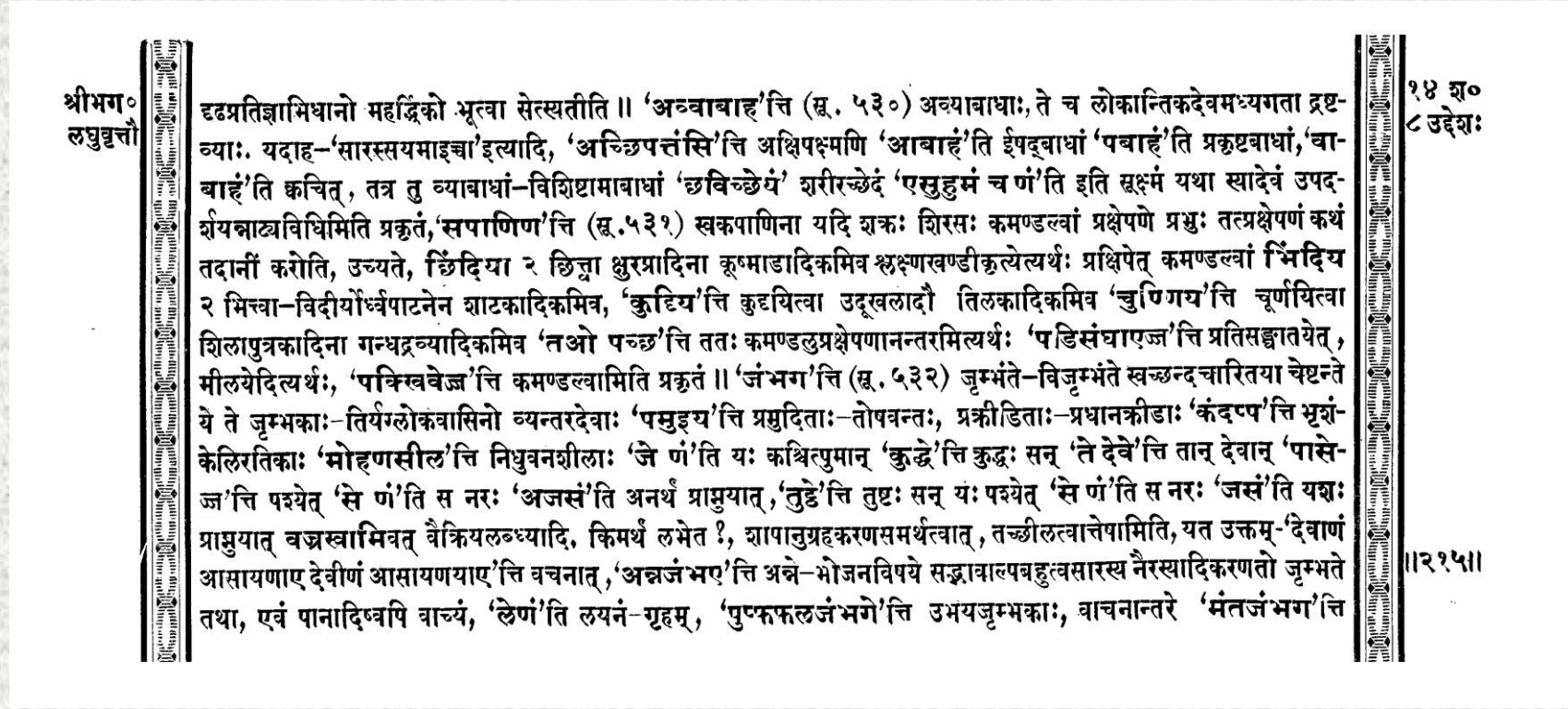

श्रीभग० लघुवृत्तौ

दृढप्रतिज्ञाभिधानो महर्द्धिको भूत्वा सेत्स्यतीति ॥ 'अव्वाबाह'त्ति (सू. ५३०) अव्याबाधाः, ते च लोकान्तिकदेवमध्यगता द्रष्टव्याः. यदाह–'सारस्सयमाइच्चा'इत्यादि, 'अच्छिपत्तंसि'त्ति अक्षिपक्ष्मणि 'आबाहं'ति ईषद्बाधां 'पबाहं'ति प्रकृष्टबाधां,'वाबाहं'ति क्वचित्, तत्र तु व्याबाधां–विशिष्टामाबाधां 'छविच्छेयं' शरीरच्छेदं 'एसुहुमं च णं'ति इति सूक्ष्मं यथा स्यादेवं उपदर्शयन्नाह्यविधिमिति प्रकृतं,'सपाणिण'त्ति (सू.५३१) स्वकपाणिना यदि शक्रः शिरसः कमण्डल्वां प्रक्षेपणे प्रभुः तत्प्रक्षेपणं कथं तदानीं करोति, उच्यते, छिंदिया २ छित्त्वा क्षुरप्रादिना कूष्माडादिकमिव श्लक्ष्णखण्डीकृत्येत्यर्थः प्रक्षिपेत् कमण्डल्वां भिंदिय २ भित्त्वा–विदीर्योर्ध्वपाटनेन शाटकादिकमिव, 'कुट्टिय'त्ति कुट्टयित्वा उदूखलादौ तिलकादिकमिव 'चुण्णिगय'त्ति चूर्णयित्वा शिलापुत्रकादिना गन्धद्रव्यादिकमिव 'तओ पच्छ'त्ति ततः कमण्डलुप्रक्षेपणानन्तरमित्यर्थः 'पडिसंघाएज्ज'त्ति प्रतिसङ्घातयेत्, मीलयेदित्यर्थः, 'पक्खिवेज्ज'त्ति कमण्डल्वामिति प्रकृतं ॥ 'जंभग'त्ति (सू. ५३२) जृम्भंते–विजृम्भंते स्वच्छन्दचारितया चेष्टन्ते ये ते जृम्भकाः–तिर्यग्लोकवासिनो व्यन्तरदेवाः 'पमुइय'त्ति प्रमुदिताः–तोषवन्तः, प्रक्रीडिताः–प्रधानक्रीडाः 'कंदप्प'त्ति भृशंकेलिरतिकाः 'मोहणसील'त्ति निधुवनशीलाः 'जे णं'ति यः कश्चित्पुमान् 'कुद्धे'त्ति क्रुद्धः सन् 'ते देवे'त्ति तान् देवान् 'पासेज्ज'त्ति पश्येत् 'से णं'ति स नरः 'अजसं'ति अनर्थं प्राप्नुयात्,'तुट्ठे'त्ति तुष्टः सन् यः पश्येत् 'से णं'ति स नरः 'जसं'ति यशः प्राप्नुयात् वज्रस्वामिवत् वैक्रियलब्ध्यादि, किमर्थं लभेत ?, शापानुग्रहकरणसमर्थत्वात्, तच्छीलत्वात्तेषामिति, यत उक्तम्-'देवाणं आसायणाए देवीणं आसायणयाए'त्ति वचनात्,'अन्नजंभए'त्ति अन्ने–भोजनविषये सद्भावाल्पबहुत्वसारस्य नैरस्यादिकरणतो जृम्भते तथा, एवं पानादिष्वपि वाच्यं, 'लेणं'ति लयनं–गृहम्, 'पुप्फफलजंभगे'त्ति उभयजृम्भकाः, वाचनान्तरे 'मंतजंभग'त्ति

१४ श० ८ उद्देशः

॥२१५॥

दृश्यते, ‘अवियत्तिजंभग’त्ति अव्यक्तया–अन्नाद्यविभागेन सामान्येन जृम्भका ये ते तथा, क्वचित्तु ‘अहिवइजंभग’त्ति दृश्यते, तत्र अधिपतौ–राजादिविषये जृम्भका ये ते तथा ‘दीहवेयड्ढेसु’त्ति सर्वेषु, प्रतिक्षेत्रं तेषां भावात् सप्तत्यधिकशतसङ्ख्येषु दीर्घविजयार्द्धगिरिषु, दीर्घग्रहणं च वर्तुलविजयार्द्धव्यवच्छेदार्थं ‘जमगपव्वएसु’त्ति देवकुरुषु शीतोदानद्या उभयपार्श्वतश्चित्रकूटविचित्रकूटनामानौ पर्वतौ, उत्तरकुरुषु शीतानदीसम्बन्धिउभयपार्श्वतः यमकाख्यौ गिरी अतस्तेषु, ‘कंचणपव्वएसु’त्ति उत्तरकुरुषु शीतानदीसम्बन्धिनां पञ्चानां नीलवदादिह्रदानां क्रमस्थितानां पूर्वापरतटयोर्दशदशकांचनकाख्या गिरयस्सन्ति ते च शतं भवन्ति, देवकुरुष्वप्येवं शीतोदानदीसत्कानां निषधह्रहादीनां पञ्चानां महाह्रदानामिति, तदेवं द्वे शते, एवं धातकीखण्डपूर्वार्द्धादिष्वप्यतस्तेष्विति ॥ १४ शते अष्टमः ॥

‘भावियप्प’त्ति (सू. ५३३) भावितात्मा–संयमक्रियावान् साधुः आत्मनः सम्बन्धिनी कर्मणो योग्या लेश्या कृष्णादिका कर्मलेश्या तां न जानाति विशेषतो, न पश्यति च सामान्यतः, कृष्णादिलेश्यायाः कर्मद्रव्यश्लेषणस्य चातिसूक्ष्मत्वेन छद्मस्थज्ञानागोचरत्वात् ‘तं पुण जीवं’ति यो जीवः कर्मलेश्यावान् तं पुनर्जीवं आत्मानं ‘सरूवं’ति सरूपिणं सशरीरमित्यर्थः, अत एव सकर्म्मलेश्यं–कर्मलेश्यासहितं जानाति, शरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वात् जीवस्य च कथञ्चिच्छरीराव्यतिरेकादिति, ‘सरूव’त्ति सरूपिणो-वर्णादिमन्तः ‘सकम्म’त्ति पूर्ववत् पुद्गलाः स्कन्धरूपाः ‘ओभासंति’त्ति प्रकाशन्ते, ‘लेस्साओ’त्ति तेजांसि ‘बहिया अभिनिस्सडाउ’त्ति बहिस्ताद् अभिनिसृता–निर्गताः, इह च यद्यपि चन्द्रादिविमानपुद्गला एव पृथ्वीकायिकत्वेन सचेतनत्वात् सकर्मलेश्यास्तथापि तन्निर्गतप्रकाशपुद्गलानां तद्धेतुकत्वेनोपचारात् सकर्मलेश्यत्वमवगन्तव्यमिति ॥ ‘अत्त’त्ति (सू. ५३४) आ–सम-

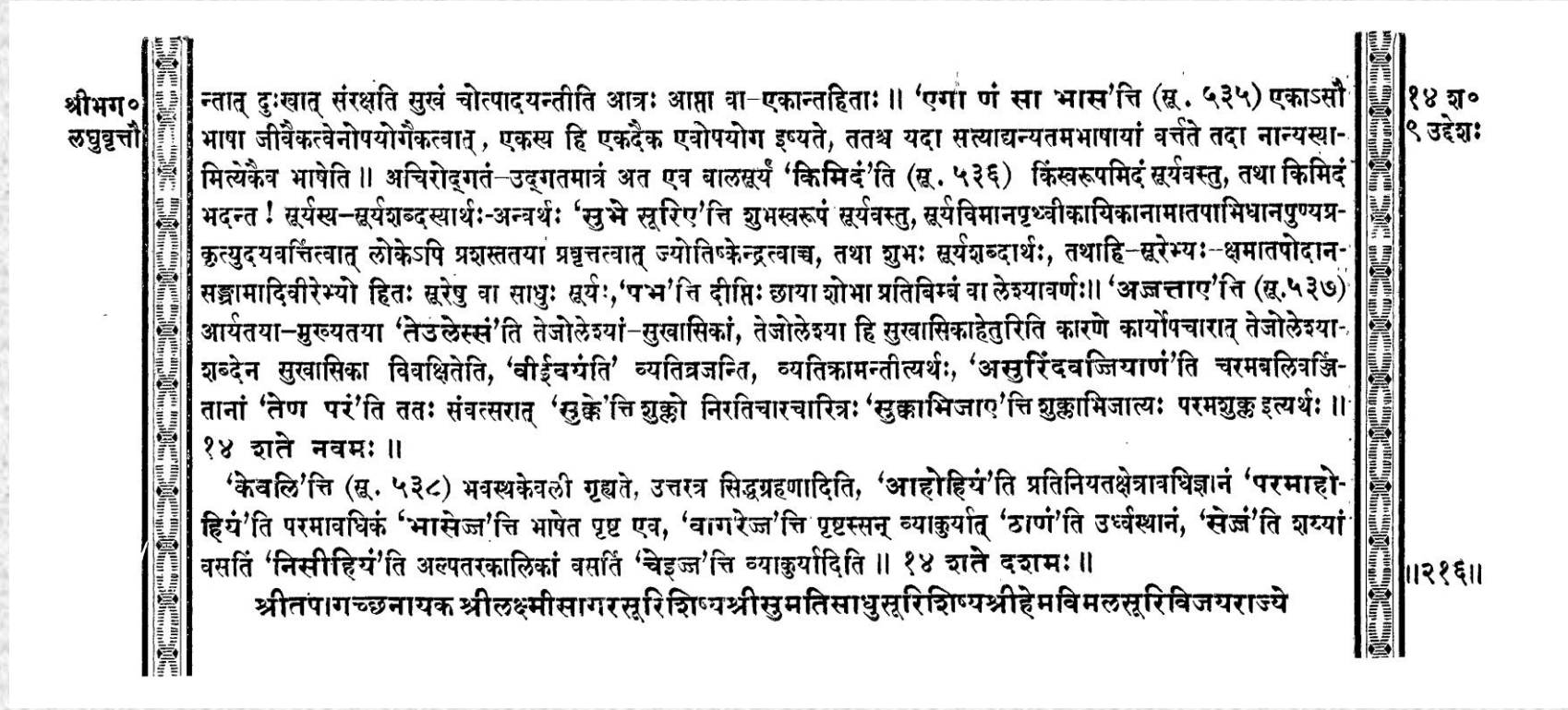

श्रीभग० लघुवृत्तौ

न्तात् दुःखात् संरक्षति सुखं चोत्पादयन्तीति आत्रः आत्मा वा–एकान्तहिताः ॥ 'एगा णं सा भास'त्ति (सू. ५३५) एकाऽसौ भाषा जीवैकत्वेनोपयोगैकत्वात्, एकस्य हि एकदैक एवोपयोग इष्यते, ततश्च यदा सत्याद्यन्यतमभाषायां वर्त्तते तदा नान्यस्या-मित्येकैव भाषेति ॥ अचिरोद्गतं–उद्गतमात्रं अत एव बालसूर्यं 'किमिदं'ति (सू. ५३६) किंस्वरूपमिदं सूर्यवस्तु, तथा किमिदं भदन्त ! सूर्यस्य–सूर्यशब्दस्यार्थः-अन्वर्थः 'सुभे सूरिए'त्ति शुभस्वरूपं सूर्यवस्तु, सूर्यविमानपृथ्वीकायिकानामातपाभिधानपुण्यप्र-कृत्युदयवर्त्तित्वात् लोकेऽपि प्रशस्ततया प्रवृत्तत्वात् ज्योतिष्केन्द्रत्वाच्च, तथा शुभः सूर्यशब्दार्थः, तथाहि–सूरेभ्यः–क्षमातपोदान-सङ्ग्रामादिवीरेभ्यो हितः सूरेषु वा साधुः सूर्यः,'पभ'त्ति दीप्तिः छाया शोभा प्रतिबिम्बं वा लेश्यावर्णः॥ 'अज्जत्ताए'त्ति (सू.५३७) आर्यतया–मुख्यतया 'तेउलेस्सं'ति तेजोलेश्यां–सुखासिकां, तेजोलेश्या हि सुखासिकाहेतुरिति कारणे कार्योपचारात् तेजोलेश्या-शब्देन सुखासिका विवक्षितेति, 'वीईवयंति' व्यतिव्रजन्ति, व्यतिक्रामन्तीत्यर्थः, 'असुरिंदवज्जियाणं'ति चरमबलिवर्जि-तानां 'तेण परं'ति ततः संवत्सरात् 'सुक्के'त्ति शुक्लो निरतिचारचारित्रः 'सुक्काभिजाए'त्ति शुक्लाभिजात्यः परमशुक्ल इत्यर्थः ॥ १४ शते नवमः ॥

'केवलि'त्ति (सू. ५३८) भवस्थकेवली गृह्यते, उत्तरत्र सिद्धग्रहणादिति, 'आहोहियं'ति प्रतिनियतक्षेत्रावधिज्ञानं 'परमाहो-हियं'ति परमावधिकं 'भासेज्ज'त्ति भाषेत पृष्ट एव, 'वागरेज्ज'त्ति पृष्टस्सन् व्याकुर्यात् 'ठाणं'ति उर्ध्वस्थानं, 'सेज्जं'ति शय्यां वसतिं 'निसीहियं'ति अल्पतरकालिकां वसतिं 'चेइज्ज'त्ति व्याकुर्यादिति ॥ १४ शते दशमः ॥

श्रीतपागच्छनायक श्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यश्रीसुमतिसाधुसूरिशिष्यश्रीहेमविमलसूरिविजयराज्ये

१४ श० ९ उद्देशः

॥२१६॥

प्रत सूत्रांक [५३९-५६१] + गाथा

दीप अनुक्रम [६३९-६५९]

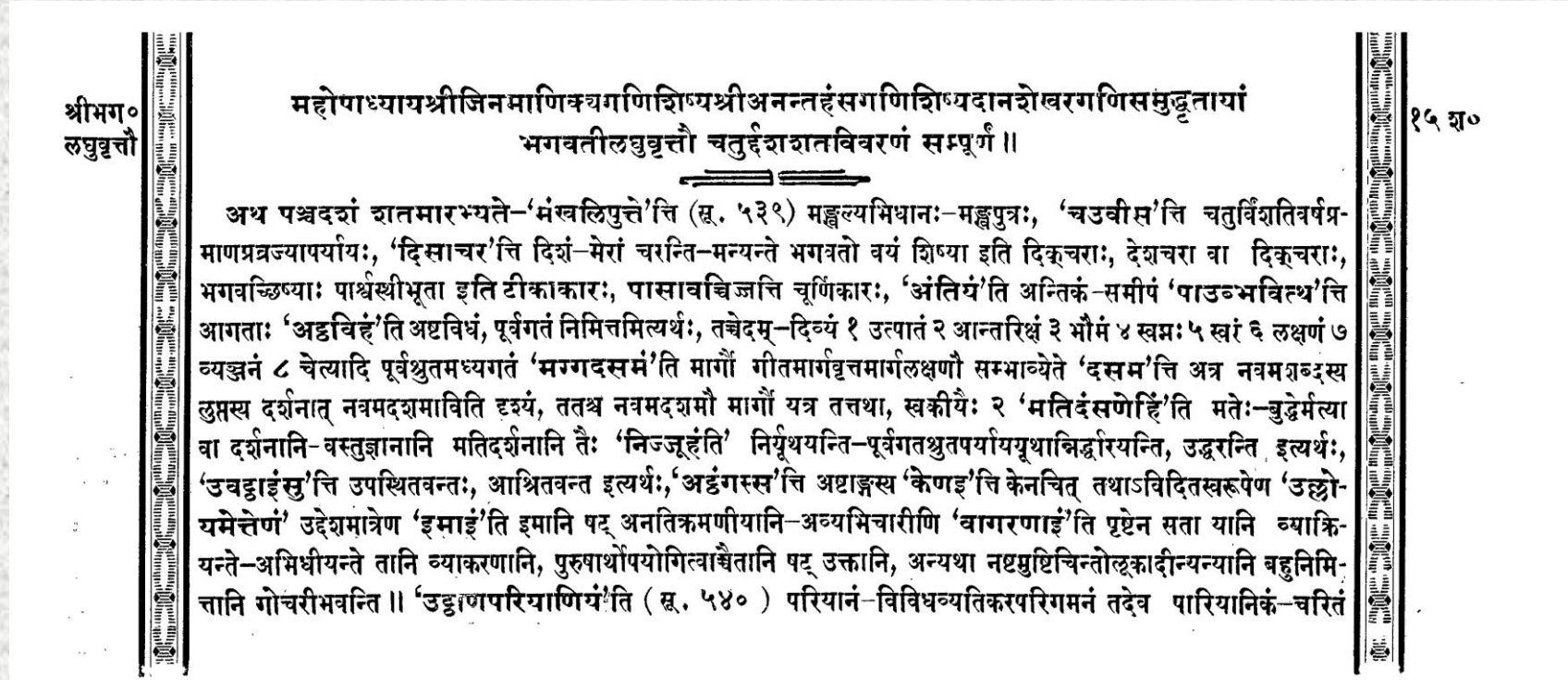

श्रीभग० लघुवृत्तौ

महोपाध्यायश्रीजिनमाणिक्यगणिशिष्यश्रीअनन्तहंसगणिशिष्यदानशेखरगणिसमुद्धृतायां
भगवतीलघुवृत्तौ चतुर्दशशतविवरणं सम्पूर्णं ॥

१५ श०

अथ पञ्चदशं शतमारभ्यते–'मंखलिपुत्ते'त्ति (सू. ५३९) मङ्खल्यभिधानः–मङ्खपुत्रः, 'चउवीस'त्ति चतुर्विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायः, 'दिसाचर'त्ति दिशं–मेरां चरन्ति–मन्यन्ते भगवतो वयं शिष्या इति दिक्चराः, देशचरा वा दिक्चराः, भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूता इति टीकाकारः, पासावच्चिज्जत्ति चूर्णिकारः, 'अंतियं'ति अन्तिकं–समीपं 'पाउब्भवित्थ'त्ति आगताः 'अट्ठविहं'ति अष्टविधं, पूर्वगतं निमित्तमित्यर्थः, तच्चेदम्–दिव्यं १ उत्पातं २ आन्तरिक्षं ३ भौमं ४ स्वप्नः ५ स्वरं ६ लक्षणं ७ व्यञ्जनं ८ चेत्यादि पूर्वश्रुतमध्यगतं 'मग्गदसमं'ति मार्गौ गीतमार्गवृत्तमार्गलक्षणौ सम्भाव्येते 'दसम'त्ति अत्र नवमशब्दस्य लुप्तस्य दर्शनात् नवमदशमाविति दृश्यं, ततश्च नवमदशमौ मार्गौ यत्र तत्तथा, स्वकीयैः २ 'मतिदंसणेहिं'ति मतेः–बुद्धेर्मत्या वा दर्शनानि–वस्तुज्ञानानि मतिदर्शनानि तैः 'निज्जूहंति' निर्यूथयन्ति–पूर्वगतश्रुतपर्याययूथान्निर्द्धारयन्ति, उद्धरन्ति इत्यर्थः, 'उवट्ठाइंसु'त्ति उपस्थितवन्तः, आश्रितवन्त इत्यर्थः,'अट्ठंगस्स'त्ति अष्टाङ्गस्य 'केणइ'त्ति केनचित् तथाऽविदितस्वरूपेण 'उल्लोयमेत्तेणं' उद्देशमात्रेण 'इमाइं'ति इमानि षट् अनतिक्रमणीयानि–अव्यभिचारीणि 'वागरणाइं'ति पृष्टेन सता यानि व्याक्रियन्ते–अभिधीयन्ते तानि व्याकरणानि, पुरुषार्थोपयोगित्वाच्चैतानि षट् उक्तानि, अन्यथा नष्टमुष्टिचिन्तोलूकादीन्यन्यानि बहुनिमित्तानि गोचरीभवन्ति ॥ 'उट्ठाणपरियाणियं'ति (सू. ५४०) परियानं–विविधव्यतिकरपरिगमनं तदेव पारियानिकं–चरितं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक-१४ समाप्तं. अथ शतक-१५ आरभ्यते

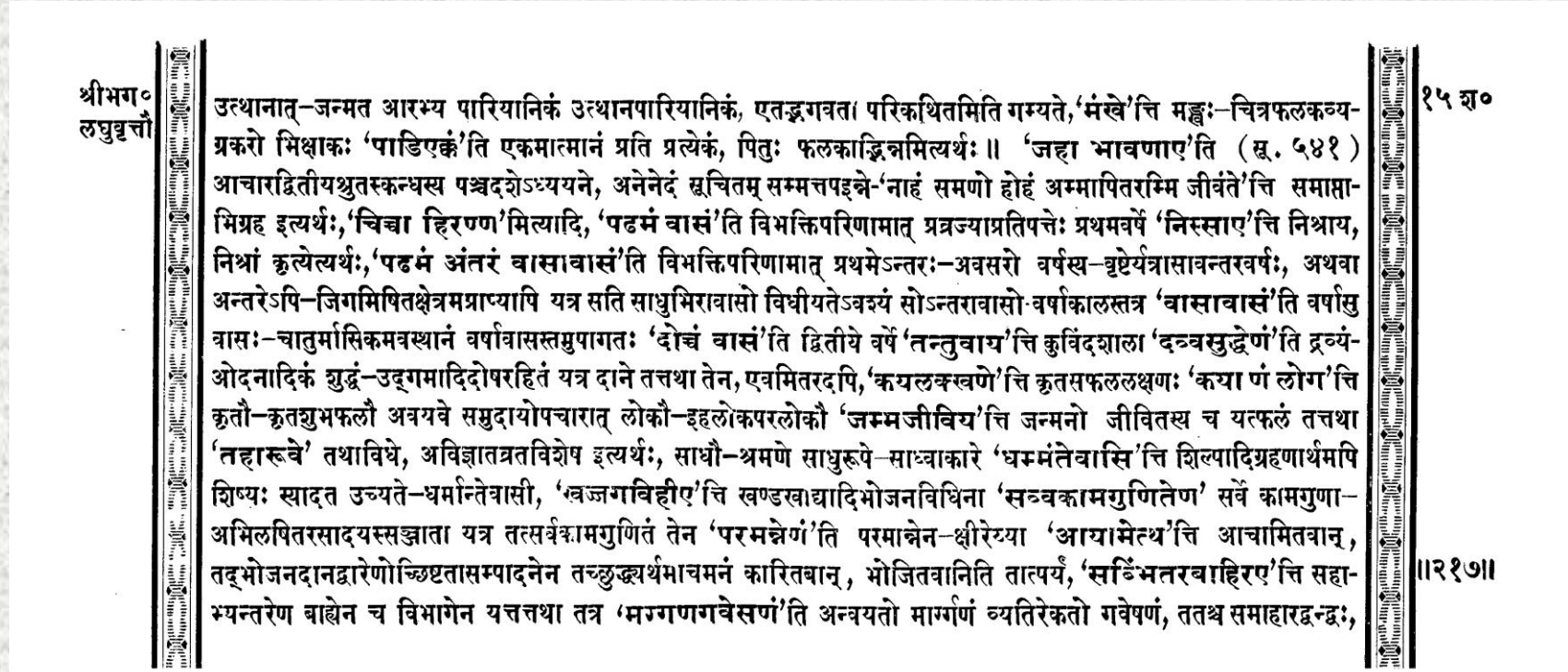

श्रीभग० लघुवृत्तौ

उत्थानात्–जन्मत आरभ्य पारियानिकं उत्थानपारियानिकं, एतद्भगवता परिकथितमिति गम्यते,‘मंखे’त्ति मङ्खः–चित्रफलकव्यग्रकरो भिक्षाकः ‘पाडिएक्कं’ति एकमात्मानं प्रति प्रत्येकं, पितुः फलकाद्भिन्नमित्यर्थः॥ ‘जहा भावणाए’ति (सू. ५४१) आचारद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य पञ्चदशेऽध्ययने, अनेनेदं सूचितम् सम्मत्तपइन्ने-‘नाहं समणो होहं अम्मापितरम्मि जीवंते’त्ति समाप्ताभिग्रह इत्यर्थः,‘चिच्चा हिरण्ण’मित्यादि, ‘पढमं वासं’ति विभक्तिपरिणामात् प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः प्रथमवर्षे ‘निस्साए’त्ति निश्राय, निश्रां कृत्येत्यर्थः,‘पढमं अंतरं वासावासं’ति विभक्तिपरिणामात् प्रथमेऽन्तरः–अवसरो वर्षस्य–वृष्टेर्यत्रासावन्तरवर्षः, अथवा अन्तरेऽपि–जिगमिषितक्षेत्रमप्राप्यापि यत्र सति साधुभिरावासो विधीयतेऽवश्यं सोऽन्तरावासो-वर्षाकालस्तत्र ‘वासावासं’ति वर्षासु वासः–चातुर्मासिकमवस्थानं वर्षावासस्तमुपागतः ‘दोच्चं वासं’ति द्वितीये वर्षे ‘तन्तुवाय’त्ति कुविंदशाला ‘दव्वसुद्धेणं’ति द्रव्यओदनादिकं शुद्धं–उद्गमाददिदोषरहितं यत्र दाने तत्तथा तेन, एवमितरदपि,‘कयलक्खणे’त्ति कृतसफललक्षणः ‘कया णं लोग’त्ति कृतौ–कृतशुभफलौ अवयवे समुदायोपचारात् लोकौ–इहलोकपरलोकौ ‘जम्मजीविय’त्ति जन्मनो जीवितस्य च यत्फलं तत्तथा ‘तहारूवे’ तथाविधे, अविज्ञातव्रतविशेष इत्यर्थः, साधौ–श्रमणे साधुरूपे–साध्वाकारे ‘धम्मंतेवासि’त्ति शिल्पादिग्रहणार्थमपि शिष्यः स्यादत उच्यते–धर्मान्तेवासी, ‘खज्जगविहीए’त्ति खण्डखाद्यादिभोजनविधिना ‘सव्वकामगुणितेण’ सर्वे कामगुणा–अभिलषितरसादयस्सञ्जाता यत्र तत्सर्वकामगुणितं तेन ‘परमन्नेणं’ति परमान्नेन–क्षीरेण्या ‘आयामेत्थ’त्ति आचामितवान्, तद्भोजनदानद्वारेणोच्छिष्टतासम्पादनेन तच्छुद्ध्यर्थमाचमनं कारितवान्, भोजितवानिति तात्पर्यं, ‘सब्भिंतरबाहिरए’त्ति सहाभ्यन्तरेण बाह्येन च विभागेन यत्तत्तथा तत्र ‘मग्गणगवेसणं’ति अन्वयतो मार्ग्गणं व्यतिरेकतो गवेषणं, ततश्च समाहारद्वन्द्वः,

१५ श०

॥२१७॥

'सुइं च'त्ति श्रूयत इति श्रुतिस्तां, चक्षुषा किलादृश्यमानोऽर्थः शब्देन निश्चयत इति श्रुतिग्रहणम्,'खुइं च'त्ति क्षवणं क्षुतिः–छीत्कृतं तां, एषाऽप्यदृश्यमानमनुष्यादिगमिका स्यादिति,'पवत्तिं च'त्ति प्रवृत्तिं–वार्त्तां शाटिकाः–परिधानवस्त्राणि 'पाडियाओ'त्ति उत्तरीयवस्त्राणि, क्वचिद् 'भंडियाओ'त्ति भण्डिका रन्धनभाजनानि, 'माहणा आयामेइ'त्ति शाटकादीनर्थान् लंभयति, शाटकादीन् ब्राह्मणेभ्यो ददातीत्यर्थः,'सउत्तरोट्ठं'ति सहोत्तरौष्ठं–सश्मश्रुकं यथा स्यादेवं 'भंडं'ति मुण्डनं कारयति नापितेन, 'पणियभूमीए'त्ति प्रणीतभूमौ–भाण्डविश्रामस्थाने प्रणीतभूमौ 'अभिसमन्नागए'त्ति मिलितः 'एयमट्ठं पडिसुणेमि'त्ति अभ्युपगच्छामि, यद्यैतस्यायोग्यस्यापि भगवतोऽङ्गीकारस्तत् छद्मस्थतया, 'अणिच्चजागरियं'ति अनित्यजागरिकां—चिन्तां, कुर्वन्निति वाक्यशेषः ॥ 'पढमसरयकालसमयंसि'त्ति (सू. ५४२) समयभाषया मार्गशीर्षे 'अप्पवुट्ठिकायंसि'त्ति, अल्पशब्दस्याभाववचनत्वादविद्यमानवर्षे इत्यर्थः, (अन्ये तु कार्त्तिकमार्गशीर्षौ शरदित्यभिधाय प्रथमशरदित्याश्विन इत्याह) अल्पवृष्टिकायत्वाच्च तत्रापि विहरतां न दूषणमिति, एतच्चासङ्गतमेव, भगवतोऽप्यवश्यं पर्युषणस्य कर्त्तव्यत्वेन पर्युषणाकल्पेऽभिहितत्वात्,'हरियगरेरिज्जमाण'त्ति हरितक इतिकृत्वा रेरिज्जमाणेत्ति अतिशयेन राजमानः, 'तिलसंगलियाए'त्ति तिलकफलिकायां 'मम पणिहाए'त्ति मां प्रणिधाय–मामाश्रित्य अयं मिथ्यावादी भवत्विति विकल्पं कृत्वा 'अब्भवद्दलए'त्ति अभ्ररूपं वारो–जलस्य दलकं–कारणं अभ्रवार्दलकं 'पतणतणाएति' प्रकर्षेण तणतणायते, गर्जतीत्यर्थः, 'नच्चोदगनाइमट्टियं'ति नात्युदकं नातिकर्दमं यथा स्यादेवं 'पविरल'त्ति प्रविरलाः प्रस्पर्शिकाः–विप्रुषो यत्र तत्तथा,'रयरेणु'त्ति रजो–वातोत्पाटितं व्योमवर्त्ति रेणु–भूमिस्थितं पांशु तद्विनाशनं–तदुपशमकं 'सलिलोदग'त्ति सलिलाः–शीतादिमहानद्यः तासामिव यदुदकं रसादिगुणसाधर्म्यात् तस्य यो वर्षः स स-

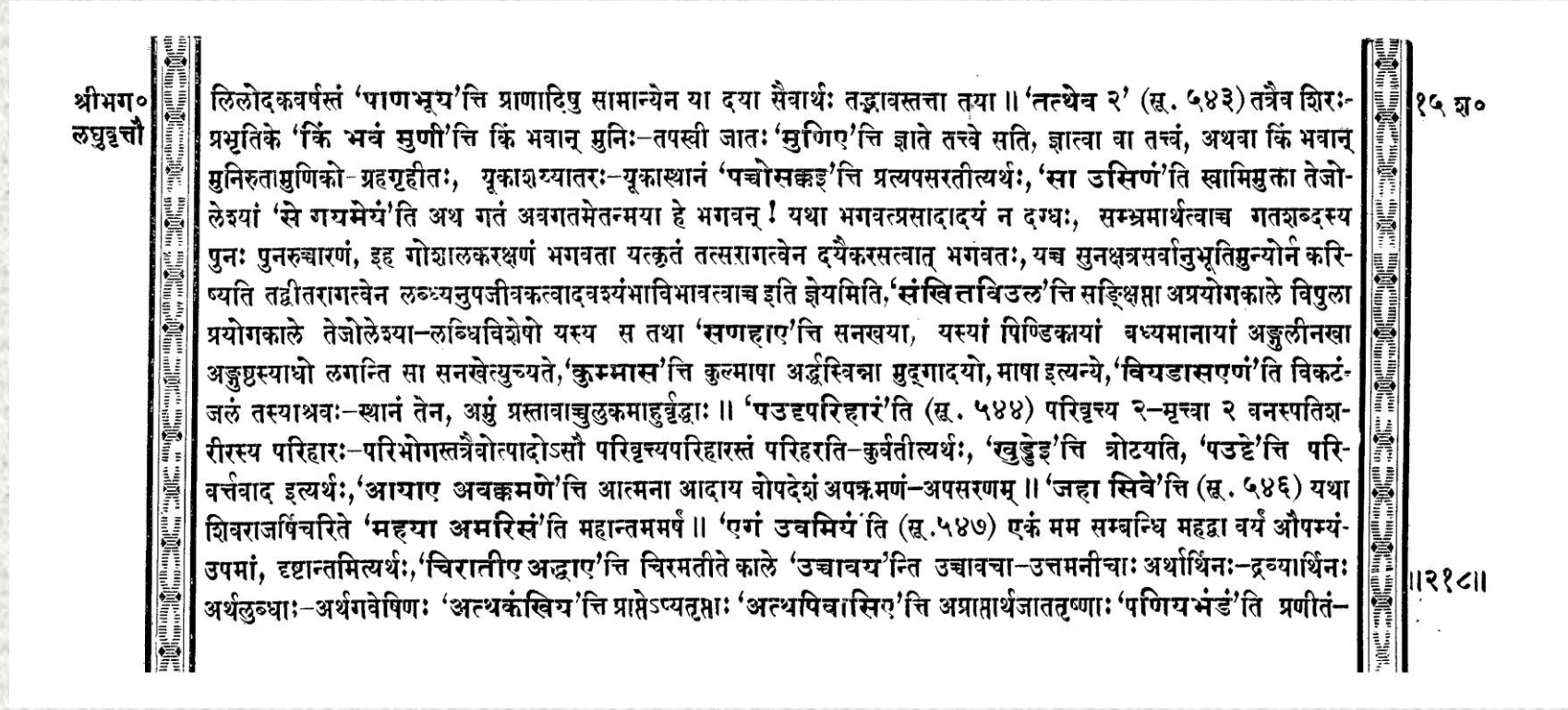

श्रीभग० लघुवृत्तौ

लिलोदकवर्षस्तं ‘पाणभूय’त्ति प्राणादिषु सामान्येन या दया सैवार्थः तद्भावस्तत्ता तया ॥ ‘तत्थेव २’ (सू. ५४३) तत्रैव शिरः-प्रभृतिके ‘किं भवं मुणी’त्ति किं भवान् मुनिः–तपस्वी जातः ‘मुणिए’त्ति ज्ञाते तत्त्वे सति, ज्ञात्वा वा तत्त्वं, अथवा किं भवान् मुनिरुतामुणिको–ग्रहगृहीतः, यूकाशय्यातरः–यूकास्थानं ‘पचोसक्कइ’त्ति प्रत्यपसरतीत्यर्थः, ‘सा उसिणं’ति स्वामिमुक्ता तेजो-लेश्यां ‘से गयमेयं’ति अथ गतं अवगतमेतन्मया हे भगवन्! यथा भगवत्प्रसादादयं न दग्धः, सम्भ्रमार्थत्वाच्च गतशब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणं, इह गोशालकरक्षणं भगवता यत्कृतं तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वात् भगवतः, यच्च सुनक्षत्रसर्वानुभूतिमुन्योर्न करि-ष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्ध्यनुपजीवकत्वादवश्यंभाविभावत्वाच्च इति ज्ञेयमिति, ‘संखित्तविउल’त्ति सङ्क्षिप्ता अप्रयोगकाले विपुला प्रयोगकाले तेजोलेश्या–लब्धिविशेषो यस्य स तथा ‘सणहाए’त्ति सनखया, यस्यां पिण्डिकायां बध्यमानायां अङ्गुलीनखा अङ्गुष्ठस्याधो लगन्ति सा सनखेत्युच्यते, ‘कुम्मास’त्ति कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादयो, माषा इत्यन्ये, ‘वियडासएणं’ति विकटं-जलं तस्याश्रवः–स्थानं तेन, अमुं प्रस्तावाच्चुलुकमाहुर्वृद्धाः ॥ ‘पउट्टपरिहारं’ति (सू. ५४४) परिवृत्त्य २–मृत्त्वा २ वनस्पतिश-रीरस्य परिहारः–परिभोगस्तत्रैवोत्पादोऽसौ परिवृत्त्यपरिहारस्तं परिहरति–कुर्वतीत्यर्थः, ‘खुड्डेइ’त्ति त्रोटयति, ‘पउट्टे’त्ति परि-वर्त्तवाद इत्यर्थः, ‘आयाए अवक्कमणे’त्ति आत्मना आदाय वोपदेशं अपक्रमणं–अपसरणम् ॥ ‘जहा सिवे’त्ति (सू. ५४६) यथा शिवराजर्षिचरिते ‘महया अमरिसं’ति महान्तममर्षं ॥ ‘एगं उवमियं’ति (सू.५४७) एकं मम सम्बन्धि महद्वा वर्यं औपम्यं-उपमां, दृष्टान्तमित्यर्थः, ‘चिरातीए अद्धाए’त्ति चिरमतीते काले ‘उच्चावय’न्ति उच्चावचा–उत्तमनीचाः अर्थार्थिनः–द्रव्यार्थिनः अर्थलुब्धाः–अर्थगवेषिणः ‘अत्थकंखिय’त्ति प्राप्तेऽप्यतृप्ताः ‘अत्थपिवासिए’त्ति अप्राप्तार्थजाततृष्णाः ‘पणियभंडं’ति प्रणीतं–

१५ श०

॥२१८॥

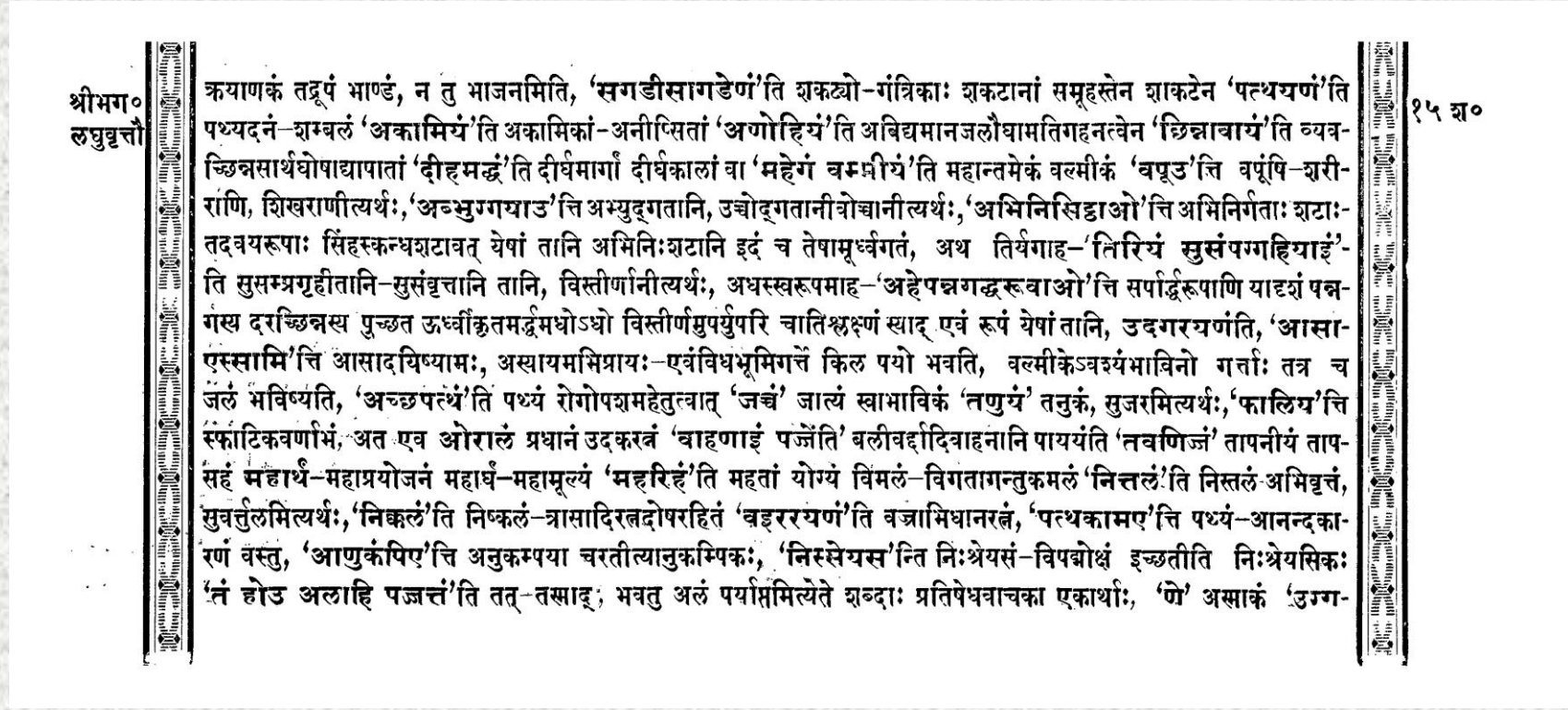

श्रीभग० लघुवृत्तौ

क्रयाणकं तद्रूपं भाण्डं, न तु भाजनमिति, ‘सगडीसागडेणं’ति शकट्यो-गंत्रिकाः शकटानां समूहस्तेन शाकटेन ‘पत्थयणं’ति पथ्यदनं-शम्बलं ‘अकामियं’ति अकामिकां-अनीप्सितां ‘अणोहियं’ति अविद्यमानजलौघामतिगहनत्वेन ‘छिन्नावायं’ति व्यवच्छिन्नसार्थघोषाद्यापातां ‘दीहमद्धं’ति दीर्घमार्गां दीर्घकालां वा ‘महेगं वम्मीयं’ति महान्तमेकं वल्मीकं ‘वपूउ’त्ति वपूंषि-शरीराणि, शिखराणीत्यर्थः,‘अब्भुग्गयाउ’त्ति अभ्युद्गतानि, उच्चोद्गतानीत्यर्थः,‘अभिनिसिट्ठाओ’त्ति अभिनिर्गताः शटाः-तदवयरूपाः सिंहस्कन्धशटावत् येषां तानि अभिनिःशटानि इदं च तेषामूर्ध्वगतं, अथ तिर्यगाह-‘तिरियं सुसंपग्गहियाइं’-ति सुसम्प्रगृहीतानि-सुसंवृत्तानि तानि, विस्तीर्णानीत्यर्थः, अधस्स्वरूपमाह-‘अहेपन्नगद्धरूवाओ’त्ति सर्पार्द्धरूपाणि यादृशं पन्नगस्य दरच्छिन्नस्य पुच्छत ऊर्ध्वीकृतमर्द्धमधोऽधो विस्तीर्णमुपर्युपरि चातिश्लक्ष्णं स्याद् एवं रूपं येषां तानि, उदगरयणंति, ‘आसाएस्सामि’त्ति आसादयिष्यामः, अस्यायमभिप्रायः-एवंविधभूमिगर्त्ते किल पयो भवति, वल्मीकेऽवश्यंभाविनो गर्त्ताः तत्र च जलं भविष्यति, ‘अच्छपत्थं’ति पथ्यं रोगोपशमहेतुत्वात् ‘जच्चं’ जात्यं स्वाभाविकं ‘तणुयं’ तनुकं, सुजरमित्यर्थः,‘फालिय’त्ति स्फाटिकवर्णाभं, अत एव ओरालं प्रधानं उदकरत्नं ‘वाहणाइं पज्जेंति’ बलीवर्दादिवाहनानि पाययंति ‘तवणिज्जं’ तापनीयं तापसहं महार्थं-महाप्रयोजनं महार्घं-महामूल्यं ‘महरिहं’ति महतां योग्यं विमलं-विगतागन्तुकमलं ‘निम्मलं’ति निस्तलं-अभिवृत्तं, सुवर्त्तुलमित्यर्थः,‘निक्कलं’ति निष्कलं-त्रासादिरत्नदोषरहितं ‘वइररयणं’ति वज्राभिधानरत्नं, ‘पत्थकामए’त्ति पथ्यं-आनन्दकारणं वस्तु, ‘आणुकंपिए’त्ति अनुकम्पया चरतीत्यानुकम्पिकः, ‘निस्सेयस’न्ति निःश्रेयसं-विपद्मोक्षं इच्छतीति निःश्रेयसिकः ‘नं होउ अलाहि पज्जत्तं’ति तत्-तस्माद्, भवतु अलं पर्याप्तमित्येते शब्दाः प्रतिषेधवाचका एकार्थाः, ‘णे’ अस्माकं ‘उग्ग-

१५ श०

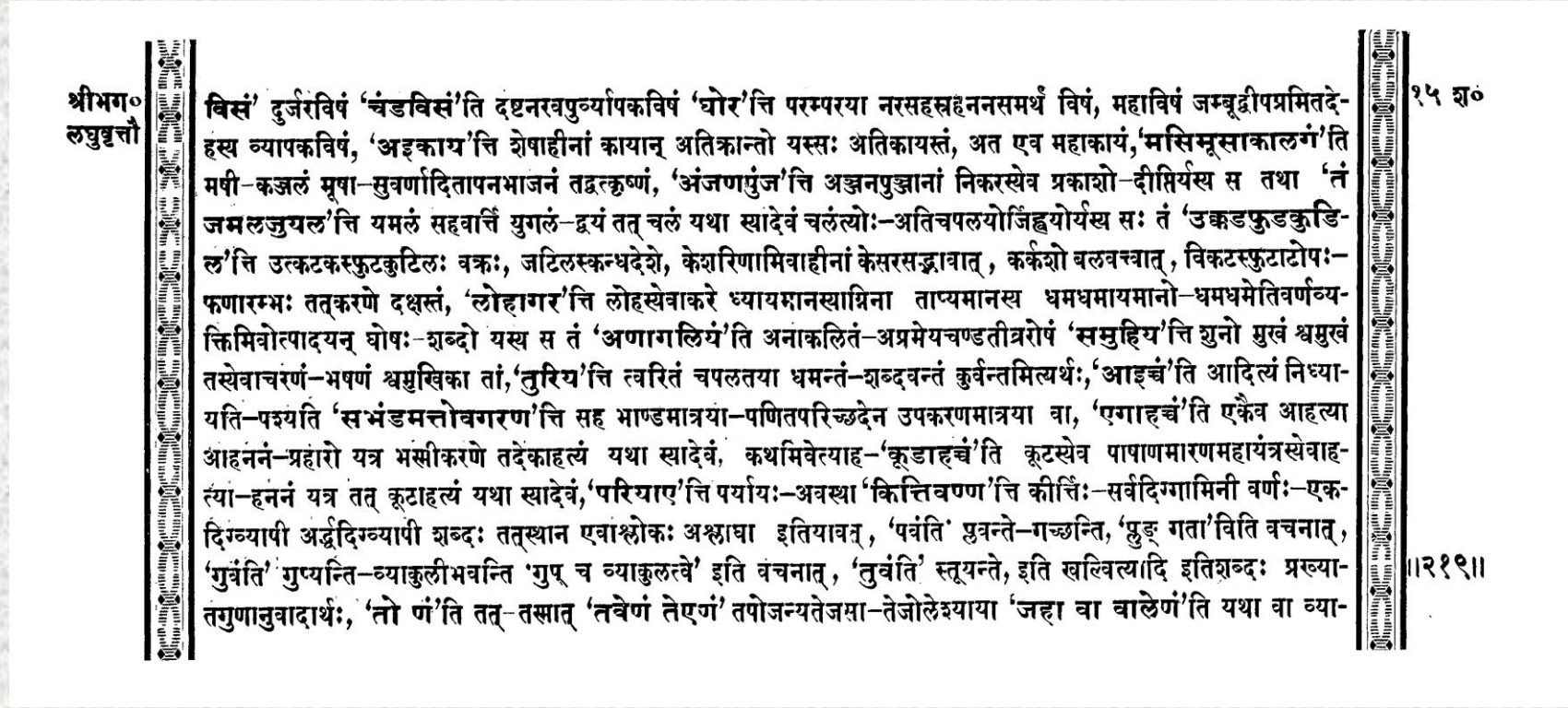

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विसं’ दुर्जरविषं ‘चंडविसं’ति दष्टनरवपुर्व्यापकविषं ‘घोर’त्ति परम्परया नरसहस्रहननसमर्थं विषं, महाविषं जम्बूद्वीपप्रमितदे-
हस्य व्यापकविषं, ‘अइकाय’त्ति शेषाहीनां कायान् अतिक्रान्तो यस्सः अतिकायस्तं, अत एव महाकायं,‘मसिमूसाकालगं’ति
मषी–कज्जलं मूषा–सुवर्णादितापनभाजनं तद्वत्कृष्णं, ‘अंजणपुंज’त्ति अञ्जनपुञ्जानां निकरस्येव प्रकाशो–दीप्तिर्यस्य स तथा ‘तं
जमलजुयल’त्ति यमलं सहवर्त्ति युगलं–द्वयं तत् चलं यथा स्यादेवं चलंत्योः–अतिचपलयोर्जिह्वयोर्यस्य सः तं ‘उक्कडफुडकुडि-
ल’त्ति उत्कटकस्फुटकुटिलः वक्रः, जटिलस्कन्धदेशे, केशरिणामिवाहीनां केसरसद्भावात्, कर्कशो बलवत्त्वात्, विकटस्फुटाटोपः–
फणारम्भः तत्करणे दक्षस्तं, ‘लोहागर’त्ति लोहस्येवाकरे ध्यायमानस्याग्निना ताप्यमानस्य धमधमायमानो–धमधमेतिवर्णव्य-
क्तिमिवोत्पादयन् घोषः–शब्दो यस्य स तं ‘अणागलियं’ति अनाकलितं–अप्रमेयचण्डतीव्ररोषं ‘समुहिय’त्ति शुनो मुखं श्वमुखं
तस्येवाचरणं–भषणं श्वमुखिका तां,‘तुरिय’त्ति त्वरितं चपलतया धमन्तं–शब्दवन्तं कुर्वन्तमित्यर्थः,‘आइच्चं’ति आदित्यं निध्या-
यति–पश्यति ‘सभंडमत्तोवगरण’त्ति सह भाण्डमात्रया–पणितपरिच्छदेन उपकरणमात्रया वा, ‘एगाहच्चं’ति एकैव आहत्या
आहननं–प्रहारो यत्र भस्मीकरणे तदेकाहत्यं यथा स्यादेवं, कथमिवेत्याह–‘कूडाहच्चं’ति कूटस्येव पाषाणमारणमहायंत्रस्येवाह-
त्या–हननं यत्र तत् कूटाहत्यं यथा स्यादेवं,‘परियाए’त्ति पर्यायः–अवस्था ‘कित्तिवण्ण’त्ति कीर्त्तिः–सर्वदिग्गामिनी वर्णः–एक-
दिग्व्यापी अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः तत्स्थान एवाश्लोकः अश्लाघा इतियावत्, ‘पवंति’ प्लवन्ते–गच्छन्ति, ‘प्लुङ् गता’विति वचनात्,
‘गुवंति’ गुप्यन्ति–व्याकुलीभवन्ति ‘गुप् च व्याकुलत्वे’ इति वचनात्, ‘तुवंति’ स्तूयन्ते, इति खल्वित्यादि इतिशब्दः प्रस्या-
तगुणानुवादार्थः, ‘तो णं’ति तत्–तस्मात् ‘तवेणं तेएणं’ तपोजन्यतेजसा–तेजोलेश्याया ‘जहा वा वालेणं’ति यथा वा व्या-

१५ श०

॥२१९॥

लेन–उरगेण ‘सारक्खामि’त्ति संरक्षामि–दाहभयात् सङ्गोपयामि, सुखस्थानप्रापणेन ॥ ‘पभु’त्ति (सू. ५४८) प्रभुः–समर्थः गोशालको भस्मराशिं कर्तुमित्येकः प्रश्नः, प्रभुत्वं द्विधा–विषयमात्रापेक्षया तत्करणतश्चेति पुनः पृच्छति–‘विसएणं’ति इत्यनेन प्रथमः प्रश्नः पृष्टः, ‘समत्थे ण’मित्यनेन द्वितीयः, ‘परितावणियं’ति परितापनिकां, क्रियां कुर्यादित्यर्थः, ‘अणगाराणं’ सामान्यसाधूनाम्, ‘खंतिखमा’ क्षान्त्या–क्रोधनिग्रहेण क्षमन्त इति क्षान्तिक्षमाः, ‘थेराणं’त्ति आचार्यादिश्रुतपर्यायस्थविराणां ॥ ‘पडिचोयणाए’त्ति (सू. ५४९) तन्मतप्रतिकूलचोदना–प्रोत्साहना प्रतिचोदना तया, ‘पडिसारणाए’त्ति तन्मतप्रतिकूलतया विस्मृतार्थस्मारणा प्रतिस्मारणा तया, ‘पडोयारेणं’ति प्रत्युपचारेण वा ‘पडोयारेउ’त्ति प्रत्युपचारं करोतु, एवं प्रत्युपकारयतु वा, ‘मिच्छं विप्पडिवण्णे’त्ति मिथ्यात्वं—म्लेच्छत्वं अनार्यत्वं वा विशेषतः प्रतिपन्नः ॥ ‘सुट्ठु णं’ति (सू. ५५०) उपालम्भवचः ‘आउसो’त्ति हे आयुष्मन्! चिरजीवित! काश्यपगोत्र! ‘इमं सत्तमं पउट्टपरिहारं’ति सप्तमं शरीरान्तरप्रवेशं करोमीत्यर्थः, ‘जेवि य आइं’ति येऽपि च आइंति निपातः, ‘चउरासीइ महाकप्पसहस्साइं’इत्यादि, गोशालकसिद्धान्तार्थः स्थाप्यो, वृद्धैर-व्याख्यातत्वात्, आह च चूर्णिकारः–‘संदिद्धत्ताओ तस्सिद्धंतस्स न लक्खिज्जइ’त्ति, तथापि शब्दानुसारेण किञ्चिदुच्यते–‘चउ-रासीइ महाकप्पसयसहस्साइं’ति चतुरशीतिमहाकल्पाः, कल्पाः–कालविशेषाः, तेऽपि लोकप्रसिद्धा अपि स्युरतस्तद्व्यवच्छेदार्थं उक्तं–महाकल्पा वक्ष्यमाणस्वरूपाः तेषां यानि शतसहस्राणि–लक्षाणि तानि क्षपयित्वा, तथा ‘सत्त दिव्वे’त्ति सप्त दिव्यान्–देवभवान् ‘सत्त संजूहे’त्ति सप्त संयूथानि–अनन्तकायजीवनिकायविशेषान् ‘सत्त सण्णिगब्भे’त्ति सप्त संज्ञिगर्भान्–मनुष्यभवसतीः, एते च तन्मते सप्त मातरः स्युः, वक्ष्यति चैवमेवैतान् अयमेवेति, ‘सत्त पउट्टपरिहारे’त्ति सप्त शरीरान्तरप्रवेशान्, एते च सप्त

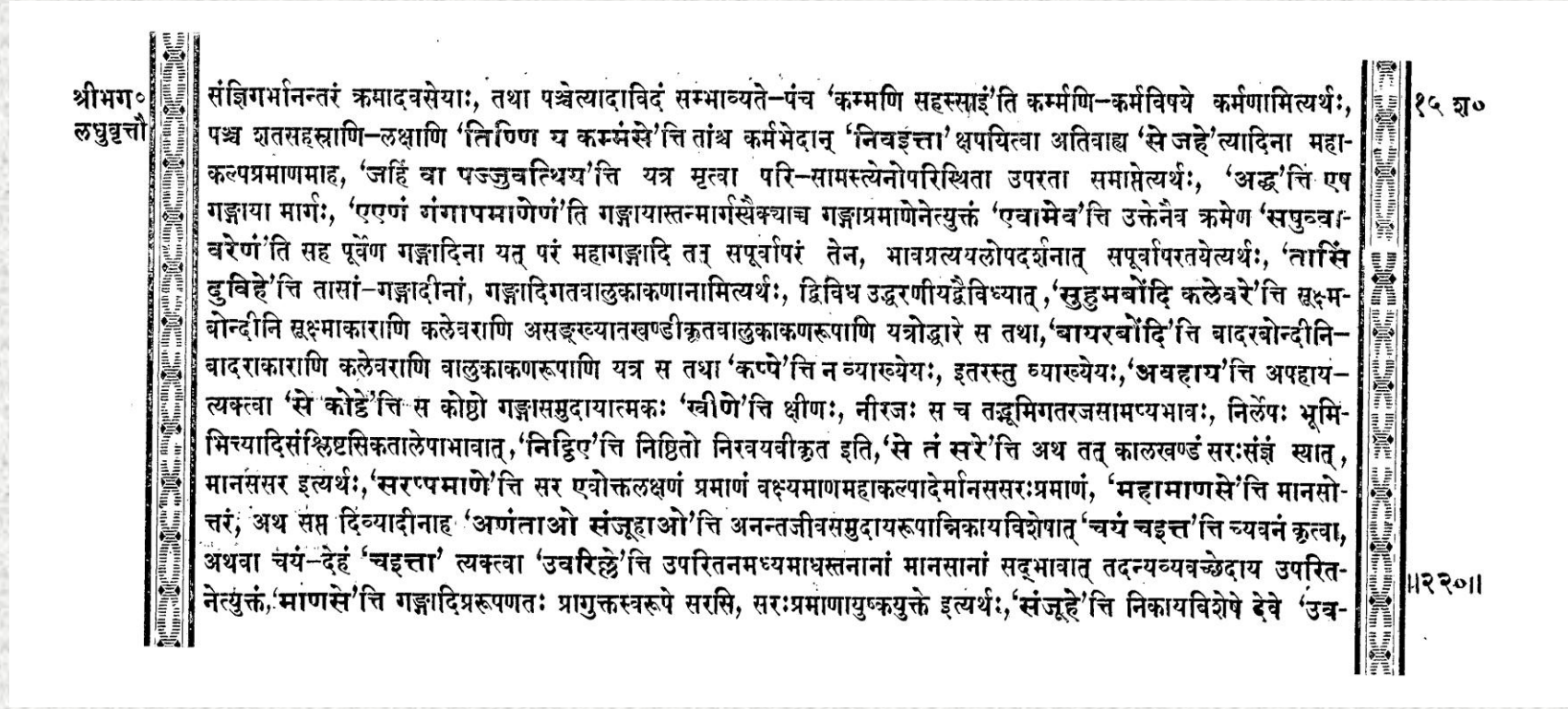

श्रीभग० लघुवृत्तौ

संज्ञिगर्भानन्तरं क्रमादवसेयाः, तथा पञ्चेत्यादाविदं सम्भाव्यते–पंच 'कम्मणि सहस्साइं'ति कर्म्मणि–कर्मविषये कर्मणामित्यर्थः, पञ्च शतसहस्राणि–लक्षाणि 'तिण्णि य कम्मंसे'त्ति तांश्च कर्मभेदान् 'निवइत्ता' क्षपयित्वा अतिवाह्य 'से जहे'त्यादिना महाकल्पप्रमाणमाह, 'जहिं वा पज्जुवत्थिय'त्ति यत्र मृत्वा परि–सामस्त्येनोपरिस्थिता उपरता समाप्तेत्यर्थः, 'अद्ध'त्ति एष गङ्गाया मार्गः, 'एएणं गंगापमाणेणं'ति गङ्गायास्तन्मार्गस्यैक्याच्च गङ्गाप्रमाणेनेत्युक्तं 'एवामेव'त्ति उक्तेनैव क्रमेण 'सपुव्वावरेणं'ति सह पूर्वेण गङ्गादिना यत् परं महागङ्गादि तत् सपूर्वापरं तेन, भावप्रत्ययलोपदर्शनात् सपूर्वापरतयेत्यर्थः, 'तासिं दुविहे'त्ति तासां–गङ्गादीनां, गङ्गादिगतवालुकाकणानामित्यर्थः, द्विविध उद्धरणीयद्वैविध्यात्,'सुहुमबोंदि कलेवरे'त्ति सूक्ष्मबोन्दीनि सूक्ष्माकाराणि कलेवराणि असङ्ख्यातखण्डीकृतवालुकाकणरूपाणि यत्रोद्धारे स तथा,'बायरबोंदि'त्ति बादरबोन्दीनि–बादराकाराणि कलेवराणि वालुकाकणरूपाणि यत्र स तथा 'कप्पे'त्ति न व्याख्येयः, इतरस्तु व्याख्येयः,'अवहाय'त्ति अपहाय–त्यक्त्वा 'से कोट्ठे'त्ति स कोष्ठो गङ्गासमुदायात्मकः 'खीणे'त्ति क्षीणः, नीरजः स च तद्भूमिगतरजसामप्यभावः, निर्लेपः भूमिभित्यादिसंश्लिष्टसिकतालेपाभावात्,'निट्ठिए'त्ति निष्ठितो निरवयवीकृत इति,'से तं सरे'त्ति अथ तत् कालखण्डं सरःसंज्ञं स्यात्, मानससर इत्यर्थः,'सरप्पमाणे'त्ति सर एवोक्तलक्षणं प्रमाणं वक्ष्यमाणमहाकल्पादेर्मानससरःप्रमाणं, 'महामाणसे'त्ति मानसोत्तरं; अथ सप्त दिव्यादीनाह 'अणंताओ संजूहाओ'त्ति अनन्तजीवसमुदायरूपान्निकायविशेषात् 'चयं चइत्त'त्ति च्यवनं कृत्वा, अथवा चयं–देहं 'चइत्ता' त्यक्त्वा 'उवरिल्ले'त्ति उपरितनमध्यमाधस्तनानां मानसानां सद्भावात् तदन्यव्यवच्छेदाय उपरितनेत्युक्तं,'माणसे'त्ति गङ्गादिप्ररूपणतः प्रागुक्तस्वरूपे सरसि, सरःप्रमाणायुष्कयुक्ते इत्यर्थः,'संजूहे'त्ति निकायविशेषे देवे 'उव-

१५ श०

॥२२०॥

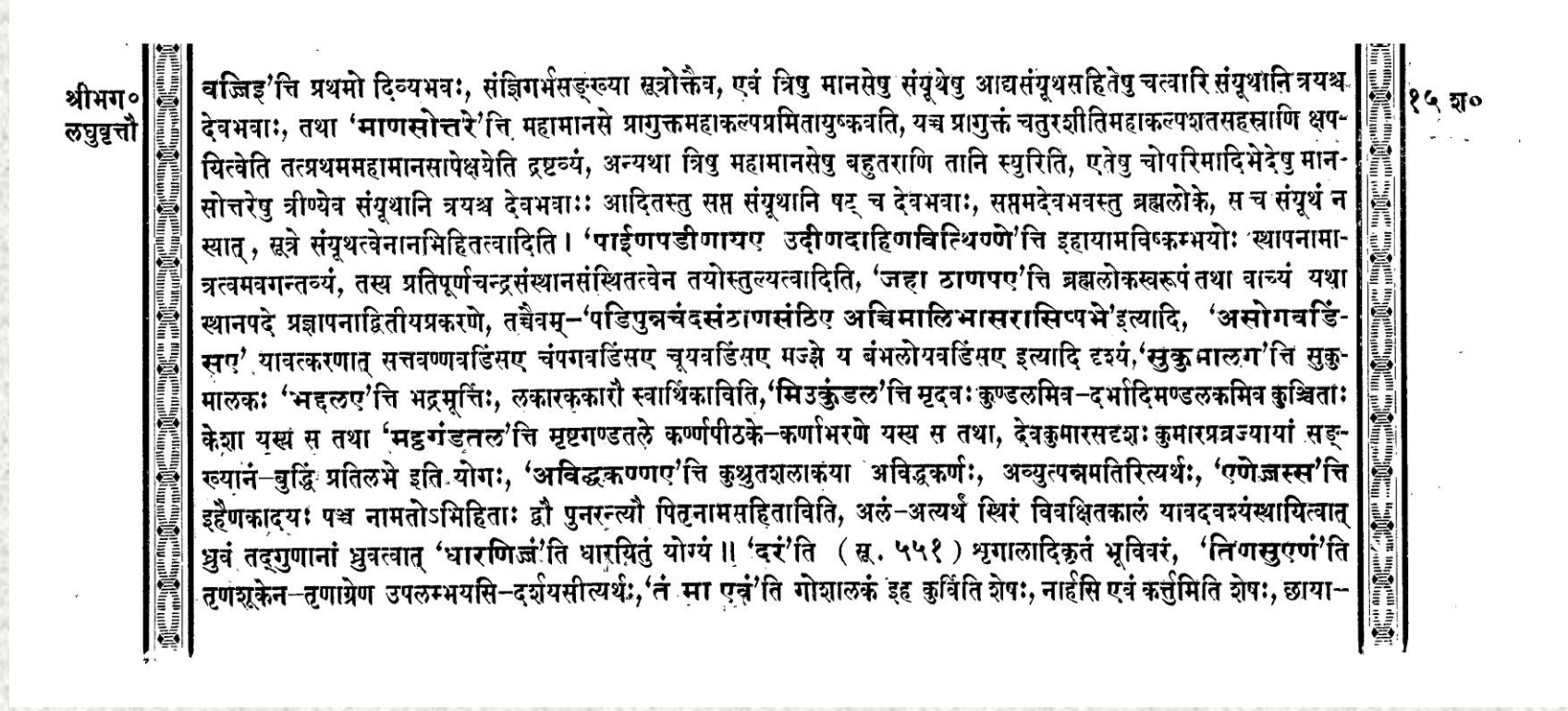

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वज्जिइ'त्ति प्रथमो दिव्यभवः, संज्ञिगर्भसङ्ख्या सूत्रोक्तैव, एवं त्रिषु मानसेषु संयूथेषु आद्यसंयूथसहितेषु चत्वारि संयूथानि त्रयश्च देवभवाः, तथा **'माणसोत्तरे'**त्ति महामानसे प्रागुक्तमहाकल्पप्रमितायुष्कवति, यच्च प्रागुक्तं चतुरशीतिमहाकल्पशतसहस्राणि क्षपयित्वेति तत्प्रथममहामानसापेक्षयेति द्रष्टव्यं, अन्यथा त्रिषु महामानसेषु बहुतराणि तानि स्युरिति, एतेषु चोपरिमादिभेदेषु मानसोत्तरेषु त्रीण्येव संयूथानि त्रयश्च देवभवाः: आदितस्तु सप्त संयूथानि षट् च देवभवाः, सप्तमदेवभवस्तु ब्रह्मलोके, स च संयूथं न स्यात्, सूत्रे संयूथत्वेनानभिहितत्वादिति। **'पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे'**त्ति इहायामविष्कम्भयोः स्थापनामात्रत्वमवगन्तव्यं, तस्य प्रतिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितत्वेन तयोस्तुल्यत्वादिति, **'जहा ठाणपए'**त्ति ब्रह्मलोकस्वरूपं तथा वाच्यं यथा स्थानपदे प्रज्ञापनाद्वितीयप्रकरणे, तच्चैवम्–**'पडिपुन्नचंदसंठाणसंठिए अच्चिमालिभासरासिप्पभे'**इत्यादि, **'असोगवडिंसए'** यावत्करणात् सत्तवण्णवडिंसए चंपगवडिंसए चूयवडिंसए मज्झे य बंभलोयवडिंसए इत्यादि दृश्यं,**'सुकुमालग'**त्ति सुकुमालकः **'भद्दलए'**त्ति भद्रमूर्त्तिः, लकारककारौ स्वार्थिकाविति,**'मिउकुंडल'**त्ति मृदवः कुण्डलमिव–दर्भादिमण्डलकमिव कुञ्चिताः केशा यस्य स तथा **'मट्ठगंडतल'**त्ति मृष्टगण्डतले कर्णपीठके–कर्णाभरणे यस्य स तथा, देवकुमारसदृशः कुमारप्रव्रज्यायां सङ्ख्यानं–बुद्धिः प्रतिलभे इति योगः, **'अविद्धकण्णए'**त्ति कुश्रुतशलाकया अविद्धकर्णः, अव्युत्पन्नमतिरित्यर्थः, **'एणेज्जस्स'**त्ति इहैणकादयः पञ्च नामतोऽभिहिताः द्वौ पुनरन्त्यौ पितृनामसहिताविति, अलं–अत्यर्थं स्थिरं विवक्षितकालं यावदवश्यंस्थायित्वात् ध्रुवं तद्गुणानां ध्रुवत्वात् **'धारणिज्जं'**ति धारयितुं योग्यं ॥ **'दरं'**ति (सू. ५५१) शृगालादिकृतं भूविवरं, **'तिणसूएणं'**ति तृणशूकेन–तृणाग्रेण उपलम्भयसि–दर्शयसीत्यर्थः,**'तं मा एवं'**ति गोशालकं इह कुर्विति शेषः, नार्हसि एवं कर्त्तुमिति शेषः, छाया–

१५ श०

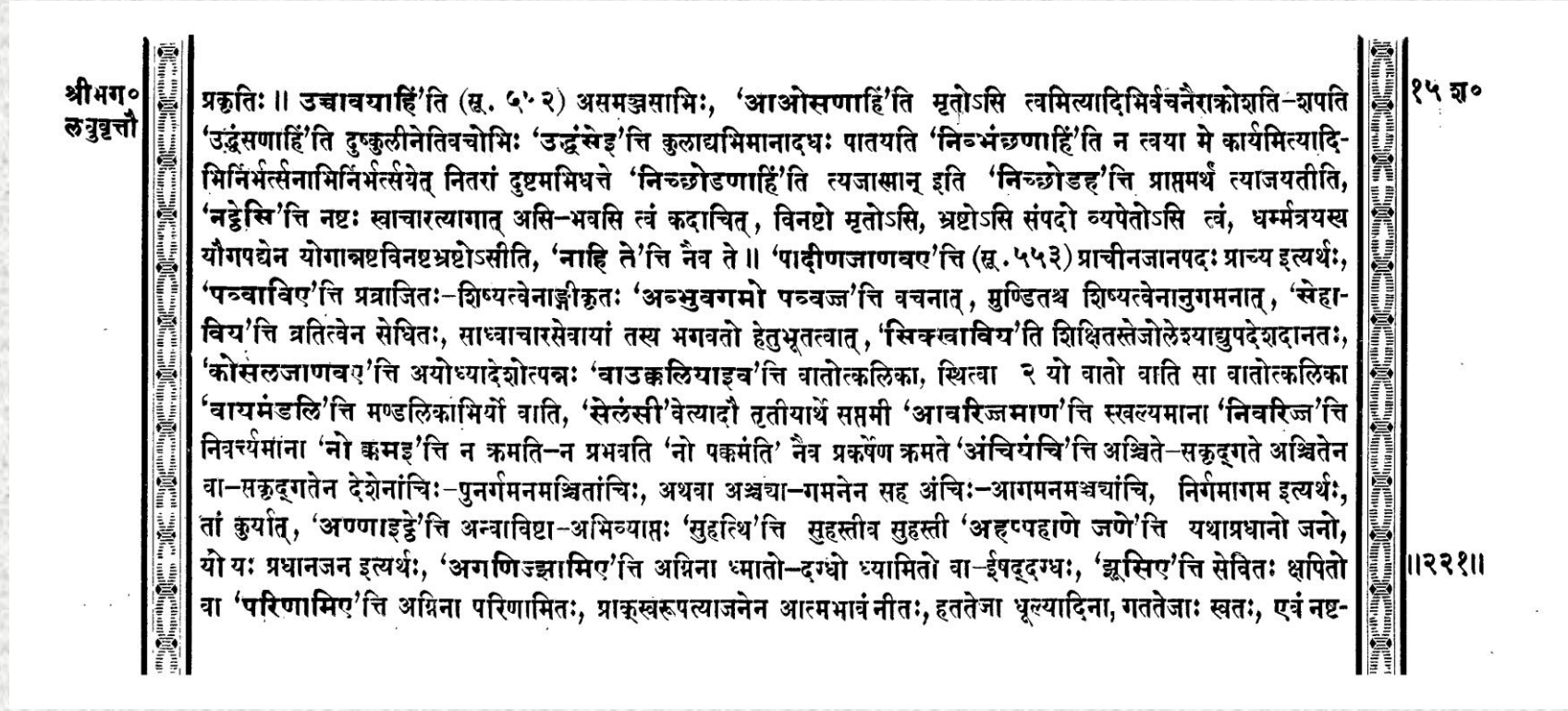

श्रीभग० लघुवृत्तौ

प्रकृतिः ॥ **उच्चावयाहिं**'ति (सू. ५५२) असमञ्जसाभिः, **'आओसणाहिं**'ति मृतोऽसि त्वमित्यादिभिर्वचनैराक्रोशति–शपति **'उद्धंसणाहिं**'ति दुष्कुलीनेतिवचोभिः **'उद्धंसेइ**'त्ति कुलाद्यभिमानादधः पातयति **'निब्भंछणाहिं**'ति न त्वया मे कार्यमित्यादिभिर्निर्भर्त्सनाभिर्निर्भर्त्सयेत् नितरां दुष्टमभिधत्ते **'निच्छोडणाहिं**'ति त्यजास्मान् इति **'निच्छोडेइ**'त्ति प्राप्तमर्थं त्याजयतीति, **'नट्ठेसि**'त्ति नष्टः स्वाचारत्यागात् असि–भवसि त्वं कदाचित्, विनष्टो मृतोऽसि, भ्रष्टोऽसि संपदो व्यपेतोऽसि त्वं, धर्म्मत्रयस्य यौगपद्येन योगान्नष्टविनष्टभ्रष्टोऽसीति, **'नाहि ते**'त्ति नैव ते ॥ **'पाईणजाणवए**'त्ति (सू.५५३) प्राचीनजानपदः प्राच्य इत्यर्थः, **'पव्वाविए**'त्ति प्रव्राजितः–शिष्यत्वेनाङ्गीकृतः **'अब्भुवगमो पव्वज्ज**'त्ति वचनात्, मुण्डितश्च शिष्यत्वेनानुगमनात्, **'सेहाविय**'त्ति व्रतित्वेन सेधितः, साध्वाचारसेवायां तस्य भगवतो हेतुभूतत्वात्, **'सिक्खाविय**'ति शिक्षितस्तेजोलेश्याद्युपदेशदानतः, **'कोसलजाणवए**'त्ति अयोध्यादेशोत्पन्नः **'वाउक्कलियाइव**'त्ति वातोत्कलिका, स्थित्वा २ यो वातो वाति सा वातोत्कलिका **'वायमंडलि**'त्ति मण्डलिकाभिर्यो वाति, **'सेलंसी**'वेत्यादौ तृतीयार्थे सप्तमी **'आवरिज्जमाण**'त्ति स्खल्यमाना **'निवरिज्ज**'त्ति निवर्त्यमाना **'नो क्कमइ**'त्ति न क्रमति–न प्रभवति **'नो पक्कमति**' नैव प्रकर्षेण क्रमते **'अंचियंचि**'त्ति अञ्चिते–सकृद्गते अञ्चितेन वा–सकृद्गतेन देशेनांचिः–पुनर्गमनमञ्चितांचिः, अथवा अञ्चया–गमनेन सह अंचिः–आगमनमञ्चयांचि, निर्गमागम इत्यर्थः, तां कुर्यात्, **'अण्णाइट्ठे**'त्ति अन्वाविष्टा–अभिव्याप्तः **'सुहत्थि**'त्ति सुहस्तीव सुहस्ती **'अहप्पहाणे जणे**'त्ति यथाप्रधानो जनो, यो यः प्रधानजन इत्यर्थः, **'अगणिज्झामिए**'त्ति अग्निना ध्मातो–दग्धो ध्यामितो वा–ईषद्दग्धः, **'झूसिए**'त्ति सेवितः क्षपितो वा **'परिणामिए**'त्ति अग्निना परिणामितः, प्राक्स्वरूपत्याजनेन आत्मभावं नीतः, हततेजा धूल्यादिना, गततेजाः स्वतः, एवं नष्ट-

१५ श०

॥२२१॥

तेजाः अव्यक्ततेजाः भ्रष्टतेजाः स्वरूपभ्रष्टतेजाः, ध्माततेजा इत्यर्थः, लुप्ततेजाः, क्वचिदर्द्धीभूततेजाः, विनष्टतेजाः–निस्सत्ताकीभूततेजाः, एकार्था एते शब्दाः, ‘छंदेणं’ति स्वाभिप्रायेण, यथेच्छमित्यर्थः, ‘निप्पट्ठपसिण’त्ति निर्गतानि स्पृष्टानि प्रश्नव्याकरणानि यस्य स तथा तं ‘रुंदाइं पलोएमाण’त्ति दीर्घदृष्टी दिक्षु प्रक्षिपन् हतमानानां सतां लक्षणमिदं दीहुण्हाइं ‘नीससमाण’त्ति दीर्घोष्णान् निःश्वासान् ‘अवडुं’ति कुकाटिकां ग्रीवां, ‘पुयलिं पप्फोडे’त्ति पुततटिं–पुतप्रदेशं प्रस्फोटयन् ‘विणिद्धुणमाणे’त्ति विनिर्द्धुवन् अहो हतोऽहमस्मीति कृत्वा–इति भणित्वेत्यर्थः, ‘अंबकूणग’त्ति आम्रफलहस्तगतः निजतेजोजनितदाहशान्त्यर्थं आम्राः स्थिकं चूषतीति भावः, गानादयस्तु मद्यपानकृता विकाराः, ‘आचंदणिउदएणं’ति आतन्यकोदकं कुम्भकारस्य यद् भाजने स्थितं मनाक् मृन्मिश्रं जलं तेन ॥ ‘अलाहि’त्ति (सू. ५२४) अलमत्यर्थं पर्याप्तः–शक्तो घातायेति योगः, ‘घायाए’ घातायहननाय, तदाश्रितत्रसापेक्षया, वधाय तदाश्रितस्थावरापेक्षया, ‘उच्छायणयाए’त्ति उच्छादनतायै, सचेतनाचेतनतद्गतवस्तूच्छादनायेति, ‘वज्जस्स’त्ति वर्ज्यस्य मद्यपानादिपापस्येत्यर्थः, ‘चरिमे’त्ति न पुनरिदं भविष्यतीतिकृत्वा चरमं, तत्र पानकादीनि चत्वारि स्वगतानि, चरमता चैषां स्वस्य निर्वाणगमनेन पुनरकरणात्, एतानि च किल निर्वाणकाले जिनस्यावश्यं भावीनीति नास्त्येतेषु दोष इत्यस्य तथा नाहमेतानि दाहशान्त्यर्थं सेवामीत्यर्थस्य प्रकाशनार्थत्वादवद्यप्रच्छादनार्थानि स्युः, पुष्कलसंवर्त्तकादीनि तु बाह्यानि त्रीणि प्रकृतानुपयोगेऽपि चरमसामान्याज्जनचित्तरञ्जनाय चरमाण्युक्तानि, जनेन हि तेषां सातिशयत्वाच्चरमता श्रद्धीयते ततस्तैः सहोक्तानामाम्रकुणकपानकादीनामपि साऽनुश्रद्धेया भवतीति बुद्ध्येति,‘पाणगाइं’ति जलविशेषा व्रतयोग्या ‘अपाणयाइं’मि पानकसदृशानि, शीतलत्वेन दाहशान्तिहेतवः ‘गोपुट्ठए’त्ति गोपृष्ठाद्यत्पतितं ‘हत्थमद्दिए’त्ति हस्तमर्दितं मृन्मि-

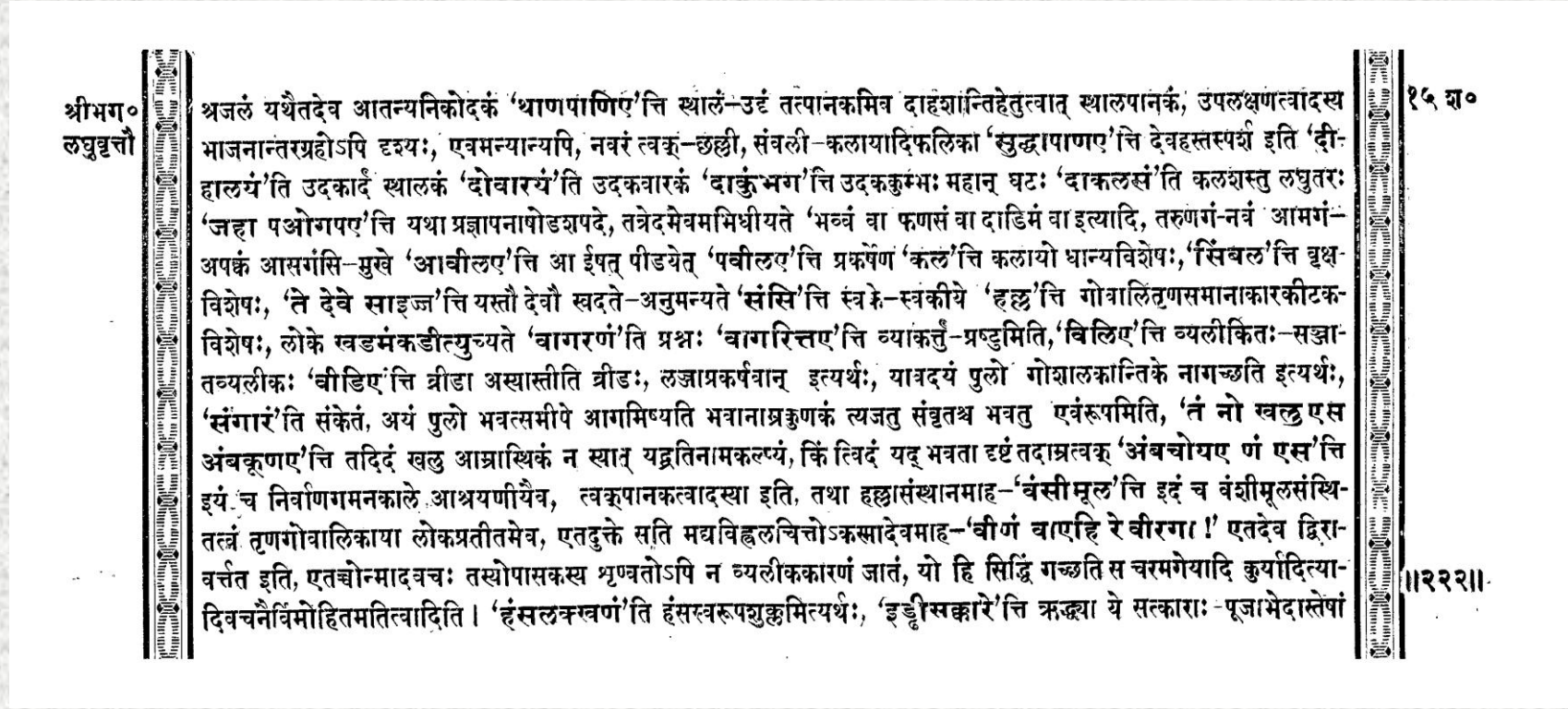

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अजलं यथैतदेव आतन्यनिकोदकं 'थाणपाणिए'त्ति स्थालं-उष्टं तत्पानकमिव दाहशान्तिहेतुत्वात् स्थालपानकं, उपलक्षणत्वादस्य भाजनान्तरग्रहोऽपि दृश्यः, एवमन्यान्यपि, नवरं त्वक्-छल्ली, संवली-कलायादिफलिका 'सुद्धापाणए'त्ति देवहस्तस्पर्श इति 'दीहालयं'ति उदकार्द्रं स्थालकं 'दोवारयं'ति उदकवारकं 'दाकुंभग'त्ति उदककुम्भः महान् घटः 'दाकलसं'ति कलशस्तु लघुतरः 'जहा पओगपए'त्ति यथा प्रज्ञापनाषोडशपदे, तत्रेदमेवमभिधीयते 'भव्वं वा फणसं वा दाडिमं वा इत्यादि, तरुणगं-नवं आमगं-अपक्वं आसगंसि-मुखे 'आवीलए'त्ति आ ईषत् पीडयेत् 'पवीलए'त्ति प्रकर्षेण 'कल'त्ति कलायो धान्यविशेषः,'सिंबल'त्ति वृक्षविशेषः, 'ते देवे साइज्ज'त्ति यस्तौ देवौ खदते-अनुमन्यते 'संसि'त्ति स्वके-स्वकीये 'हल्ल'त्ति गोवालितृणसमानाकारकीटकविशेषः, लोके खडमंकडीत्युच्यते 'वागरणं'ति प्रश्नः 'वागरित्तए'त्ति व्याकर्तुं-प्रष्टुमिति,'विलिए'त्ति व्यलीकितः-सञ्जातव्यलीकः 'वीडिए'त्ति व्रीडा अस्यास्तीति व्रीडः, लज्जाप्रकर्षवान् इत्यर्थः, यावदयं पुलो गोशालकान्तिके नागच्छति इत्यर्थः, 'संगारं'ति संकेतं, अयं पुलो भवत्समीपे आगमिष्यति भवानाम्रकुणकं त्यजतु संवृतश्च भवतु एवंरूपमिति, 'तं नो खलु एस अंबकूणए'त्ति तदिदं खलु आम्रास्थिकं न स्यात् यद्भवतिनामकल्प्यं, किं त्विदं यद् भवता दृष्टं तदाम्रत्वक् 'अंबचोयए णं एस'त्ति इयं च निर्वाणगमनकाले आश्रयणीयैव, त्वक्पानकत्वादस्या इति, तथा हल्लासंस्थानमाह-'वंसीमूल'त्ति इदं च वंशीमूलसंस्थितत्वं तृणगोवालिकाया लोकप्रतीतमेव, एतदुक्ते सति मद्यविह्वलचित्तोऽकस्मादेवमाह-'वीणं वाएहि रे वीरगा !' एतदेव द्विरावर्त्तत इति, एतच्चोन्मादवचः तस्योपासकस्य शृण्वतोऽपि न व्यलीककारणं जातं, यो हि सिद्धिं गच्छति स चरमगेयादि कुर्यादित्यादिवचनैर्विमोहितमतित्वादिति। 'हंसलक्खणं'ति हंसस्वरूपशुक्लमित्यर्थः, 'इड्ढीसक्कारे'त्ति ऋद्ध्या ये सत्काराः-पूजाभेदास्तेषां

१५ श०

॥२२२॥

समुदायेन ॥ ‘दाहवक्कंतीए’ (सू. ५५५) दाहोत्पत्त्या ‘सुंबेणं’ति वल्करज्ज्वा ‘उट्ठुंभह’त्ति अवष्टीव्यत–निष्ठीव्यत ‘आकड्ढ-विकड्ढि’ति आकर्षविकर्षिकां ‘थिरीकरणट्ठयाए’त्ति प्राक्प्राप्तपूजासत्कारयोः स्थिरताहेतोर्यदिति, गोशालशरीरस्य विशिष्टपूजा न कुर्युः तदा लोक एवं ज्ञास्यति–नायं जिनो बभूव, न च जिनशिष्या इत्येवमस्थिरौ पूजासत्कारौ स्यातामिति तयोः स्थिरीक-रणार्थं अवगुणं अपावृण्वन्ति ‘मालुयाकच्छए’त्ति (सू. ५५७) मालुका नाम एकास्थिका वृक्षविशेषाः तेषां यत् कक्षं—गहनं तत्तथा, ‘विउले’त्ति वपुर्व्यापकत्वात् ‘रोगायंके’त्ति रोगः–पीडाकारी स चासावातङ्कश्च–व्याधिरिति रोगातङ्कः, ‘उज्जले’त्ति उज्ज्वलः तीव्रपीडाकृत् ‘दुरहियास’त्ति दुरधिसह्यः, सोढुमशक्य इति, ‘दाहवक्कंतीए’त्ति दाहो व्युत्क्रान्तः–उत्पन्नो यस्य सः स्वार्थिकेकप्रत्यये दाहव्युत्क्रान्तिकः ‘अवियाइं’ति अपि चेति समुच्चये ‘आइं’ति वाक्यालङ्कारे ‘लोहियवच्चाइं’ति लोहितवर्चां-स्यपि–रुधिररूपपुरीषाण्यपि करोति, किमनेन पीडावर्णनेनेति ?, ‘चाउव्वण्णं’ति चातुर्वर्ण्यं–ब्राह्मणादिलोकः, ‘झाणंतरियाए’त्ति एकस्य ध्यानस्य समाप्तिरन्यस्यानारम्भ इत्येषा ध्यानान्तरिका तस्यां ‘मणोमाणसि’त्ति मनस्येव न बहिर्वचनादिभिः अप्रकाशि-तत्वात् यन्मानसिकं–दुःखं तन्मनोमासिकं तेन, ‘दुवे कवोया’ इत्यादि श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः–कपोतः–पक्षि-विशेषः तद्वद्ये फले वर्णसाधर्म्यात् ते कपोते–कूष्माण्डे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे अथवा कपोतकशरीरे इव धूसरे वर्णसाधर्म्याद्ये ते कपोतकशरीरे–कूष्माण्डफले एव ते उपस्कृते ‘तेहिं नो अट्ठो’त्ति बहुपापत्वात् ‘परियासि’त्ति परिवासितं–ह्यस्तनमित्यर्थः, ‘मज्जारकडे’त्ति इत्यादि, केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः–मार्जारो वायुविशेषः तदुपशमनाय कृतं मार्जारकृतं, अपरे त्वाहुः–मार्जारो विरालकाख्यो वनस्पतिभेदः तेन कृतं–भावितं यत्तत्तथा, किं

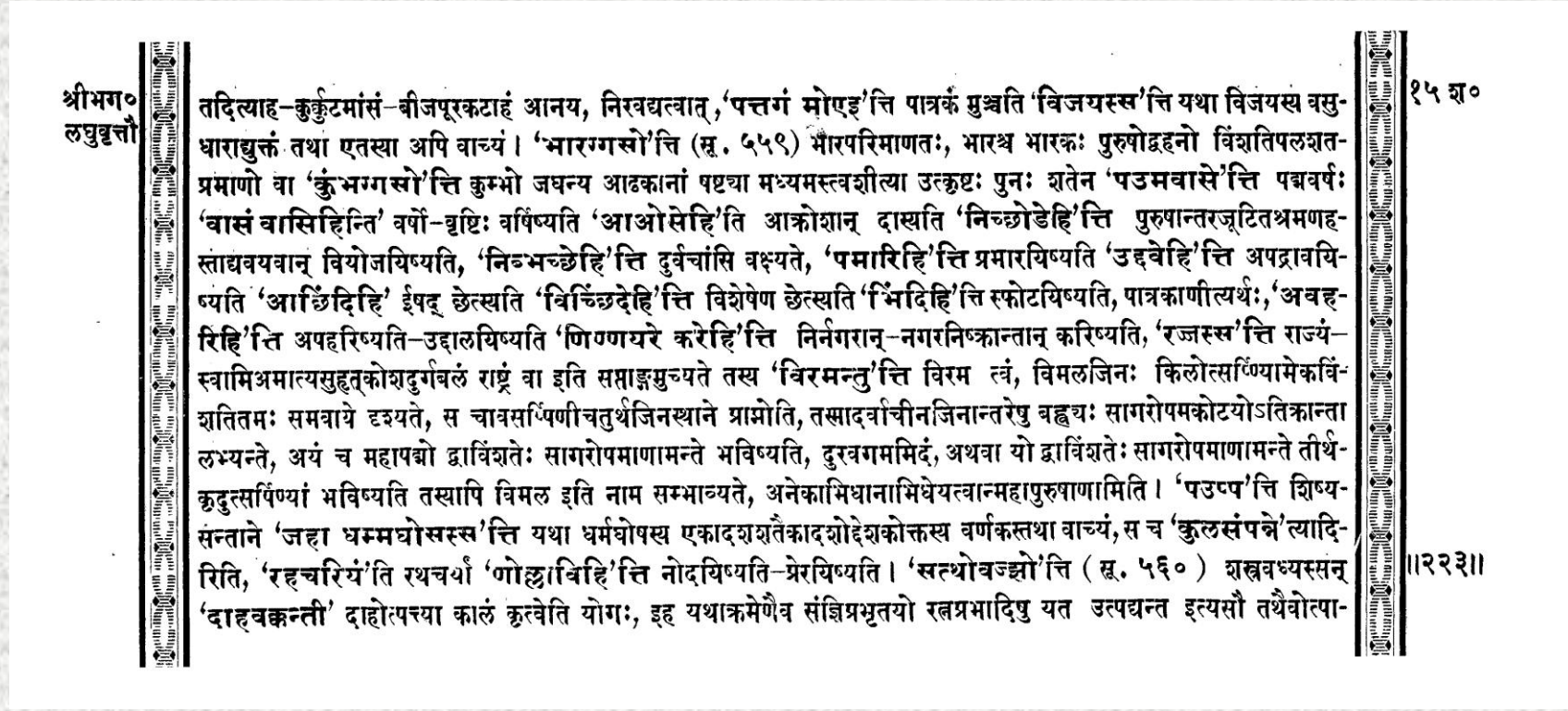

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तदित्याह–कुक्कुटमांसं–बीजपूरकटाहं आनय, निरवद्यत्वात्,'पत्तगं मोएइ'त्ति पात्रकं मुञ्चति 'विजयस्स'त्ति यथा विजयस्य वसुधाराद्युक्तं तथा एतस्या अपि वाच्यं। 'भारग्गसो'त्ति (सू. ५५९) भारपरिमाणतः, भारश्च भारकः पुरुषोद्वहनो विंशतिपलशतप्रमाणो वा 'कुंभग्गसो'त्ति कुम्भो जघन्य आढकानां षष्टया मध्यमस्त्वशीत्या उत्कृष्टः पुनः शतेन 'पउमवासे'त्ति पद्मवर्षः 'वासं वासिहिन्ति' वर्षो–वृष्टिः वर्षिष्यति 'आओसेहि'ति आक्रोशान् दास्यति 'निच्छोडेहि'त्ति पुरुषान्तरजूटितश्रमणहस्ताद्यवयवान् वियोजयिष्यति, 'निब्भच्छेहि'त्ति दुर्वचांसि वक्ष्यते, 'पमारिहि'त्ति प्रमारयिष्यति 'उद्दवेहि'त्ति अपद्रावयिष्यति 'आछिंदिहि' ईषद् छेत्स्यति 'विच्छिंदेहि'त्ति विशेषेण छेत्स्यति 'भिंदिहि'त्ति स्फोटयिष्यति, पात्रकाणीत्यर्थः,'अवहरिहि'त्ति अपहरिष्यति–उद्दालयिष्यति 'णिण्णयरे करेहि'त्ति निर्नगरान्–नगरनिष्क्रान्तान् करिष्यति, 'रज्जस्स'त्ति राज्यं–स्वामिअमात्यसुहृत्कोशदुर्गबलं राष्ट्रं वा इति सप्ताङ्गमुच्यते तस्य 'विरमन्तु'त्ति विरम त्वं, विमलजिनः किलोत्सर्पिण्यामेकविंशतितमः समवाये दृश्यते, स चावसर्पिणीचतुर्थजिनस्थाने प्राप्नोति, तस्मादर्वाचीनजिनान्तरेषु बह्व्यः सागरोपमकोटयोऽतिक्रान्ता लभ्यन्ते, अयं च महापद्मो द्वाविंशतेः सागरोपमाणामन्ते भविष्यति, दुरवगममिदं, अथवा यो द्वाविंशतेः सागरोपमाणामन्ते तीर्थकृदुत्सर्पिण्यां भविष्यति तस्यापि विमल इति नाम सम्भाव्यते, अनेकाभिधानाभिधेयत्वान्महापुरुषाणामिति। 'पउप्प'त्ति शिष्यसन्ताने 'जहा धम्मघोसस्स'त्ति यथा धर्मघोषस्य एकादशशतैकादशोद्देशकोक्तस्य वर्णकस्तथा वाच्यं, स च 'कुलसंपन्ने'त्यादिरिति, 'रहचरियं'ति रथचर्यां 'णोल्लाविहि'त्ति नोदयिष्यति–प्रेरयिष्यति। 'सत्थोवज्झो'त्ति (सू. ५६०) शस्त्रवध्यस्सन् 'दाहवक्कन्ती' दाहोत्पत्त्या कालं कृत्वेति योगः, इह यथाक्रमेणैव संज्ञिप्रभृतयो रत्नप्रभादिषु यत उत्पद्यन्त इत्यसौ तथैवोत्पा-

१५ श०

॥२२३॥

दितः, आह च–"अस्सणी खलु पढमं, दोच्चं व सरीसिवा तइय पक्खी। सीहा जंति चउत्थिं उरगा पुण पंचमं पुढविं ॥" 'खहचरविहाणाइं' विधानानि–भेदाः, 'चम्मपक्खीणं'ति वल्गुलीप्रभृतीनां 'लोमपक्खीणं' हंसादीनां 'समुग्गपक्खीणं'ति समुद्गकाकारपक्षवतां नरक्षेत्रबहिर्वर्त्तिनां वियपक्खीणंति विस्तारितपक्षवतां समयक्षेत्रबहिर्वर्त्तिनामेव 'अणेगसयसहस्सखुत्तो' इत्यादि यदुक्तं तत्सान्तरमवसेयं, निरन्तरं पञ्चेन्द्रियत्वलाभस्योत्कर्षतोऽप्यष्टभवप्रमाणस्यैव भावात्, यदाह–"पंचिंदियतिरियनरा सत्तट्ठभवा भवग्गहणे'त्ति,'गंडीपयाणं'ति हस्त्यादीनां 'सणप्फयाणं'ति सनखपदानां सिंहादिनाखराणां 'उवचियाण'मिह यावत्करणादिदं दृश्यम्–'रोहियाणं कुंथूपिवीलियाण'मित्यादि, 'रुक्खाणं'ति वृक्षानामेकास्थिबहुबीजभेदात् द्विविधानां, तत्रैकास्थिका निम्बाम्रादयः बहुबीजा अस्थिकतिन्दुकादयः, 'गुच्छाणं'ति वृन्ताकिप्रभृतीनां 'कुहुणाणं'ति कुहुणानां आयकायप्रभृतिभूमिस्फोटानां,'ओसण्णं च'त्ति बाहुल्येन, 'पाईणवायाणं'त्ति पूर्ववातानां यावत्करणाच्चतुर्दिग्वातानां 'सुद्धवायाणं'ति मन्दस्तिमितवायूनाम्, 'इंगालाणं'ति यावत्करणात् 'मुम्मुराणं अच्चीण'मित्यादि, फुंफुकादौ मसृणाग्निरूपाणां अर्चिषां–वह्निप्रतिबद्धज्वालानामिति, 'ओसाणं'ति रात्रिजलानां 'खाओदयाणं'ति खातिकाद्युदकानां 'सक्कराणं'ति घरट्टानां, यावत्करणात् उपलानां 'बाहिं खरियत्ताए'त्ति नगरबहिर्वर्त्तिप्रान्तजनवेश्यात्वेन 'अंतोखरियत्ताए'त्ति पुरमध्यवर्त्तिशिष्टजनवेश्यात्वेन ॥ 'पडिरूविएणं सुंकेणं'ति (सू. ५६१) प्रतिरूपिकेन–उचितेन शुल्केन–दानेन, 'भंडकरंडग'त्ति आभरणभाजनतुल्या आदेयेत्यर्थः, 'तेल्लकेला इव'त्ति तैलकेला–तैलभाजनं सौराष्ट्रप्रसिद्धं, सा च सुष्ठु सङ्गोप्य रक्षणीया स्यात्, अन्यथा लुठति, ततश्च तैलहानिः स्यात्,'चेलपेडा इव सुसंप'त्ति वस्त्रपेटेव सुष्ठु संपरिभृता–निरुपद्रवस्थाने स्थापिता,'दाहिणिल्लेसु'त्ति

प्रत सूत्रांक [५३९-५६१] + गाथा

दीप अनुक्रम [६३९-६५९]

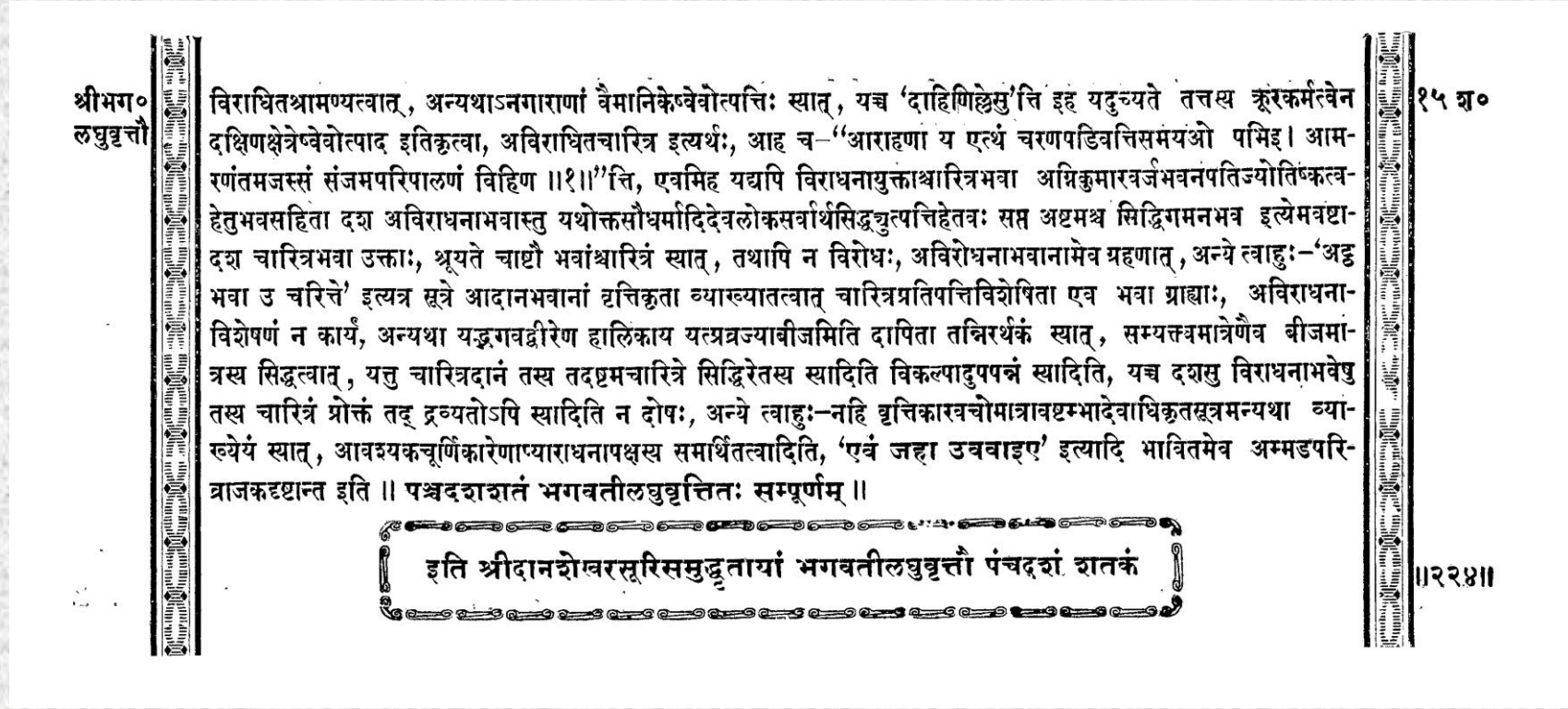

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विराधितश्रामण्यत्वात्, अन्यथाऽनगाराणां वैमानिकेष्वेवोत्पत्तिः स्यात्, यच्च 'दाहिणिल्लेसु'त्ति इह यदुच्यते तत्तस्य क्रूरकर्मत्वेन दक्षिणक्षेत्रेष्वेवोत्पाद इतिकृत्वा, अविराधितचारित्र इत्यर्थः, आह च–"आराहणा य एत्थं चरणपडिवत्तिसमयओ पभिइ। आमरणंतमजस्सं संजमपरिपालणं विहिण ॥१॥"त्ति, एवमिह यद्यपि विराधनायुक्ताश्चारित्रभवा अग्निकुमारवर्जभवनपतिज्योतिष्कत्वहेतुभवसहिता दश अविराधनाभवास्तु यथोक्तसौधर्मादिदेवलोकसर्वार्थसिद्धच्युत्पत्तिहेतवः सप्त अष्टमश्च सिद्धिगमनभव इत्येभवष्टादश चारित्रभवा उक्ताः, श्रूयते चाष्टौ भवांश्चारित्रं स्यात्, तथापि न विरोधः, अविरोधनाभवानामेव ग्रहणात्, अन्ये त्वाहुः–'अट्ठ भवा उ चरित्ते' इत्यत्र सूत्रे आदानभवानां वृत्तिकृता व्याख्यातत्वात् चारित्रप्रतिपत्तिविशेषिता एव भवा ग्राह्याः, अविराधनाविशेषणं न कार्यं, अन्यथा यद्भगवद्वीरेण हालिकाय यत्प्रव्रज्याबीजमिति दापिता तन्निरर्थकं स्यात्, सम्यक्त्वमात्रेणैव बीजमात्रस्य सिद्धत्वात्, यत्तु चारित्रदानं तस्य तदष्टमचारित्रे सिद्धिरेतस्य स्यादिति विकल्पादुपपन्नं स्यादिति, यच्च दशसु विराधनाभवेषु तस्य चारित्रं प्रोक्तं तद् द्रव्यतोऽपि स्यादिति न दोषः, अन्ये त्वाहुः–नहि वृत्तिकारवचोमात्रावष्टम्भादेवाधिकृतसूत्रमन्यथा व्याख्येयं स्यात्, आवश्यकचूर्णिकारेणाप्याराधनापक्षस्य समर्थितत्वादिति, 'एवं जहा उववाइए' इत्यादि भावितमेव अम्मडपरिव्राजकदृष्टान्त इति ॥ **पञ्चदशशतं भगवतीलघुवृत्तितः सम्पूर्णम् ॥**

इति श्रीदानशेखरसूरिसमुद्धृतायां भगवतीलघुवृत्तौ पंचदशं शतकं

१५ श० ॥२२४॥

*** अत्र शतक-१५ समाप्तं.

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अथ षोडशशतमारभ्यते यथा '**अहगरिणि**'त्ति (*७६) अधिक्रियते–ध्रियते कुट्टनार्थं लोहादि यस्यां सा अधिकरणी तत्प्रभृतिपदार्थवाच्यः प्रथमः, '**जर**'त्ति जराद्यर्थवाच्यो द्वितीयः '**कम्मे**'त्ति कर्म्माद्यधिकारवाच्यः ३ '**जावइय**'मित्यादिशब्देनोपलक्षितश्चतुर्थः '**गंगदत्त**'त्ति गङ्गदत्तदेववक्तव्यतार्थः ५ '**सुमिणि**'त्ति स्वप्नरूपः ६ '**उवओग**'त्ति उपयोगार्थः ७ '**लोग**'त्ति लोकस्वरूपार्थः ८ '**बलि**'त्ति बलिसत्कपदार्थाभिधायकः ९ '**ओहि**'त्ति अवधिज्ञानार्थः १० '**दीवे**'त्ति द्वीपकुमारवक्तव्यतार्थः ११ '**उदहि**'त्ति उदधिकुमारवक्तव्यतार्थः १२ '**दिस**'त्ति दिक्कुमारविषयार्थः १३ '**थणिए**'त्ति स्तनितकुमारवक्तव्यतार्थः १४ इत्युद्देशकगाथार्थः। '**अत्थि**'त्ति (सू. ५६२) अस्त्ययं पक्षः '**अहिकरणिंसि**'त्ति अधिकरण्यां '**वाउयाए**'त्ति वायुकायः '**वक्कमइ**'त्ति व्युत्क्रामति, अयोघनाभिघातेनोपपद्यते?, अयं चाक्रान्तसम्भवत्वेनादावचेतनतयोत्पन्नोऽपि पश्चात् सचेतनीस्यात् इति सम्भाव्यते। उत्पन्नस्सन् म्रियत इति प्रश्नयन्नाह–'**सेसंते**'त्यादि '**पुट्ठे**'त्ति स्पृष्टः स्वकायशस्त्रादिना। सशरीरश्च कलेवरान्निष्क्रामति कार्मणाद्यपेक्षया, औदारिकाद्यपेक्षया त्वशरीरीति॥ अथाग्निसूत्रमाह–'**इंगालकारियाए**'त्ति (सू. ५६३) अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका–अग्निशकटिका तस्यां, न केवलं तस्यामग्निकायः स्यात्,'**अण्णोऽवित्थ**'त्ति अन्योऽप्यत्र वायुकायो व्युत्क्रामति, यत्राग्निस्तत्र वायुरितिकृत्वा, कस्मादेवमित्याह–'**न विणे**'त्यादि॥ अभ्यधिकारादेव अग्नितप्तलोहमाश्रित्याह–'**अयं**'ति (सू.५६४) लोहं '**अयकोट्टंसि**'त्ति लोहप्रतापनार्थे कुशूले '**उव्विहमाणे व**'त्ति उत्क्षिपन् वा '**पव्विह**'त्ति प्रक्षिपन् वा '**इंगालकढिणि**'त्ति ईषद्वङ्काग्रा लोहसंडासिका '**भत्थ**'त्ति भस्त्रा–ध्मातखल्ला, इह चायःप्रभृतिपदार्थनिर्वर्त्तकजीवानां पञ्चक्रियत्वमविरतिभावेन ज्ञेयमिति, '**चम्मट्ठे**'त्ति लोहमयः प्रतलायतो लौहादिकुट्टनहेतुर्लोहकाराद्युपकरणविशेषः, '**मुट्ठिए**'त्ति लघुतरो घनः '**अहिगरणि-**

१६ श० १ उद्देशः

*** अत्र शतक-१६ आरभ्यते

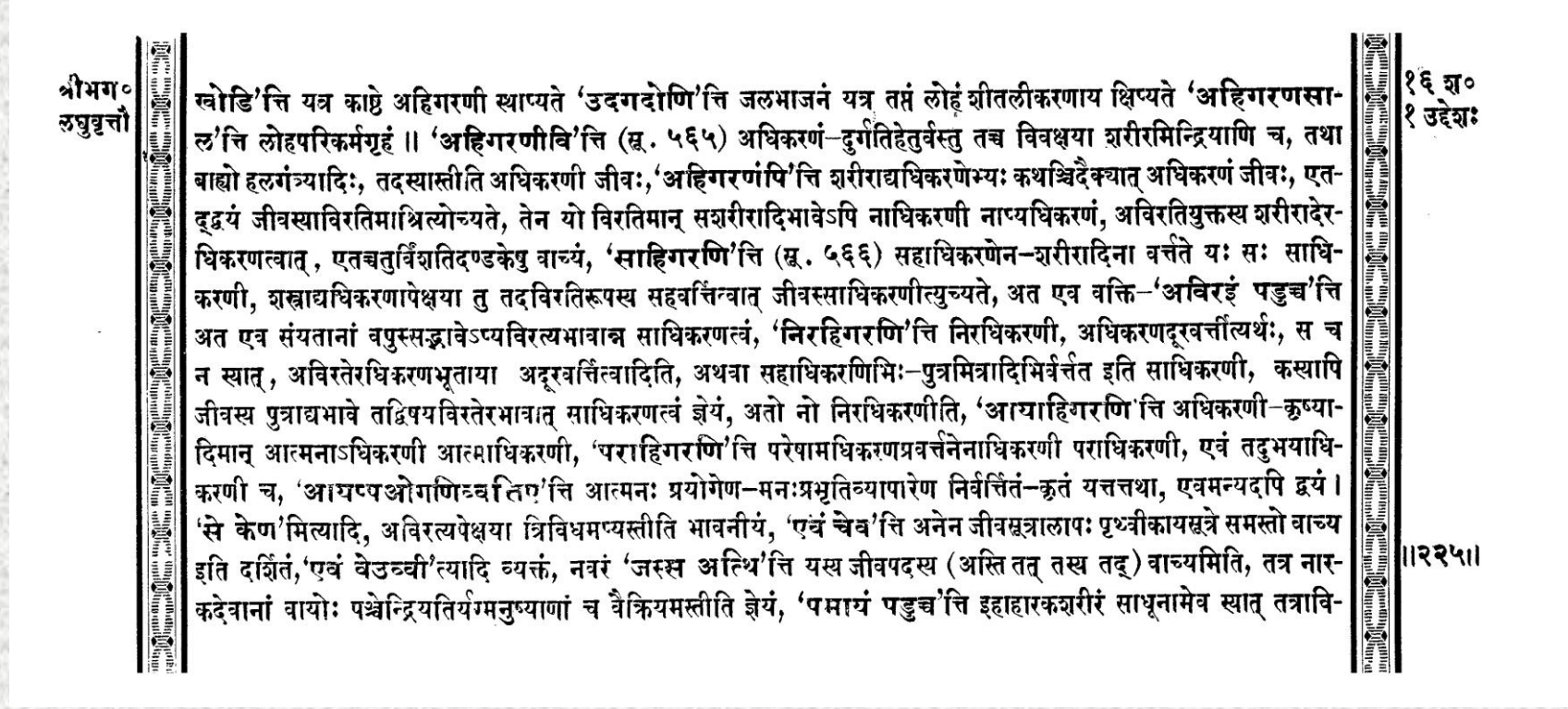

श्रीभग० लघुवृत्तौ

खोडि'त्ति यत्र काष्ठे अहिगरणी स्थाप्यते 'उदगदोणि'त्ति जलभाजनं यत्र तप्तं लोहं शीतलीकरणाय क्षिप्यते 'अहिगरणसाल'त्ति लोहपरिकर्मगृहं ॥ 'अहिगरणीवि'त्ति (सू. ५६५) अधिकरणं–दुर्गतिहेतुर्वस्तु तच्च विवक्षया शरीरमिन्द्रियाणि च, तथा बाह्यो हलगंत्र्यादिः, तदस्यास्तीति अधिकरणी जीवः,'अहिगरणंपि'त्ति शरीराद्यधिकरणेभ्यः कथञ्चिदैक्यात् अधिकरणं जीवः, एतद्द्वयं जीवस्याविरतिमाश्रित्योच्यते, तेन यो विरतिमान् सशरीरादिभावेऽपि नाधिकरणी नाप्यधिकरणं, अविरतियुक्तस्य शरीरादेरधिकरणत्वात्, एतच्चतुर्विंशतिदण्डकेषु वाच्यं, 'साहिगरणि'त्ति (सू. ५६६) सहाधिकरणेन–शरीरादिना वर्त्तते यः सः साधिकरणी, शस्त्राद्यधिकरणापेक्षया तु तदविरतिरूपस्य सहवर्त्तित्वात् जीवस्साधिकरणीत्युच्यते, अत एव वक्ति–'अविरइं पडुच्च'त्ति अत एव संयतानां वपुस्सद्भावेऽप्यविरत्यभावान्न साधिकरणत्वं, 'निरहिगरणि'त्ति निरधिकरणी, अधिकरणदूरवर्त्तीत्यर्थः, स च न स्यात्, अविरतेरधिकरणभूताया अदूरवर्त्तित्वादिति, अथवा सहाधिकरणिभिः–पुत्रमित्रादिभिर्वर्त्तत इति साधिकरणी, कस्यापि जीवस्य पुत्राद्यभावे तद्विषयविरतेरभावात् साधिकरणत्वं ज्ञेयं, अतो नो निरधिकरणीति, 'आयाहिगरणि'त्ति अधिकरणी–कृष्यादिमान् आत्मनाऽधिकरणी आत्माधिकरणी, 'पराहिगरणि'त्ति परेषामधिकरणप्रवर्त्तनेनाधिकरणी पराधिकरणी, एवं तदुभयाधिकरणी च, 'आयप्पओगणिव्वत्तिए'त्ति आत्मनः प्रयोगेण–मनःप्रभृतिव्यापारेण निर्वर्त्तितं–कृतं यत्तत्तथा, एवमन्यदपि द्वयं। 'से केण'मित्यादि, अविरत्यपेक्षया त्रिविधमप्यस्तीति भावनीयं, 'एवं चेव'त्ति अनेन जीवसूत्रालापः पृथ्वीकायसूत्रे समस्तो वाच्य इति दर्शितं,'एवं वेउव्वी'त्यादि व्यक्तं, नवरं 'जस्स अत्थि'त्ति यस्य जीवपदस्य (अस्ति तत् तस्य तद्) वाच्यमिति, तत्र नारकदेवानां वायोः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां च वैक्रियमस्तीति ज्ञेयं, 'पमायं पडुच्च'त्ति इहाहारकशरीरं साधूनामेव स्यात् तत्रावि-

१६ श० १ उद्देशः

॥२२५॥

रतेरभावेऽपि प्रमादादधिकरणत्वमवगन्तव्यं, नवरं ‘जस्सऽत्थि’त्ति यस्यास्ति ‘सोइंदियं’ति तस्य वाच्यमिति शेषः, तच्चैकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जानामन्येषां स्यादिति ॥ १६ शते प्रथमः ॥

‘जर’त्ति (सू. ५६७) ‘जॄ वयोहानौ’इति वचनात् जरणं जरा–शरीरदुःखरूपा ‘सोग’त्ति शोको–दैन्यं, एतद् द्वयं जीवानां किं स्यादिति प्रश्नः, चतुर्विंशतिदण्डके च येषां शरीरमेव तेषां जरा, येषां तु मनोऽप्यस्ति तेषामुभयमिति। ‘एवं जहा ईसाणे’ति (सू. ५६८) यथेशानस्तृतीयशते प्रथमोद्देशके राजप्रश्नीयातिदेशेनोक्तः तथा शक्रोऽपि वाच्यः,‘अभिओगे न सद्दावेइ’त्ति तत्रेशानो वीरजिनमवधिना विलोक्य आभियोगिकदेवान् शब्दयामास, शक्रस्तु नैवं, तथा तत्र लघुपराक्रमः पदात्यनीकाधिपतिर्नन्दिघोषो घण्टाताडनाय नियुक्त उक्तः, इह तु हरिणैगमैषी, तत्र विमानं पुष्पकं, इह तु पालकं वाच्यं, तत्र दक्षिणो निर्याणमार्ग उक्तः, इहोत्तरो वाच्यः, तथा नन्दीश्वरद्वीपे रतिकरपर्वत उत्तरपूर्वो ईशानेन्द्रस्य अवतारायोक्तः इह तु पूर्वदक्षिणोऽसौ वाच्यो, ‘नामकं सावइ’त्ति नामकं स्वकीयं श्रावयित्वा यदुत हे भदन्त ! शक्रो भवन्तं वन्दे नमंस्यामि ‘उग्गहि’त्ति अवगृह्यते–स्वामिना स्वीक्रियते यः सोऽवग्रहः, ‘देविंदोग्गहो’त्ति देवेन्द्रः–शक्र ईशानो वा तदवग्रहो–दक्षिणं उत्तरं च लोकार्द्धं इति देवेन्द्रावग्रहः,‘राउग्गहो’त्ति राजावग्रहः षट्खण्डभरतक्षेत्रं यावत् ‘गिहिवइ’त्ति गृहपतिः–माण्डलिको राजा तदवग्रहः स्वकीयमण्डलं यावत् गृहपत्यवग्रहः, ‘सागारिउग्गहे’त्ति सहागारेण–गृहेण वर्त्तते इति सागारिकः तदवग्रहो गृहमेवेति सागारिकावग्रहः, ‘साहम्मि’त्ति सदृशधर्मेण चरन्तीति साधर्म्मिकाः–साधव एव तेषामवग्रहः तदाभाव्यं पञ्चक्रोशपरिमाणं क्षेत्रं, ऋतुबद्धे मासमेकं वर्षासु चतुर्मासी इति साधर्म्मिकावग्रहः, ‘एवं वयइ’त्ति एवं प्रागुक्तं अहं अवग्रहमनुजानामीत्येवं वदति, सत्य एषोऽर्थ इति ॥ ‘सम्मावाइ’त्ति (सू. ५६९) सम्यग्व-

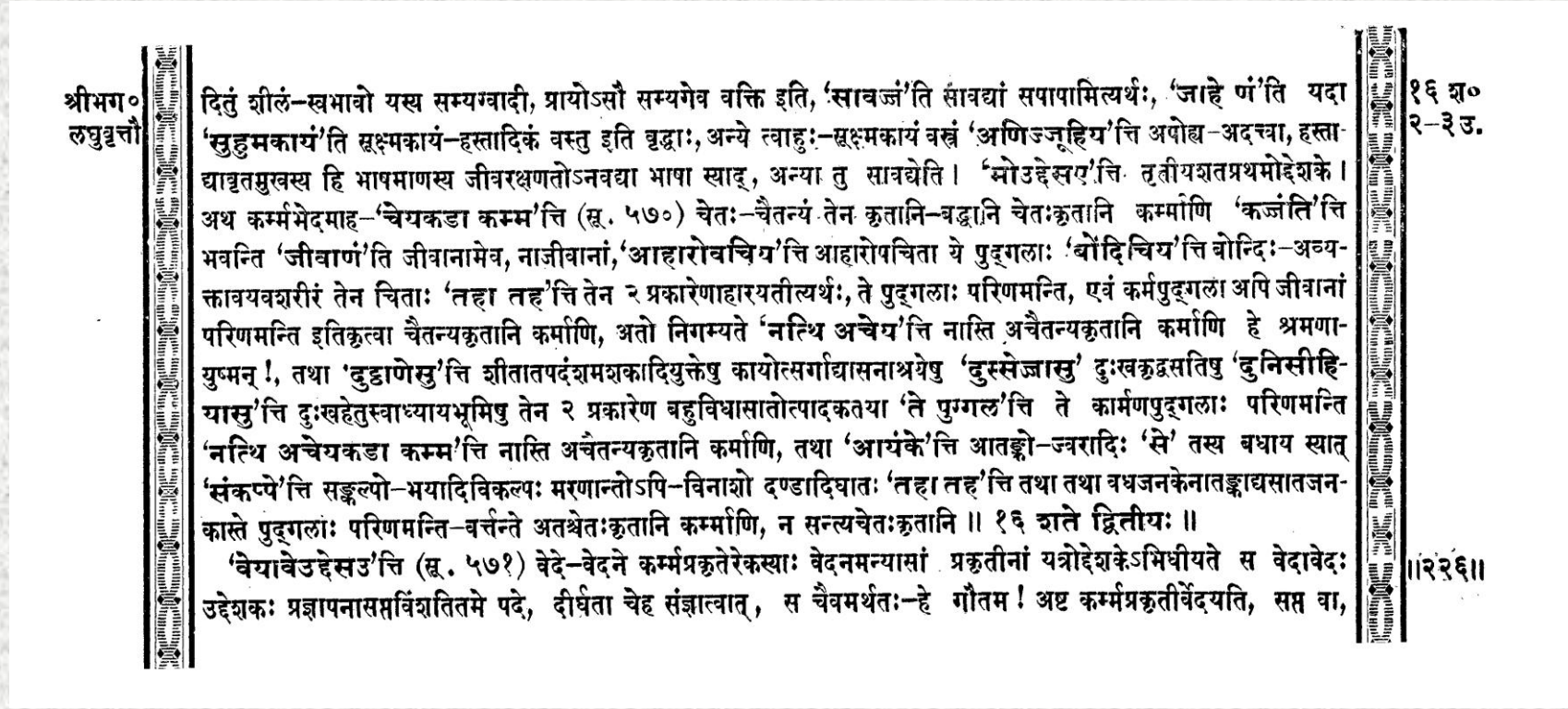

श्रीभग० लघुवृत्तौ

दितुं शीलं–स्वभावो यस्य सम्यग्वादी, प्रायोऽसौ सम्यगेव वक्ति इति, 'सावज्जं'ति सावद्यां सपापामित्यर्थः, 'जाहे णं'ति यदा 'सुहुमकायं'ति सूक्ष्मकायं–हस्तादिकं वस्तु इति वृद्धाः, अन्ये त्वाहुः–सूक्ष्मकायं वस्त्रं 'अणिज्जूहिय'त्ति अपोह्य–अदत्त्वा, हस्ताद्यावृतमुखस्य हि भाषमाणस्य जीवरक्षणतोऽनवद्या भाषा स्याद्, अन्या तु सावद्येति। 'मोउद्देसए'त्ति तृतीयशतप्रथमोद्देशके। अथ कर्म्मभेदमाह–'चेयकडा कम्म'त्ति (सू. ५७०) चेतः–चैतन्यं तेन कृतानि–बद्धानि चेतःकृतानि कर्म्माणि 'कज्जंति'त्ति भवन्ति 'जीवाणं'ति जीवानामेव, नाजीवानां, 'आहारोवचिय'त्ति आहारोपचिता ये पुद्गलाः 'बोंदिचिय'त्ति बोन्दिः–अव्यक्तावयवशरीरं तेन चिताः 'तहा तह'त्ति तेन २ प्रकारेणाहारयतीत्यर्थः, ते पुद्गलाः परिणमन्ति, एवं कर्मपुद्गला अपि जीवानां परिणमन्ति इतिकृत्वा चैतन्यकृतानि कर्माणि, अतो निगम्यते 'नत्थि अचेय'त्ति नास्ति अचैतन्यकृतानि कर्माणि हे श्रमणायुष्मन्!, तथा 'दुट्ठाणेसु'त्ति शीतातपदंशमशकादियुक्तेषु कायोत्सर्गाद्यासनाश्रयेषु 'दुस्सेज्जासु' दुःखकृद्वसतिषु 'दुनिसीहियासु'त्ति दुःखहेतुस्वाध्यायभूमिषु तेन २ प्रकारेण बहुविधासातोत्पादकतया 'ते पुग्गल'त्ति ते कार्मणपुद्गलाः परिणमन्ति 'नत्थि अचेयकडा कम्म'त्ति नास्ति अचैतन्यकृतानि कर्माणि, तथा 'आयंके'त्ति आतङ्को–ज्वरादिः 'से' तस्य बधाय स्यात् 'संकप्पे'त्ति सङ्कल्पो–भयादिविकल्पः मरणान्तोऽपि–विनाशो दण्डादिघातः 'तहा तह'त्ति तथा तथा वधजनकेनातङ्काद्यसातजनकास्ते पुद्गलाः परिणमन्ति–वर्त्तन्ते अतश्चेतःकृतानि कर्म्माणि, न सन्त्यचेतःकृतानि ॥ १६ शते द्वितीयः ॥

'वेयावेउद्देसउ'त्ति (सू. ५७१) वेदे–वेदने कर्म्मप्रकृतेरेकस्याः वेदनमन्यासां प्रकृतीनां यत्रोद्देशकेऽभिधीयते स वेदावेदः उद्देशकः प्रज्ञापनासप्तविंशतितमे पदे, दीर्घता चेह संज्ञात्वात्, स चैवमर्थतः–हे गौतम! अष्ट कर्म्मप्रकृतीर्वेदयति, सप्त वा,

१६ श० २–३ उ.

॥२२६॥

प्रत सूत्रांक [५६२-५९०] + गाथा

दीप अनुक्रम [६६०-६९२]

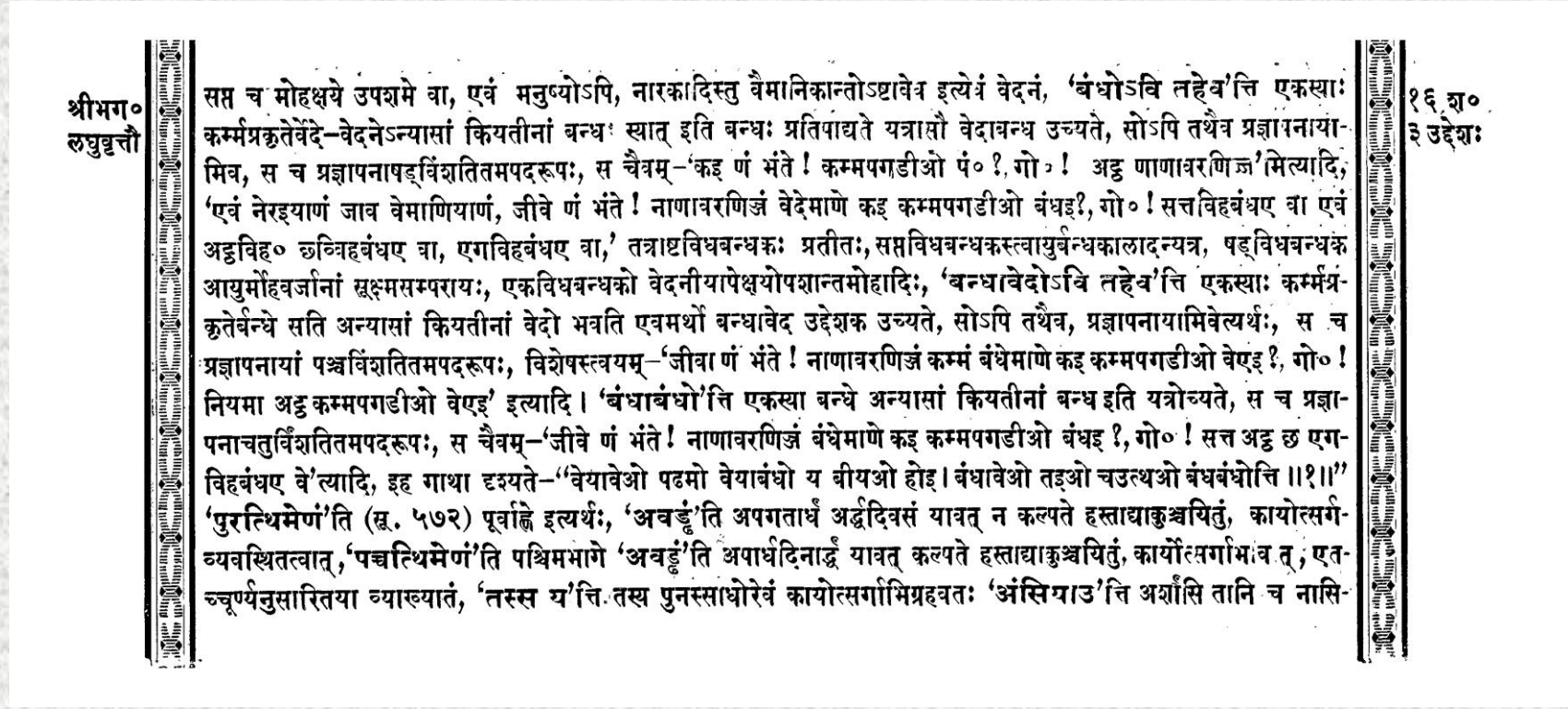

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सप्त च मोहक्षये उपशमे वा, एवं मनुष्योऽपि, नारकादिस्तु वैमानिकान्तोऽष्टावेव इत्येवं वेदनं, ‘बंधोऽवि तहेव’त्ति एकस्याः कर्म्मप्रकृतेर्वेदे–वेदनेऽन्यासां कियतीनां बन्धः स्यात् इति बन्धः प्रतिपाद्यते यत्रासौ वेदाबन्ध उच्यते, सोऽपि तथैव प्रज्ञापनायामिव, स च प्रज्ञापनाषड्विंशतितमपदरूपः, स चैवम्–‘कइ णं भंते ! कम्मपगडीओ पं० ?, गो० ! अट्ठ णाणावरणिज्ज’मित्यादि, ‘एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं, जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ?, गो० ! सत्तविहबंधए वा एवं अट्ठविह० छव्विहबंधए वा, एगविहबंधए वा,’ तत्राष्टविधबन्धकः प्रतीतः, सप्तविधबन्धकस्त्वायुर्बन्धकालादन्यत्र, षड्विधबन्धक आयुर्मोहवर्जानां सूक्ष्मसम्परायः, एकविधबन्धको वेदनीयापेक्षयोपशान्तमोहादिः, ‘बन्धावेदोऽवि तहेव’त्ति एकस्याः कर्म्मप्रकृतेर्बन्धे सति अन्यासां कियतीनां वेदो भवति एवमर्थो बन्धावेद उद्देशक उच्यते, सोऽपि तथैव, प्रज्ञापनायामिवेत्यर्थः, स च प्रज्ञापनायां पञ्चविंशतितमपदरूपः, विशेषस्त्वयम्–‘जीवा णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधेमाणे कइ कम्मपगडीओ वेएइ ?, गो० ! नियमा अट्ठ कम्मपगडीओ वेएइ’ इत्यादि। ‘बंधाबंधो’त्ति एकस्या बन्धे अन्यासां कियतीनां बन्ध इति यत्रोच्यते, स च प्रज्ञापनाचतुर्विंशतितमपदरूपः, स चैवम्–‘जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं बंधेमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?, गो० ! सत्त अट्ठ छ एगविहबंधए वे’त्यादि, इह गाथा दृश्यते–“वेयावेओ पढमो वेयाबंधो य बीयओ होइ। बंधावेओ तइओ चउत्थओ बंधबंधोत्ति ॥१॥” ‘पुरत्थिमेणं’ति (सू. ५७२) पूर्वाह्णे इत्यर्थः, ‘अवड्ढं’ति अपगतार्धं अर्द्धदिवसं यावत् न कल्पते हस्ताद्याकुञ्चयितुं, कायोत्सर्गव्यवस्थितत्वात्, ‘पच्चत्थिमेणं’ति पश्चिमभागे ‘अवड्ढं’ति अपार्धदिनार्द्धं यावत् कल्पते हस्ताद्याकुञ्चयितुं, कार्योत्सर्गाभावत्, एतच्चूर्ण्यनुसारितया व्याख्यातं, ‘तस्स य’त्ति तस्य पुनस्साधोरेवं कायोत्सर्गाभिग्रहवतः ‘अंसियाउ’त्ति अर्शांसि तानि च नासि-

१६ श० ३ उद्देशः

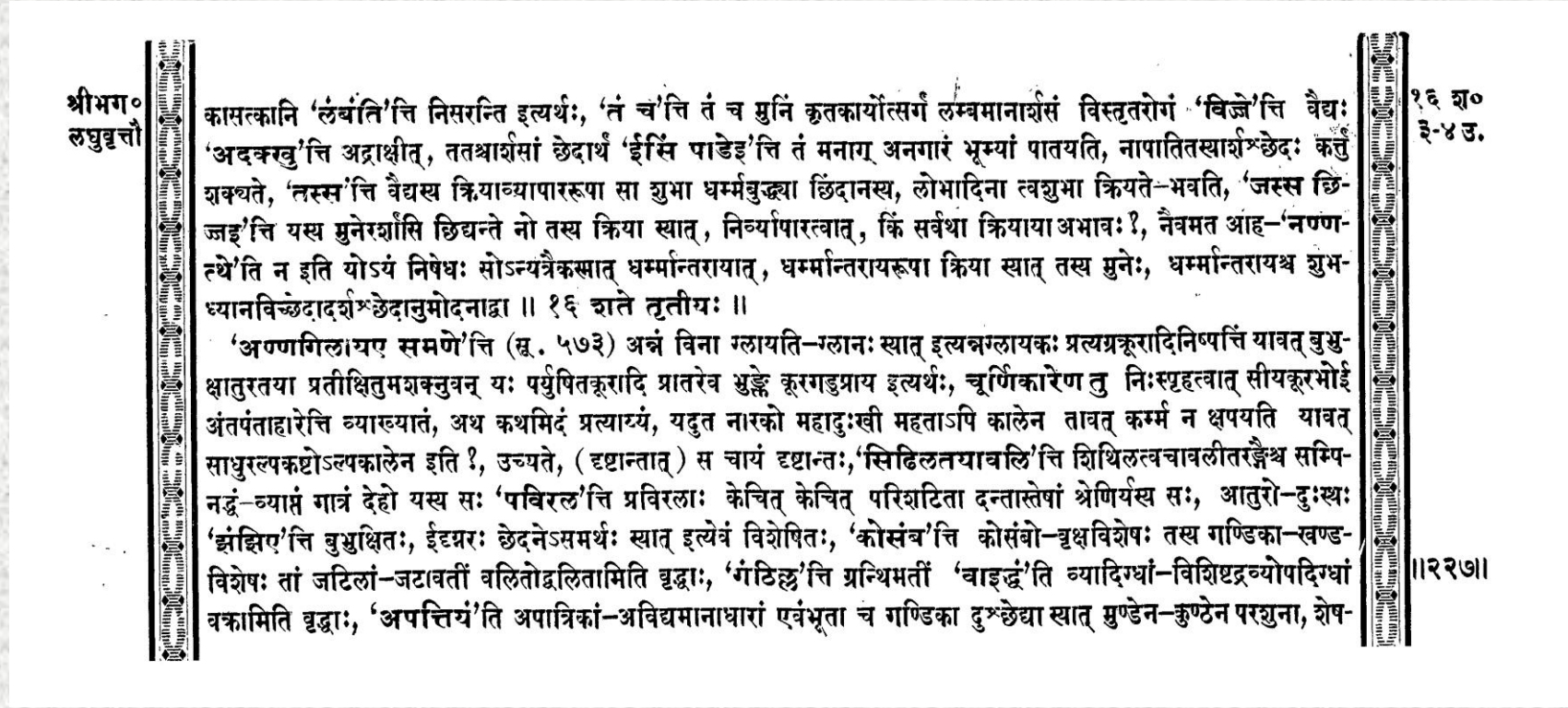

श्रीभग० लघुवृत्तौ

कासत्कानि 'लंबंति'त्ति निसरन्ति इत्यर्थः, 'तं च'त्ति तं च मुनिं कृतकार्योत्सर्गं लम्बमानार्शसं विस्तृतरोगं 'विज्जे'त्ति वैद्यः 'अदक्खु'त्ति अद्राक्षीत्, ततश्चार्शसां छेदार्थं 'ईसिं पाडेइ'त्ति तं मनाग् अनगारं भूम्यां पातयति, नापातितस्यार्शश्छेदः कर्त्तुं शक्यते, 'तस्स'त्ति वैद्यस्य क्रियाव्यापाररूपा सा शुभा धर्म्मबुद्ध्या छिंदानस्य, लोभादिना त्वशुभा क्रियते–भवति, 'जस्स छिज्जइ'त्ति यस्य मुनेरर्शांसि छिद्यन्ते नो तस्य क्रिया स्यात्, निर्व्यापारत्वात्, किं सर्वथा क्रियाया अभावः?, नैवमत आह–'नण्णत्थे'ति न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्मात् धर्म्मान्तरायात्, धर्म्मान्तरायरूपा क्रिया स्यात् तस्य मुनेः, धर्म्मान्तरायश्च शुभध्यानविच्छेदादर्शश्छेदानुमोदनाद्वा ॥ १६ शते तृतीयः ॥

'अण्णगिलायए समणे'त्ति (सू. ५७३) अन्नं विना ग्लायति–ग्लानः स्यात् इत्यन्नग्लायकः प्रत्यग्रकूरादिनिष्पत्तिं यावत् बुभुक्षातुरतया प्रतीक्षितुमशक्नुवन् यः पर्युषितकूरादि प्रातरेव भुङ्क्ते कूरगडुप्राय इत्यर्थः, चूर्णिकारेण तु निःस्पृहत्वात् सीयकूरभोई अंतपंताहारेत्ति व्याख्यातं, अथ कथमिदं प्रत्याय्यं, यदुत नारको महादुःखी महताऽपि कालेन तावत् कर्म्म न क्षपयति यावत् साधुरल्पकष्टोऽल्पकालेन इति?, उच्यते, (दृष्टान्तात्) स चायं दृष्टान्तः,'सिढिलतयावलि'त्ति शिथिलत्वचावलीतरङ्गैश्च सम्पिनद्धं–व्याप्तं गात्रं देहो यस्य सः 'पविरल'त्ति प्रविरलाः केचित् केचित् परिशटिता दन्तास्तेषां श्रेणिर्यस्य सः, आतुरो–दुःस्थः 'झंझिए'त्ति बुभुक्षितः, ईदृग्नरः छेदनेऽसमर्थः स्यात् इत्येवं विशेषितः, 'कोसंब'त्ति कोसंबो–वृक्षविशेषः तस्य गण्डिका–खण्डविशेषः तां जटिलां–जटावतीं वलितोद्वलितामिति वृद्धाः, 'गंठिल्ल'त्ति ग्रन्थिमतीं 'वाइद्धं'ति व्यादिग्धां–विशिष्टद्रव्योपदिग्धां वक्रामिति वृद्धाः, 'अपत्तियं'ति अपात्रिकां–अविद्यमानाधारां एवंभूता च गण्डिका दुश्छेद्या स्यात् मुण्डेन–कुण्ठेन परशुना, शेष-

१६ श० ३-४ उ.

॥२२७॥

प्रत सूत्रांक [५६२-५९०] + गाथा

दीप अनुक्रम [६६०-६९२]

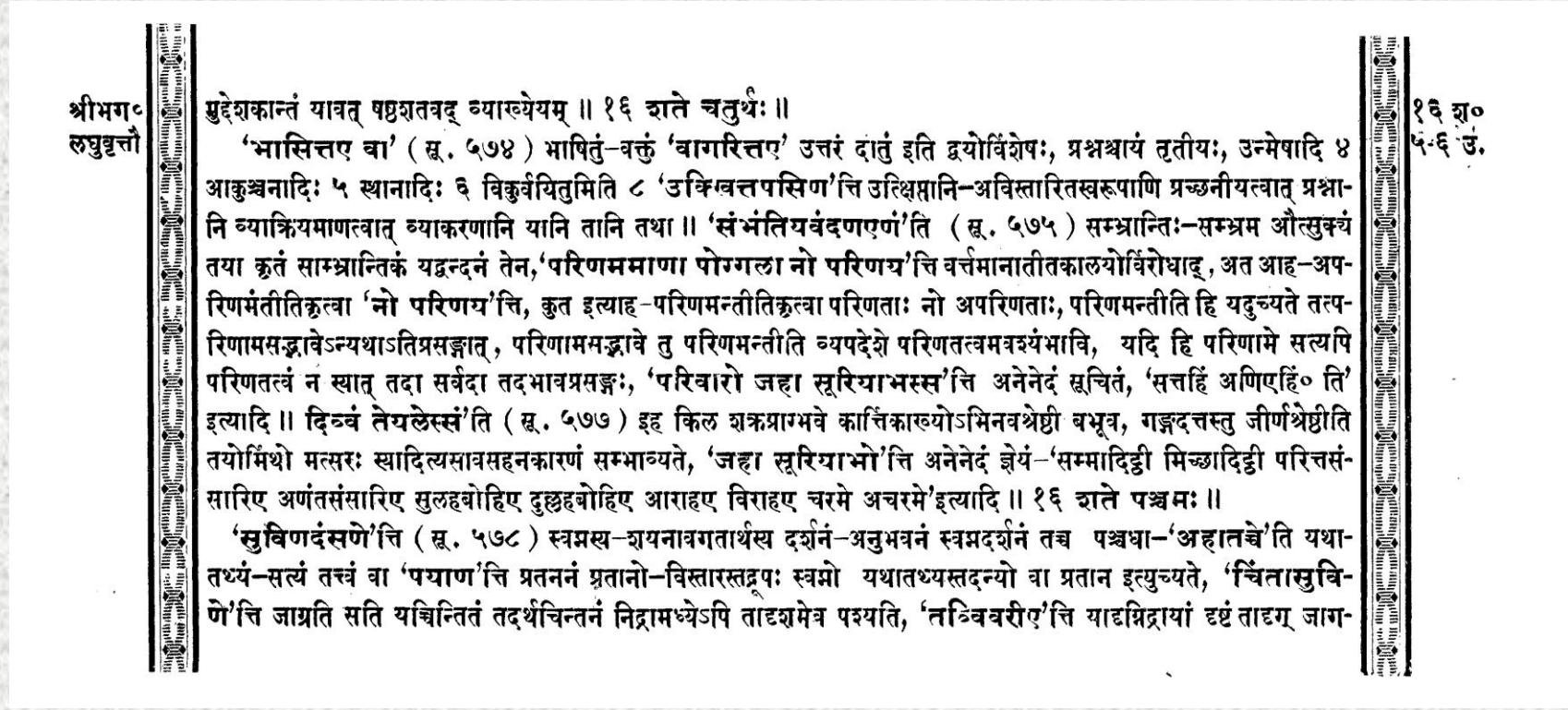

श्रीभग० लघुवृत्तौ

१६ श० ५-६ उ.

उद्देशकान्तं यावत् षष्ठशतवद् व्याख्येयम् ॥ १६ शते चतुर्थः ॥

‘भासित्तए वा’ (सू. ५७४) भाषितुं–वक्तुं ‘वागरित्तए’ उत्तरं दातुं इति द्वयोर्विशेषः, प्रश्नश्चायं तृतीयः, उन्मेषादि ४ आकुञ्चनादिः ५ स्थानादिः ६ विकुर्वयितुमिति ८ ‘उक्किण्णपसिण’त्ति उत्क्षिप्तानि–अविस्तारितस्वरूपाणि प्रच्छनीयत्वात् प्रश्नानि व्याक्रियमाणत्वात् व्याकरणानि यानि तानि तथा ॥ ‘संभंतियवंदणएणं’ति (सू. ५७५) सम्भ्रान्तिः–सम्भ्रम औत्सुक्यं तया कृतं साम्भ्रान्तिकं यद्वन्दनं तेन, ‘परिणममाणा पोग्गला नो परिणय’त्ति वर्त्तमानातीतकालयोर्विरोधाद्, अत आह–अपरिणमंतीतिकृत्वा ‘नो परिणय’त्ति, कुत इत्याह–परिणमन्तीतिकृत्वा परिणताः नो अपरिणताः, परिणमन्तीति हि यदुच्यते तत्परिणामसद्भावेऽन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, परिणामसद्भावे तु परिणमन्तीति व्यपदेशे परिणतत्वमवश्यंभावि, यदि हि परिणामे सत्यपि परिणतत्वं न स्यात् तदा सर्वदा तदभावप्रसङ्गः, ‘परिवारो जहा सूरियाभस्स’त्ति अनेनेदं सूचितं, ‘सत्तहिं अणिएहिं० ति’ इत्यादि ॥ दिव्वं तेयलेस्सं’ति (सू. ५७७) इह किल शक्रप्राग्भवे कार्त्तिकाख्योऽभिनवश्रेष्ठी बभूव, गङ्गदत्तस्तु जीर्णश्रेष्ठीति तयोर्मिथो मत्सरः स्यादित्यसावसहनकारणं सम्भाव्यते, ‘जहा सूरियाभो’त्ति अनेनेदं ज्ञेयं–‘सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी परित्तसंसारिए अणंतसंसारिए सुलहबोहिए दुल्लहबोहिए आराहए विराहए चरमे अचरमे’इत्यादि ॥ १६ शते पञ्चमः ॥

‘सुविणदंसणे’त्ति (सू. ५७८) स्वप्नस्य–शयनावगतार्थस्य दर्शनं–अनुभवनं स्वप्नदर्शनं तच्च पञ्चधा–‘अहातच्चे’ति यथातथ्यं–सत्यं तत्त्वं वा ‘पयाण’त्ति प्रतननं प्रतानो–विस्तारस्तद्रूपः स्वप्नो यथातथ्यस्तदन्यो वा प्रतान इत्युच्यते, ‘चिंतासुविणे’त्ति जाग्रति सति यच्चिन्तितं तदर्थचिन्तनं निद्रामध्येऽपि तादृशमेव पश्यति, ‘तव्विवरीए’त्ति यादृग्निद्रायां दृष्टं तादृग् जाग-

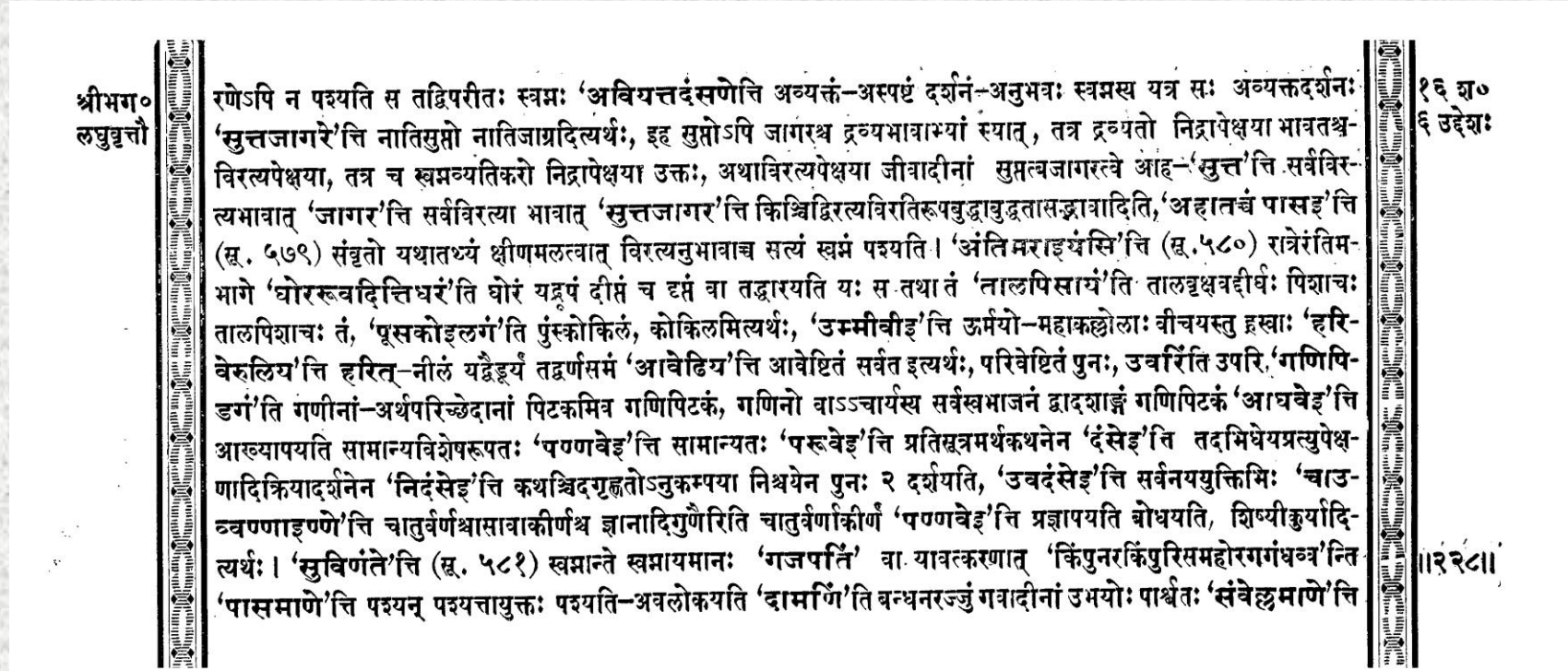

श्रीभग० लघुवृत्तौ

रणेऽपि न पश्यति स तद्विपरीतः स्वप्नः 'अविय्यत्तदंसणेत्ति अव्यक्तं-अस्पष्टं दर्शनं-अनुभवः स्वप्नस्य यत्र सः अव्यक्तदर्शनः 'सुत्तजागरे'त्ति नातिसुप्तो नातिजाग्रदित्यर्थः, इह सुप्तोऽपि जागरश्च द्रव्यभावाभ्यां स्यात्, तत्र द्रव्यतो निद्रापेक्षया भावतश्च-विरत्यपेक्षया, तत्र च स्वप्नव्यतिकरो निद्रापेक्षया उक्तः, अथाविरत्यपेक्षया जीवादीनां सुप्तत्वजागरत्वे आह-'सुत्त'त्ति सर्वविर-त्यभावात् 'जागर'त्ति सर्वविरत्या भावात् 'सुत्तजागर'त्ति किञ्चिद्विरत्यविरतिरूपबुद्धाबुद्धतासद्भावादिति,'अहातच्चं पासइ'त्ति (सू. ५७९) संवृतो यथातथ्यं क्षीणमलत्वात् विरत्यनुभावाच्च सत्यं स्वप्नं पश्यति। 'अंतिमराइयंसि'त्ति (सू.५८०) रात्रेरंतिम-भागे 'घोररूवदित्तिधरं'ति घोरं यद्रूपं दीप्तं च दृप्तं वा तद्धारयति यः स तथा तं 'तालपिसायं'ति तालवृक्षवद्दीर्घः पिशाचः तालपिशाचः तं, 'पूसकोइलगं'ति पुंस्कोकिलं, कोकिलमित्यर्थः, 'उम्मीवीइ'त्ति ऊर्मयो-महाकल्लोलाः वीचयस्तु ह्रस्वाः 'हरि-वेरुलिय'त्ति हरित्-नीलं यद्वैडूर्यं तद्वर्णसमं 'आवेढिय'त्ति आवेष्टितं सर्वत इत्यर्थः, परिवेष्टितं पुनः, उवरिंति उपरि,'गणिपि-डगं'ति गणीनां-अर्थपरिच्छेदानां पिटकमिव गणिपिटकं, गणिनो वाऽऽचार्यस्य सर्वस्वभाजनं द्वादशाङ्गं गणिपिटकं 'आघवेइ'त्ति आख्यापयति सामान्यविशेषरूपतः 'पण्णवेइ'त्ति सामान्यतः 'परूवेइ'त्ति प्रतिसूत्रमर्थकथनेन 'दंसेइ'त्ति तदभिधेयप्रत्युपेक्ष-णादिक्रियादर्शनेन 'निदंसेइ'त्ति कथञ्चिदगृह्णतोऽनुकम्पया निश्चयेन पुनः २ दर्शयति, 'उवदंसेइ'त्ति सर्वनययुक्तिभिः 'चाउ-व्वण्णाइण्णे'त्ति चातुर्वर्णश्रासावाकीर्णश्च ज्ञानादिगुणैरिति चातुर्वर्णाकीर्णं 'पण्णवेइ'त्ति प्रज्ञापयति बोधयति, शिष्यीकुर्यादि-त्यर्थः। 'सुविणंते'त्ति (सू. ५८१) स्वप्नान्ते स्वप्नायमानः 'गजपतिं' वा यावत्करणात् 'किंपुनरकिंपुरिसमहोरगगंधव्व'न्ति 'पासमाणे'त्ति पश्यन् पश्यत्तायुक्तः पश्यति-अवलोकयति 'दामणिं'ति बन्धनरज्जुं गवादीनां उभयोः पार्श्वतः 'संवेल्लमाणे'त्ति

१६ श० ६ उद्देशः

॥२२८॥

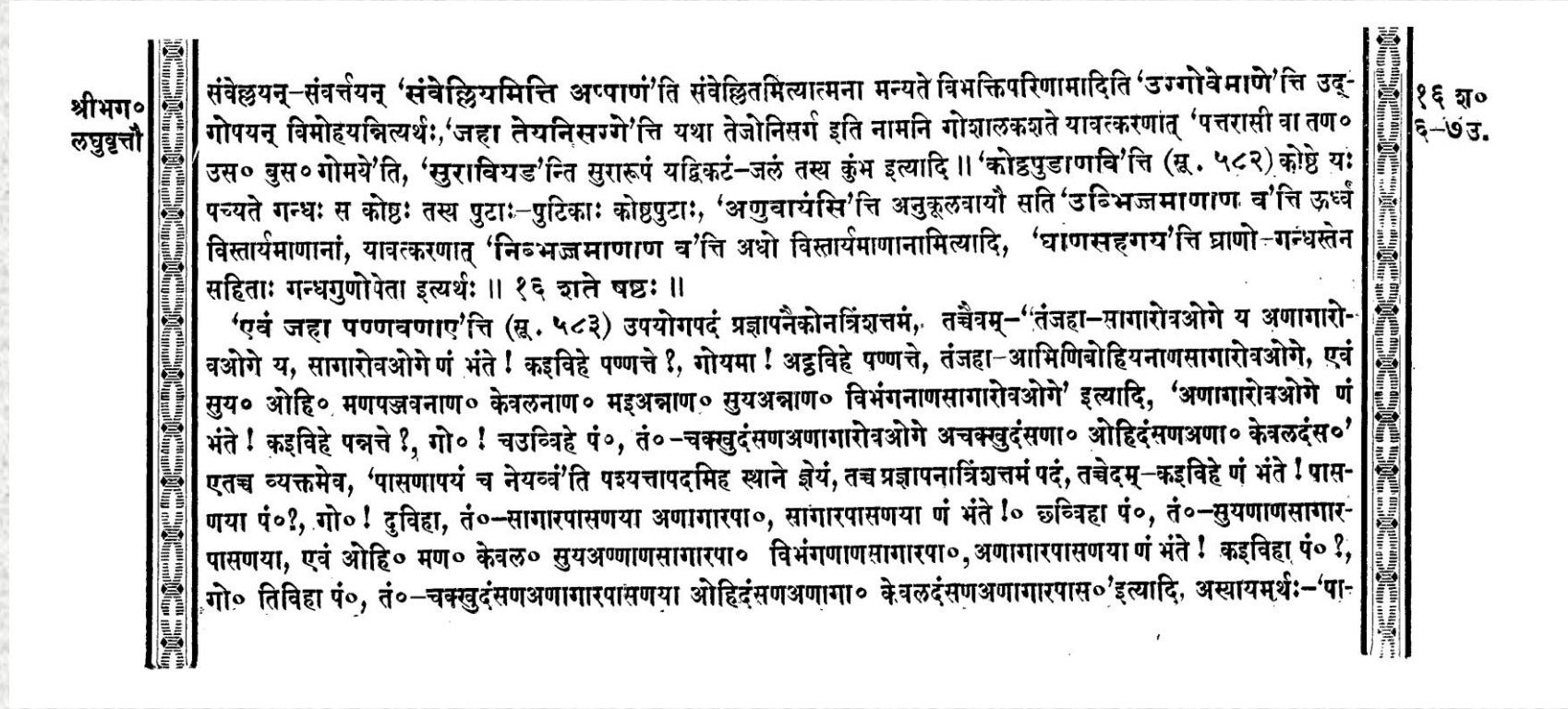

श्रीभग० लघुवृत्तौ

संवेल्लयन्–संवर्त्तयन् 'संवेल्लियमित्ति अप्पाणं'ति संवेल्लितमित्यात्मना मन्यते विभक्तिपरिणामादिति 'उग्गोवेमाणे'त्ति उद्-गोपयन् विमोहयन्नित्यर्थः,'जहा तेयनिसग्गे'त्ति यथा तेजोनिसर्ग इति नामनि गोशालकशते यावत्करणात् 'पत्तरासी वा तण० उस० बुस० गोमये'ति, 'सुराविय'न्ति सुरारूपं यद्विकटं–जलं तस्य कुंभ इत्यादि ॥ 'कोट्ठपुडाणवि'त्ति (सू. ५८२) कोष्ठे यः पच्यते गन्धः स कोष्ठः तस्य पुटाः–पुटिकाः कोष्ठपुटाः, 'अणुवायंसि'त्ति अनुकूलवायौ सति 'उब्भिज्जमाणाण व'त्ति ऊर्ध्वं विस्तार्यमाणानां, यावत्करणात् 'निब्भज्जमाणाण व'त्ति अधो विस्तार्यमाणानामित्यादि, 'घाणसहगय'त्ति घ्राणो–गन्धस्तेन सहिताः गन्धगुणोपेता इत्यर्थः ॥ १६ शते षष्ठः ॥

'एवं जहा पण्णवणाए'त्ति (सू. ५८३) उपयोगपदं प्रज्ञापनैकोनत्रिंशत्तमं, तच्चैवम्–"तंजहा–सागारोवओगे य अणागारोवओगे य, सागारोवओगे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ?, गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते, तंजहा–आभिणिबोहियनाणसागारोवओगे, एवं सुय० ओहि० मणपज्जवनाण० केवलनाण० मइअन्नाण० सुयअन्नाण० विभंगनाणसागारोवओगे' इत्यादि, 'अणागारोवओगे णं भंते ! कइविहे पन्नत्ते ?, गो० ! चउव्विहे पं०, तं०–चक्खुदंसणअणागारोवओगे अचक्खुदंसणा० ओहिदंसणअणा० केवलदंस०' एतच्च व्यक्तमेव, 'पासणापयं च नेयव्वं'ति पश्यत्तापदमिह स्थाने ज्ञेयं, तच्च प्रज्ञापनात्रिंशत्तमं पदं, तच्चेदम्–कइविहे णं भंते ! पास-णया पं०?, गो० ! दुविहा, तं०–सागारपासणया अणागारपा०, सागारपासणया णं भंते !० छव्विहा पं०, तं०–सुयणाणसागार-पासणया, एवं ओहि० मण० केवल० सुयअण्णाणसागारपा० विभंगणाणसागारपा०, अणागारपासणया णं भंते ! कइविहा पं० ?, गो० तिविहा पं०, तं०–चक्खुदंसणअणागारपासणया ओहिदंसणअणागा० केवलदंसणअणागारपास०'इत्यादि, अस्यायमर्थः–'पा-

१६ श० ६–७उ.

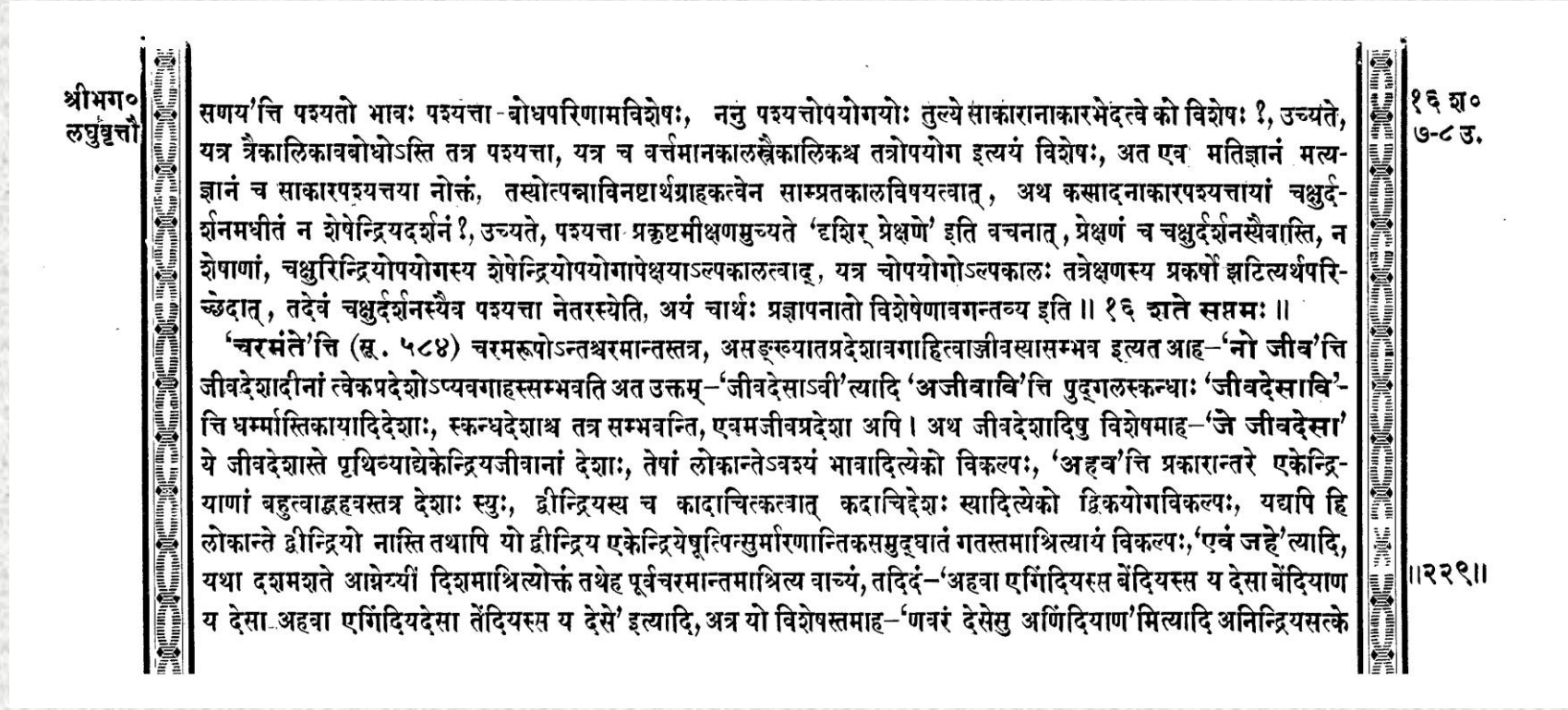

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सणय'त्ति पश्यतो भावः पश्यत्ता-बोधपरिणामविशेषः, ननु पश्यत्तोपयोगयोः तुल्ये साकारानाकारभेदत्वे को विशेषः ?, उच्यते, यत्र त्रैकालिकावबोधोऽस्ति तत्र पश्यत्ता, यत्र च वर्त्तमानकालस्त्रैकालिकश्च तत्रोपयोग इत्ययं विशेषः, अत एव मतिज्ञानं मत्यज्ञानं च साकारपश्यत्तया नोक्तं, तस्योत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकत्वेन साम्प्रतकालविषयत्वात्, अथ कस्मादनाकारपश्यत्तायां चक्षुर्दर्शनमधीतं न शेषेन्द्रियदर्शनं ?, उच्यते, पश्यत्ता प्रकृष्टमीक्षणमुच्यते 'दृशिर् प्रेक्षणे' इति वचनात्, प्रेक्षणं च चक्षुर्दर्शनस्यैवास्ति, न शेषाणां, चक्षुरिन्द्रियोपयोगस्य शेषेन्द्रियोपयोगापेक्षयाऽल्पकालत्वाद्, यत्र चोपयोगोऽल्पकालः तत्रेक्षणस्य प्रकर्षो झटित्यर्थपरिच्छेदात्, तदेवं चक्षुर्दर्शनस्यैव पश्यत्ता नेतरस्येति, अयं चार्थः प्रज्ञापनातो विशेषेणावगन्तव्य इति ॥ १६ शते सप्तमः ॥

'चरमंते'त्ति (सू. ५८४) चरमरूपोऽन्तश्चरमान्तस्तत्र, असङ्ख्यातप्रदेशावगाहित्वाज्जीवस्यासम्भव इत्यत आह–**'नो जीव'त्ति** जीवदेशादीनां त्वेकप्रदेशोऽप्यवगाहस्सम्भवति अत उक्तम्–'जीवदेसाऽवी'त्यादि **'अजीवावि'त्ति** पुद्गलस्कन्धाः **'जीवदेसावि'त्ति** धर्म्मास्तिकायादिदेशाः, स्कन्धदेशाश्च तत्र सम्भवन्ति, एवमजीवप्रदेशा अपि। अथ जीवदेशादिषु विशेषमाह–**'जे जीवदेसा'** ये जीवदेशास्ते पृथिव्याद्येकेन्द्रियजीवानां देशाः, तेषां लोकान्तेऽवश्यं भावादित्येको विकल्पः, **'अहव'त्ति** प्रकारान्तरे एकेन्द्रियाणां बहुत्वाद्बहवस्तत्र देशाः स्युः, द्वीन्द्रियस्य च कादाचित्कत्वात् कदाचिद्देशः स्यादित्येको द्विकयोगविकल्पः, यद्यपि हि लोकान्ते द्वीन्द्रियो नास्ति तथापि यो द्वीन्द्रिय एकेन्द्रियेषूत्पित्सुर्मारणान्तिकसमुद्घातं गतस्तमाश्रित्यायं विकल्पः,**'एवं जहे'**त्यादि, यथा दशमशते आग्नेय्यां दिशमाश्रित्योक्तं तथेह पूर्वचरमान्तमाश्रित्य वाच्यं, तदिदं–'अहवा एगिंदियस्स बेंदियस्स य देसा बेंदियाण य देसा अहवा एगिंदियदेसा तेंदियस्स य देसे' इत्यादि, अत्र यो विशेषस्तमाह–'णवरं देसेसु अणिंदियाण'मित्यादि अनिन्द्रियसत्के

१६ श० ७-८ उ.

॥२२९॥

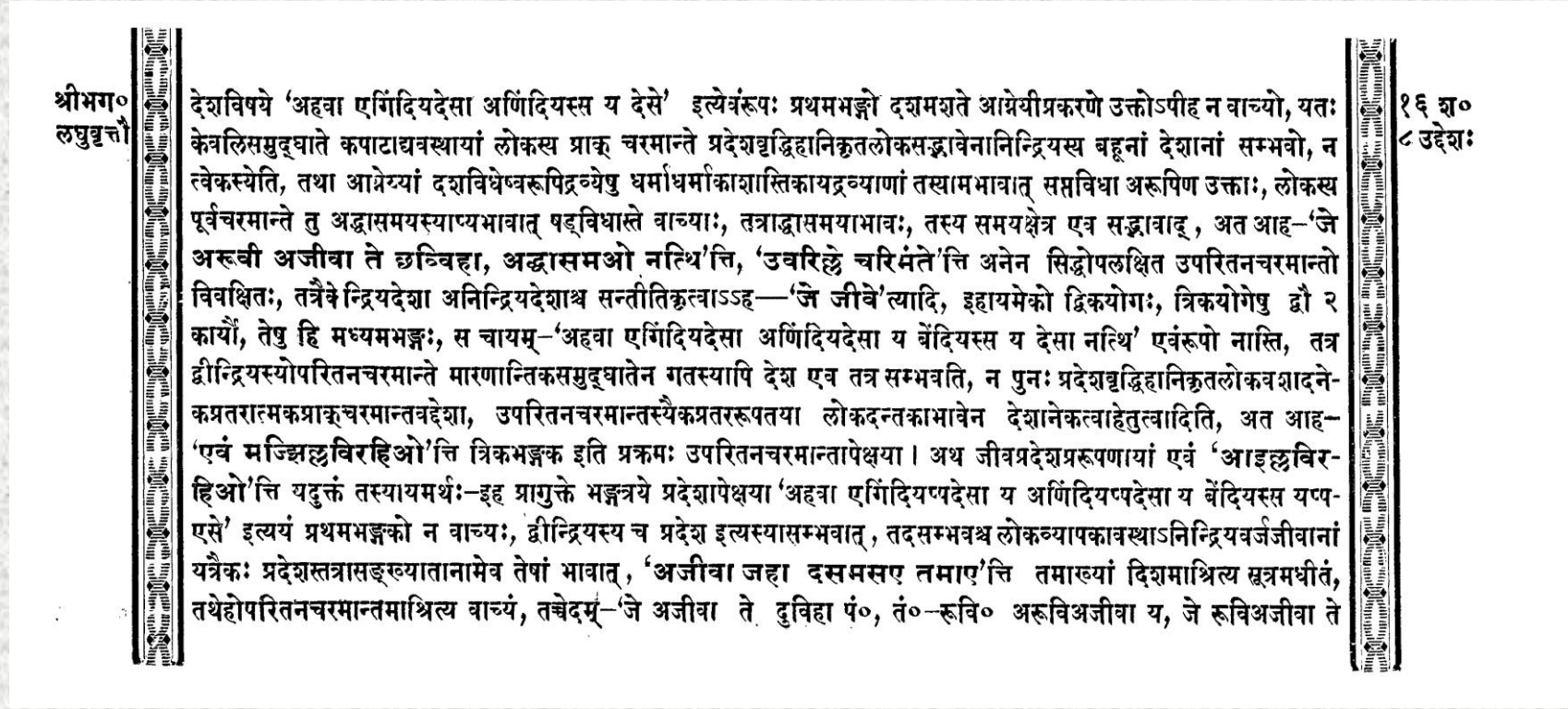

श्रीभग० लघुवृत्तौ

देशविषये 'अहवा एगिंदियदेसा अणिंदियस्स य देसे' इत्येवंरूपः प्रथमभङ्गो दशमशते आग्नेयीप्रकरणे उक्तोऽपीह न वाच्यो, यतः केवलिसमुद्घाते कपाटाद्यवस्थायां लोकस्य प्राक् चरमान्ते प्रदेशवृद्धिहानिकृतलोकसद्भावेनानिन्द्रियस्य बहूनां देशानां सम्भवो, न त्वेकस्येति, तथा आग्नेय्यां दशविधेष्वरूपिद्रव्येषु धर्माधर्माकाशास्तिकायद्रव्याणां तस्यामभावात् सप्तविधा अरूपिण उक्ताः, लोकस्य पूर्वचरमान्ते तु अद्धासमयस्याप्यभावात् षड्विधास्ते वाच्याः, तत्राद्धासमयाभावः, तस्य समयक्षेत्र एव सद्भावाद्, अत आह–'जे अरूवी अजीवा ते छव्विहा, अद्धासमओ नत्थि'त्ति, 'उवरिल्ले चरिमंते'त्ति अनेन सिद्धोपलक्षित उपरितनचरमान्तो विवक्षितः, तत्रैकेन्द्रियदेशा अनिन्द्रियदेशाश्च सन्तीतिकृत्वाऽऽह—'जे जीवे'त्यादि, इहायमेको द्विकयोगः, त्रिकयोगेषु द्वौ २ कार्यौ, तेषु हि मध्यमभङ्गः, स चायम्–'अहवा एगिंदियदेसा अणिंदियदेसा य बेंदियस्स य देसा नत्थि' एवंरूपो नास्ति, तत्र द्वीन्द्रियस्योपरितनचरमान्ते मारणान्तिकसमुद्घातेन गतस्यापि देश एव तत्र सम्भवति, न पुनः प्रदेशवृद्धिहानिकृतलोकवशादनेकप्रतरात्मकप्राक्चरमान्तवद्देशा, उपरितनचरमान्तस्यैकप्रतररूपतया लोकदन्तकाभावेन देशानेकत्वाहेतुत्वादिति, अत आह–'एवं मज्झिल्लविरहिओ'त्ति त्रिकभङ्गक इति प्रक्रमः उपरितनचरमान्तापेक्षया। अथ जीवप्रदेशप्ररूपणायां एवं 'आइल्लविरहिओ'त्ति यदुक्तं तस्यायमर्थः–इह प्रागुक्ते भङ्गत्रये प्रदेशापेक्षया 'अहवा एगिंदियप्पदेसा य अणिंदियप्पदेसा य बेंदियस्स यप्पएसे' इत्ययं प्रथमभङ्गको न वाच्यः, द्वीन्द्रियस्य च प्रदेश इत्यस्यासम्भवात्, तदसम्भवश्च लोकव्यापकावस्थाऽनिन्द्रियवर्जजीवानां यत्रैकः प्रदेशस्तत्रासङ्ख्यातानामेव तेषां भावात्, 'अजीवा जहा दसमसए तमाए'त्ति तमाख्यां दिशमाश्रित्य सूत्रमधीतं, तथेहोपरितनचरमान्तमाश्रित्य वाच्यं, तच्चेदम्–'जे अजीवा ते दुविहा पं०, तं०–रूवि० अरूविअजीवा य, जे रूविअजीवा ते

१६ श० ८ उद्देशः

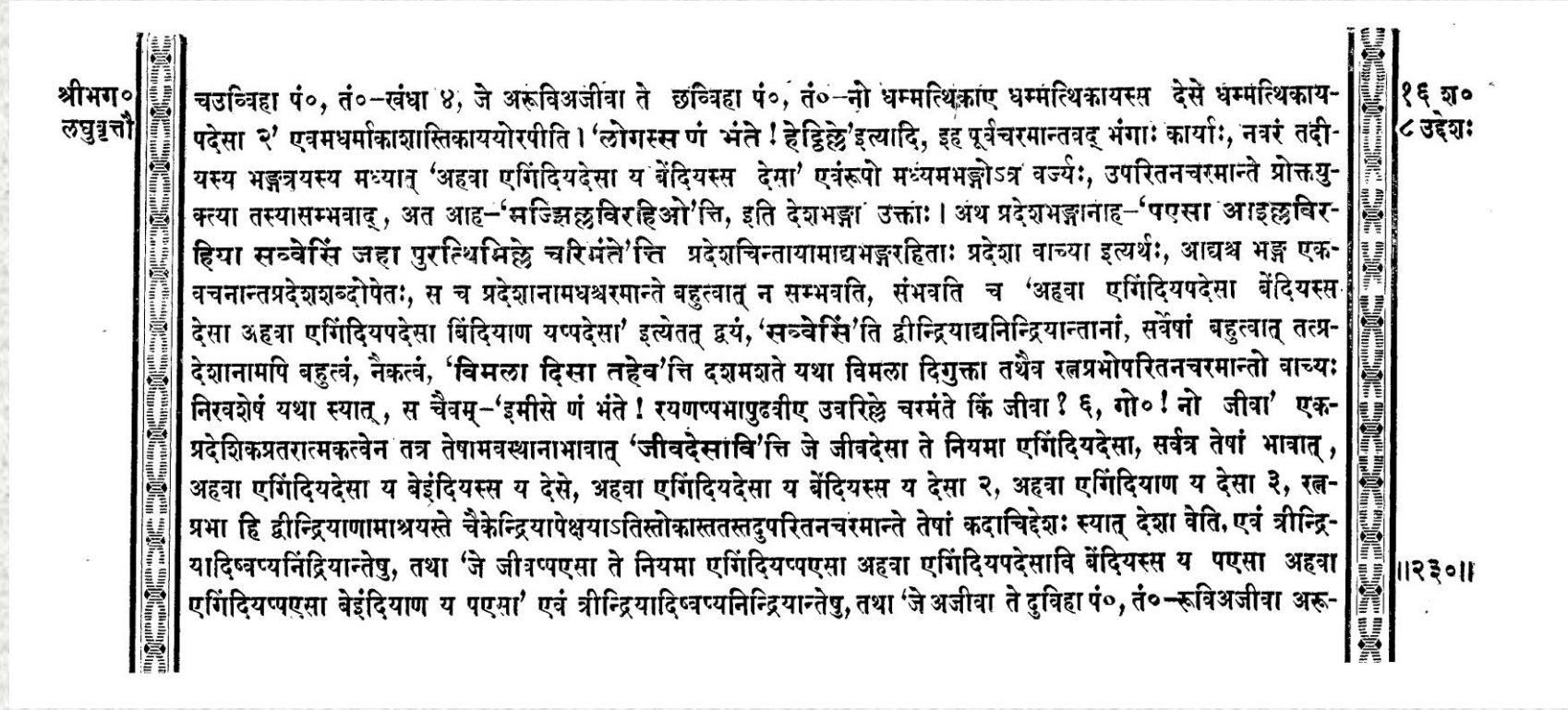

श्रीभग० लघुवृत्तौ

चउव्विहा पं०, तं०–खंधा ४, जे अरूविअजीवा ते छव्विहा पं०, तं०–नो धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायपदेसा २' एवमधर्माकाशास्तिकाययोरपीति। 'लोगस्स णं भंते! हेट्ठिल्ले'इत्यादि, इह पूर्वचरमान्तवद् भंगाः कार्याः, नवरं तदीयस्य भङ्गत्रयस्य मध्यात् 'अहवा एगिंदियदेसा य बेंदियस्स देसा' एवंरूपो मध्यमभङ्गोऽत्र वर्ज्यः, उपरितनचरमान्ते प्रोक्तयुक्त्या तस्यासम्भवाद्, अत आह–'सज्झिल्लविरहिओ'त्ति, इति देशभङ्गा उक्ताः। अथ प्रदेशभङ्गानाह–'पएसा आइल्लविरहिया सव्वेसिं जहा पुरत्थिमिल्ले चरिमंते'त्ति प्रदेशचिन्तायामाद्यभङ्गरहिताः प्रदेशा वाच्या इत्यर्थः, आद्यश्च भङ्ग एकवचनान्तप्रदेशशब्दोपेतः, स च प्रदेशानामधश्चरमान्ते बहुत्वात् न सम्भवति, संभवति च 'अहवा एगिंदियपदेसा बेंदियस्स देसा अहवा एगिंदियपदेसा बिंदियाण यप्पदेसा' इत्येतत् द्वयं, 'सव्वेसिं'ति द्वीन्द्रियाद्यनिन्द्रियान्तानां, सर्वेषां बहुत्वात् तत्प्रदेशानामपि बहुत्वं, नैकत्वं, 'विमला दिसा तहेव'त्ति दशमशते यथा विमला दिगुक्ता तथैव रत्नप्रभोपरितनचरमान्तो वाच्यः निरवशेषं यथा स्यात्, स चैवम्–'इमीसे णं भंते! रयणप्पभापुढवीए उवरिल्ले चरमंते किं जीवा? ६, गो०! नो जीवा' एकप्रदेशिकप्रतरात्मकत्वेन तत्र तेषामवस्थानाभावात् 'जीवदेसावि'त्ति जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा, सर्वत्र तेषां भावात्, अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स य देसे, अहवा एगिंदियदेसा य बेंदियस्स य देसा २, अहवा एगिंदियाण य देसा ३, रत्नप्रभा हि द्वीन्द्रियाणामाश्रयस्ते चैकेन्द्रियापेक्षयाऽतिस्तोकास्ततस्तदुपरितनचरमान्ते तेषां कदाचिदेशः स्यात् देशा वेति, एवं त्रीन्द्रियादिष्वप्यनिंद्रियान्तेषु, तथा 'जे जीवप्पएसा ते नियमा एगिंदियप्पएसा अहवा एगिंदियपदेसावि बेंदियस्स य पएसा अहवा एगिंदियप्पएसा बेइंदियाण य पएसा' एवं त्रीन्द्रियादिष्वप्यनिन्द्रियान्तेषु, तथा 'जे अजीवा ते दुविहा पं०, तं०–रूविअजीवा अरू-

१६ श० ८ उद्देशः

॥२३०॥

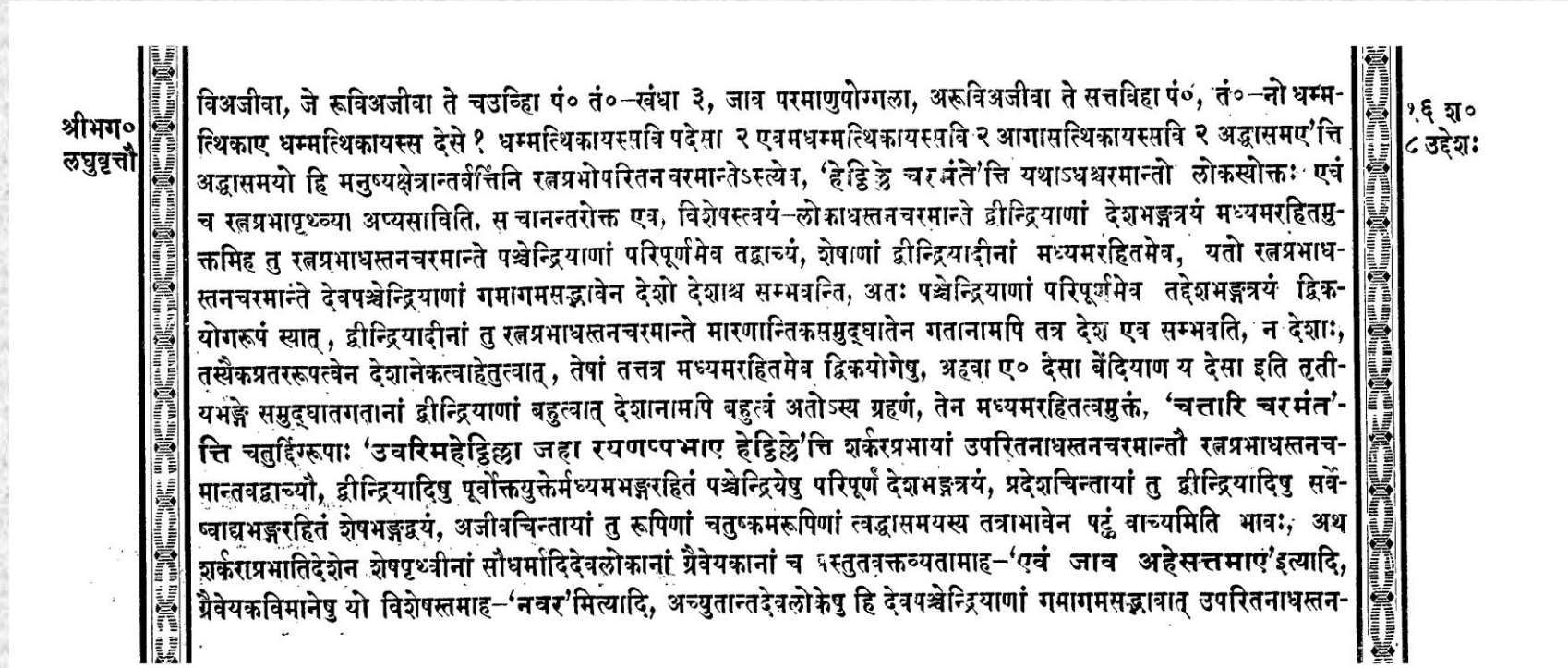

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विअजीवा, जे रूविअजीवा ते चउव्विहा पं० तं०–खंधा ३, जाव परमाणुपोग्गला, अरूविअजीवा ते सत्तविहा पं०, तं०–नो धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे १ धम्मत्थिकायस्सवि पदेसा २ एवमधम्मत्थिकायस्सवि २ आगासत्थिकायस्सवि २ अद्धासमए'त्ति अद्धासमयो हि मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्त्तिनि रत्नप्रभोपरितनचरमान्तेऽस्त्येव, 'हेट्ठिल्ले चरमंते'त्ति यथाऽधश्चरमान्तो लोकस्योक्तः एवं च रत्नप्रभापृथ्व्या अप्यसाविति, स चानन्तरोक्त एव, विशेषस्त्वयं–लोकाधस्तनचरमान्ते द्वीन्द्रियाणां देशभङ्गत्रयं मध्यमरहितमुक्तमिह तु रत्नप्रभाधस्तनचरमान्ते पञ्चेन्द्रियाणां परिपूर्णमेव तद्वाच्यं, शेषाणां द्वीन्द्रियादीनां मध्यमरहितमेव, यतो रत्नप्रभाधस्तनचरमान्ते देवपञ्चेन्द्रियाणां गमागमसद्भावेन देशो देशाश्च सम्भवन्ति, अतः पञ्चेन्द्रियाणां परिपूर्णमेव तद्देशभङ्गत्रयं द्विकयोगरूपं स्यात्, द्वीन्द्रियादीनां तु रत्नप्रभाधस्तनचरमान्ते मारणान्तिकसमुद्घातेन गतानामपि तत्र देश एव सम्भवति, न देशाः, तस्यैकप्रतररूपत्वेन देशानेकत्वाहेतुत्वात्, तेषां तत्तत्र मध्यमरहितमेव द्विकयोगेषु, अहवा ए० देसा बेंदियाण य देसा इति तृतीयभङ्गे समुद्घातगतानां द्वीन्द्रियाणां बहुत्वात् देशानामपि बहुत्वं अतोऽस्य ग्रहणं, तेन मध्यमरहितत्वमुक्तं, **'चत्तारि चरमंत'त्ति** चतुर्द्विरूपाः **'उवरिमहेट्ठिल्ला जहा रयणप्पभाए हेट्ठिल्ले'त्ति** शर्कराप्रभायां उपरितनाधस्तनचरमान्तौ रत्नप्रभाधस्तनचरमान्तवद्वाच्यौ, द्वीन्द्रियादिषु पूर्वोक्तयुक्तेर्मध्यमभङ्गरहितं पञ्चेन्द्रियेषु परिपूर्णं देशभङ्गत्रयं, प्रदेशचिन्तायां तु द्वीन्द्रियादिषु सर्वेष्वाद्यभङ्गरहितं शेषभङ्गद्वयं, अजीवचिन्तायां तु रूपिणां चतुष्कमरूपिणां त्वद्धासमयस्य तत्राभावेन पट्कं वाच्यमिति भावः, अथ शर्कराप्रभातिदेशेन शेषपृथ्वीनां सौधर्मादिदेवलोकानां ग्रैवेयकानां च वस्तुतवक्तव्यतामाह–**'एवं जाव अहेसत्तमाए'**इत्यादि, ग्रैवेयकविमानेषु यो विशेषस्तमाह–**'नवर'**मित्यादि, अच्युतान्तदेवलोकेषु हि देवपञ्चेन्द्रियाणां गमागमसद्भावात् उपरितनाधस्तन-

१६ श० ८ उद्देशः

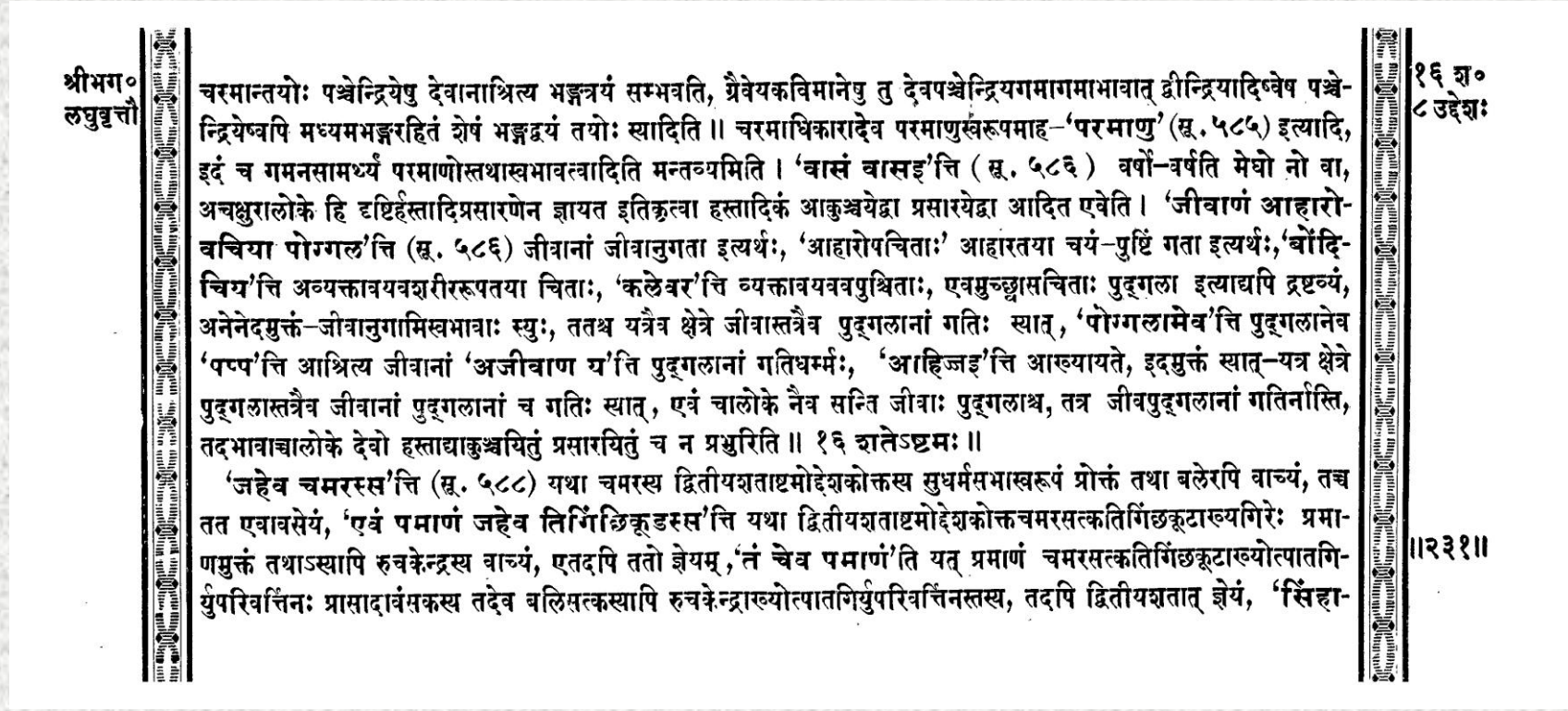

श्रीभग० लघुवृत्तौ

चरमान्तयोः पञ्चेन्द्रियेषु देवानाश्रित्य भङ्गत्रयं सम्भवति, ग्रैवेयकविमानेषु तु देवपञ्चेन्द्रियगमागमाभावात् द्वीन्द्रियादिष्वेष पञ्चेन्द्रियेष्वपि मध्यमभङ्गरहितं शेषं भङ्गद्वयं तयोः स्यादिति ॥ चरमाधिकारादेव परमाणुस्वरूपमाह–‘परमाणु’ (सू. ५८५) इत्यादि, इदं च गमनसामर्थ्यं परमाणोस्तथास्वभावत्वादिति मन्तव्यमिति । ‘वासं वासइ’त्ति (सू. ५८६) वर्षो–वर्षति मेघो नो वा, अचक्षुरालोके हि दृष्टिर्हस्तादिप्रसारणेन ज्ञायत इतिकृत्वा हस्तादिकं आकुञ्चयेद्वा प्रसारयेद्वा आदित एवेति । ‘जीवाणं आहारोवचिया पोग्गल’त्ति (सू. ५८६) जीवानां जीवानुगता इत्यर्थः, ‘आहारोपचिताः’ आहारतया चयं–पुष्टिं गता इत्यर्थः,‘बोंदिचिय’त्ति अव्यक्तावयवशरीररूपतया चिताः, ‘कलेवर’त्ति व्यक्तावयववपुश्चिताः, एवमुच्छ्वासचिताः पुद्गला इत्याद्यपि द्रष्टव्यं, अनेनेदमुक्तं–जीवानुगामिस्वभावाः स्युः, ततश्च यत्रैव क्षेत्रे जीवास्तत्रैव पुद्गलानां गतिः स्यात्, ‘पोग्गलामेव’त्ति पुद्गलानेव ‘पप्प’त्ति आश्रित्य जीवानां ‘अजीवाण य’ति पुद्गलानां गतिधर्म्मः, ‘आहिज्जइ’त्ति आख्यायते, इदमुक्तं स्यात्–यत्र क्षेत्रे पुद्गलास्तत्रैव जीवानां पुद्गलानां च गतिः स्यात्, एवं चालोके नैव सन्ति जीवाः पुद्गलाश्च, तत्र जीवपुद्गलानां गतिर्नास्ति, तदभावाच्चालोके देवो हस्ताद्याकुञ्चयितुं प्रसारयितुं च न प्रभुरिति ॥ १६ शतेऽष्टमः ॥

‘जहेव चमरस्स’त्ति (सू. ५८८) यथा चमरस्य द्वितीयशताष्टमोद्देशकोक्तस्य सुधर्मसभास्वरूपं प्रोक्तं तथा बलेरपि वाच्यं, तच्च तत एवावसेयं, ‘एवं पमाणं जहेव तिगिंछिकूडस्स’त्ति यथा द्वितीयशताष्टमोद्देशकोक्तचमरसत्कतिगिंछकूटाख्यगिरेः प्रमाणमुक्तं तथाऽस्यापि रुचकेन्द्रस्य वाच्यं, एतदपि ततो ज्ञेयम्,‘तं चेव पमाणं’ति यत् प्रमाणं चमरसत्कतिगिंछकूटाख्योत्पातगिर्युपरिवर्त्तिनः प्रासादावंसकस्य तदेव बलिसत्कस्यापि रुचकेन्द्राख्योत्पातगिर्युपरिवर्त्तिनस्तस्य, तदपि द्वितीयशतात् ज्ञेयं, ‘सिंहा-

१६ श० ८ उद्देशः

॥२३१॥

प्रत सूत्रांक [५६२-५९०] + गाथा

दीप अनुक्रम [६६०-६९२]

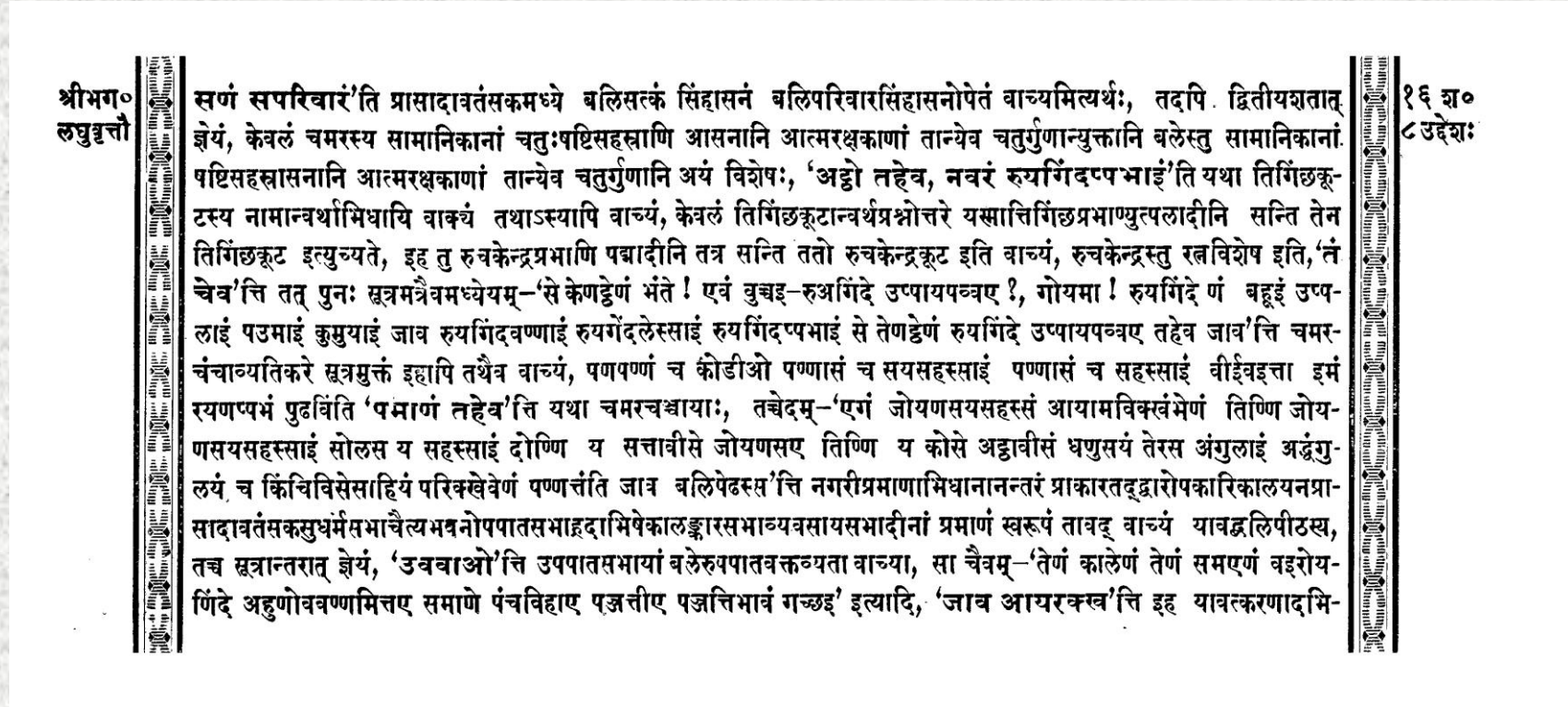

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सणं सपरिवारं'ति प्रासादावतंसकमध्ये बलिसत्कं सिंहासनं बलिपरिवारसिंहासनोपेतं वाच्यमित्यर्थः, तदपि द्वितीयशतात् ज्ञेयं, केवलं चमरस्य सामानिकानां चतुःषष्टिसहस्राणि आसनानि आत्मरक्षकाणां तान्येव चतुर्गुणान्युक्तानि बलेस्तु सामानिकानां षष्टिसहस्रासनानि आत्मरक्षकाणां तान्येव चतुर्गुणानि अयं विशेषः, 'अट्ठो तहेव, नवरं रुयगिंदप्पभाइं'ति यथा तिगिंछकूटस्य नामान्वर्थाभिधायि वाक्यं तथाऽस्यापि वाच्यं, केवलं तिगिंछकूटान्वर्थप्रश्नोत्तरे यस्मात्तिगिंछप्रभाण्युत्पलादीनि सन्ति तेन तिगिंछकूट इत्युच्यते, इह तु रुचकेन्द्रप्रभाणि पद्मादीनि तत्र सन्ति ततो रुचकेन्द्रकूट इति वाच्यं, रुचकेन्द्रस्तु रत्नविशेष इति,'तं चेव'त्ति तत् पुनः सूत्रमत्रैवमध्येयम्–'से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–रुअगिंदे उप्पायपव्वए ?, गोयमा ! रुयगिंदे णं बहूइं उप्पलाइं पउमाइं कुमुयाइं जाव रुयगिंदवण्णाइं रुयगेंदलेस्साइं रुयगिंदप्पभाइं से तेणट्ठेणं रुयगिंदे उप्पायपव्वए तहेव जाव'त्ति चमरचंचाव्यतिकरे सूत्रमुक्तं इहापि तथैव वाच्यं, पणपण्णं च कोडीओ पण्णासं च सयसहस्साइं पण्णासं च सहस्साइं वीईवइत्ता इमं रयणप्पभं पुढविंति 'पमाणं तहेव'त्ति यथा चमरचञ्चायाः, तच्चेदम्–'एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलयं च किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्तंति जाव बलिपेढस्स'त्ति नगरीप्रमाणाभिधानानन्तरं प्राकारतद्द्वारोपकारिकालयनप्रासादावतंसकसुधर्मसभाचैत्यभवनोपपातसभाह्रदाभिषेकालङ्कारसभाव्यवसायसभादीनां प्रमाणं स्वरूपं तावद् वाच्यं यावद्बलिपीठस्य, तच्च सूत्रान्तरात् ज्ञेयं, 'उववाओ'त्ति उपपातसभायां बलेरुपपातवक्तव्यता वाच्या, सा चैवम्–'तेणं कालेणं तेणं समएणं बइरोयणिंदे अहुणोववण्णमित्तए समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ' इत्यादि, 'जाव आयरक्ख'त्ति इह यावत्करणादमि-

१६ श० ८ उद्देशः

अत्र शतक-१६, उद्देशक: ९ एव वर्तते | मूल संपादने यत् उद्देषक: ८ मुद्रितं, तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

प्रत सूत्रांक [५६२-५९०] + गाथा

दीप अनुक्रम [६६०-६९२]

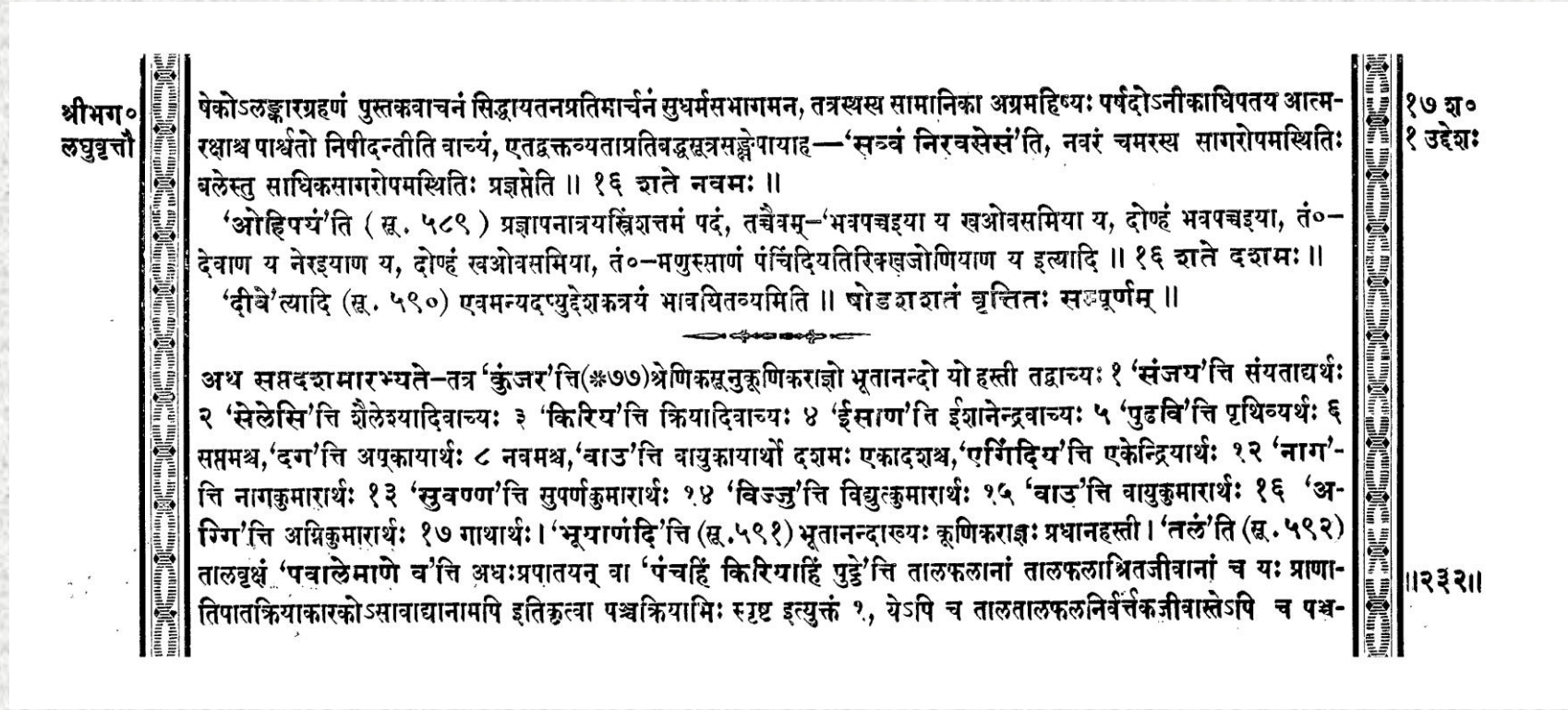

श्रीभग० लघुवृत्तौ

षेकोऽलङ्कारग्रहणं पुस्तकवाचनं सिद्धायतनप्रतिमार्चनं सुधर्मसभागमन, तत्रस्थस्य सामानिका अग्रमहिष्यः पर्षदोऽनीकाधिपतय आत्मरक्षाश्च पार्श्वतो निषीदन्तीति वाच्यं, एतद्वक्तव्यताप्रतिबद्धसूत्रसङ्क्षेपायाह—'सव्वं निरवसेसं'ति, नवरं चमरस्य सागरोपमस्थितिः बलेस्तु साधिकसागरोपमस्थितिः प्रज्ञप्तेति ॥ १६ शते नवमः ॥

'ओहिपयं'ति (सू. ५८९) प्रज्ञापनात्रयस्त्रिंशत्तमं पदं, तच्चैवम्—'भवपच्चइया य खओवसमिया य, दोण्हं भवपच्चइया, तं०—देवाण य नेरइयाण य, दोण्हं खओवसमिया, तं०—मणुस्साणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण य इत्यादि ॥ १६ शते दशमः ॥

'दीवे'त्यादि (सू. ५९०) एवमन्यदप्युद्देशकत्रयं भावयितव्यमिति ॥ षोडशशतं वृत्तितः सम्पूर्णम् ॥

अथ सप्तदशमारभ्यते—तत्र 'कुंजर'त्ति(*७७)श्रेणिकसूनुकूणिकराज्ञो भूतानन्दो यो हस्ती तद्वाच्यः १ 'संजय'त्ति संयताद्यर्थः २ 'सेलेसि'त्ति शैलेश्यादिवाच्यः ३ 'किरिय'त्ति क्रियादिवाच्यः ४ 'ईसाण'त्ति ईशानेन्द्रवाच्यः ५ 'पुढवि'त्ति पृथिव्यर्थः ६ सप्तमश्च,'दग'त्ति अप्कायार्थः ८ नवमश्च,'वाउ'त्ति वायुकायार्थो दशमः एकादशश्च,'एगिंदिय'त्ति एकेन्द्रियार्थः १२ 'नाग'त्ति नागकुमारार्थः १३ 'सुवण्ण'त्ति सुपर्णकुमारार्थः १४ 'विज्जु'त्ति विद्युत्कुमारार्थः १५ 'वाउ'त्ति वायुकुमारार्थः १६ 'अग्गि'त्ति अग्निकुमारार्थः १७ गाथार्थः। 'भूयाणंदि'त्ति (सू.५९१) भूतानन्दाख्यः कूणिकराज्ञः प्रधानहस्ती। 'तलं'ति (सू.५९२) तालवृक्षं 'पवालेमाणे व'त्ति अधःप्रपातयन् वा 'पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे'त्ति तालफलानां तालफलाश्रितजीवानां च यः प्राणातिपातक्रियाकारकोऽसावाद्यानामपि इतिकृत्वा पञ्चक्रियाभिः स्पृष्ट इत्युक्तं १, येऽपि च तालतालफलनिर्वर्त्तकजीवास्तेऽपि च पञ्च-

१७ श० १ उद्देशः

॥२३२॥

*** अत्र शतक-१६ समाप्तं. अथ शतक-१७ आरभ्यते

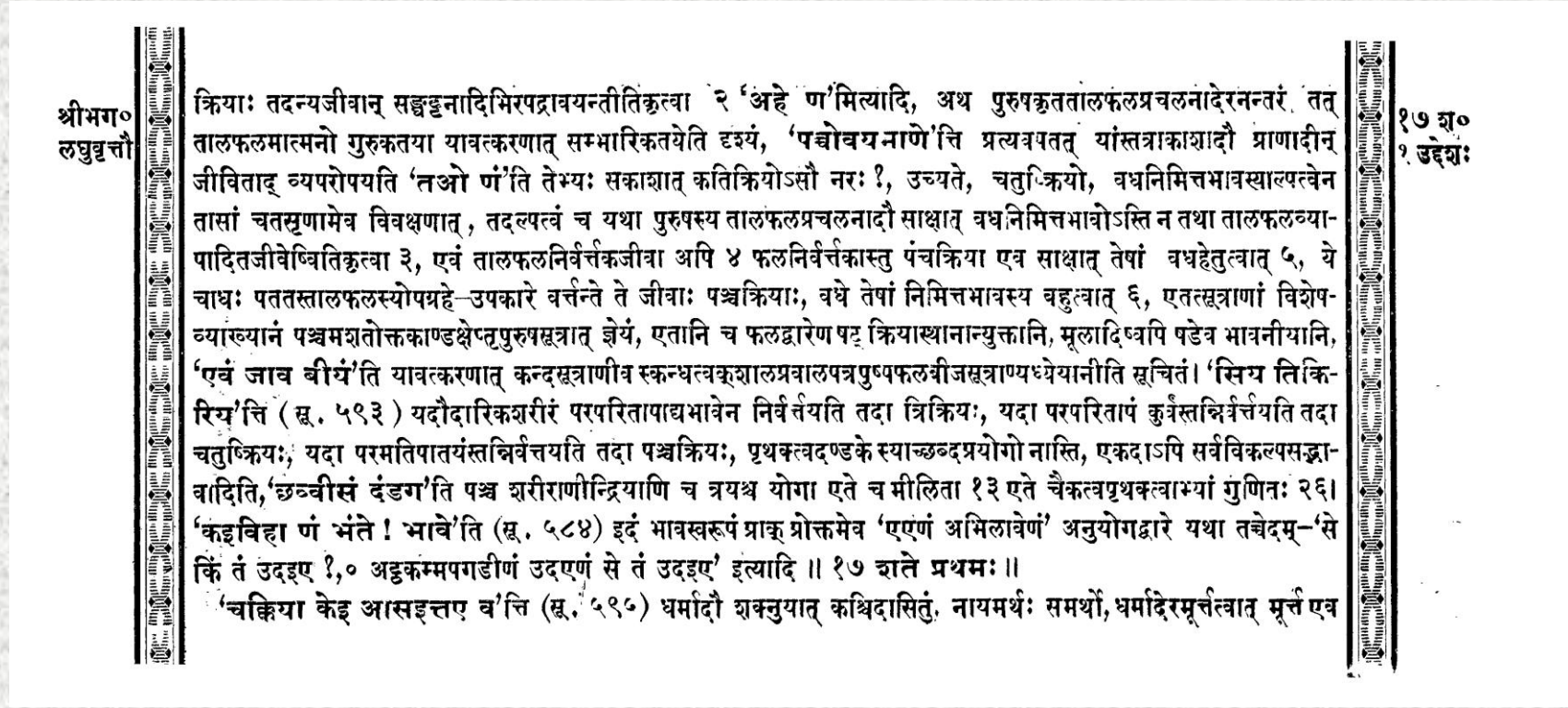

श्रीभग० लघुवृत्तौ

क्रियाः तदन्यजीवान् सङ्घट्टनादिभिरपद्रावयन्तीतिकृत्वा २ 'अहे ण'मित्यादि, अथ पुरुषकृततालफलप्रचलनादेरनन्तरं तत् तालफलमात्मनो गुरुकतया यावत्करणात् सम्भारिकतयेति दृश्यं, **'पच्चोवयमाणे'**त्ति प्रत्यवपतत् यांस्तत्राकाशादौ प्राणादीन् जीविताद् व्यपरोपयति **'तओ णं'**ति तेभ्यः सकाशात् कतिक्रियोऽसौ नरः ?, उच्यते, चतुष्क्रियो, वधनिमित्तभावस्याल्पत्वेन तासां चतसृणामेव विवक्षणात्, तदल्पत्वं च यथा पुरुषस्य तालफलप्रचलनादौ साक्षात् वधनिमित्तभावोऽस्ति न तथा तालफलव्यापादितजीवेष्वितिकृत्वा ३, एवं तालफलनिर्वर्त्तकजीवा अपि ४ फलनिर्वर्त्तकास्तु पंचक्रिया एव साक्षात् तेषां वधहेतुत्वात् ५, ये चाधः पततस्तालफलस्योपग्रहे–उपकारे वर्त्तन्ते ते जीवाः पञ्चक्रियाः, वधे तेषां निमित्तभावस्य बहुत्वात् ६, एतत्सूत्राणां विशेषव्याख्यानं पञ्चमशतोक्तकाण्डक्षेप्तृपुरुषसूत्रात् ज्ञेयं, एतानि च फलद्वारेण षट् क्रियास्थानान्युक्तानि, मूलादिष्वपि षडेव भावनीयानि, **'एवं जाव बीयं'**ति यावत्करणात् कन्दसूत्राणीव स्कन्धत्वक्शालप्रवालपत्रपुष्पफलबीजसूत्राण्यध्येयानीति सूचितं। **'सिय तिकिरिय'**त्ति (सू. ५९३) यदौदारिकशरीरं परपरितापाद्यभावेन निर्वर्तयति तदा त्रिक्रियः, यदा परपरितापं कुर्वंस्तन्निर्वर्तयति तदा चतुष्क्रियः, यदा परमतिपातयंस्तन्निर्वर्त्तयति तदा पञ्चक्रियः, पृथक्त्वदण्डके स्याच्छब्दप्रयोगो नास्ति, एकदाऽपि सर्वविकल्पसद्भावादिति, **'छव्वीसं दंडग'**ति पञ्च शरीराणीन्द्रियाणि च त्रयश्च योगा एते च मीलिता १३ एते चैकत्वपृथक्त्वाभ्यां गुणिताः २६। **'कइविहा णं भंते ! भावे'**ति (सू. ५८४) इदं भावस्वरूपं प्राक् प्रोक्तमेव **'एएणं अभिलावेणं'** अनुयोगद्वारे यथा तच्चेदम्–'से किं तं उदइए ?,० अट्ठकम्मपगडीणं उदएणं से तं उदइए' इत्यादि ॥ १७ शते प्रथमः ॥

'चक्किया केइ आसइत्तए व'त्ति (सू. ५९५) धर्मादौ शक्नुयात् कश्चिदासितुं, नायमर्थः समर्थो, धर्मादेरमूर्त्तत्वात् मूर्त्त एव

१७ श० १ उद्देशः

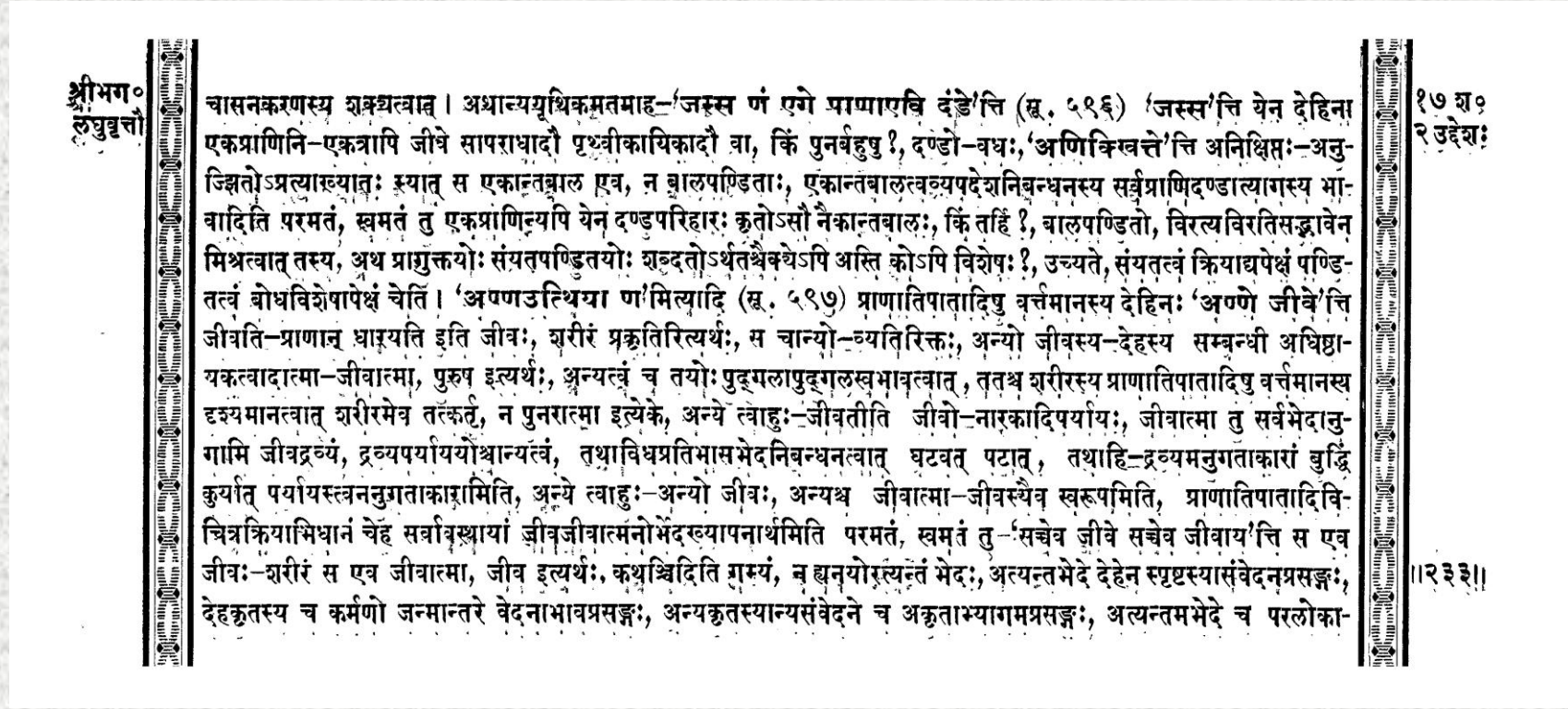

श्रीभग० लघुवृत्तौ

चासनकरणस्य शक्यत्वात्। अथान्ययूथिकमतमाह–'जस्स णं एगे पाणाएवि दंडे'त्ति (सू. ५९६) 'जस्स'त्ति येन देहिना एकप्राणिनि–एकत्रापि जीवे सापराधादौ पृथ्वीकायिकादौ वा, किं पुनर्बहुषु ?, दण्डो–वधः, 'अणिक्खित्ते'त्ति अनिक्षिप्तः–अनुज्झितोऽप्रत्याख्यातः स्यात् स एकान्तबाल एव, न बालपण्डिताः, एकान्तबालत्वव्यपदेशनिबन्धनस्य सर्वप्राणिदण्डात्यागस्य भावादिति परमतं, स्वमतं तु एकप्राण्यपि येन दण्डपरिहारः कृतोऽसौ नैकान्तबालः, किं तर्हि ?, बालपण्डितो, विरत्यविरतिसद्भावेन मिश्रत्वात् तस्य, अथ प्रागुक्तयोः संयतपण्डितयोः शब्दतोऽर्थतश्चैकथेऽपि अस्ति कोऽपि विशेषः ?, उच्यते, संयतत्वं क्रियाद्यपेक्षं पण्डितत्वं बोधविशेषापेक्षं चेति। 'अण्णउत्थिया णं'मित्यादि (सू. ५९७) प्राणातिपातादिषु वर्त्तमानस्य देहिनः 'अण्णे जीवे'त्ति जीवति–प्राणान् धारयति इति जीवः, शरीरं प्रकृतिरित्यर्थः, स चान्यो–व्यतिरिक्तः, अन्यो जीवस्य–देहस्य सम्बन्धी अधिष्ठायकत्वादात्मा–जीवात्मा, पुरुष इत्यर्थः, अन्यत्वं च तयोः पुद्गलापुद्गलस्वभावत्वात्, ततश्च शरीरस्य प्राणातिपातादिषु वर्त्तमानस्य दृश्यमानत्वात् शरीरमेव तत्कर्तृ, न पुनरात्मा इत्येके, अन्ये त्वाहुः–जीवतीति जीवो–नारकादिपर्यायः, जीवात्मा तु सर्वभेदानुगामि जीवद्रव्यं, द्रव्यपर्याययोश्चान्यत्वं, तथाविधप्रतिभासभेदनिबन्धनत्वात् घटवत् पटात्, तथाहि–द्रव्यमनुगताकारां बुद्धिं कुर्यात् पर्यायस्त्वननुगताकारामिति, अन्ये त्वाहुः–अन्यो जीवः, अन्यश्च जीवात्मा–जीवस्यैव स्वरूपमिति, प्राणातिपातादिविचित्रक्रियाभिधानं चेह सर्वावस्थायां जीवजीवात्मनोर्भेदख्यापनार्थमिति परमतं, स्वमतं तु–'सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाय'त्ति स एव जीवः–शरीरं स एव जीवात्मा, जीव इत्यर्थः, कथञ्चिदिति गम्यं, न ह्यनयोरत्यन्तं भेदः, अत्यन्तभेदे देहेन स्पृष्टस्यासंवेदनप्रसङ्गः, देहकृतस्य च कर्मणो जन्मान्तरे वेदनाभावप्रसङ्गः, अन्यकृतस्यान्यसंवेदने च अकृताभ्यागमप्रसङ्गः, अत्यन्तमभेदे च परलोका-

१७ श० २ उद्देशः

॥२३३॥

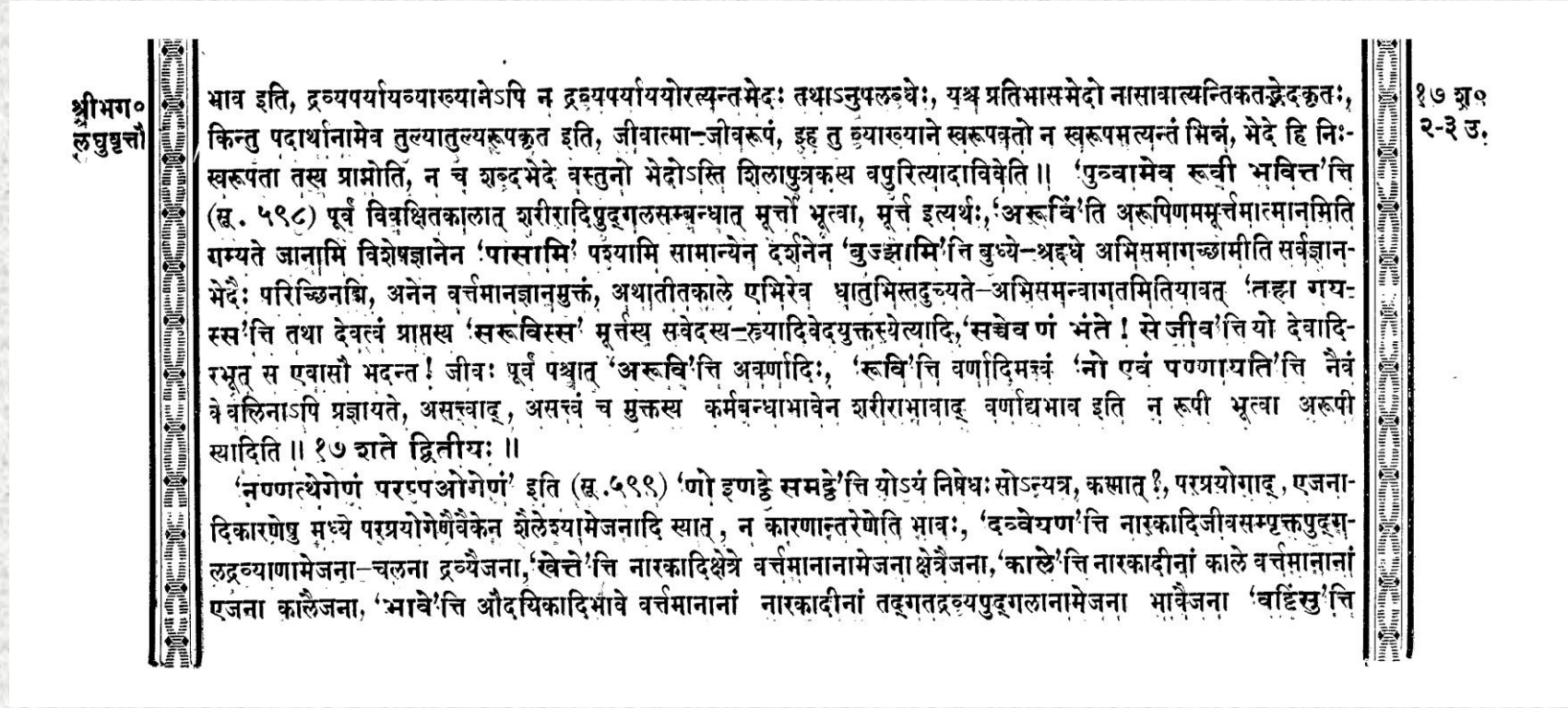

श्रीभग० लघुवृत्तौ

भाव इति, द्रव्यपर्यायव्याख्यानेऽपि न द्रव्यपर्याययोरत्यन्तभेदः तथाऽनुपलब्धेः, यश्च प्रतिभासभेदो नासावात्यन्तिकतद्भेदकृतः, किन्तु पदार्थानामेव तुल्यातुल्यरूपकृत इति, जीवात्मा-जीवरूपं, इह तु व्याख्याने स्वरूपवतो न स्वरूपमत्यन्तं भिन्नं, भेदे हि निःस्वरूपता तस्य प्राप्नोति, न च शब्दभेदे वस्तुनो भेदोऽस्ति शिलापुत्रकस्य वपुरित्यादाविवेति ॥ ‘पुव्वामेव रूवी भवित्त’त्ति (सू. ५९८) पूर्वं विवक्षितकालात् शरीरादिपुद्गलसम्बन्धात् मूर्त्तो भूत्वा, मूर्त्त इत्यर्थः, ‘अरूविं’ति अरूपिणममूर्त्तमात्मानमिति गम्यते जानामि विशेषज्ञानेन ‘पासामि’ पश्यामि सामान्येन दर्शनेन ‘बुज्झामि’त्ति बुध्ये-श्रद्धे अभिसमागच्छामीति सर्वज्ञानभेदैः परिच्छिनद्मि, अनेन वर्त्तमानज्ञानमुक्तं, अथातीतकाले एभिरेव धातुभिस्तदुच्यते-अभिसमन्वागतमितियावत् ‘तहा गयस्स’त्ति तथा देवत्वं प्राप्तस्य ‘सरूविस्स’ मूर्त्तस्य सवेदस्य-रुयादिवेदयुक्तस्येत्यादि, ‘सच्चेव णं भंते ! से जीव’त्ति यो देवादिरभूत् स एवासौ भदन्त ! जीवः पूर्वं पश्चात् ‘अरूवि’त्ति अवर्णादिः, ‘रूवि’त्ति वर्णादिमत्त्वं ‘नो एवं पण्णायति’त्ति नैवं वेवलिनाऽपि प्रज्ञायते, असत्त्वाद्, असत्त्वं च मुक्तस्य कर्मबन्धाभावेन शरीराभावाद् वर्णाद्यभाव इति न रूपी भूत्वा अरूपी स्यादिति ॥ १७ शते द्वितीयः ॥

‘नण्णत्थेगेणं परप्पओगेणं’ इति (सू.५९९) ‘णो इणट्ठे समट्ठे’त्ति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्र, कस्मात् ?, परप्रयोगाद्, एजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैवैकेन शैलेश्यामेजनादि स्यात्, न कारणान्तरेणेति भावः, ‘दव्वेयण’त्ति नारकादिजीवसम्पृक्तपुद्गलद्रव्याणामेजना-चलना द्रव्यैजना, ‘खेत्ते’त्ति नारकादिक्षेत्रे वर्त्तमानानामेजना क्षेत्रैजना, ‘काले’त्ति नारकादीनां काले वर्त्तमानानां एजना कालैजना, ‘भावे’त्ति औदयिकादिभावे वर्त्तमानानां नारकादीनां तद्गतद्रव्यपुद्गलानामेजना भावैजना ‘वट्टिसु’त्ति

१७ श० २-३ उ.

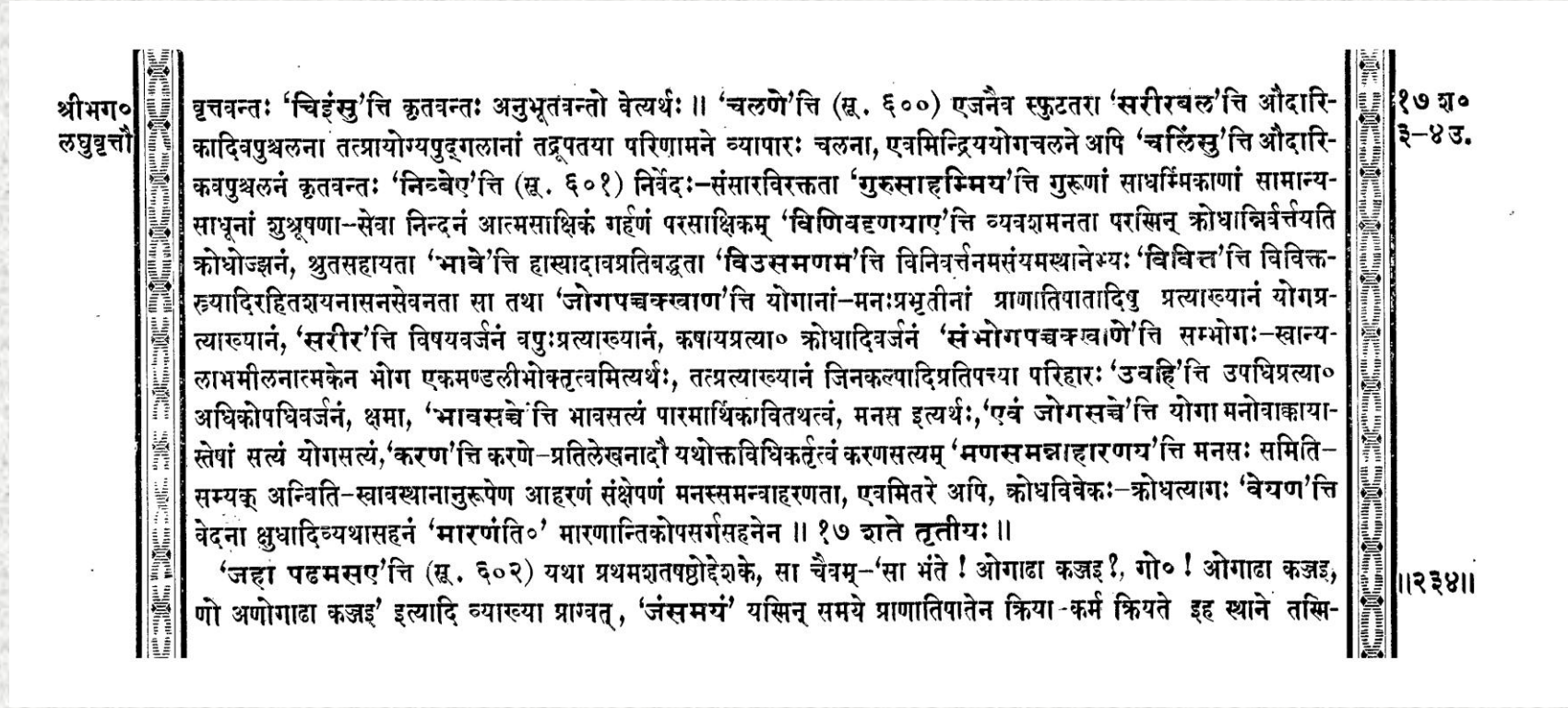

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वृत्तवन्तः ‘चिइंसु’त्ति कृतवन्तः अनुभूतवन्तो वेत्यर्थः ॥ ‘चलणे’त्ति (सू. ६००) एजनैव स्फुटतरा ‘सरीरबल’त्ति औदारिकादिवपुश्चलना तत्प्रायोग्यपुद्गलानां तद्रूपतया परिणामने व्यापारः चलना, एवमिन्द्रिययोगचलने अपि ‘चलिंसु’त्ति औदारिकवपुश्चलनं कृतवन्तः ‘निव्वेए’त्ति (सू. ६०१) निर्वेदः–संसारविरक्तता ‘गुरुसाहम्मिय’त्ति गुरूणां साधर्म्मिकाणां सामान्यसाधूनां शुश्रूषणा–सेवा निन्दनं आत्मसाक्षिकं गर्हणं परसाक्षिकम् ‘विणिवट्टणयाए’त्ति व्यवशमनता परस्मिन् क्रोधान्निवर्त्तयति क्रोधोज्झनं, श्रुतसहायता ‘भावे’त्ति हास्यादावप्रतिबद्धता ‘विउसमणम’त्ति विनिवर्त्तनमसंयमस्थानेभ्यः ‘विवित्त’त्ति विविक्तस्त्र्यादिरहितशयनासनसेवनता सा तथा ‘जोगपच्चक्खाण’त्ति योगानां–मनःप्रभृतीनां प्राणातिपातादिषु प्रत्याख्यानं योगप्रत्याख्यानं, ‘सरीर’त्ति विषयवर्जनं वपुःप्रत्याख्यानं, कषायप्रत्या० क्रोधादिवर्जनं ‘संभोगपच्चक्खाणे’त्ति सम्भोगः–स्वान्यलाभमीलनात्मकेन भोग एकमण्डलीभोक्तृत्वमित्यर्थः, तत्प्रत्याख्यानं जिनकल्पादिप्रतिपत्त्या परिहारः ‘उवहि’त्ति उपधिप्रत्या० अधिकोपधिवर्जनं, क्षमा, ‘भावसच्चे’त्ति भावसत्यं पारमार्थिकावितथत्वं, मनस इत्यर्थः,‘एवं जोगसच्चे’त्ति योगा मनोवाक्कायास्तेषां सत्यं योगसत्यं,‘करण’त्ति करणे–प्रतिलेखनादौ यथोक्तविधिकर्तृत्वं करणसत्यम् ‘मणसमन्नाहारणय’त्ति मनसः समिति–सम्यक् अन्विति–स्वावस्थानानुरूपेण आहरणं संक्षेपणं मनस्समन्वाहरणता, एवमितरे अपि, क्रोधविवेकः–क्रोधत्यागः ‘वेयण’त्ति वेदना क्षुधादिव्यथासहनं ‘मारणंति०’ मारणान्तिकोपसर्गसहनेन ॥ १७ शते तृतीयः ॥

‘जहा पढमसए’त्ति (सू. ६०२) यथा प्रथमशतषष्ठोद्देशके, सा चैवम्–‘सा भंते ! ओगाढा कज्जइ?, गो० ! ओगाढा कज्जइ, णो अणोगाढा कज्जइ’ इत्यादि व्याख्या प्राग्वत्, ‘जंसमयं’ यस्मिन् समये प्राणातिपातेन क्रिया-कर्म क्रियते इह स्थाने तस्मि-

१७ श० ३–४ उ.

॥२३४॥

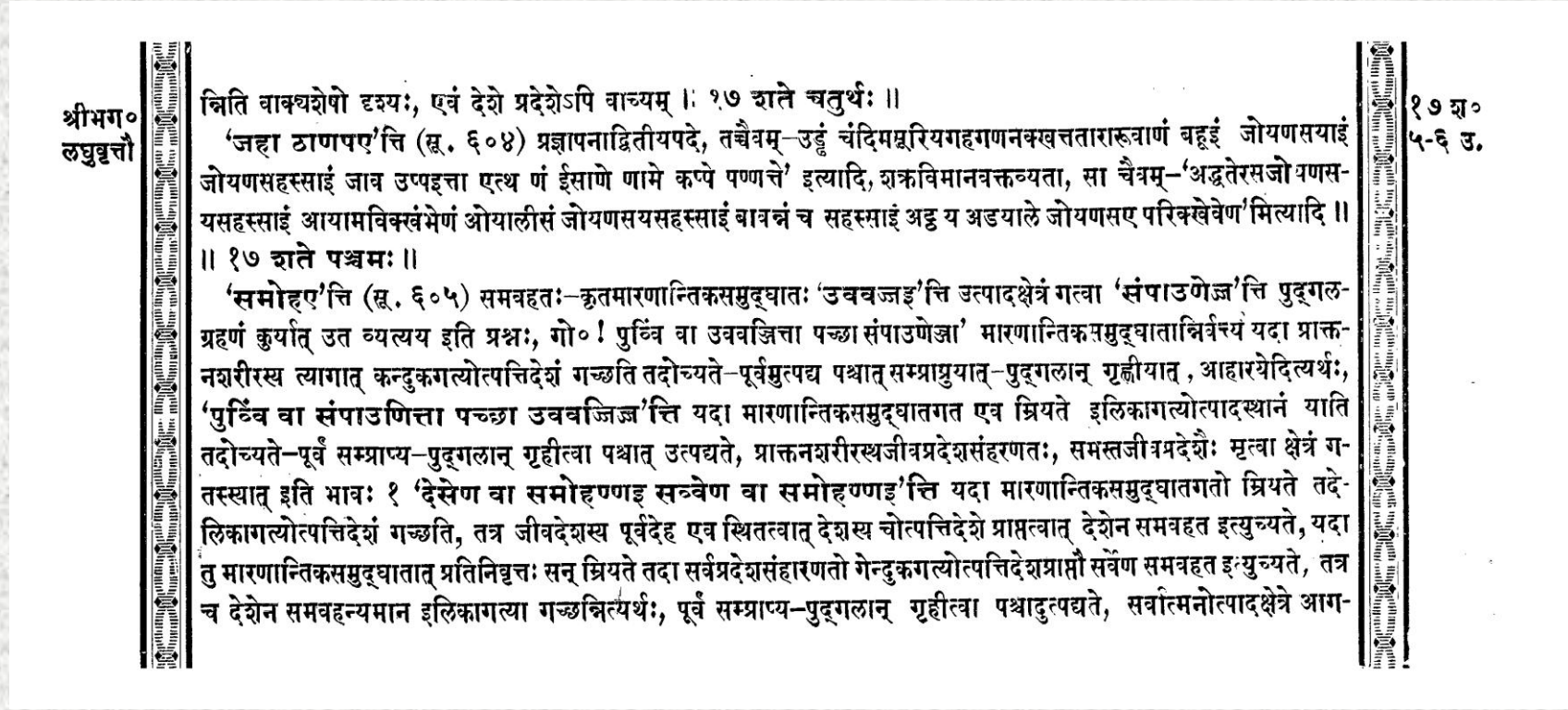

श्रीभग० लघुवृत्तौ

न्निति वाक्यशेषो दृश्यः, एवं देशे प्रदेशेऽपि वाच्यम् ।। १७ शते चतुर्थः ।।

'जहा ठाणपए'त्ति (सू. ६०४) प्रज्ञापनाद्वितीयपदे, तच्चैवम्–उड्ढं चंदिमसूरियगहगणनक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणसयाइं जोयणसहस्साइं जाव उप्पइत्ता एत्थ णं ईसाणे णामे कप्पे पण्णत्ते' इत्यादि, शक्रविमानवक्तव्यता, सा चैवम्–'अद्धतेरसजोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं ओयालीसं जोयणसयसहस्साइं बावन्नं च सहस्साइं अट्ठ य अडयाले जोयणसए परिक्खेवेण'मित्यादि ।।

।। १७ शते पञ्चमः ।।

'समोहए'त्ति (सू. ६०५) समवहतः–कृतमारणान्तिकसमुद्घातः 'उववज्जइ'त्ति उत्पादक्षेत्रं गत्वा 'संपाउणेज्ज'त्ति पुद्गलग्रहणं कुर्यात् उत व्यत्यय इति प्रश्नः, गो० ! पुव्विं वा उववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जा' मारणान्तिकसमुद्घातान्निर्वर्त्य यदा प्राक्तनशरीरस्य त्यागात् कन्दुकगत्योत्पत्तिदेशं गच्छति तदोच्यते–पूर्वमुत्पद्य पश्चात् सम्प्राप्नुयात्–पुद्गलान् गृह्णीयात्, आहारयेदित्यर्थः, 'पुव्विं वा संपाउणित्ता पच्छा उववज्जिज्ज'त्ति यदा मारणान्तिकसमुद्घातगत एव म्रियते इलिकागत्योत्पादस्थानं याति तदोच्यते–पूर्वं सम्प्राप्य–पुद्गलान् गृहीत्वा पश्चात् उत्पद्यते, प्राक्तनशरीरस्थजीवप्रदेशसंहरणतः, समस्तजीवप्रदेशैः मृत्वा क्षेत्रं गतस्यात् इति भावः १ 'देसेण वा समोहण्णइ सव्वेण वा समोहण्णइ'त्ति यदा मारणान्तिकसमुद्घातगतो म्रियते तदेलिकागत्योत्पत्तिदेशं गच्छति, तत्र जीवदेशस्य पूर्वदेह एव स्थितत्वात् देशस्य चोत्पत्तिदेशे प्राप्तत्वात् देशेन समवहत इत्युच्यते, यदा तु मारणान्तिकसमुद्घातात् प्रतिनिवृत्तः सन् म्रियते तदा सर्वप्रदेशसंहारणतो गेन्दुकगत्योत्पत्तिदेशप्राप्तौ सर्वेण समवहत इत्युच्यते, तत्र च देशेन समवहन्यमान इलिकागत्या गच्छन्नित्यर्थः, पूर्वं सम्प्राप्य–पुद्गलान् गृहीत्वा पश्चादुत्पद्यते, सर्वात्मनोत्पादक्षेत्रे आग-

१७ श० ५-६ उ.

प्रत सूत्रांक [६१७-६४८] + गाथा

दीप अनुक्रम [७२१-७५७]

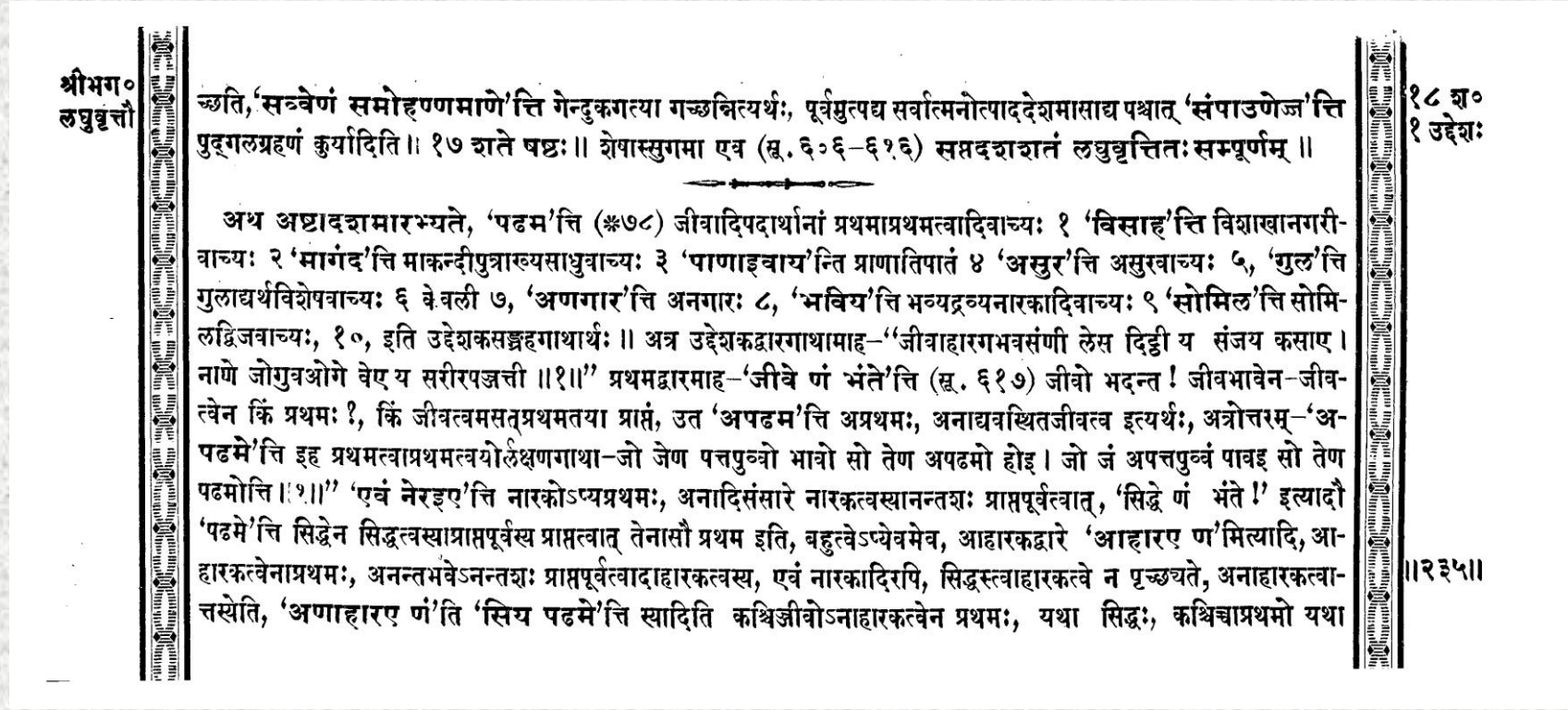

श्रीभग० लघुवृत्तौ

च्छति,'सव्वेणं समोहण्णमाणे'त्ति गेन्दुकगत्या गच्छन्नित्यर्थः, पूर्वमुत्पद्य सर्वात्मनोत्पाददेशमासाद्य पश्चात् 'संपाउणेज्ज'त्ति पुद्गलग्रहणं कुर्यादिति ॥ १७ शते षष्ठः ॥ शेषास्सुगमा एव (सू. ६०६-६१६) सप्तदशशतं लघुवृत्तितः सम्पूर्णम् ॥

अथ अष्टादशमारभ्यते, 'पढम'त्ति (*७८) जीवादिपदार्थानां प्रथमाप्रथमत्वादिवाच्यः १ 'विसाह'त्ति विशाखानगरी-वाच्यः २ 'मागंद'त्ति माकन्दीपुत्राख्यसाधुवाच्यः ३ 'पाणाइवाय'न्ति प्राणातिपातं ४ 'असुर'त्ति असुरवाच्यः ५, 'गुल'त्ति गुलाद्यर्थविशेषवाच्यः ६ केवली ७, 'अणगार'त्ति अनगारः ८, 'भविय'त्ति भव्यद्रव्यनारकादिवाच्यः ९ 'सोमिल'त्ति सोमि-लद्विजवाच्यः, १०, इति उद्देशकसङ्ग्रहगाथार्थः ॥ अत्र उद्देशकद्वारगाथामाह–"जीवाहारगभवसंणी लेस दिट्ठी य संजय कसाए। नाणे जोगुवओगे वेए य सरीरपज्जत्ती ॥१॥" प्रथमद्वारमाह–'जीवे णं भंते'त्ति (सू. ६१७) जीवो भदन्त! जीवभावेन–जीव-त्वेन किं प्रथमः?, किं जीवत्वमसत्प्रथमतया प्राप्तं, उत 'अपढम'त्ति अप्रथमः, अनाद्यवस्थितजीवत्व इत्यर्थः, अत्रोत्तरम्–'अ-पढमे'त्ति इह प्रथमत्वाप्रथमत्वयोर्लक्षणगाथा–जो जेण पत्तपुव्वो भावो सो तेण अपढमो होइ। जो जं अपत्तपुव्वं पावइ सो तेण पढमोत्ति ॥१॥" 'एवं नेरइए'त्ति नारकोऽप्यप्रथमः, अनादिसंसारे नारकत्वस्यानन्तशः प्राप्तपूर्वत्वात्, 'सिद्धे णं भंते!' इत्यादौ 'पढमे'त्ति सिद्धेन सिद्धत्वस्याप्राप्तपूर्वस्य प्राप्तत्वात् तेनासौ प्रथम इति, बहुत्वेऽप्येवमेव, आहारकद्वारे 'आहारए ण'मित्यादि, आ-हारकत्वेनाप्रथमः, अनन्तभवेऽनन्तशः प्राप्तपूर्वत्वादाहारकत्वस्य, एवं नारकादिरपि, सिद्धस्त्वाहारकत्वे न पृच्छ्यते, अनाहारकत्वा-त्तस्येति, 'अणाहारए णं'ति 'सिय पढमे'त्ति स्यादिति कश्चिज्जीवोऽनाहारकत्वेन प्रथमः, यथा सिद्धः, कश्चिच्चाप्रथमो यथा

१८ श० १ उद्देशः

॥२३५॥

*** अत्र शतक-१७ समाप्तं. अथ शतक-१८ आरभ्यते

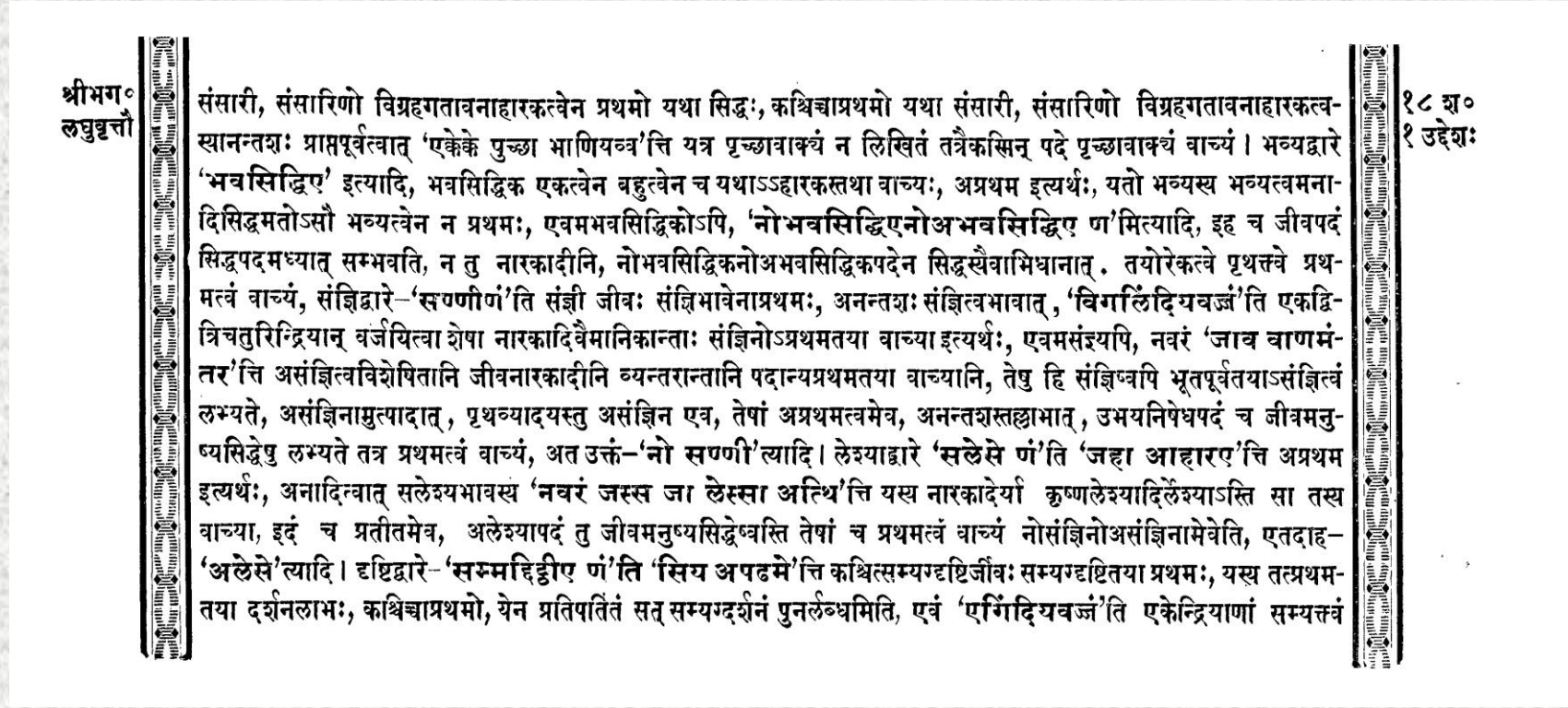

श्रीभग० लघुवृत्तौ

संसारी, संसारिणो विग्रहगतावनाहारकत्वेन प्रथमो यथा सिद्धः, कश्चिच्चाप्रथमो यथा संसारी, संसारिणो विग्रहगतावनाहारकत्वस्यानन्तशः प्राप्तपूर्वत्वात् 'एक्केके पुच्छा भाणियव्व'त्ति यत्र पृच्छावाक्यं न लिखितं तत्रैकस्मिन् पदे पृच्छावाक्यं वाच्यं। भव्यद्वारे 'भवसिद्धिए' इत्यादि, भवसिद्धिक एकत्वेन बहुत्वेन च यथाऽऽहारकस्तथा वाच्यः, अप्रथम इत्यर्थः, यतो भव्यस्य भव्यत्वमनादिसिद्धमतोऽसौ भव्यत्वेन न प्रथमः, एवमभवसिद्धिकोऽपि, 'नोभवसिद्धिएनोअभवसिद्धिए ण'मित्यादि, इह च जीवपदं सिद्धपदमध्यात् सम्भवति, न तु नारकादीनि, नोभवसिद्धिकनोअभवसिद्धिकपदेन सिद्धस्यैवाभिधानात्. तयोरेकत्वे पृथक्त्वे प्रथमत्वं वाच्यं, संज्ञिद्वारे–'सण्णीणं'ति संज्ञी जीवः संज्ञिभावेनाप्रथमः, अनन्तशः संज्ञित्वभावात्, 'विगलिंदियवज्जं'ति एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियान् वर्जयित्वा शेषा नारकादिवैमानिकान्ताः संज्ञिनोऽप्रथमतया वाच्या इत्यर्थः, एवमसंज्ञ्यपि, नवरं 'जाव वाणमंतर'त्ति असंज्ञित्वविशेषितानि जीवनारकादीनि व्यन्तरान्तानि पदान्यप्रथमतया वाच्यानि, तेषु हि संज्ञिष्वपि भूतपूर्वतयाऽसंज्ञित्वं लभ्यते, असंज्ञिनामुत्पादात्, पृथव्यादयस्तु असंज्ञिन एव, तेषां अप्रथमत्वमेव, अनन्तशस्तल्लाभात्, उभयनिषेधपदं च जीवमनुष्यसिद्धेषु लभ्यते तत्र प्रथमत्वं वाच्यं, अत उक्तं–'नो सण्णी'त्यादि। लेश्याद्वारे 'सलेसे णं'ति 'जहा आहारए'त्ति अप्रथम इत्यर्थः, अनादित्वात् सलेश्यभावस्य 'नवरं जस्स जा लेस्सा अत्थि'त्ति यस्य नारकादेर्या कृष्णलेश्यादिर्लेश्याऽस्ति सा तस्य वाच्या, इदं च प्रतीतमेव, अलेश्यापदं तु जीवमनुष्यसिद्धेष्वस्ति तेषां च प्रथमत्वं वाच्यं नोसंज्ञिनोअसंज्ञिनामेवेति, एतदाह–'अलेसे'त्यादि। दृष्टिद्वारे–'सम्मद्दिट्ठीए णं'ति 'सिय अपढमे'त्ति कश्चित्सम्यग्दृष्टिर्जीवः सम्यग्दृष्टितया प्रथमः, यस्य तत्प्रथमतया दर्शनलाभः, कश्चिच्चाप्रथमो, येन प्रतिपतितं सत् सम्यग्दर्शनं पुनर्लब्धमिति, एवं 'एगिंदियवज्जं'ति एकेन्द्रियाणां सम्यक्त्वं

१८ श० १ उद्देशः

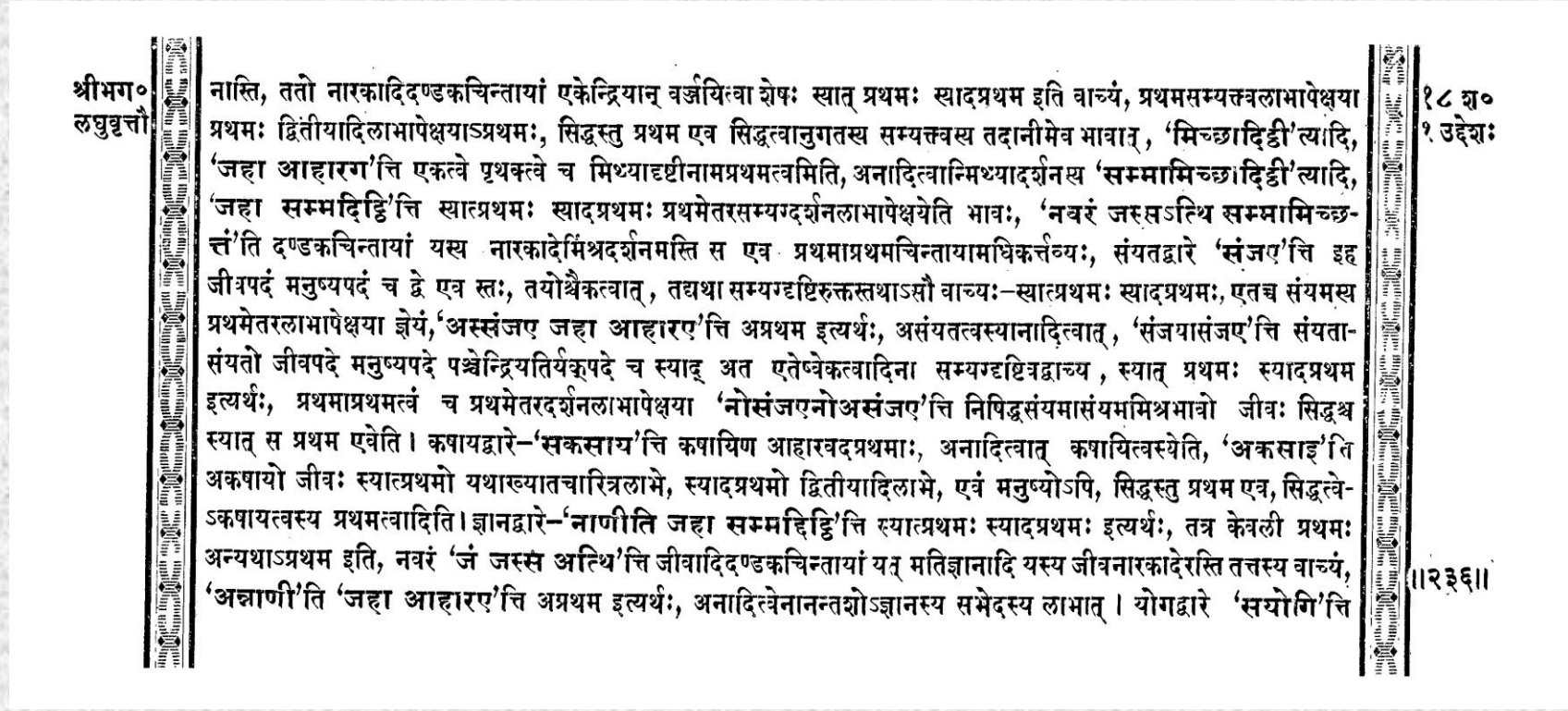

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नास्ति, ततो नारकादिदण्डकचिन्तायां एकेन्द्रियान् वर्जयित्वा शेषः स्यात् प्रथमः स्यादप्रथम इति वाच्यं, प्रथमसम्यक्त्वलाभापेक्षया प्रथमः द्वितीयादिलाभापेक्षयाऽप्रथमः, सिद्धस्तु प्रथम एव सिद्धत्वानुगतस्य सम्यक्त्वस्य तदानीमेव भावात्, ‘मिच्छादिट्ठी’त्यादि, ‘जहा आहारग’त्ति एकत्वे पृथक्त्वे च मिथ्यादृष्टीनामप्रथमत्वमिति, अनादित्वान्मिथ्यादर्शनस्य **‘सम्मामिच्छादिट्ठी’**त्यादि, ‘जहा सम्मदिट्ठि’त्ति स्यात्प्रथमः स्यादप्रथमः प्रथमेतरसम्यग्दर्शनलाभापेक्षयेति भावः, **‘नवरं जस्सऽत्थि सम्मामिच्छत्तं’**ति दण्डकचिन्तायां यस्य नारकादेर्मिश्रदर्शनमस्ति स एव प्रथमाप्रथमचिन्तायामधिकर्त्तव्यः, संयतद्वारे **‘संजए’**त्ति इह जीवपदं मनुष्यपदं च द्वे एव स्तः, तयोश्चैकत्वात्, तद्यथा सम्यग्दृष्टिरुक्तस्तथाऽसौ वाच्यः–स्यात्प्रथमः स्यादप्रथमः, एतच्च संयमस्य प्रथमेतरलाभापेक्षया ज्ञेयं,**‘अस्संजए जहा आहारए’**त्ति अप्रथम इत्यर्थः, असंयतत्वस्यानादित्वात्, ‘संजयासंजए’त्ति संयतासंयतो जीवपदे मनुष्यपदे पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पदे च स्याद् अत एतेष्वेकत्वादिना सम्यग्दृष्टिवद्वाच्य, स्यात् प्रथमः स्यादप्रथम इत्यर्थः, प्रथमाप्रथमत्वं च प्रथमेतरदर्शनलाभापेक्षया **‘नोसंजएनोअसंजए’**त्ति निषिद्धसंयमासंयममिश्रभावो जीवः सिद्धश्च स्यात् स प्रथम एवेति। कषायद्वारे–**‘सकसाय’**त्ति कषायिण आहारवदप्रथमाः, अनादित्वात् कषायित्वस्येति, ‘अकसाइ’त्ति अकषायो जीवः स्यात्प्रथमो यथाख्यातचारित्रलाभे, स्यादप्रथमो द्वितीयादिलाभे, एवं मनुष्योऽपि, सिद्धस्तु प्रथम एव, सिद्धत्वेऽकषायत्वस्य प्रथमत्वादिति। ज्ञानद्वारे–**‘नाणीति जहा सम्मदिट्ठि’**त्ति स्यात्प्रथमः स्यादप्रथमः इत्यर्थः, तत्र केवली प्रथमः अन्यथाऽप्रथम इति, नवरं ‘जं जस्स अत्थि’त्ति जीवादिदण्डकचिन्तायां यत् मतिज्ञानादि यस्य जीवनारकादेरस्ति तत्तस्य वाच्यं, ‘अन्नाणी’ति ‘जहा आहारए’त्ति अप्रथम इत्यर्थः, अनादित्वेनानन्तशोऽज्ञानस्य सभेदस्य लाभात्। योगद्वारे ‘सयोगि’त्ति

१८ श० १ उद्देशः

॥२३६॥

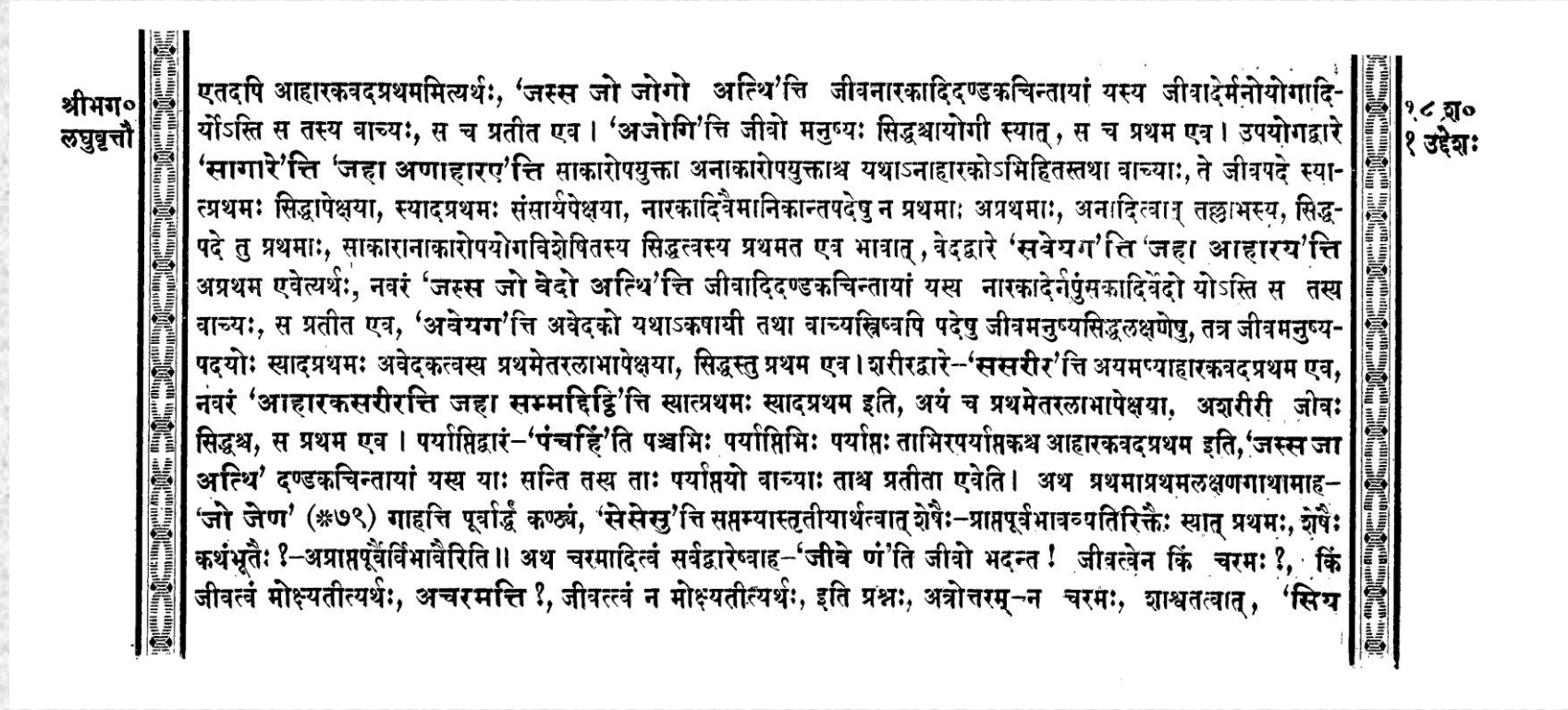

श्रीभग० लघुवृत्तौ

एतदपि आहारकवदप्रथममित्यर्थः, 'जस्स जो जोगो अत्थि'त्ति जीवनारकादिदण्डकचिन्तायां यस्य जीवादेर्मनोयोगादियोंऽस्ति स तस्य वाच्यः, स च प्रतीत एव। 'अजोगि'त्ति जीवो मनुष्यः सिद्धश्चायोगी स्यात्, स च प्रथम एव। उपयोगद्वारे 'सागारे'त्ति 'जहा अणाहारए'त्ति साकारोपयुक्ता अनाकारोपयुक्ताश्च यथाऽनाहारकोऽभिहितस्तथा वाच्याः, ते जीवपदे स्यात्प्रथमः सिद्धापेक्षया, स्यादप्रथमः संसार्यपेक्षया, नारकादिवैमानिकान्तपदेषु न प्रथमाः अप्रथमाः, अनादित्वात् तल्लाभस्य, सिद्धपदे तु प्रथमाः, साकारानाकारोपयोगविशेषितस्य सिद्धत्वस्य प्रथमत एव भावात्, वेदद्वारे 'सवेयग'त्ति 'जहा आहारय'त्ति अप्रथम एवेत्यर्थः, नवरं 'जस्स जो वेदो अत्थि'त्ति जीवादिदण्डकचिन्तायां यस्य नारकादेर्नपुंसकादिर्वेदो योऽस्ति स तस्य वाच्यः, स प्रतीत एव, 'अवेयग'त्ति अवेदको यथाऽकषायी तथा वाच्यस्त्रिष्वपि पदेषु जीवमनुष्यसिद्धलक्षणेषु, तत्र जीवमनुष्यपदयोः स्यादप्रथमः अवेदकत्वस्य प्रथमेतरलाभापेक्षया, सिद्धस्तु प्रथम एव। शरीरद्वारे-'ससरीर'त्ति अयमप्याहारकवदप्रथम एव, नवरं 'आहारकसरीरत्ति जहा सम्मद्दिट्ठि'त्ति स्यात्प्रथमः स्यादप्रथम इति, अयं च प्रथमेतरलाभापेक्षया, अशरीरी जीवः सिद्धश्च, स प्रथम एव। पर्याप्तिद्वारं-'पंचहिं'ति पञ्चभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः ताभिरपर्याप्तकश्च आहारकवदप्रथम इति, 'जस्स जा अत्थि' दण्डकचिन्तायां यस्य याः सन्ति तस्य ताः पर्याप्तयो वाच्याः ताश्च प्रतीता एवेति। अथ प्रथमाप्रथमलक्षणगाथामाह-'जो जेण' (*७९) गाहत्ति पूर्वार्द्धं कण्ठ्यं, 'सेसेसु'त्ति सप्तम्यास्तृतीयार्थत्वात् शेषैः-प्राप्तपूर्वभावव्यतिरिक्तैः स्यात् प्रथमः, शेषैः कथंभूतैः ?-अप्राप्तपूर्वैर्विभावैरिति॥ अथ चरमादित्वं सर्वद्वारेष्वाह-'जीवे णं'ति जीवो भदन्त! जीवत्वेन किं चरमः ?, किं जीवत्वं मोक्ष्यतीत्यर्थः, अचरमत्ति ?, जीवत्वं न मोक्ष्यतीत्यर्थः, इति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्-न चरमः, शाश्वतत्वात्, 'सिय

१८ श० १ उद्देशः

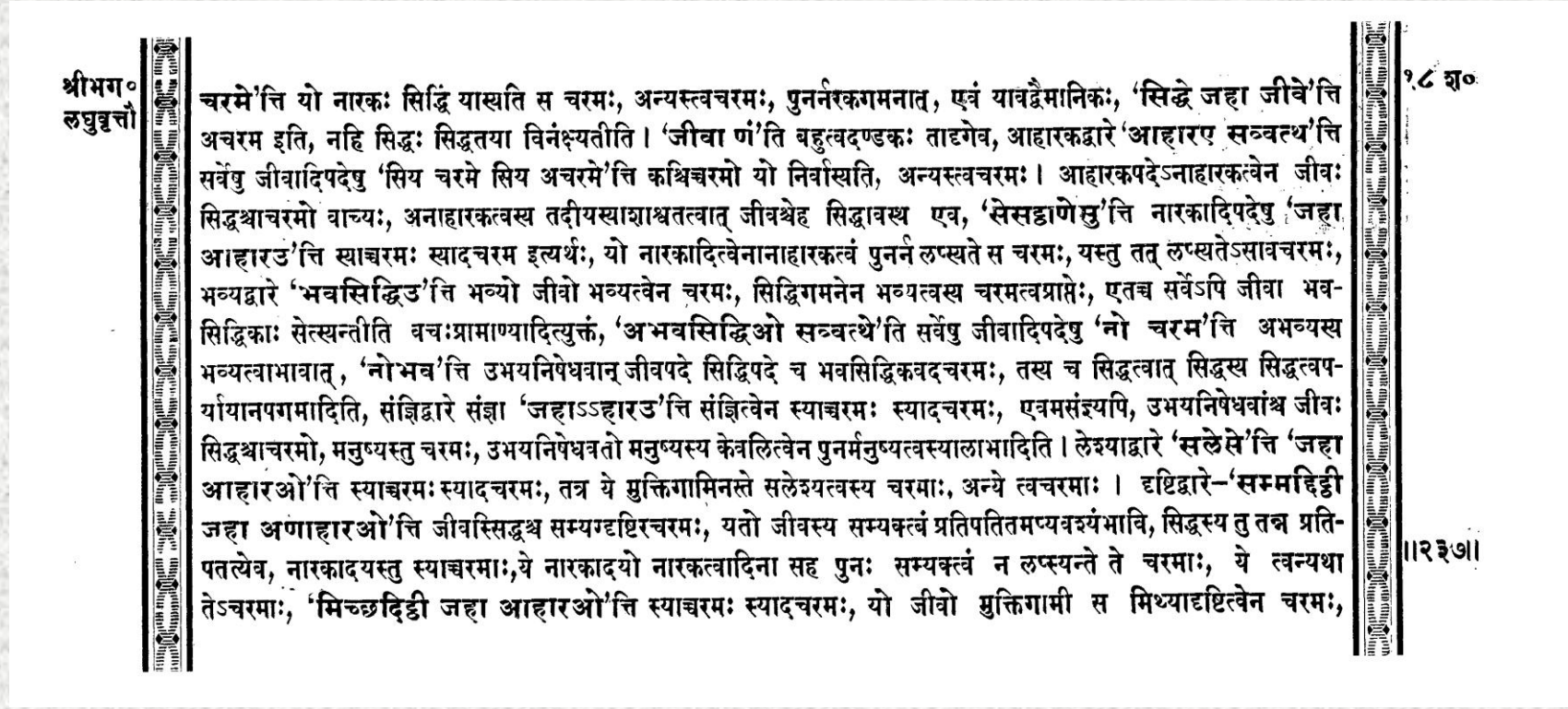

श्रीभग० लघुवृत्तौ

चरमे'त्ति यो नारकः सिद्धिं यास्यति स चरमः, अन्यस्त्वचरमः, पुनर्नरकगमनात्, एवं यावद्वैमानिकः, 'सिद्धे जहा जीवे'त्ति अचरम इति, नहि सिद्धः सिद्धतया विनंक्ष्यतीति। 'जीवा णं'ति बहुत्वदण्डकः तादृगेव, आहारकद्वारे 'आहारए सव्वत्थ'त्ति सर्वेषु जीवादिपदेषु 'सिय चरमे सिय अचरमे'त्ति कश्चिच्चरमो यो निर्वास्यति, अन्यस्त्वचरमः। आहारकपदेऽनाहारकत्वेन जीवः सिद्धश्चाचरमो वाच्यः, अनाहारकत्वस्य तदीयस्याशाश्वतत्वात् जीवश्चेह सिद्धावस्थ एव, 'सेसट्ठाणेसु'त्ति नारकादिपदेषु 'जहा आहारउ'त्ति स्याच्चरमः स्यादचरम इत्यर्थः, यो नारकादित्वेनानाहारकत्वं पुनर्न लप्स्यते स चरमः, यस्तु तत् लप्स्यतेऽसावचरमः, भव्यद्वारे 'भवसिद्धिउ'त्ति भव्यो जीवो भव्यत्वेन चरमः, सिद्धिगमनेन भव्यत्वस्य चरमत्वप्राप्तेः, एतच्च सर्वेऽपि जीवा भवसिद्धिकाः सेत्स्यन्तीति वचःप्रामाण्यादित्युक्तं, 'अभवसिद्धिओ सव्वत्थे'ति सर्वेषु जीवादिपदेषु 'नो चरम'त्ति अभव्यस्य भव्यत्वाभावात्, 'नोभव'त्ति उभयनिषेधवान् जीवपदे सिद्धिपदे च भवसिद्धिकवदचरमः, तस्य च सिद्धत्वात् सिद्धस्य सिद्धत्वपर्यायानपगमादिति, संज्ञिद्वारे संज्ञा 'जहाऽऽहारउ'त्ति संज्ञित्वेन स्याच्चरमः स्यादचरमः, एवमसंज्ञ्यपि, उभयनिषेधवांश्च जीवः सिद्धश्चाचरमो, मनुष्यस्तु चरमः, उभयनिषेधवतो मनुष्यस्य केवलित्वेन पुनर्मनुष्यत्वस्यालाभादिति। लेश्याद्वारे 'सलेसे'त्ति 'जहा आहारओ'त्ति स्याच्चरमः स्यादचरमः, तत्र ये मुक्तिगामिनस्ते सलेश्यत्वस्य चरमाः, अन्ये त्वचरमाः। दृष्टिद्वारे–'सम्मद्दिट्ठी जहा अणाहारओ'त्ति जीवस्सिद्धश्च सम्यग्दृष्टिरचरमः, यतो जीवस्य सम्यक्त्वं प्रतिपतितमप्यवश्यंभावि, सिद्धस्य तु तन्न प्रतिपतत्येव, नारकादयस्तु स्याच्चरमाः,ये नारकादयो नारकत्वादिना सह पुनः सम्यक्त्वं न लप्स्यन्ते ते चरमाः, ये त्वन्यथा तेऽचरमाः, 'मिच्छदिट्ठी जहा आहारओ'त्ति स्याच्चरमः स्यादचरमः, यो जीवो मुक्तिगामी स मिथ्यादृष्टित्वेन चरमः,

१८ श०

॥२३७॥

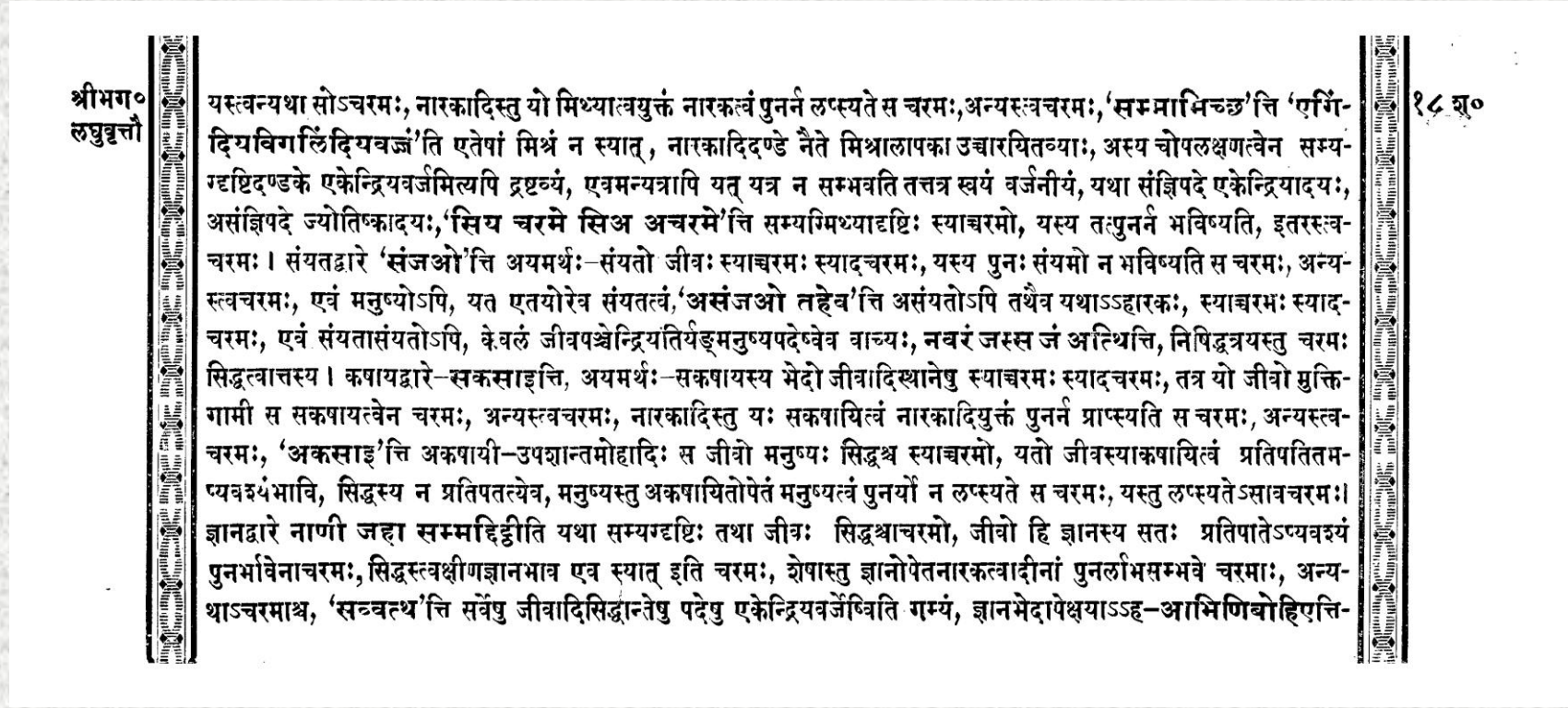

श्रीभग० लघुवृत्तौ

यस्त्वन्यथा सोऽचरमः, नारकादिस्तु यो मिथ्यात्वयुक्तं नारकत्वं पुनर्न लप्स्यते स चरमः,अन्यस्त्वचरमः,'सम्मामिच्छ'त्ति 'एगिंदियविगलिंदियवज्जं'ति एतेषां मिश्रं न स्यात्, नारकादिदण्डे नैते मिश्रालापका उच्चारयितव्याः, अस्य चोपलक्षणत्वेन सम्यग्दृष्टिदण्डके एकेन्द्रियवर्जमित्यपि द्रष्टव्यं, एवमन्यत्रापि यत् यत्र न सम्भवति तत्तत्र स्वयं वर्जनीयं, यथा संज्ञिपदे एकेन्द्रियादयः, असंज्ञिपदे ज्योतिष्कादयः,'**सिय चरमे सिअ अचरमे**'त्ति सम्यग्मिथ्यादृष्टिः स्याच्चरमो, यस्य तत्पुनर्न भविष्यति, इतरस्त्वचरमः। संयतद्वारे '**संजओ**'त्ति अयमर्थः–संयतो जीवः स्याच्चरमः स्यादचरमः, यस्य पुनः संयमो न भविष्यति स चरमः, अन्यस्त्वचरमः, एवं मनुष्योऽपि, यत एतयोरेव संयतत्वं,'**असंजओ तहेव**'त्ति असंयतोऽपि तथैव यथाऽऽहारकः, स्याच्चरमः स्यादचरमः, एवं संयतासंयतोऽपि, केवलं जीवपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यपदेष्वेव वाच्यः, **नवरं जस्स जं अत्थित्ति**, निषिद्धत्रयस्तु चरमः सिद्धत्वात्तस्य। कषायद्वारे–**सकसाइ**त्ति, अयमर्थः–सकषायस्य भेदो जीवादिस्थानेषु स्याच्चरमः स्यादचरमः, तत्र यो जीवो मुक्तिगामी स सकषायत्वेन चरमः, अन्यस्त्वचरमः, नारकादिस्तु यः सकषायित्वं नारकादियुक्तं पुनर्न प्राप्स्यति स चरमः, अन्यस्त्वचरमः, '**अकसाइ**'त्ति अकषायी–उपशान्तमोहादिः स जीवो मनुष्यः सिद्धश्च स्याच्चरमो, यतो जीवस्याकषायित्वं प्रतिपतितमप्यवश्यंभावि, सिद्धस्य न प्रतिपतत्येव, मनुष्यस्तु अकषायितोपेतं मनुष्यत्वं पुनर्यो न लप्स्यते स चरमः, यस्तु लप्स्यतेऽसावचरमः। ज्ञानद्वारे **नाणी जहा सम्मद्दिट्ठी**ति यथा सम्यग्दृष्टिः तथा जीवः सिद्धश्चाचरमो, जीवो हि ज्ञानस्य सतः प्रतिपातेऽप्यवश्यं पुनर्भावेनाचरमः, सिद्धस्त्वक्षीणज्ञानभाव एव स्यात् इति चरमः, शेषास्तु ज्ञानोपेतनारकत्वादीनां पुनर्लाभसम्भवे चरमाः, अन्यथाऽचरमाश्च, '**सव्वत्थ**'त्ति सर्वेषु जीवादिसिद्धान्तेषु पदेषु एकेन्द्रियवर्जेष्विति गम्यं, ज्ञानभेदापेक्षयाऽऽह–**आभिणिबोहिए**त्ति-

१८ श०

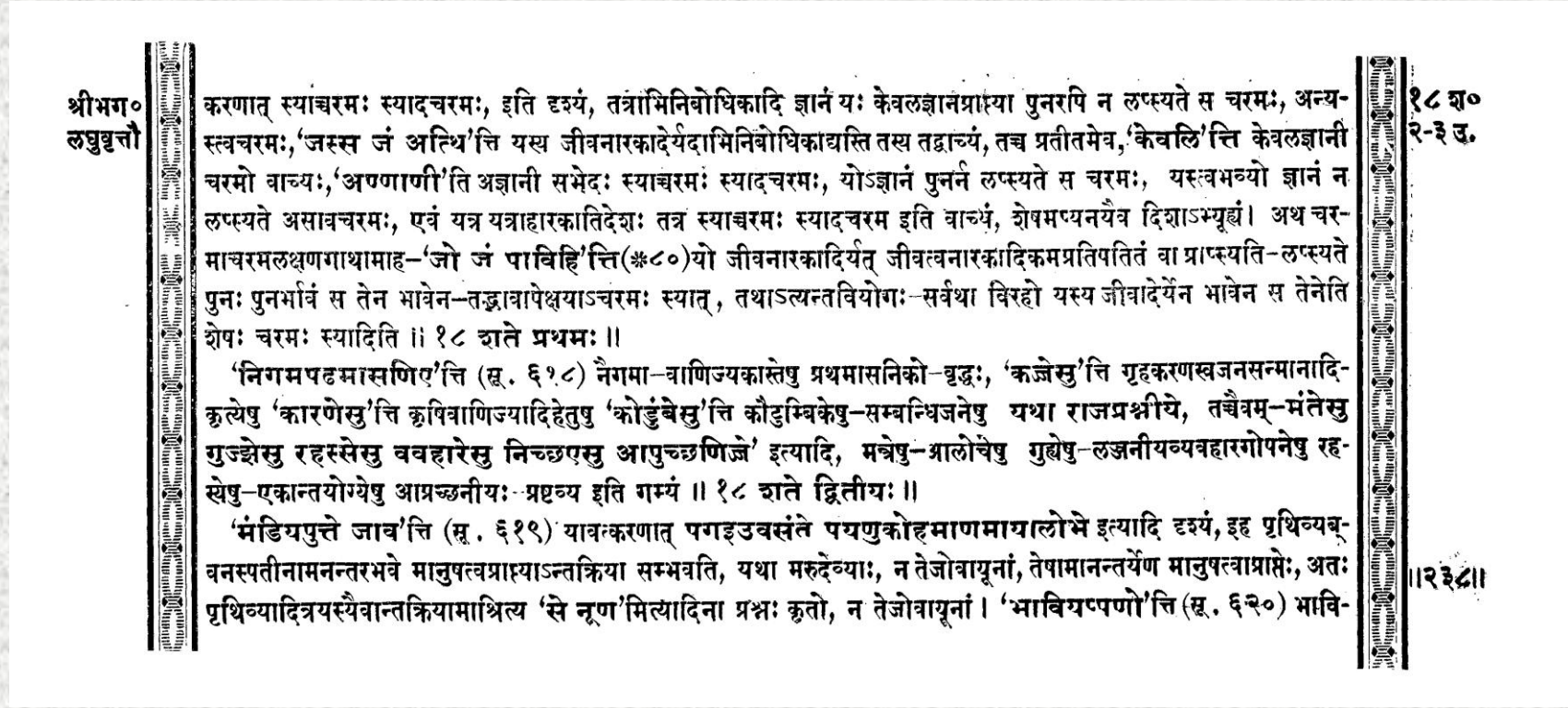

श्रीभग० लघुवृत्तौ

करणात् स्याच्चरमः स्यादचरमः, इति दृश्यं, तत्राभिनिबोधिकादि ज्ञानं यः केवलज्ञानप्राप्त्या पुनरपि न लप्स्यते स चरमः, अन्यस्त्वचरमः,'जस्स जं अत्थि'त्ति यस्य जीवनारकादेर्यदाभिनिबोधिकाद्यस्ति तस्य तद्वाच्यं, तच्च प्रतीतमेव,'केवलि'त्ति केवलज्ञानी चरमो वाच्यः,'अण्णाणी'ति अज्ञानी सभेदः स्याच्चरमः स्यादचरमः, योऽज्ञानं पुनर्न लप्स्यते स चरमः, यस्त्वभव्यो ज्ञानं न लप्स्यते असावचरमः, एवं यत्र यत्राहारकातिदेशः तत्र स्याच्चरमः स्यादचरम इति वाच्यं, शेषमप्यनयैव दिशाऽभ्यूह्यं। अथ चरमाचरमलक्षणगाथामाह–'जो जं पाविहि'त्ति(*८०)यो जीवनारकादिर्यत् जीवत्वनारकादिकमप्रतिपतितं वा प्राप्स्यति–लप्स्यते पुनः पुनर्भावं स तेन भावेन–तद्भावापेक्षयाऽचरमः स्यात्, तथाऽत्यन्तवियोगः–सर्वथा विरहो यस्य जीवादेर्येन भावेन स तेनेति शेषः चरमः स्यादिति ॥ १८ शते प्रथमः ॥

'निगमपढमासणिए'त्ति (सू. ६१८) नैगमा–वाणिज्यकास्तेषु प्रथमासनिको–वृद्धः, 'कज्जेसु'त्ति गृहकरणस्वजनसन्मानादिकृत्येषु 'कारणेसु'त्ति कृषिवाणिज्यादिहेतुषु 'कोडुंबेसु'त्ति कौटुम्बिकेषु–सम्बन्धिजनेषु यथा राजप्रश्नीये, तच्चैवम्–मंतेसु गुज्झेसु रहस्सेसु ववहारेसु निच्छएसु आपुच्छणिज्जे' इत्यादि, मन्त्रेषु–आलोचेषु गुह्येषु–लज्जनीयव्यवहारगोपनेषु रहस्येषु–एकान्तयोग्येषु आप्रच्छनीयः–प्रष्टव्य इति गम्यं ॥ १८ शते द्वितीयः ॥

'मंडियपुत्ते जाव'त्ति (सू. ६१९) यावत्करणात् पगइउवसंते पयणुकोहमाणमायालोभे इत्यादि दृश्यं, इह पृथिव्यब्वनस्पतीनामनन्तरभवे मानुषत्वप्राप्त्याऽन्तक्रिया सम्भवति, यथा मरुदेव्याः, न तेजोवायूनां, तेषामानन्तर्येण मानुषत्वाप्राप्तेः, अतः पृथिव्यादित्रयस्यैवान्तक्रियामाश्रित्य 'से नूण'मित्यादिना प्रश्नः कृतो, न तेजोवायूनां। 'भावियप्पणो'त्ति (सू. ६२०) भावि-

१८ श० २-३ उ.

॥२३८॥

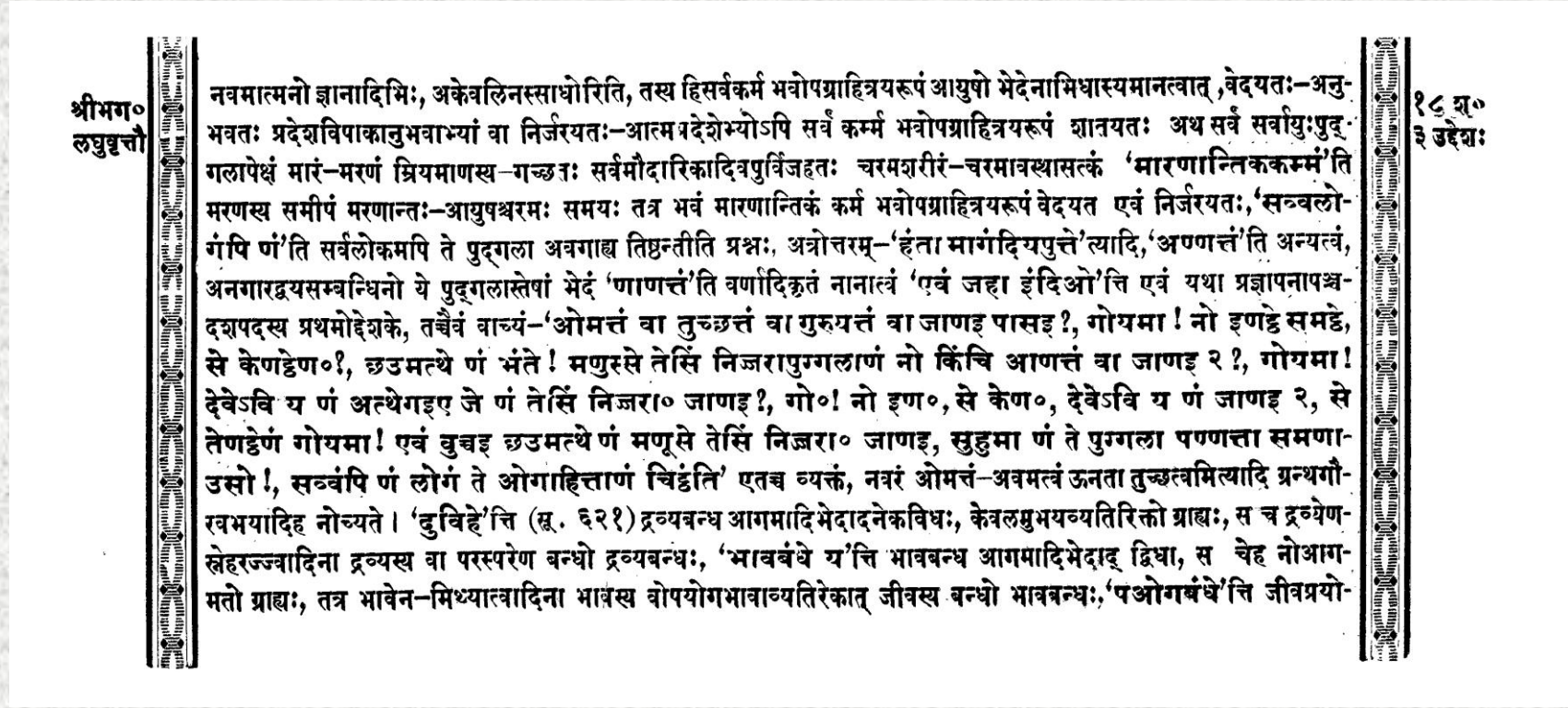

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नवमात्मनो ज्ञानादिभिः, अकेवलिनस्साधोरिति, तस्य हिसर्वकर्म भवोपग्राहित्रयरूपं आयुषो भेदेनाभिधास्यमानत्वात् ,वेदयतः–अनुभवतः प्रदेशविपाकानुभवाभ्यां वा निर्जरयतः–आत्मप्रदेशेभ्योऽपि सर्वं कर्म्म भवोपग्राहित्रयरूपं शातयतः अथ सर्वं सर्वायुःपुद्गलापेक्षं मारं–मरणं म्रियमाणस्य–गच्छतः सर्वमौदारिकादिवपुर्विजहतः चरमशरीरं–चरमावस्थासत्कं **'मारणान्तिककम्मं'**ति मरणस्य समीपं मरणान्तः–आयुषश्चरमः समयः तत्र भवं मारणान्तिकं कर्म भवोपग्राहित्रयरूपं वेदयत एवं निर्जरयतः,**'सव्वलोगंपि णं'**ति सर्वलोकमपि ते पुद्गला अवगाह्य तिष्ठन्तीति प्रश्नः, अत्रोत्तरम्–**'हंता मागंदियपुत्ते'**त्यादि,**'अण्णत्तं'**ति अन्यत्वं, अनगारद्वयसम्बन्धिनो ये पुद्गलास्तेषां भेदं **'णाणत्तं'**ति वर्णादिकृतं नानात्वं **'एवं जहा इंदिओ'**त्ति एवं यथा प्रज्ञापनापञ्चदशपदस्य प्रथमोद्देशके, तचैवं वाच्यं–**'ओमत्तं वा तुच्छत्तं वा गुरुयत्तं वा जाणइ पासइ?, गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेण०?, छउमत्थे णं भंते! मणुस्से तेसिं निज्जरापुग्गलाणं नो किंचि आणत्तं वा जाणइ २?, गोयमा! देवेऽवि य णं अत्थेगइए जे णं तेसिं निज्जरा० जाणइ?, गो०! नो इण०, से केण०, देवेऽवि य णं जाणइ २, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुचइ छउमत्थे णं मणूसे तेसिं निज्जरा० जाणइ, सुहुमा णं ते पुग्गला पण्णत्ता समणाउसो!, सव्वंपि णं लोगं ते ओगाहित्ताणं चिट्ठंति'** एतच्च व्यक्तं, नवरं ओमत्तं–अवमत्वं ऊनता तुच्छत्वमित्यादि ग्रन्थगौरवभयादिह नोच्यते। **'दुविहे'**त्ति (सू. ६२१) द्रव्यबन्ध आगमादिभेदादनेकविधः, केवलमुभयव्यतिरिक्तो ग्राह्यः, स च द्रव्येणस्नेहरज्ज्वादिना द्रव्यस्य वा परस्परेण बन्धो द्रव्यबन्धः, **'भावबंधे य'**त्ति भावबन्ध आगमादिभेदाद् द्विधा, स चेह नोआगमतो ग्राह्यः, तत्र भावेन–मिथ्यात्वादिना भावस्य वोपयोगभावाव्यतिरेकात् जीवस्य बन्धो भावबन्धः,**'पओगबंधे'**त्ति जीवप्रयो-

१८ श० ३ उद्देशः

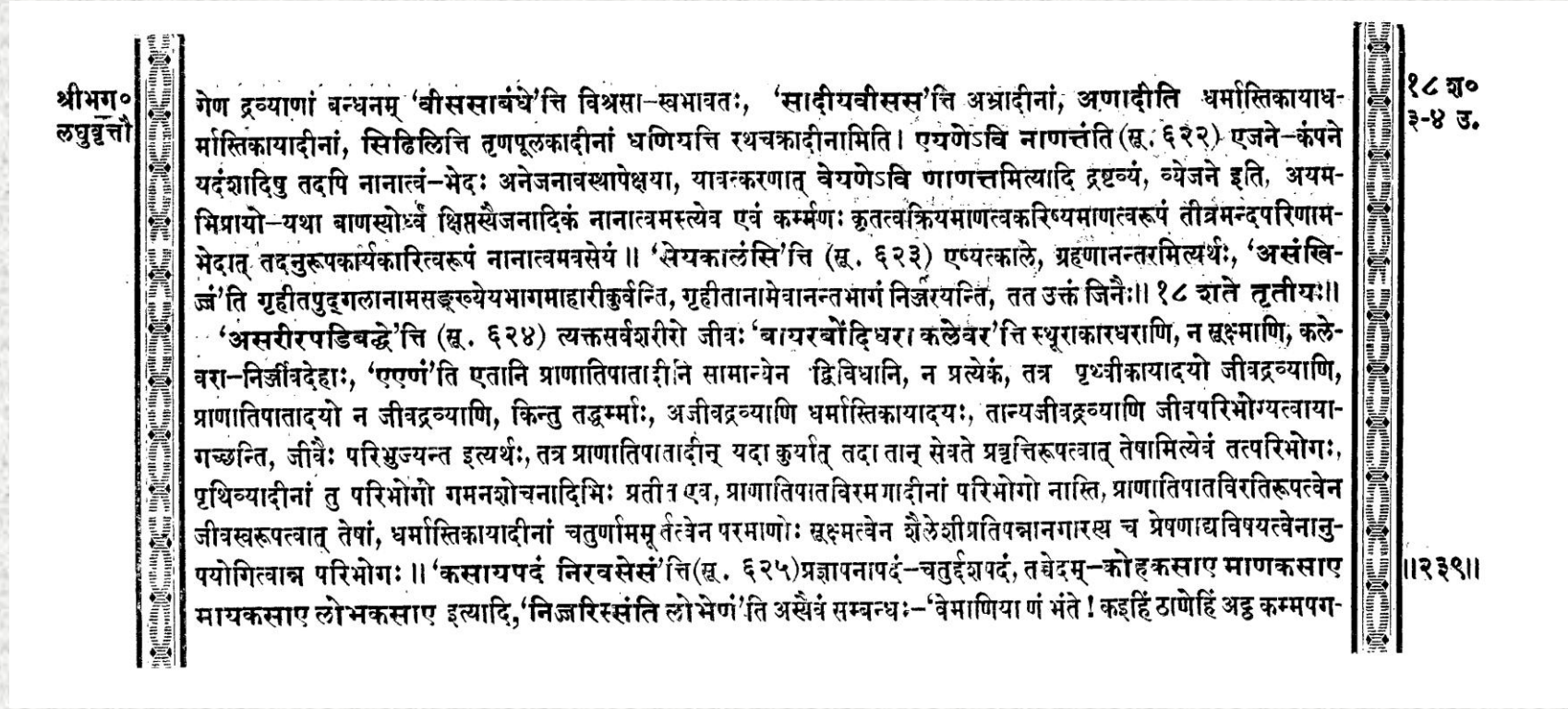

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गेण द्रव्याणां बन्धनम् ‘बीससाबंधे’त्ति विश्रसा–स्वभावतः, ‘सादीयवीसस’त्ति अभ्रादीनां, अणादीति धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायादीनां, सिढिलित्ति तृणपूलकादीनां धणियत्ति रथचक्रादीनामिति। एयणेऽवि नाणत्तंति (सू. ६२२) एजने–कंपने यदंशादिषु तदपि नानात्वं–भेदः अनेजनावस्थापेक्षया, यावत्करणात् वेयणेऽवि णाणत्तमित्यादि द्रष्टव्यं, व्येजने इति, अयमभिप्रायो–यथा बाणस्योर्ध्वं क्षिप्तस्यैजनादिकं नानात्वमस्त्येव एवं कर्म्मणः कृतत्वक्रियमाणत्वकरिष्यमाणत्वरूपं तीव्रमन्दपरिणामभेदात् तदनुरूपकार्यकारित्वरूपं नानात्वमवसेयं ॥ ‘सेयकालंसि’त्ति (सू. ६२३) एष्यत्काले, ग्रहणानन्तरमित्यर्थः, ‘असंखिज्जं’ति गृहीतपुद्गलानामसङ्ख्येयभागमाहारीकुर्वन्ति, गृहीतानामेवानन्तभागं निर्जरयन्ति, तत उक्तं जिनैः॥ १८ शते तृतीयः॥

‘असरीरपडिबद्धे’त्ति (सू. ६२४) त्यक्तसर्वशरीरो जीवः ‘बायरबोंदिधरा कलेवर’त्ति स्थूराकारधराणि, न सूक्ष्माणि, कलेवरा–निर्जीवदेहाः, ‘एएणं’ति एतानि प्राणातिपातादीनि सामान्येन द्विविधानि, न प्रत्येकं, तत्र पृथ्वीकायादयो जीवद्रव्याणि, प्राणातिपातादयो न जीवद्रव्याणि, किन्तु तद्धर्म्माः, अजीवद्रव्याणि धर्मास्तिकायादयः, तान्यजीवद्रव्याणि जीवपरिभोग्यत्वायागच्छन्ति, जीवैः परिभुज्यन्त इत्यर्थः, तत्र प्राणातिपातादीन् यदा कुर्यात् तदा तान् सेवते प्रवृत्तिरूपत्वात् तेषामित्येवं तत्परिभोगः, पृथिव्यादीनां तु परिभोगो गमनशोचनादिभिः प्रतीत एव, प्राणातिपातविरमणादीनां परिभोगो नास्ति, प्राणातिपातविरतिरूपत्वेन जीवस्वरूपत्वात् तेषां, धर्मास्तिकायादीनां चतुर्णाममूर्तत्वेन परमाणोः सूक्ष्मत्वेन शैलेशीप्रतिपन्नानगारस्य च प्रेषणाद्यविषयत्वेनानुपयोगित्वान्न परिभोगः ॥ ‘कसायपदं निरवसेसं’त्ति(सू. ६२५)प्रज्ञापनापदं–चतुर्दशपदं, तच्चेदम्–कोहकसाए माणकसाए मायकसाए लोभकसाए इत्यादि,‘निज्जरिस्संति लोभेणं’ति अस्यैवं सम्बन्धः–‘वेमाणिया णं भंते ! कइहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपग-

१८ श० ३-४ उ.

॥२३९॥

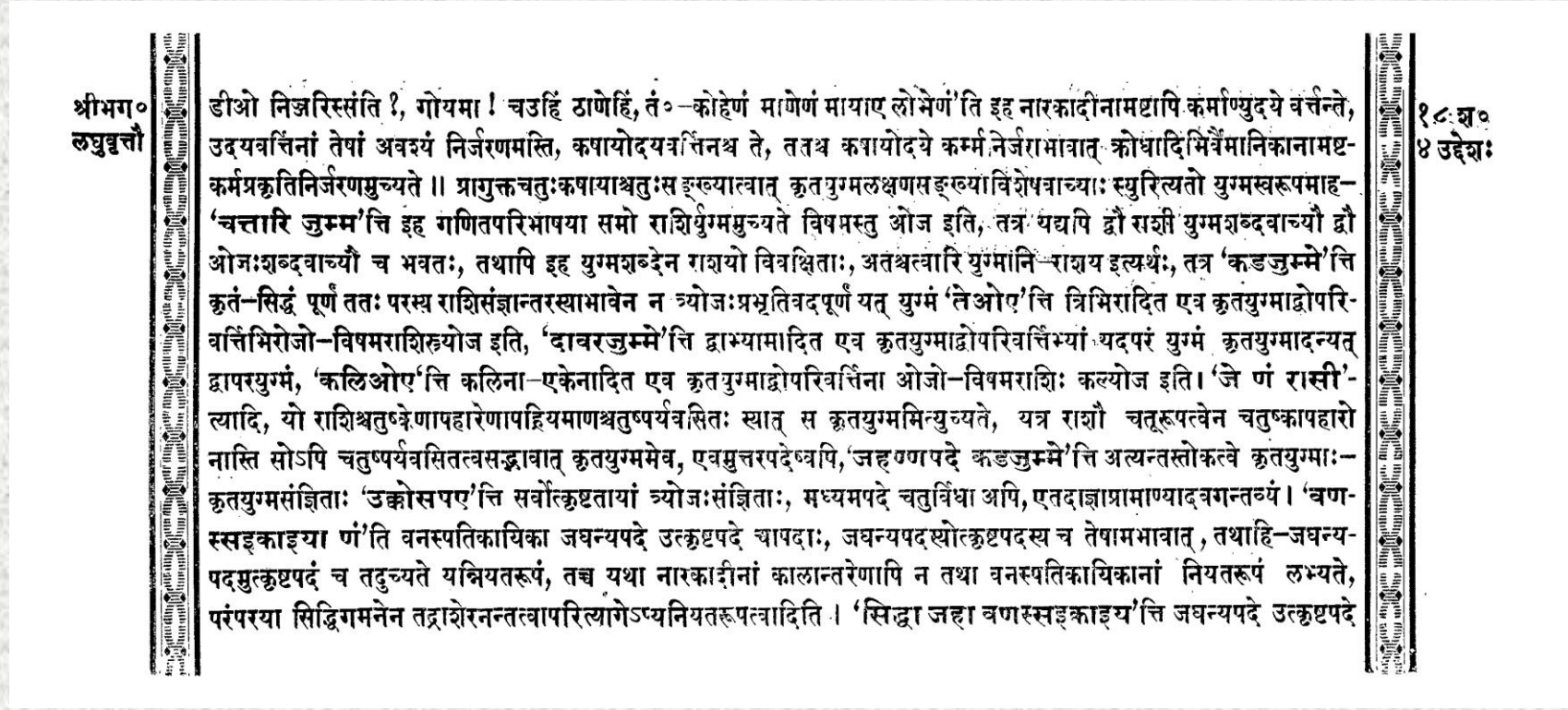

श्रीभग० लघुवृत्तौ

डीओ निज्जरिस्संति ?, गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं, तं०–कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं'ति इह नारकादीनामष्टापि कर्माण्युदये वर्त्तन्ते, उदयवर्त्तिनां तेषां अवश्यं निर्जरणमस्ति, कषायोदयवर्त्तिनश्च ते, ततश्च कषायोदये कर्म्मनेर्जराभावात् क्रोधादिभिर्वैमानिकानामष्टकर्मप्रकृतिनिर्जरणमुच्यते ॥ प्रागुक्तचतुःकषायाश्चतुःसङ्ख्यात्वात् कृतयुग्मलक्षणसङ्ख्याविशेषवाच्याः स्युरित्यतो युग्मस्वरूपमाह–**'चत्तारि जुम्म'**त्ति इह गणितपरिभाषया समो राशिर्युग्ममुच्यते विषमस्तु ओज इति, तत्र यद्यपि द्वौ राशी युग्मशब्दवाच्यौ द्वौ ओजःशब्दवाच्यौ च भवतः, तथापि इह युग्मशब्देन राशयो विवक्षिताः, अतश्चत्वारि युग्मानि–राशय इत्यर्थः, तत्र **'कडजुम्मे'**त्ति कृतं–सिद्धं पूर्णं ततः परस्य राशिसंज्ञान्तरस्याभावेन न त्र्योजःप्रभृतिवदपूर्णं यत् युग्मं **'तेओए'**त्ति त्रिभिरादित एव कृतयुग्माद्वोपरिवर्त्तिभिरोजो–विषमराशिस्त्र्योज इति, **'दावरजुम्मे'**त्ति द्वाभ्यामादित एव कृतयुग्माद्वोपरिवर्त्तिभ्यां यदपरं युग्मं कृतयुग्मादन्यत् द्वापरयुग्मं, **'कलिओए'**त्ति कलिना–एकेनादित एव कृतयुग्माद्वोपरिवर्त्तिना ओजो–विषमराशिः कल्योज इति। **'जे णं रासी'**त्यादि, यो राशिश्चतुष्केणापहारेणापह्रियमाणश्चतुष्पर्यवसितः स्यात् स कृतयुग्ममित्युच्यते, यत्र राशौ चतूरूपत्वेन चतुष्कापहारो नास्ति सोऽपि चतुष्पर्यवसितत्वसद्भावात् कृतयुग्ममेव, एवमुत्तरपदेष्वपि,**'जहण्णपदे कडजुम्मे'**त्ति अत्यन्तस्तोकत्वे कृतयुग्माः–कृतयुग्मसंज्ञिताः **'उक्कोसपए'**त्ति सर्वोत्कृष्टतायां त्र्योजःसंज्ञिताः, मध्यमपदे चतुर्विधा अपि, एतदाज्ञाप्रामाण्यादवगन्तव्यं। **'वणस्सइकाइया णं'**ति वनस्पतिकायिका जघन्यपदे उत्कृष्टपदे चापदाः, जघन्यपदस्योत्कृष्टपदस्य च तेषामभावात्, तथाहि–जघन्यपदमुत्कृष्टपदं च तदुच्यते यन्नियतरूपं, तच्च यथा नारकादीनां कालान्तरेणापि न तथा वनस्पतिकायिकानां नियतरूपं लभ्यते, परंपरया सिद्धिगमनेन तद्राशेरनन्तत्वापरित्यागेऽप्यनियतरूपत्वादिति। **'सिद्धा जहा वणस्सइकाइय'**त्ति जघन्यपदे उत्कृष्टपदे

१८ श० ४ उद्देशः

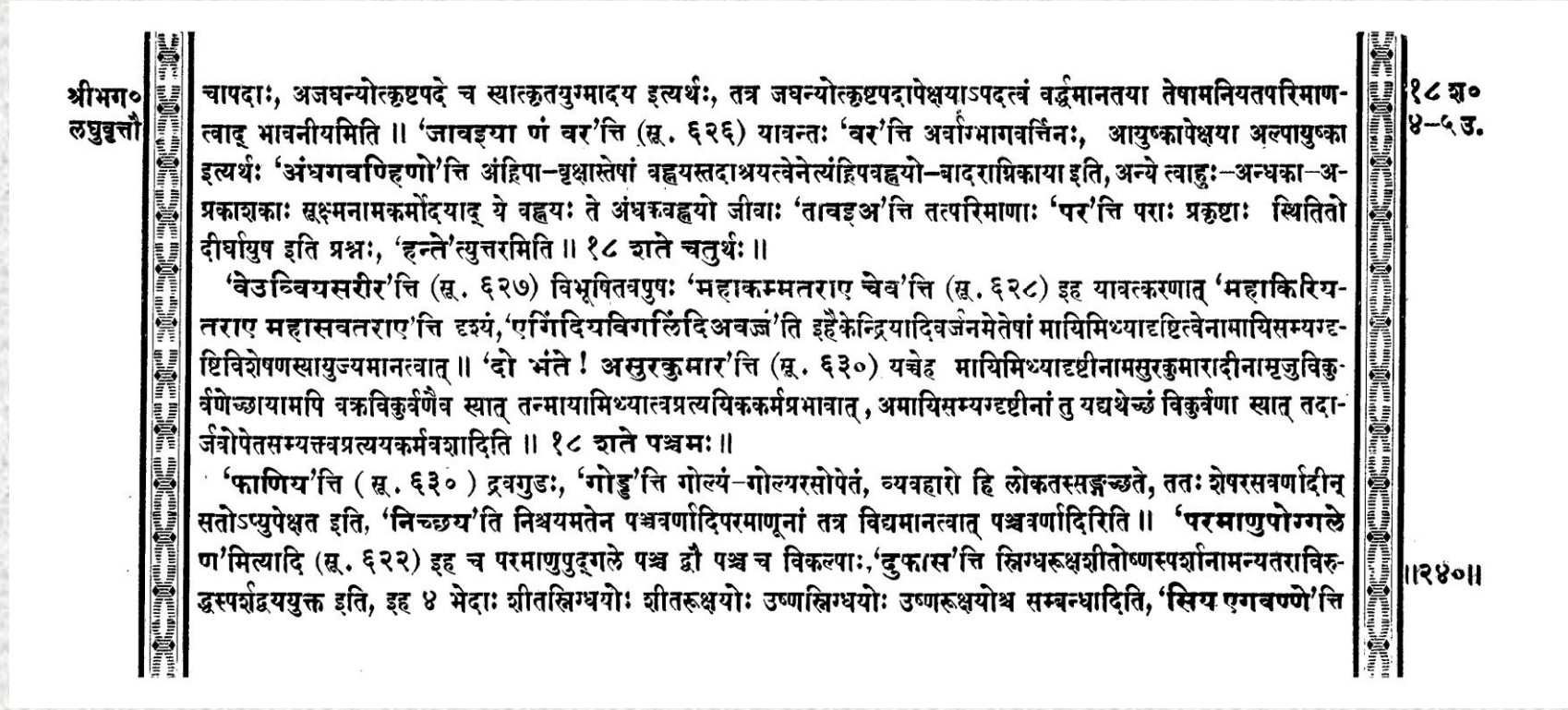

श्रीभग० लघुवृत्तौ

चापदाः, अजघन्योत्कृष्टपदे च स्यात्कृतयुग्मादय इत्यर्थः, तत्र जघन्योत्कृष्टपदापेक्षयाऽपदत्वं वर्द्धमानतया तेषामनियतपरिमाणत्वाद् भावनीयमिति ॥ 'जावइया णं वर'त्ति (सू. ६२६) यावन्तः 'वर'त्ति अर्वाग्भागवर्त्तिनः, आयुष्कापेक्षया अल्पायुष्का इत्यर्थः 'अंधगवण्हिणो'त्ति अंह्रिपा–वृक्षास्तेषां वह्वयस्तदाश्रयत्वेनेत्यंह्रिपवह्वयो–बादराग्निकाया इति, अन्ये त्वाहुः–अन्धका–अप्रकाशकाः सूक्ष्मनामकर्मोदयाद् ये वह्वयः ते अंधकवह्वयो जीवाः 'तावइअ'त्ति तत्परिमाणाः 'पर'त्ति पराः प्रकृष्टाः स्थितितो दीर्घायुष इति प्रश्नः, 'हन्ते'त्युत्तरमिति ॥ १८ शते चतुर्थः ॥

'वेउव्वियसरीर'त्ति (सू. ६२७) विभूषितवपुषः 'महाकम्मतराए चेव'त्ति (सू. ६२८) इह यावत्करणात् 'महाकिरियतराए महासवतराए'त्ति दृश्यं, 'एगिंदियविगलिंदिअवज्ज'ति इहैकेन्द्रियादिवर्जनमेतेषां मायिमिथ्यादृष्टित्वेनामायिसम्यग्दृष्टिविशेषणस्यायुज्यमानत्वात् ॥ 'दो भंते ! असुरकुमार'त्ति (सू. ६३०) यच्चेह मायिमिथ्यादृष्टीनामसुरकुमारादीनामृजुविकुर्वणेच्छायामपि वक्रविकुर्वणैव स्यात् तन्मायामिथ्यात्वप्रत्ययिककर्मप्रभावात्, अमायिसम्यग्दृष्टीनां तु यद्यथेच्छं विकुर्वणा स्यात् तदार्जवोपेतसम्यक्त्वप्रत्ययकर्मवशादिति ॥ १८ शते पञ्चमः ॥

'फाणिय'त्ति (सू. ६३०) द्रवगुडः, 'गोड्ड'त्ति गोल्यं–गोल्यरसोपेतं, व्यवहारो हि लोकतस्सङ्गच्छते, ततः शेषरसवर्णादीन् सतोऽप्युपेक्षत इति, 'निच्छय'ति निश्चयमतेन पञ्चवर्णादिपरमाणूनां तत्र विद्यमानत्वात् पञ्चवर्णादिरिति ॥ 'परमाणुपोग्गलेण'मित्यादि (सू. ६२२) इह च परमाणुपुद्गले पञ्च द्वौ पञ्च च विकल्पाः, 'दुफास'त्ति स्निग्धरूक्षशीतोष्णस्पर्शानामन्यतरावि-रुद्धस्पर्शद्वययुक्त इति, इह ४ भेदाः शीतस्निग्धयोः शीतरूक्षयोः उष्णस्निग्धयोः उष्णरूक्षयोश्च सम्बन्धादिति, 'सिय एगवण्णे'त्ति

१८ श० ४–५ उ.

॥२४०॥

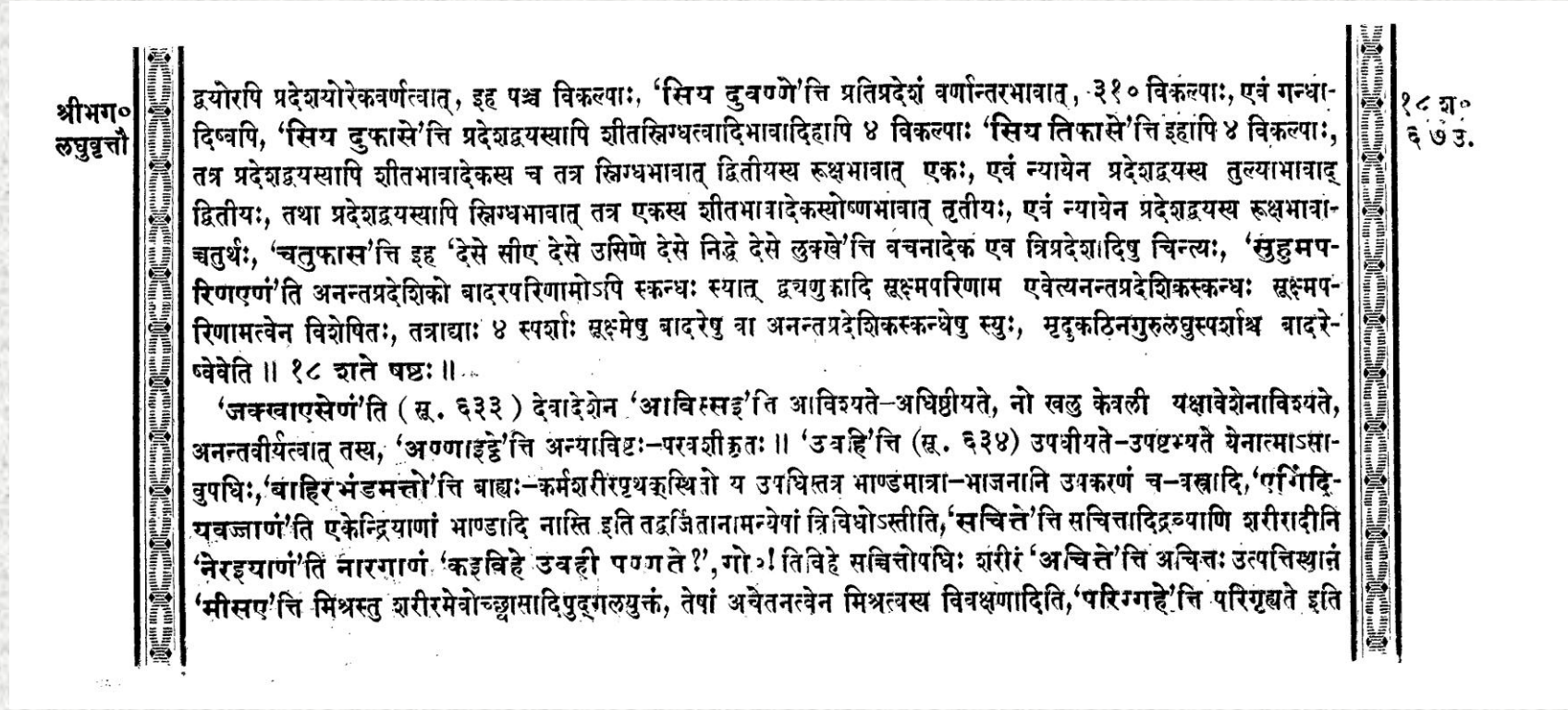

श्रीभग० लघुवृत्तौ

द्वयोरपि प्रदेशयोरेकवर्णत्वात्, इह पञ्च विकल्पाः, 'सिय दुवण्णे'त्ति प्रतिप्रदेशं वर्णान्तरभावात्, ३१० विकल्पाः, एवं गन्धादिष्वपि, 'सिय दुफासे'त्ति प्रदेशद्वयस्यापि शीतस्निग्धत्वादिभावादिहापि ४ विकल्पाः 'सिय तिफासे'त्ति इहापि ४ विकल्पाः, तत्र प्रदेशद्वयस्यापि शीतभावादेकस्य च तत्र स्निग्धभावात् द्वितीयस्य रूक्षभावात् एकः, एवं न्यायेन प्रदेशद्वयस्य तुल्यभावाद् द्वितीयः, तथा प्रदेशद्वयस्यापि स्निग्धभावात् तत्र एकस्य शीतभावादेकस्योष्णभावात् तृतीयः, एवं न्यायेन प्रदेशद्वयस्य रूक्षभावाच्चतुर्थः, 'चतुफासे'त्ति इह 'देसे सीए देसे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे'त्ति वचनादेक एव त्रिप्रदेशादिषु चिन्त्यः, 'सुहुमपरिणएणं'ति अनन्तप्रदेशिको बादरपरिणामोऽपि स्कन्धः स्यात् द्व्यणुकादि सूक्ष्मपरिणाम एवेत्यनन्तप्रदेशिकस्कन्धः सूक्ष्मपरिणामत्वेन विशेषितः, तत्राद्याः ४ स्पर्शाः सूक्ष्मेषु बादरेषु वा अनन्तप्रदेशिकस्कन्धेषु स्युः, मृदुकठिनगुरुलघुस्पर्शाश्च बादरेष्वेवेति ॥ १८ शते षष्ठः ॥

'जक्खाएसेणं'ति (सू. ६३३) देवादेशेन 'आविस्सइ'त्ति आविश्यते–अधिष्ठीयते, नो खलु केवली यक्षावेशेनाविश्यते, अनन्तवीर्यत्वात् तस्य, 'अण्णाइट्ठे'त्ति अन्याविष्टः–परवशीकृतः ॥ 'उवहि'त्ति (सू. ६३४) उपधीयते–उपष्टभ्यते येनात्माऽसावुपधिः, 'बाहिरभंडमत्तो'त्ति बाह्यः–कर्मशरीरपृथक्स्थितो य उपधिस्तत्र भाण्डमात्रा–भाजनानि उपकरणं च–वस्त्रादि, 'एगिंदियवज्जाणं'ति एकेन्द्रियाणां भाण्डादि नास्ति इति तद्वर्जितानामन्येषां त्रिविधोऽस्तीति, 'सचित्ते'त्ति सचित्तादिद्रव्याणि शरीरादीनि 'नेरइयाणं'ति नारकाणां 'कइविहे उवही पण्णत्ते?', गो०! तिविहे सचित्तोपधिः शरीरं 'अचित्ते'त्ति अचित्तः उत्पत्तिस्थानं 'मीसए'त्ति मिश्रस्तु शरीरमेवोच्छ्वासादिपुद्गलयुक्तं, तेषां अचेतनत्वेन मिश्रत्वस्य विवक्षणादिति, 'परिग्गहे'त्ति परिगृह्यते इति

१८ श० ६ उ.

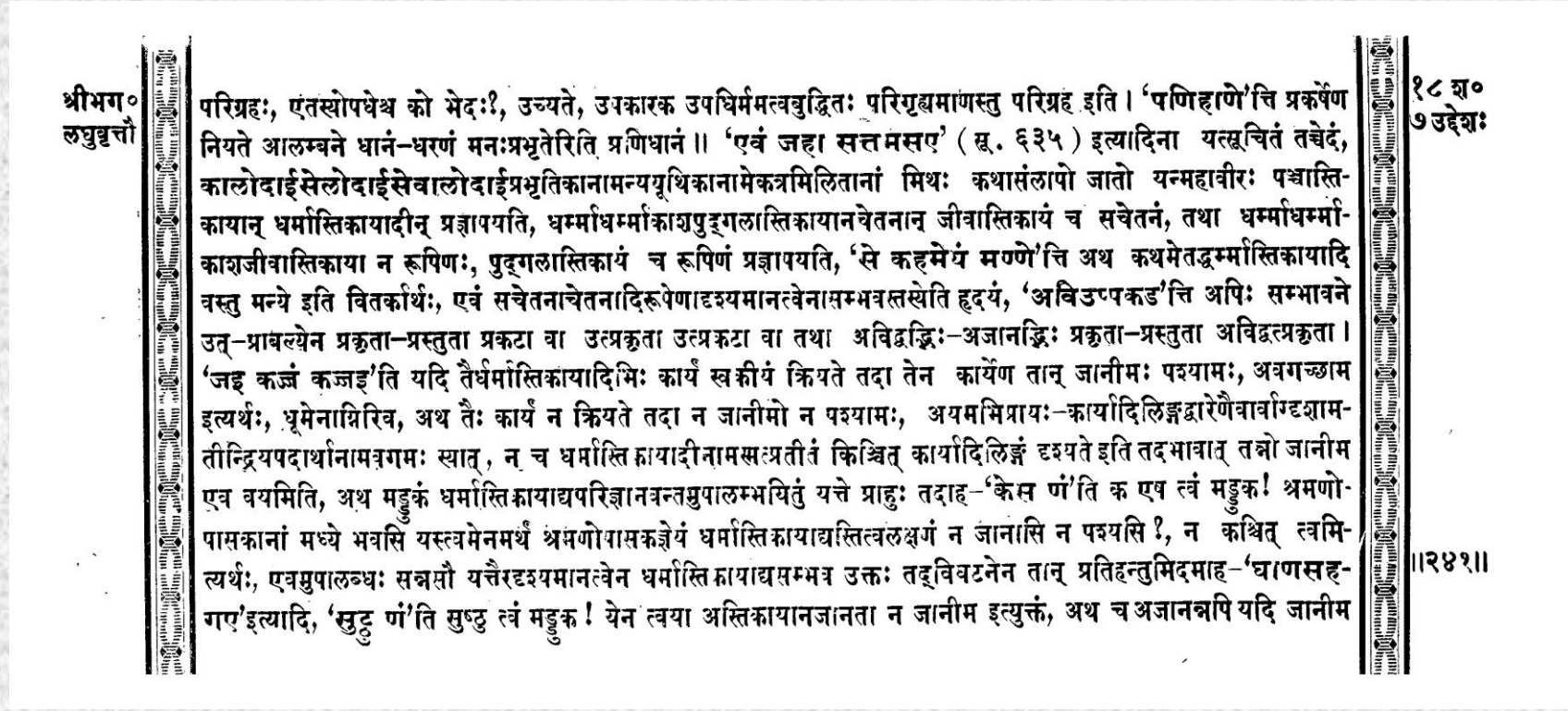

श्रीभग० लघुवृत्तौ

परिग्रहः, एतस्योपधेश्च को भेदः?, उच्यते, उपकारक उपधिर्ममत्वबुद्धितः परिगृह्यमाणस्तु परिग्रह इति। 'पणिहाणे'त्ति प्रकर्षेण नियते आलम्बने धानं-धरणं मनःप्रभृतेरिति प्रणिधानं॥ 'एवं जहा सत्तमसए' (सू. ६३५) इत्यादिना यत्सूचितं तच्चेदं, कालोदाईसेलोदाईसेवालोदाईप्रभृतिकानामन्ययूथिकानामेकत्रमिलितानां मिथः कथासंलापो जातो यन्महावीरः पञ्चास्तिकायान् धर्मास्तिकायादीन् प्रज्ञापयति, धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलास्तिकायानचेतनान् जीवास्तिकायं च सचेतनं, तथा धर्म्माधर्म्माकाशजीवास्तिकाया न रूपिणः, पुद्गलास्तिकायं च रूपिणं प्रज्ञापयति, 'से कहमेयं मण्णे'त्ति अथ कथमेतद्धर्म्मास्तिकायादि वस्तु मन्ये इति वितर्कार्थः, एवं सचेतनाचेतनादिरूपेणादृश्यमानत्वेनासम्भवत्तस्येति हृदयं, 'अविउप्पकडं'त्ति अपिः सम्भावने उत्-प्राबल्येन प्रकृता-प्रस्तुता प्रकटा वा उत्प्रकृता उत्प्रकटा वा तथा अविद्वद्भिः-अजानद्भिः प्रकृता-प्रस्तुता अविद्वत्प्रकृता। 'जइ कज्जं कज्जइ'ति यदि तैर्धर्मास्तिकायादिभिः कार्यं स्वकीयं क्रियते तदा तेन कार्येण तान् जानीमः पश्यामः, अवगच्छाम इत्यर्थः, धूमेनाग्निरिव, अथ तैः कार्यं न क्रियते तदा न जानीमो न पश्यामः, अयमभिप्रायः-कार्यादिलिङ्गद्वारेणैवार्वाग्दृशामतीन्द्रियपदार्थानामवगमः स्यात्, न च धर्मास्तिकायादीनामसत्प्रतीतं किञ्चित् कार्यादिलिङ्गं दृश्यते इति तदभावात् तन्नो जानीम एव वयमिति, अथ मद्दुकं धर्मास्तिकायाद्यपरिज्ञानवन्तमुपालम्भयितुं यत्ते प्राहुः तदाह-'केस णं'ति क एष त्वं मद्दुक! श्रमणोपासकानां मध्ये भवसि यस्त्वमेनमर्थं श्रमणोपासकज्ञेयं धर्मास्तिकायाद्यस्तित्वलक्षणं न जानासि न पश्यसि?, न कश्चित् त्वमित्यर्थः, एवमुपालब्धः सन्नसौ यत्तैरदृश्यमानत्वेन धर्मास्तिकायाद्यसम्भव उक्तः तद्विघटनेन तान् प्रतिहन्तुमिदमाह-'घाणसहगए'इत्यादि, 'सुट्ठु णं'ति सुष्ठु त्वं मद्दुक! येन त्वया अस्तिकायानजानता न जानीम इत्युक्तं, अथ च अजानन्नपि यदि जानीम

१८ श० ७ उद्देशः

॥२४१॥

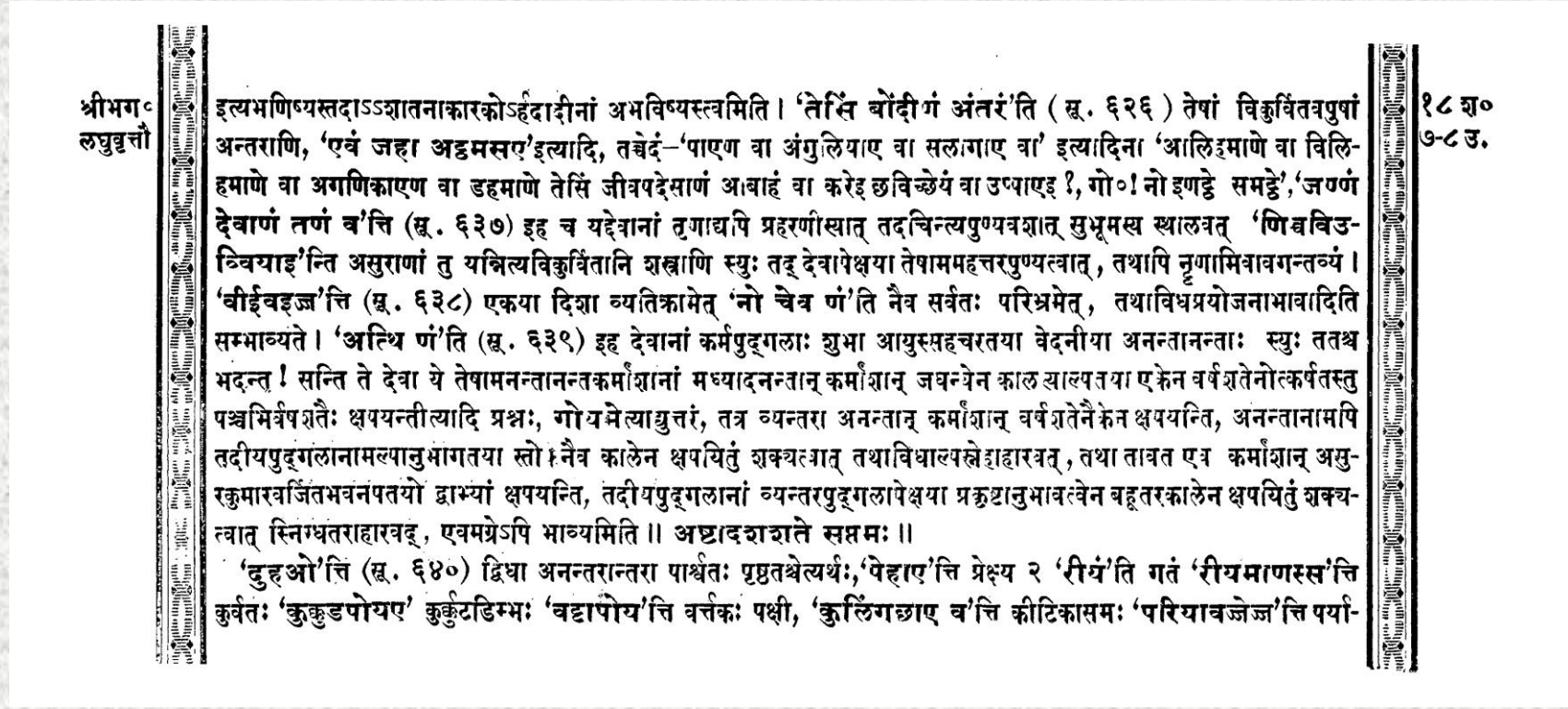

श्रीभग० लघुवृत्तौ

इत्यभणिष्यस्तदाऽऽशातनाकारकोऽर्हदादीनां अभविष्यस्त्वमिति। 'तेसिं बोंदीगं अंतरं'ति (सू. ६२६) तेषां विकुर्वितवपुषां अन्तराणि, 'एवं जहा अट्ठमसए'इत्यादि, तच्चेदं–'पाएण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा' इत्यादिना 'आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अगणिकाएण वा डहमाणे तेसिं जीवपदेसाणं आबाहं वा करेइ छविच्छेयं वा उप्पाएइ ?, गो०! नो इणट्ठे समट्ठे','जण्णं देवाणं तणं व'त्ति (सू. ६३७) इह च यद्देवानां तृणाद्यपि प्रहरणीस्यात् तदचिन्त्यपुण्यवशात् सुभूमस्य स्थालवत् 'णिच्चविउव्वियाइ'न्ति असुराणां तु यन्नित्यविकुर्वितानि शस्त्राणि स्युः तद् देवापेक्षया तेषाममहत्तरपुण्यत्वात्, तथापि नृणामिवावगन्तव्यं। 'वीईवइज्ज'त्ति (सू. ६३८) एकया दिशा व्यतिक्रामेत् 'नो चेव णं'ति नैव सर्वतः परिभ्रमेत्, तथाविधप्रयोजनाभावादिति सम्भाव्यते। 'अत्थि णं'ति (सू. ६३९) इह देवानां कर्मपुद्गलाः शुभा आयुस्सहचरतया वेदनीया अनन्तानन्ताः स्युः ततश्च भदन्त! सन्ति ते देवा ये तेषामनन्तानन्तकर्मांशानां मध्यादनन्तान् कर्मांशान् जघन्येन कालस्याल्पतया एकेन वर्षशतेनोत्कर्षतस्तु पञ्चभिर्वर्षशतैः क्षपयन्तीत्यादि प्रश्नः, गोयमेत्यादयुत्तरं, तत्र व्यन्तरा अनन्तान् कर्मांशान् वर्षशतेनैकेन क्षपयन्ति, अनन्तानामपि तदीयपुद्गलानामल्पानुभागतया स्तोकनैव कालेन क्षपयितुं शक्यत्वात् तथाविधाल्पस्नेहाहारवत्, तथा तावत एव कर्मांशान् असुरकुमारवर्जितभवनपतयो द्वाभ्यां क्षपयन्ति, तदीयपुद्गलानां व्यन्तरपुद्गलापेक्षया प्रकृष्टानुभावत्वेन बहूतरकालेन क्षपयितुं शक्यत्वात् स्निग्धतराहारवद्, एवमग्रेऽपि भाव्यमिति॥ अष्टादशशते सप्तमः॥

'दुहओ'त्ति (सू. ६४०) द्विधा अनन्तरान्तरा पार्श्वतः पृष्ठतश्चेत्यर्थः,'पेहाए'त्ति प्रेक्ष्य २ 'रीयं'ति गतं 'रीयमाणस्स'त्ति कुर्वतः 'कुक्कुडपोयए' कुर्कुटडिम्भः 'वट्टापोय'त्ति वर्त्तकः पक्षी, 'कुलिंगछाए व'त्ति कीटिकासमः 'परियावज्जेज्ज'त्ति पर्या-

१८ श० ७-८ उ.

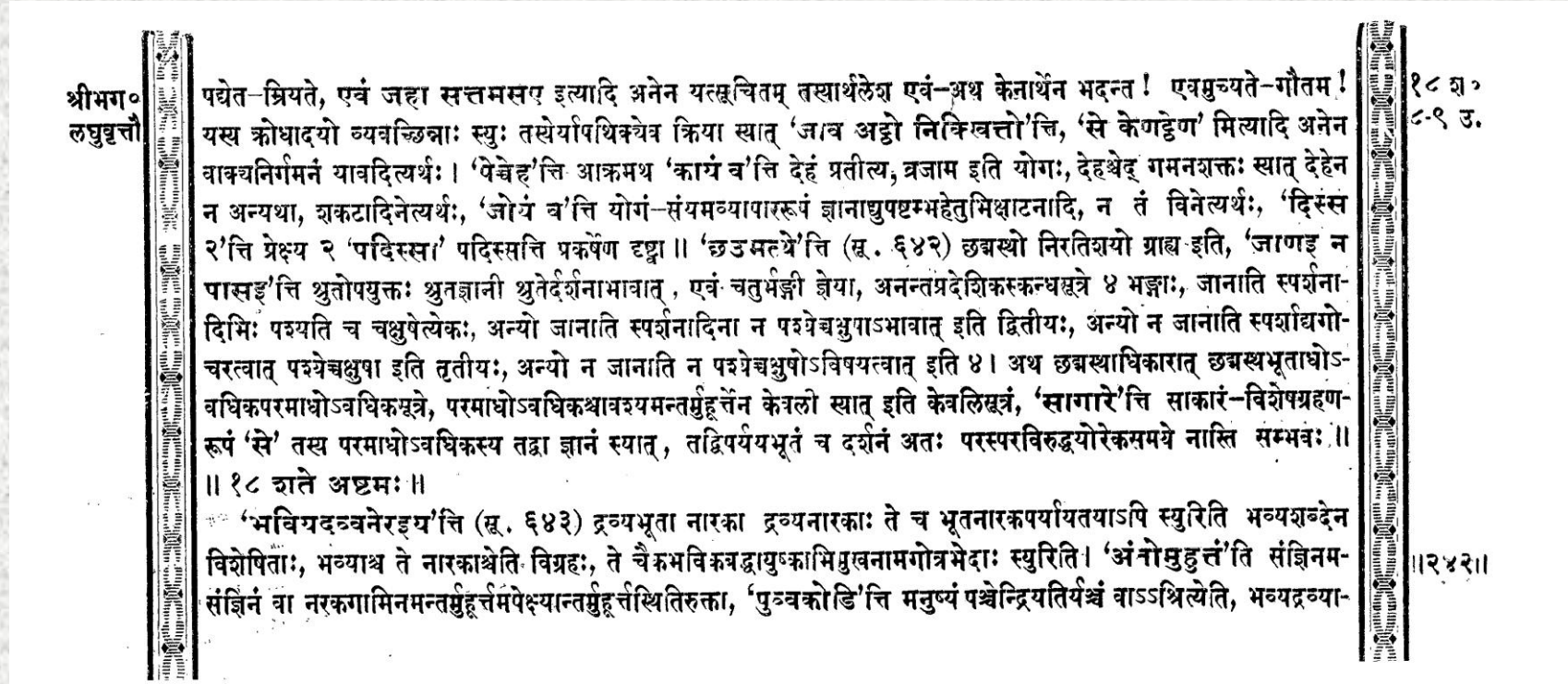

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पद्येत–म्रियते, एवं जहा सत्तमसए इत्यादि अनेन यत्सूचितम् तस्यार्थलेश एवं–अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते–गौतम! यस्य क्रोधादयो व्यवच्छिन्नाः स्युः तस्येर्यापथिक्येव क्रिया स्यात् 'जाव अट्ठो निक्खित्तो'त्ति, 'से केणट्ठेण' मित्यादि अनेन वाक्यनिर्गमनं यावदित्यर्थः। 'पेच्चेह'त्ति आक्रमथ 'कायं व'त्ति देहं प्रतीत्य, व्रजाम इति योगः, देहश्चेद् गमनशक्तः स्यात् देहेन न अन्यथा, शकटादिनेत्यर्थः, 'जोयं व'त्ति योगं–संयमव्यापाररूपं ज्ञानाद्युपष्टम्भहेतुभिक्षाटनादि, न तं विनेत्यर्थः, 'दिस्स २'त्ति प्रेक्ष्य २ 'पदिस्सा' पदिस्सत्ति प्रकर्षेण दृष्ट्वा॥ 'छउमत्थे'त्ति (सू. ६४२) छद्मस्थो निरतिशयो ग्राह्य इति, 'जाणइ न पासइ'त्ति श्रुतोपयुक्तः श्रुतज्ञानी श्रुतेदर्शनाभावात्, एवं चतुर्भङ्गी ज्ञेया, अनन्तप्रदेशिकस्कन्धसूत्रे ४ भङ्गाः, जानाति स्पर्शनादिभिः पश्यति च चक्षुषेत्येकः, अन्यो जानाति स्पर्शनादिना न पश्येच्चक्षुषोऽभावात् इति द्वितीयः, अन्यो न जानाति स्पर्शाद्यगोचरत्वात् पश्येच्चक्षुषा इति तृतीयः, अन्यो न जानाति न पश्येच्चक्षुषोऽविषयत्वात् इति ४। अथ छद्मस्थाधिकारात् छद्मस्थभूताधोऽवधिकपरमाधोऽवधिकसूत्रे, परमाधोऽवधिकश्चावश्यमन्तर्मुहूर्त्तेन केवली स्यात् इति केवलिसूत्रं, 'सागारे'त्ति साकारं–विशेषग्रहणरूपं 'से' तस्य परमाधोऽवधिकस्य तद्वा ज्ञानं स्यात्, तद्विपर्ययभूतं च दर्शनं अतः परस्परविरुद्धयोरेकसमये नास्ति सम्भवः॥

॥ १८ शते अष्टमः॥

'भवियदव्वनेरइय'त्ति (सू. ६४३) द्रव्यभूता नारका द्रव्यनारकाः ते च भूतनारकपर्यायतयाऽपि स्युरिति भव्यशब्देन विशेषिताः, भव्याश्च ते नारकाश्चेति विग्रहः, ते चैकभविकबद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रभेदाः स्युरिति। 'अंतोमुहुत्तं'ति संज्ञिनमसंज्ञिनं वा नरकगामिनमन्तर्मुहूर्त्तमपेक्ष्यान्तर्मुहूर्त्तस्थितिरुक्ता, 'पुव्वकोडि'त्ति मनुष्यं पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चं वाऽऽश्रित्येति, भव्यद्रव्या-

१८ श० ८-९ उ.

॥२४२॥

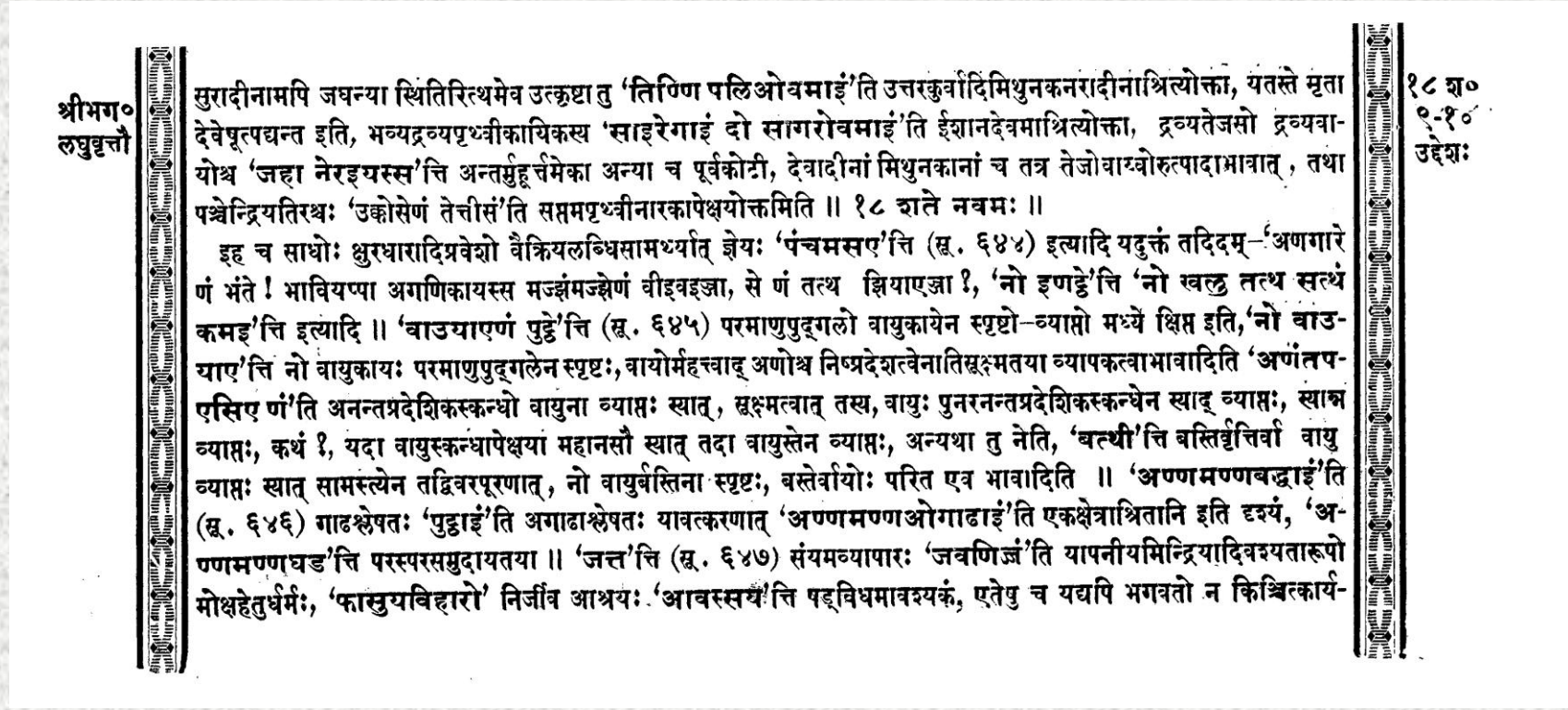

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सुरादीनामपि जघन्या स्थितिरित्थमेव उत्कृष्टा तु 'तिण्णि पलिओवमाइं'ति उत्तरकुर्वादिमिथुनकनरादीनाश्रित्योक्ता, यतस्ते मृता देवेषूत्पद्यन्त इति, भव्यद्रव्यपृथ्वीकायिकस्य 'साइरेगाइं दो सागरोवमाइं'ति ईशानदेवमाश्रित्योक्ता, द्रव्यतेजसो द्रव्यवायोश्च 'जहा नेरइयस्स'त्ति अन्तर्मुहूर्त्तमेका अन्या च पूर्वकोटी, देवादीनां मिथुनकानां च तत्र तेजोवाय्वोरुत्पादाभावात्, तथा पञ्चेन्द्रियतिरश्चः 'उक्कोसेणं तेत्तीसं'ति सप्तमपृथ्वीनारकापेक्षयोक्तमिति ॥ १८ शते नवमः ॥

इह च साधोः क्षुरधारादिप्रवेशो वैक्रियलब्धिसामर्थ्यात् ज्ञेयः 'पंचमसए'त्ति (सू. ६४४) इत्यादि यदुक्तं तदिदम्—'अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीइवइज्जा, से णं तत्थ झियाएज्जा ?, 'नो इणट्ठे'त्ति 'नो खलु तत्थ सत्थं कमइ'त्ति इत्यादि ॥ 'वाउयाएणं पुट्ठे'त्ति (सू. ६४५) परमाणुपुद्गलो वायुकायेन स्पृष्टो—व्याप्तो मध्ये क्षिप्त इति, 'नो वाउयाए'त्ति नो वायुकायः परमाणुपुद्गलेन स्पृष्टः, वायोर्महत्त्वाद् अणोश्च निष्प्रदेशत्वेनातिसूक्ष्मतया व्यापकत्वाभावादिति 'अणंतपएसिए णं'ति अनन्तप्रदेशिकस्कन्धो वायुना व्याप्तः स्यात्, सूक्ष्मत्वात् तस्य, वायुः पुनरनन्तप्रदेशिकस्कन्धेन स्याद् व्याप्तः, स्यान्न व्याप्तः, कथं ?, यदा वायुस्कन्धापेक्षया महानसौ स्यात् तदा वायुस्तेन व्याप्तः, अन्यथा तु नेति, 'बत्थी'त्ति बस्तिर्वृत्तिर्वा वायु व्याप्तः स्यात् सामस्त्येन तद्विवरपूरणात्, नो वायुर्बस्तिना स्पृष्टः, बस्तेर्वायोः परित एव भावादिति ॥ 'अण्णमण्णबद्धाइं'ति (सू. ६४६) गाढश्लेषतः 'पुट्ठाइं'ति अगाढाश्लेषतः यावत्करणात् 'अण्णमण्णओगाढाइं'ति एकक्षेत्राश्रितानि इति दृश्यं, 'अण्णमण्णघडत्ताए'त्ति परस्परसमुदायतया ॥ 'जत्त'त्ति (सू. ६४७) संयमव्यापारः 'जवणिज्जं'ति यापनीयमिन्द्रियादिवश्यतारूपो मोक्षहेतुर्धर्मः, 'फासुयविहारो' निर्जीव आश्रयः 'आवस्सयं'त्ति षड्विधमावश्यकं, एतेषु च यद्यपि भगवतो न किञ्चित्कार्य-

१८ श० ९-१० उद्देशः

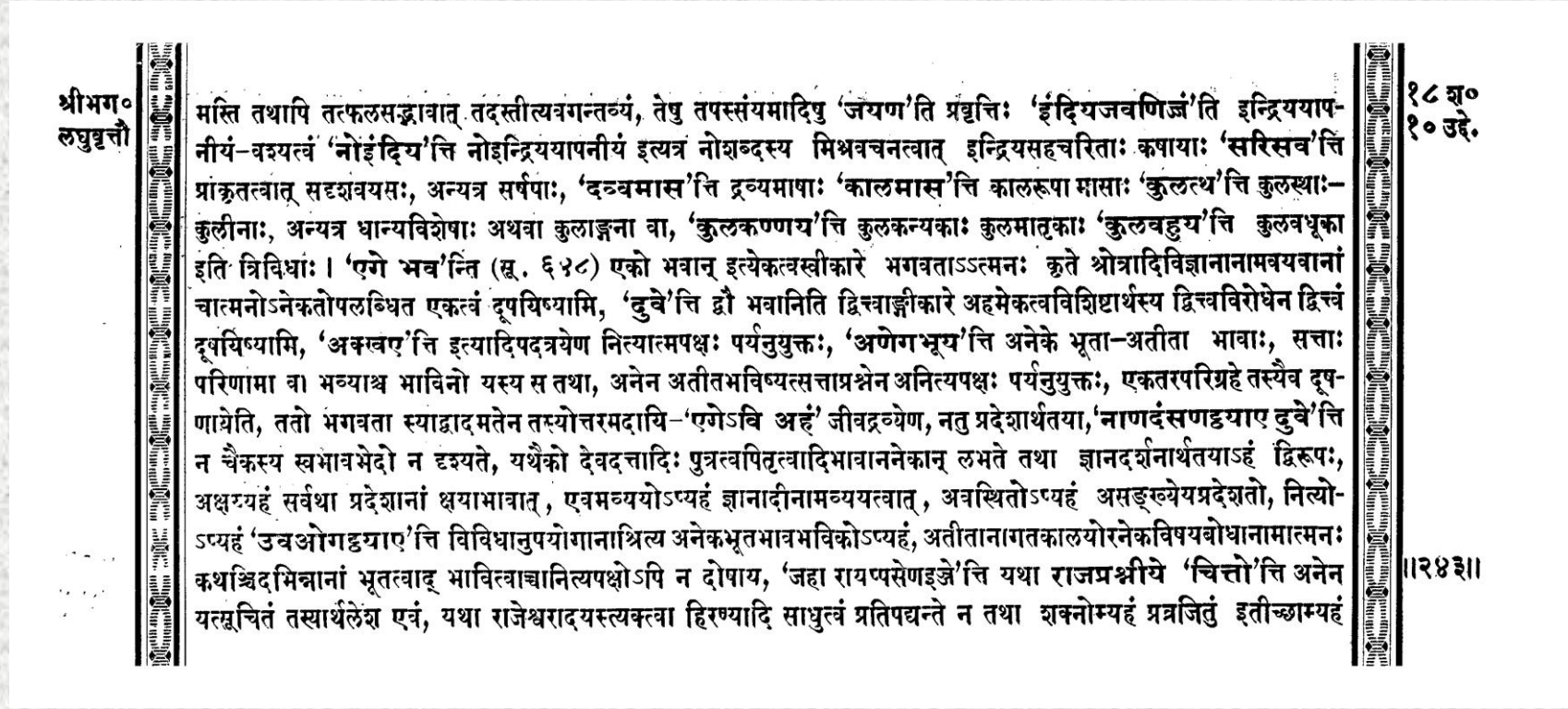

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मस्ति तथापि तत्फलसद्भावात् तदस्तीत्यवगन्तव्यं, तेषु तपस्संयमादिषु 'जयण'त्ति प्रवृत्तिः 'इंदियजवणिज्जं'ति इन्द्रिययापनीयं–वश्यत्वं 'नोइंदिय'त्ति नोइन्द्रिययापनीयं इत्यत्र नोशब्दस्य मिश्रवचनत्वात् इन्द्रियसहचरिताः कषायाः 'सरिसव'त्ति प्राकृतत्वात् सदृशवयसः, अन्यत्र सर्षपाः, 'दव्वमास'त्ति द्रव्यमाषाः 'कालमास'त्ति कालरूपा मासाः 'कुलत्थ'त्ति कुलस्थाः–कुलीनाः, अन्यत्र धान्यविशेषाः अथवा कुलाङ्गना वा, 'कुलकण्णय'त्ति कुलकन्यकाः कुलमातृकाः 'कुलवहुय'त्ति कुलवधूका इति त्रिविधाः। 'एगे भव'न्ति (सू. ६४८) एको भवान् इत्येकत्वस्वीकारे भगवताऽऽत्मनः कृते श्रोत्रादिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकतोपलब्धित एकत्वं दूषयिष्यामि, 'दुवे'त्ति द्वौ भवानिति द्वित्वाङ्गीकारे अहमेकत्वविशिष्टार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामि, 'अक्खए'त्ति इत्यादिपदत्रयेण नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः, 'अणेगभूय'त्ति अनेके भूता–अतीता भावाः, सत्ताः परिणामा वा भव्याश्च भाविनो यस्य स तथा, अनेन अतीतभविष्यत्सत्ताप्रश्नेन अनित्यपक्षः पर्यनुयुक्तः, एकतरपरिग्रहे तस्यैव दूषणायेति, ततो भगवता स्याद्वादमतेन तस्योत्तरमदायि–'एगेऽवि अहं' जीवद्रव्येण, नतु प्रदेशार्थतया,'नाणदंसणट्ठयाए दुवे'त्ति न चैकस्य स्वभावभेदो न दृश्यते, यथैको देवदत्तादिः पुत्रत्वपितृत्वादिभावाननेकान् लभते तथा ज्ञानदर्शनार्थतयाऽहं द्विरूपः, अक्षय्यहं सर्वथा प्रदेशानां क्षयाभावात्, एवमव्ययोऽप्यहं ज्ञानादीनामव्ययत्वात्, अवस्थितोऽप्यहं असङ्ख्येयप्रदेशतो, नित्योऽप्यहं 'उवओगट्ठयाए'त्ति विविधानुपयोगानाश्रित्य अनेकभूतभावभविकोऽप्यहं, अतीतानागतकालयोरनेकविषयबोधानामात्मनः कथञ्चिदभिन्नानां भूतत्वाद् भावित्वाच्चानित्यपक्षोऽपि न दोषाय, 'जहा रायप्पसेणइज्जे'त्ति यथा राजप्रश्नीये 'चित्तो'त्ति अनेन यत्सूचितं तस्यार्थलेश एवं, यथा राजेश्वरादयस्त्यक्त्वा हिरण्यादि साधुत्वं प्रतिपद्यन्ते न तथा शक्नोम्यहं प्रव्रजितुं इतीच्छाम्यहं

१८ श० १० उद्दे.

॥२४३॥

प्रत सूत्रांक [६४९-६६१] + गाथा

दीप अनुक्रम [७५८-७७८]

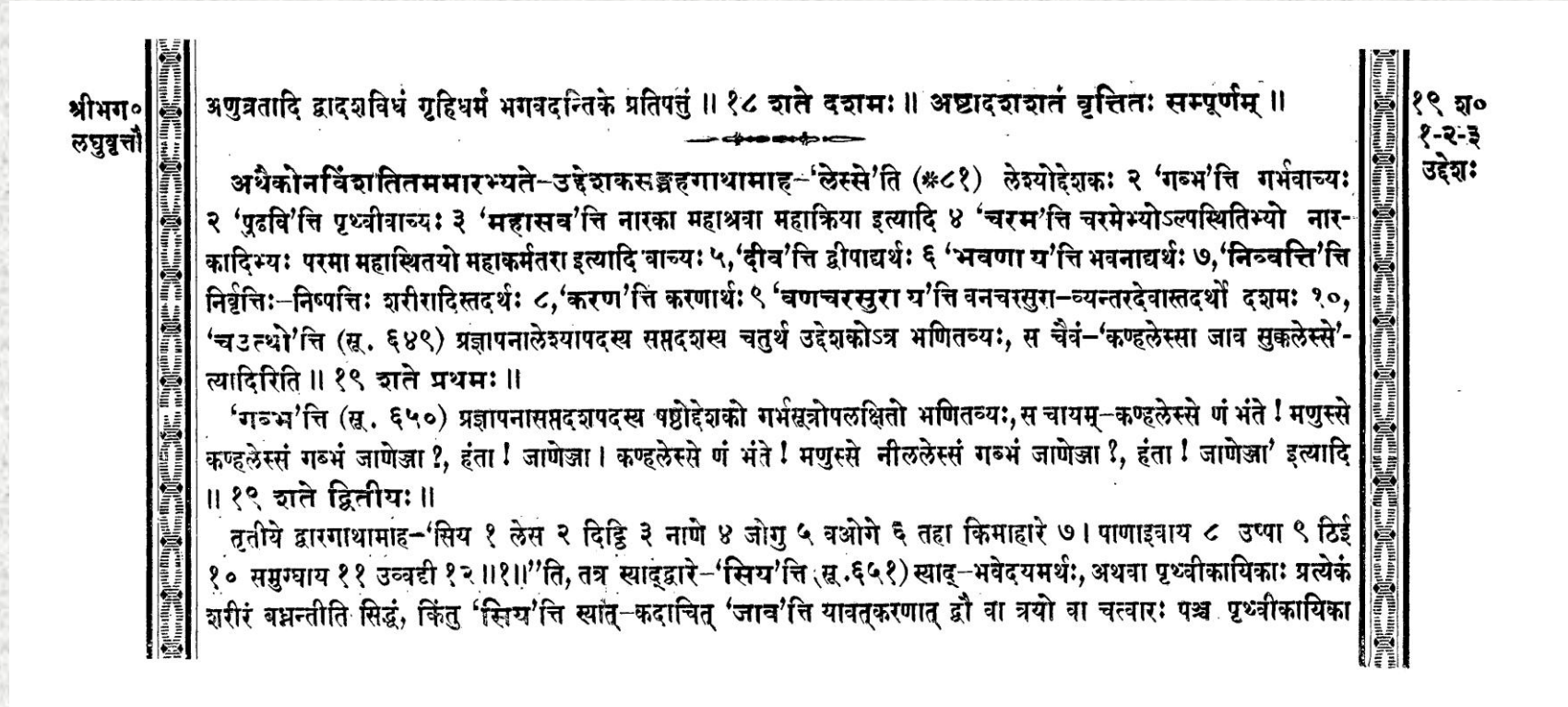

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अणुव्रतादि द्वादशविधं गृहिधर्मं भगवदन्तिके प्रतिपत्तुं ॥ १८ शते दशमः ॥ अष्टादशशतं वृत्तितः सम्पूर्णम् ॥

१९ श० १-२-३ उद्देशः

अथैकोनविंशतितममारभ्यते–उद्देशकसङ्ग्रहगाथामाह–'लेस्से'ति (*८१) लेश्योद्देशकः २ 'गब्भ'त्ति गर्भवाच्यः २ 'पुढवि'त्ति पृथ्वीवाच्यः ३ 'महासव'त्ति नारका महाश्रवा महाक्रिया इत्यादि ४ 'चरम'त्ति चरमेभ्योऽल्पस्थितिभ्यो नारकादिभ्यः परमा महास्थितयो महाकर्मतरा इत्यादि वाच्यः ५,'दीव'त्ति द्वीपाद्यर्थः ६ 'भवणा य'त्ति भवनाद्यर्थः ७,'निव्वत्ति'त्ति निर्वृत्तिः–निष्पत्तिः शरीरादिस्तदर्थः ८,'करण'त्ति करणार्थः ९ 'वणचरसुरा य'त्ति वनचरसुरा–व्यन्तरदेवास्तदर्थो दशमः १०, 'चउत्थो'त्ति (सू. ६४९) प्रज्ञापनालेश्यापदस्य सप्तदशस्य चतुर्थ उद्देशकोऽत्र भणितव्यः, स चैवं–'कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्से'त्यादिरिति ॥ १९ शते प्रथमः ॥

'गब्भ'त्ति (सू. ६५०) प्रज्ञापनासप्तदशपदस्य षष्ठोद्देशको गर्भसूत्रोपलक्षितो भणितव्यः, स चायम्–कण्हलेस्से णं भंते ! मणुस्से कण्हलेस्सं गब्भं जाणेज्जा ?, हंता ! जाणेज्जा । कण्हलेस्से णं भंते ! मणुस्से नीललेस्सं गब्भं जाणेज्जा ?, हंता ! जाणेज्जा' इत्यादि ॥ १९ शते द्वितीयः ॥

तृतीये द्वारगाथामाह–'सिय १ लेस २ दिट्ठि ३ नाणे ४ जोगु ५ वओगे ६ तहा किमाहारे ७ । पाणाइवाय ८ उप्पा ९ ठिई १० समुग्घाय ११ उव्वट्टी १२ ॥१॥"ति, तत्र स्याद्द्वारे–'सिय'त्ति (सू.६५१) स्याद्–भवेदयमर्थः, अथवा पृथ्वीकायिकाः प्रत्येकं शरीरं बध्नन्तीति सिद्धं, किंतु 'सिय'त्ति स्यात्–कदाचित् 'जाव'त्ति यावत्करणात् द्वौ वा त्रयो वा चत्वारः पञ्च पृथ्वीकायिका

*** अत्र शतक-१८ समाप्तं. अथ शतक-१९ आरभ्यते

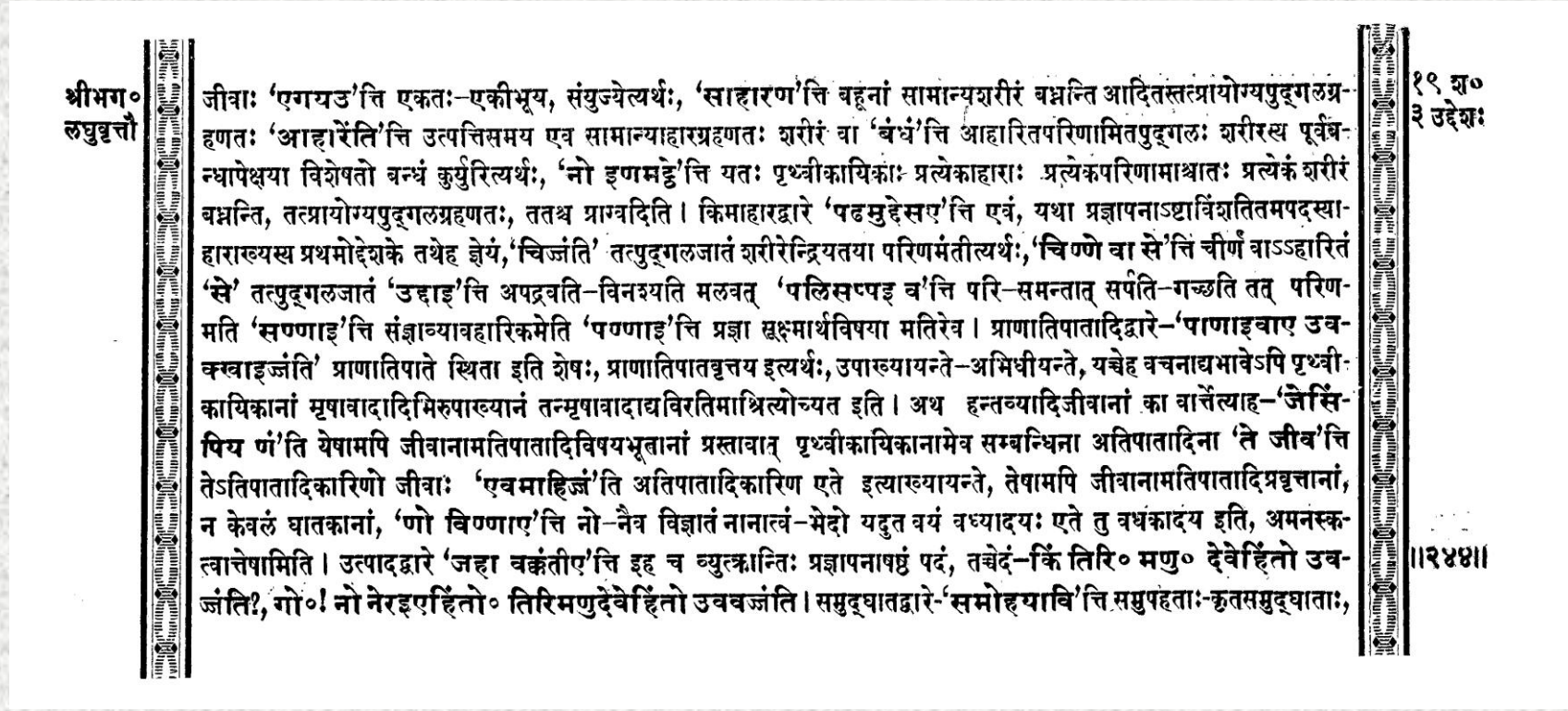

श्रीभग० लघुवृत्तौ

जीवाः 'एगयउ'त्ति एकतः–एकीभूय, संयुज्येत्यर्थः, 'साहारण'त्ति बहूनां सामान्यशरीरं बध्नन्ति आदितस्तत्प्रायोग्यपुद्गलग्रहणतः 'आहारेंति'त्ति उत्पत्तिसमय एव सामान्याहारग्रहणतः शरीरं वा 'बंधं'त्ति आहारितपरिणामितपुद्गलः शरीरस्य पूर्वबन्धापेक्षया विशेषतो बन्धं कुर्युरित्यर्थः, 'नो इणमट्ठे'त्ति यतः पृथ्वीकायिकाः प्रत्येकाहाराः प्रत्येकपरिणामाश्रातः प्रत्येकं शरीरं बध्नन्ति, तत्प्रायोग्यपुद्गलग्रहणतः, ततश्च प्राग्वदिति। किमाहारद्वारे 'पढमुद्देसए'त्ति एवं, यथा प्रज्ञापनाऽष्टाविंशतितमपदस्याहाराख्यस्य प्रथमोद्देशके तथेह ज्ञेयं,'चिज्जंति' तत्पुद्गलजातं शरीरेन्द्रियतया परिणमंतीत्यर्थः,'चिण्णे वा से'त्ति चीर्णं वाऽऽहारितं 'से' तत्पुद्गलजातं 'उद्दाइ'त्ति अपद्रवति–विनश्यति मलवत् 'परिसप्पइ व'त्ति परि–समन्तात् सर्पति–गच्छति तत् परिणमति 'सण्णाइ'त्ति संज्ञाव्यावहारिकमेति 'पण्णाइ'त्ति प्रज्ञा सूक्ष्मार्थविषया मतिरेव। प्राणातिपातादिद्वारे–'पाणाइवाए उवक्खाइज्जंति' प्राणातिपाते स्थिता इति शेषः, प्राणातिपातवृत्तय इत्यर्थः, उपाख्यायन्ते–अभिधीयन्ते, यच्चेह वचनाद्यभावेऽपि पृथ्वीकायिकानां मृषावादादिभिरुपाख्यानं तन्मृषावादाद्यविरतिमाश्रित्योच्यत इति। अथ हन्तव्यादिजीवानां का वार्त्तेत्याह–'जेसिंपिय णं'ति येषामपि जीवानामतिपातादिविषयभूतानां प्रस्तावात् पृथ्वीकायिकानामेव सम्बन्धिना अतिपातादिना 'ते जीव'त्ति तेऽतिपातादिकारिणो जीवाः 'एवमाहिज्जं'ति अतिपातादिकारिण एते इत्याख्यायन्ते, तेषामपि जीवानामतिपातादिप्रवृत्तानां, न केवलं घातकानां, 'णो विण्णाए'त्ति नो–नैव विज्ञातं नानात्वं–भेदो यदुत वयं वध्यादयः एते तु वधकादय इति, अमनस्कत्वात्तेषामिति। उत्पादद्वारे 'जहा वक्कंतीए'त्ति इह च व्युत्क्रान्तिः प्रज्ञापनाषष्ठं पदं, तच्चेदं–किं तिरि० मणु० देवेहिंतो उववज्जंति?, गो०! नो नेरइएहिंतो० तिरिमणुदेवेहिंतो उववज्जंति। समुद्घातद्वारे-'समोहयावि'त्ति समुपहताः-कृतसमुद्घाताः,

१९ श० ३ उद्देशः

॥२४४॥

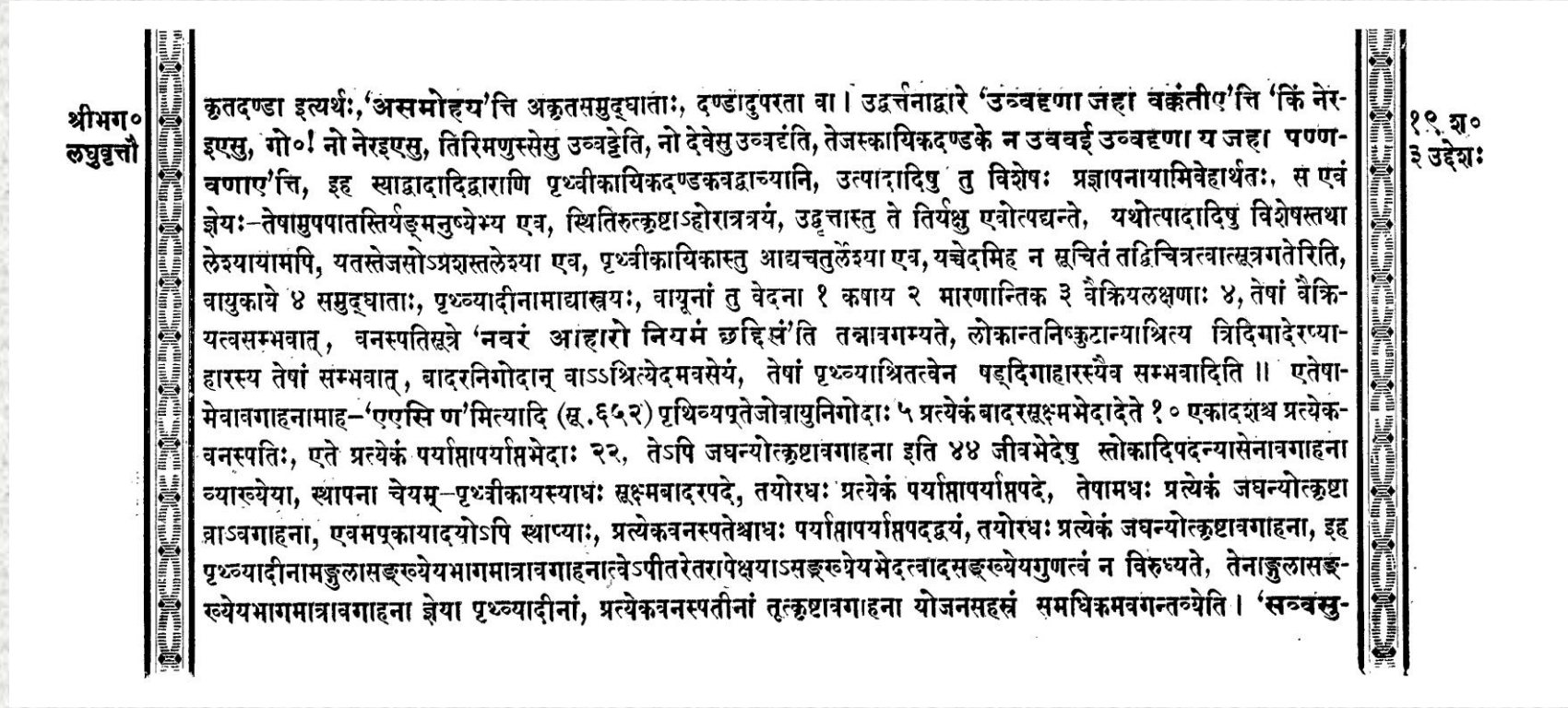

श्रीभग० लघुवृत्तौ

कृतदण्डा इत्यर्थः,'असमोहय'त्ति अकृतसमुद्घाताः, दण्डादुपरता वा। उद्वर्त्तनाद्वारे 'उव्वट्टणा जहा वक्कंतीए'त्ति 'किं नेरइएसु, गो०! नो नेरइएसु, तिरिमणुस्सेसु उव्वट्टेति, नो देवेसु उव्वट्टंति, तेजस्कायिकदण्डके न उववई उव्वट्टणा य जहा पण्णवणाए'त्ति, इह स्याद्वादादिद्वाराणि पृथ्वीकायिकदण्डकवद्वाच्यानि, उत्पादादिषु तु विशेषः प्रज्ञापनायामिवेहार्थतः, स एवं ज्ञेयः–तेषामुपपातस्तिर्यङ्मनुष्येभ्य एव, स्थितिरुत्कृष्टाऽहोरात्रत्रयं, उद्वृत्तास्तु ते तिर्यक्षु एवोत्पद्यन्ते, यथोत्पादादिषु विशेषस्तथा लेश्यायामपि, यतस्तेजसोऽप्रशस्तलेश्या एव, पृथ्वीकायिकास्तु आद्यचतुर्लेश्या एव, यच्चेदमिह न सूचितं तद्विचित्रत्वात्सूत्रगतेरिति, वायुकाये ४ समुद्घाताः, पृथ्व्यादीनामाद्यास्त्रयः, वायूनां तु वेदना १ कषाय २ मारणान्तिक ३ वैक्रियलक्षणाः ४, तेषां वैक्रियत्वसम्भवात्, वनस्पतिसूत्रे 'नवरं आहारो नियमं छद्दिसिं'ति तन्नावगम्यते, लोकान्तनिष्कुटान्याश्रित्य त्रिदिगादेरप्याहारस्य तेषां सम्भवात्, बादरनिगोदान् वाऽऽश्रित्येदमवसेयं, तेषां पृथ्व्याश्रितत्वेन षड्दिगाहारस्यैव सम्भवादिति ॥ एतेषामेवावगाहनामाह–'एएसि ण'मित्यादि (सू.६५२) पृथिव्यप्तेजोवायुनिगोदाः ५ प्रत्येकं बादरसूक्ष्मभेदादेते १० एकादशश्च प्रत्येकवनस्पतिः, एते प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तभेदाः २२, तेऽपि जघन्योत्कृष्टावगाहना इति ४४ जीवभेदेषु स्तोकादिपदन्यासेनावगाहना व्याख्येया, स्थापना चेयम्–पृथ्वीकायस्याधः सूक्ष्मबादरपदे, तयोरधः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तपदे, तेषामधः प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टावगाहना, एवमप्कायादयोऽपि स्थाप्याः, प्रत्येकवनस्पतेश्चाधः पर्याप्तापर्याप्तपदद्वयं, तयोरधः प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टावगाहना, इह पृथ्व्यादीनामङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रावगाहनात्वेऽपीतरेतरापेक्षयाऽसङ्ख्येयभेदत्वादसङ्ख्येयगुणत्वं न विरुध्यते, तेनाङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रावगाहना ज्ञेया पृथ्व्यादीनां, प्रत्येकवनस्पतीनां तूत्कृष्टावगाहना योजनसहस्रं समधिकमवगन्तव्येति। 'सव्वसु-

१९ श० ३ उद्देशः

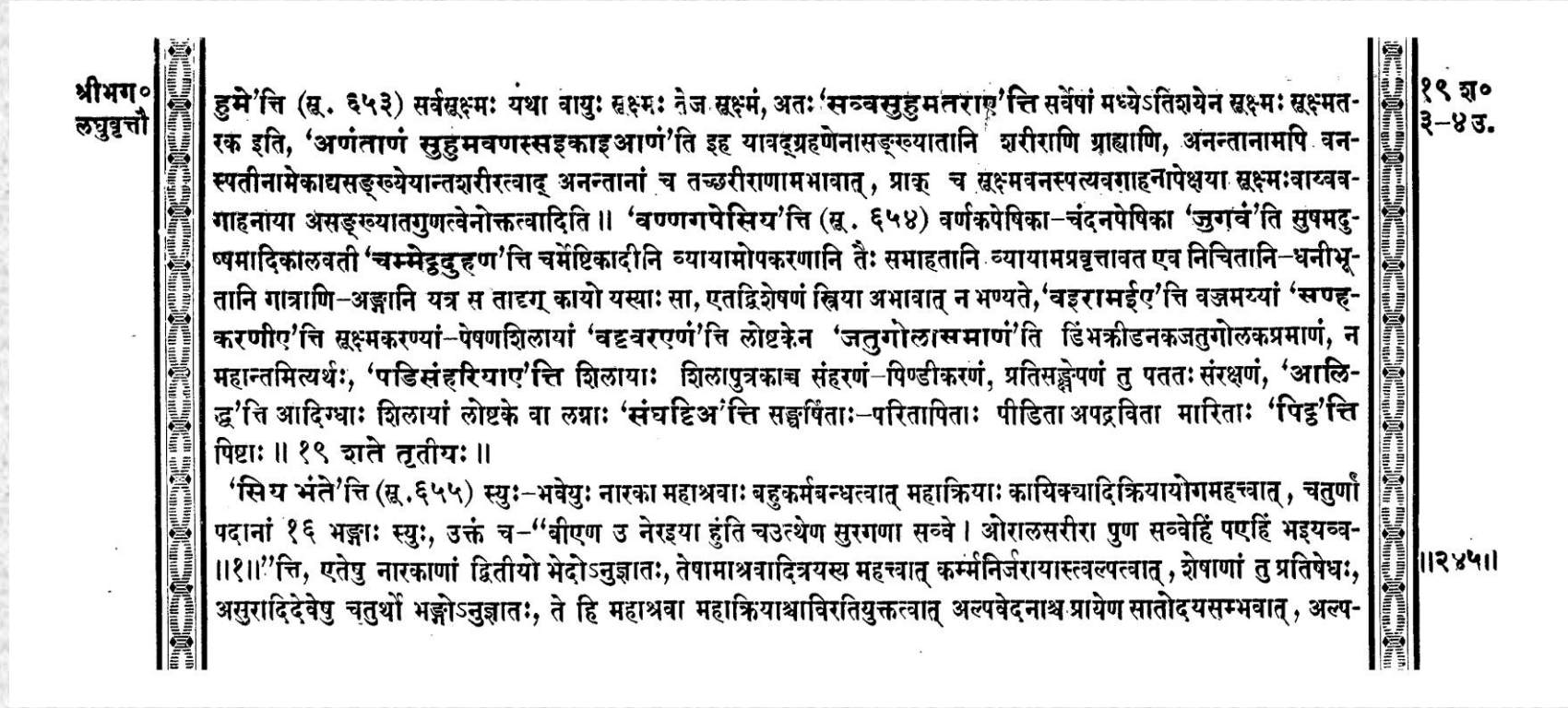

श्रीभग० लघुवृत्तौ

हुमे'त्ति (सू. ६५३) सर्वसूक्ष्मः यथा वायुः सूक्ष्मः तेज सूक्ष्मं, अतः 'सव्वसुहुमतराए'त्ति सर्वेषां मध्येऽतिशयेन सूक्ष्मः सूक्ष्मतरक इति, 'अणंताणं सुहुमवणस्सइकाइआणं'ति इह यावद्ग्रहणेनासङ्ख्यातानि शरीराणि ग्राह्याणि, अनन्तानामपि वनस्पतीनामेकाद्यसङ्ख्येयान्तशरीरत्वाद् अनन्तानां च तच्छरीराणामभावात्, प्राक् च सूक्ष्मवनस्पत्यवगाहनापेक्षया सूक्ष्मःवाय्ववगाहनाया असङ्ख्यातगुणत्वेनोक्तत्वादिति ॥ 'वण्णगपेसिय'त्ति (सू. ६५४) वर्णकपेषिका–चंदनपेषिका 'जुगवं'ति सुषमदुष्षमादिकालवती 'चम्मेट्ठदुहण'त्ति चर्मेष्टिकादीनि व्यायामोपकरणानि तैः समाहतानि व्यायामप्रवृत्तावत एव निचितानि–घनीभूतानि गात्राणि–अङ्गानि यत्र स तादृग् कायो यस्याः सा, एतद्विशेषणं स्त्रिया अभावात् न भण्यते, 'बइरामईए'त्ति वज्रमय्यां 'सण्हकरणीए'त्ति सूक्ष्मकरण्यां–पेषणशिलायां 'वट्टवरएणं'त्ति लोष्टकेन 'जतुगोलासमाणं'ति डिंभक्रीडनकजतुगोलकप्रमाणं, न महान्तमित्यर्थः, 'पडिसंहरियाए'त्ति शिलायाः शिलापुत्रकाच्च संहरणं–पिण्डीकरणं, प्रतिसङ्क्षेपणं तु पततः संरक्षणं, 'आलिद्ध'त्ति आदिग्धाः शिलायां लोष्टके वा लग्नाः 'संघट्टिअ'त्ति सङ्घर्षिताः–परितापिताः पीडिता अपद्रविता मारिताः 'पिट्ठ'त्ति पिष्टाः ॥ १९ शते तृतीयः ॥

'सिय भंते'त्ति (सू.६५५) स्युः–भवेयुः नारका महाश्रवाः बहुकर्मबन्धत्वात् महाक्रियाः कायिक्यादिक्रियायोगमहत्त्वात्, चतुर्णां पदानां १६ भङ्गाः स्युः, उक्तं च–"बीएण उ नेरइया हुंति चउत्थेण सुरगणा सव्वे। ओरालसरीरा पुण सव्वेहिं पएहिं भइयव्व-॥१॥"त्ति, एतेषु नारकाणां द्वितीयो भेदोऽनुज्ञातः, तेषामाश्रवादित्रयस्य महत्त्वात् कर्म्मनिर्जरायास्त्वल्पत्वात्, शेषाणां तु प्रतिषेधः, असुरादिदेवेषु चतुर्थो भङ्गोऽनुज्ञातः, ते हि महाश्रवा महाक्रियाश्चाविरतियुक्तत्वात् अल्पवेदनाश्च प्रायेण सातोदयसम्भवात्, अल्प-

१९ श० ३–४ उ.

॥२४५॥

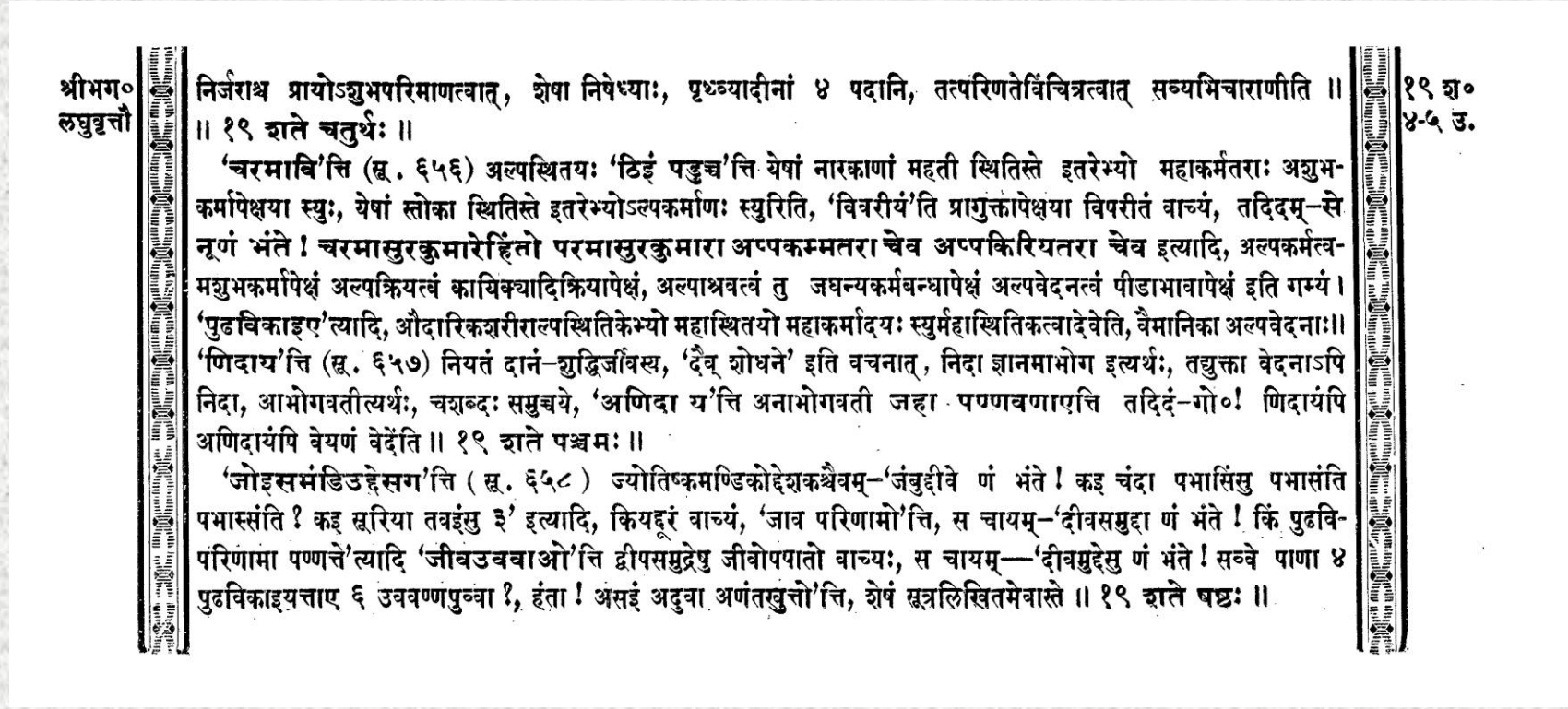

श्रीभग० लघुवृत्तौ

निर्जराश्च प्रायोऽशुभपरिमाणत्वात्, शेषा निषेध्याः, पृथ्व्यादीनां ४ पदानि, तत्परिणतेर्विचित्रत्वात् सव्यभिचाराणीति ॥ ॥ १९ शते चतुर्थः ॥

'चरमावि'त्ति (सू. ६५६) अल्पस्थितयः 'ठिइं पडुच्च'त्ति येषां नारकाणां महती स्थितिस्ते इतरेभ्यो महाकर्मतराः अशुभकर्मापेक्षया स्युः, येषां स्तोका स्थितिस्ते इतरेभ्योऽल्पकर्माणः स्युरिति, 'विवरीयं'ति प्रागुक्तापेक्षया विपरीतं वाच्यं, तदिदम्–**से नूणं भंते ! चरमासुरकुमारेहिंतो परमासुरकुमारा अप्पकम्मतरा चेव अप्पकिरियतरा चेव** इत्यादि, अल्पकर्मत्वमशुभकर्मापेक्षं अल्पक्रियत्वं कायिक्यादिक्रियापेक्षं, अल्पाश्रवत्वं तु जघन्यकर्मबन्धापेक्षं अल्पवेदनत्वं पीडाभावापेक्षं इति गम्यं। 'पुढविकाइए'त्यादि, औदारिकशरीराल्पस्थितिकेभ्यो महास्थितयो महाकर्मादयः स्युर्महास्थितिकत्वादेवेति, वैमानिका अल्पवेदनाः॥ 'णिदाय'त्ति (सू. ६५७) नियतं दानं–शुद्धिर्जीवस्य, 'दैव् शोधने' इति वचनात्, निदा ज्ञानमाभोग इत्यर्थः, तद्युक्ता वेदनाऽपि निदा, आभोगवतीत्यर्थः, चशब्दः समुच्चये, 'अणिदा य'त्ति अनाभोगवती जहा पण्णवणाएत्ति तदिदं–गो०! णिदायंपि अणिदायंपि वेयणं वेदेंति ॥ १९ शते पञ्चमः ॥

'जोइसमंडिउद्देसग'त्ति (सू. ६५८) ज्योतिष्कमण्डिकोद्देशकश्चैवम्–'जंबुद्दीवे णं भंते ! कइ चंदा पभासिंसु पभासंति पभास्संति ? कइ सूरिया तवइंसु ३' इत्यादि, कियदूरं वाच्यं, 'जाव परिणामो'त्ति, स चायम्–'दीवसमुद्दा णं भंते ! किं पुढविपरिणामा पण्णत्ते'त्यादि 'जीवउववाओ'त्ति द्वीपसमुद्रेषु जीवोपपातो वाच्यः, स चायम्—'दीवसमुद्देसु णं भंते ! सव्वे पाणा ४ पुढविकाइयत्ताए ६ उववण्णपुव्वा ?, हंता ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो'त्ति, शेषं सूत्रलिखितमेवास्ते ॥ १९ शते षष्ठः ॥

१९ श० ४-६ उ.

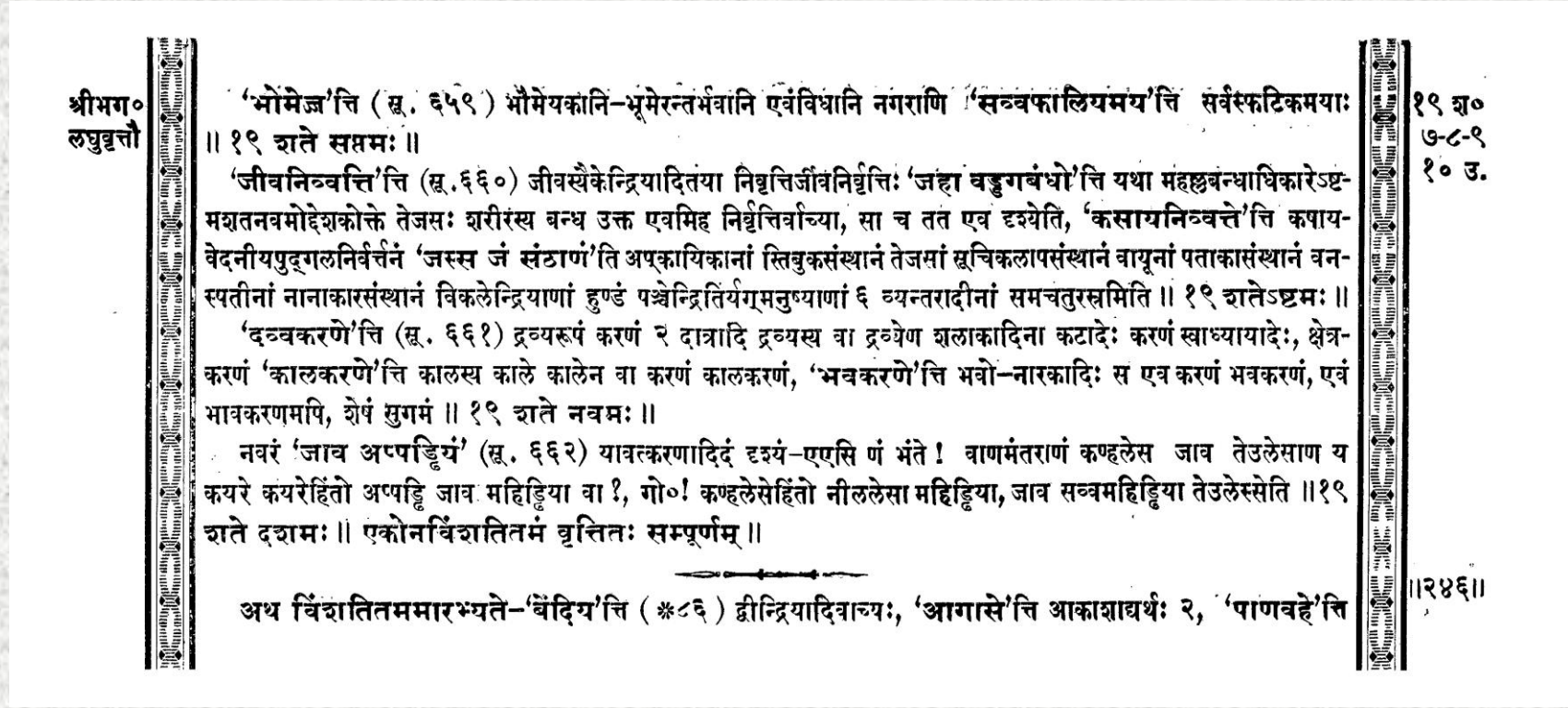

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'भोमेज्ज'त्ति (सू. ६५९) भौमेयकानि–भूमेरन्तर्भवानि एवंविधानि नगराणि 'सव्वफालियमय'त्ति सर्वस्फटिकमयाः ॥ १९ शते सप्तमः ॥

'जीवनिव्वत्ति'त्ति (सू.६६०) जीवस्यैकेन्द्रियादितया निर्वृत्तिर्जीवनिर्वृत्तिः 'जहा बंधो'त्ति यथा महल्लबन्धाधिकारेऽष्टमशतनवमोद्देशकोक्ते तेजसः शरीरस्य बन्ध उक्त एवमिह निर्वृत्तिरुक्ता, सा च तत एव दृश्येति, 'कसायनिव्वत्ते'त्ति कषायवेदनीयपुद्गलनिर्वर्त्तनं 'जस्स जं संठाणं'ति अप्कायिकानां स्तिबुकसंस्थानं तेजसां सूचिकलापसंस्थानं वायूनां पताकासंस्थानं वनस्पतीनां नानाकारसंस्थानं विकलेन्द्रियाणां हुण्डं पञ्चेन्द्रितिर्यग्मनुष्याणां ६ व्यन्तरादीनां समचतुरस्रमिति ॥ १९ शतेऽष्टमः ॥

'दव्वकरणे'त्ति (सू. ६६१) द्रव्यरूपं करणं २ दात्रादि द्रव्यस्य वा द्रव्येण शलाकादिना कटादेः करणं स्वाध्यायादेः, क्षेत्रकरणं 'कालकरणे'त्ति कालस्य काले कालेन वा करणं कालकरणं, 'भवकरणे'त्ति भवो–नारकादिः स एव करणं भवकरणं, एवं भावकरणमपि, शेषं सुगमं ॥ १९ शते नवमः ॥

नवरं 'जाव अप्पड्ढियं' (सू. ६६२) यावत्करणादिदं दृश्यं–एएसि णं भंते! वाणमंतराणं कण्हलेस जाव तेउलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पड्ढि जाव महिड्ढिया वा?, गो०! कण्हलेसेहिंतो नीललेसा महिड्ढिया, जाव सव्वमहिड्ढिया तेउलेस्सेति ॥१९ शते दशमः ॥ एकोनविंशतितमं वृत्तितः सम्पूर्णम् ॥

अथ विंशतितममारभ्यते–'बेंदिय'त्ति (*८६) द्वीन्द्रियादिवाच्यः, 'आगासे'त्ति आकाशाद्यर्थः २, 'पाणवहे'त्ति

१९ श० ७-८-९ १० उ.

॥२४६॥

*** अत्र शतक-१९ समाप्तं. अथ शतक-२० आरभ्यते

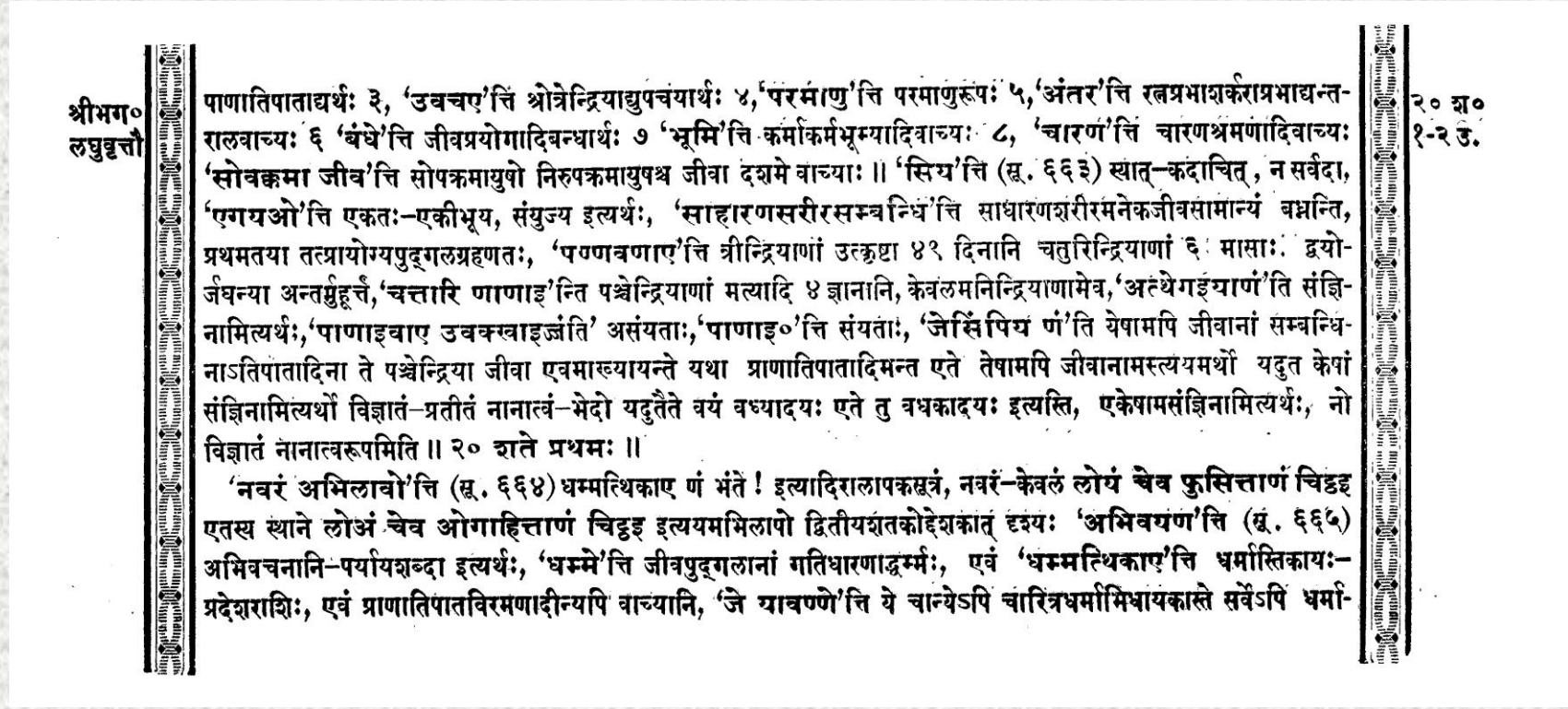

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पाणातिपातादयर्थः ३, ‘उवचए’त्ति श्रोत्रेन्द्रियाद्युपचयार्थः ४,‘परमाणु’त्ति परमाणुरूपः ५,‘अंतर’त्ति रत्नप्रभाशर्कराप्रभाद्यन्तरालवाच्यः ६ ‘बंधे’त्ति जीवप्रयोगादिबन्धार्थः ७ ‘भूमि’त्ति कर्मकर्मभूम्यादिवाच्यः ८, ‘चारण’त्ति चारणश्रमणादिवाच्यः ‘सोवक्कमा जीव’त्ति सोपक्रमायुषो निरुपक्रमायुषश्च जीवा दशमे वाच्याः ॥ ‘सिय’त्ति (सू. ६६३) स्यात्–कदाचित्, न सर्वदा, ‘एगयओ’त्ति एकतः–एकीभूय, संयुज्य इत्यर्थः, ‘साहारणसरीरसम्बन्धि’त्ति साधारणशरीरमनेकजीवसामान्यं बध्नन्ति, प्रथमतया तत्प्रायोग्यपुद्गलग्रहणतः, ‘पण्णवणाए’त्ति त्रीन्द्रियाणां उत्कृष्टा ४९ दिनानि चतुरिन्द्रियाणां ६ मासाः. द्वयोर्जघन्या अन्तर्मुहूर्त्त,‘चत्तारि णाणाइ’न्ति पञ्चेन्द्रियाणां मत्यादि ४ ज्ञानानि, केवलमनिन्द्रियाणामेव,‘अत्थेगइयाणं’ति संज्ञिनामित्यर्थः,‘पाणाइवाए उवक्खाइज्जंति’ असंयताः,‘पाणाइ०’त्ति संयताः, ‘जेसिंपियणं’ति येषामपि जीवानां सम्बन्धिनाऽतिपातादिना ते पञ्चेन्द्रिया जीवा एवमाख्यायन्ते यथा प्राणातिपातादिमन्त एते तेषामपि जीवानामस्त्ययमर्थो यदुत केषां संज्ञिनामित्यर्थो विज्ञातं–प्रतीतं नानात्वं–भेदो यदुतैते वयं वध्यादयः एते तु वधकादयः इत्यस्ति, एकेषामसंज्ञिनामित्यर्थः, नो विज्ञातं नानात्वरूपमिति ॥ २० शते प्रथमः ॥

‘नवरं अभिलावो’त्ति (सू. ६६४) धम्मत्थिकाए णं भंते ! इत्यादिरालापकसूत्रं, नवरं–केवलं लोयं चेव फुसित्ताणं चिट्ठइ एतस्य स्थाने लोअं चेव ओगाहित्ताणं चिट्ठइ इत्ययमभिलापो द्वितीयशतकोद्देशकात् दृश्यः ‘अभिवयणं’त्ति (सू. ६६५) अभिवचनानि–पर्यायशब्दा इत्यर्थः, ‘धम्मे’त्ति जीवपुद्गलानां गतिधारणाद्धर्म्मः, एवं ‘धम्मत्थिकाए’त्ति धर्मास्तिकायः–प्रदेशराशिः, एवं प्राणातिपातविरमणादीन्यपि वाच्यानि, ‘जे यावण्णे’त्ति ये चान्येऽपि चारित्रधर्मामिधायकास्ते सर्वेऽपि धर्मा-

२० श० १-२ उ.

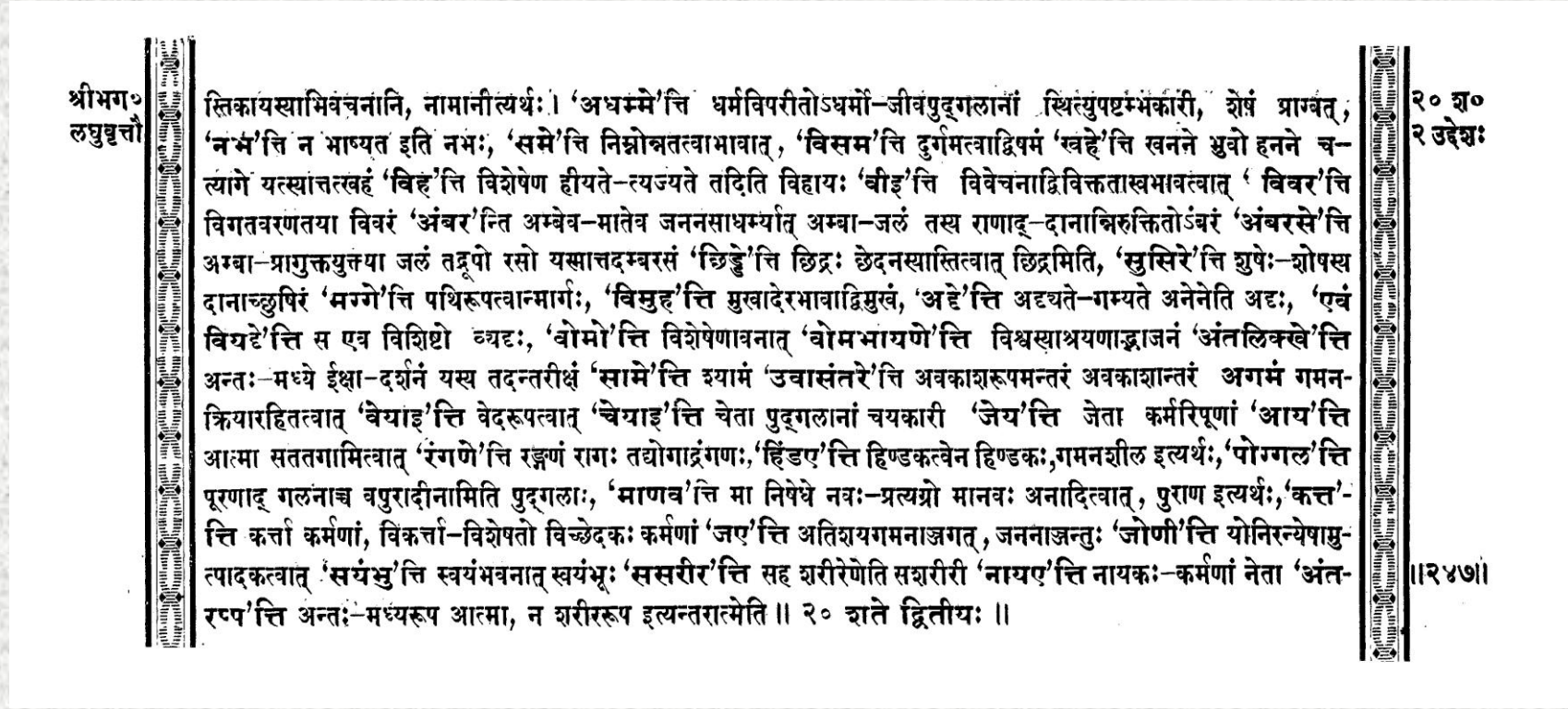

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्तिकायस्याभिवचनानि, नामानीत्यर्थः। 'अधम्मे'त्ति धर्मविपरीतोऽधर्मो–जीवपुद्गलानां स्थित्युपष्टम्भकारी, शेषं प्राग्वत्, 'नभ'त्ति न भाष्यत इति नभः, 'समे'त्ति निम्नोन्नतत्वाभावात्, 'विसम'त्ति दुर्गमत्वाद्विषमं 'खहे'त्ति खनने भुवो हनने च–त्यागे यत्स्यात्तत्खहं 'विहे'त्ति विशेषेण हीयते–त्यज्यते तदिति विहायः 'वीइ'त्ति विवेचनाद्विविक्ताख्यभावत्वात् 'विवर'त्ति विगतवरणतया विवरं 'अंबर'न्ति अम्बेव–मातेव जननसाधर्म्यात् अम्बा–जलं तस्य राणाद्–दानान्निरुक्तितोऽंबरं 'अंबरसे'त्ति अम्बा–प्रागुक्तयुक्तया जलं तद्रूपो रसो यस्यात्तदम्बरसं 'छिड्डे'त्ति छिद्रः छेदनस्यास्तित्वात् छिद्रमिति, 'सुसिरे'त्ति शुषेः–शोषस्य दानाच्छुषिरं 'मग्गे'त्ति पथिरूपत्वान्मार्गः, 'विमुहे'त्ति मुखादेरभावाद्विमुखं, 'अद्दे'त्ति अद्यते–गम्यते अनेनेति अद्दः, 'एवं वियद्दे'त्ति स एव विशिष्टो व्यद्दः, 'वोमो'त्ति विशेषेणावनात् 'वोमभायणे'त्ति विश्वस्याश्रयणाद्भाजनं 'अंतलिक्खे'त्ति अन्तः–मध्ये ईक्षा–दर्शनं यस्य तदन्तरीक्षं 'सामे'त्ति श्यामं 'उवासंतरे'त्ति अवकाशरूपमन्तरं अवकाशान्तरं अगमं गमन-क्रियारहितत्वात् 'वेयाइ'त्ति वेदरूपत्वात् 'चेयाइ'त्ति चेता पुद्गलानां चयकारी 'जेय'त्ति जेता कर्मरिपूणां 'आय'त्ति आत्मा सततगामित्वात् 'रंगणे'त्ति रङ्गणं रागः तद्योगाद्रंगणः,'हिंडए'त्ति हिण्डकत्वेन हिण्डकः,गमनशील इत्यर्थः,'पोग्गल'त्ति पूरणाद् गलनाच्च वपुरादीनामिति पुद्गलाः, 'माणव'त्ति मा निषेधे नवः–प्रत्यग्रो मानवः अनादित्वात्, पुराण इत्यर्थः,'कत्त'-त्ति कर्त्ता कर्मणां, विकर्त्ता–विशेषतो विच्छेदकः कर्मणां 'जए'त्ति अतिशयगमनाज्जगत्, जननाज्जन्तुः 'जोणी'त्ति योनिरन्येषामु-त्पादकत्वात् 'सयंभु'त्ति स्वयंभवनात् स्वयंभूः 'ससरीर'त्ति सह शरीरेणेति सशरीरी 'नायए'त्ति नायकः–कर्मणां नेता 'अंत-रप्प'त्ति अन्तः–मध्यरूप आत्मा, न शरीररूप इत्यन्तरात्मेति॥ २० शते द्वितीयः॥

२० श० २ उद्देशः

॥२४७॥

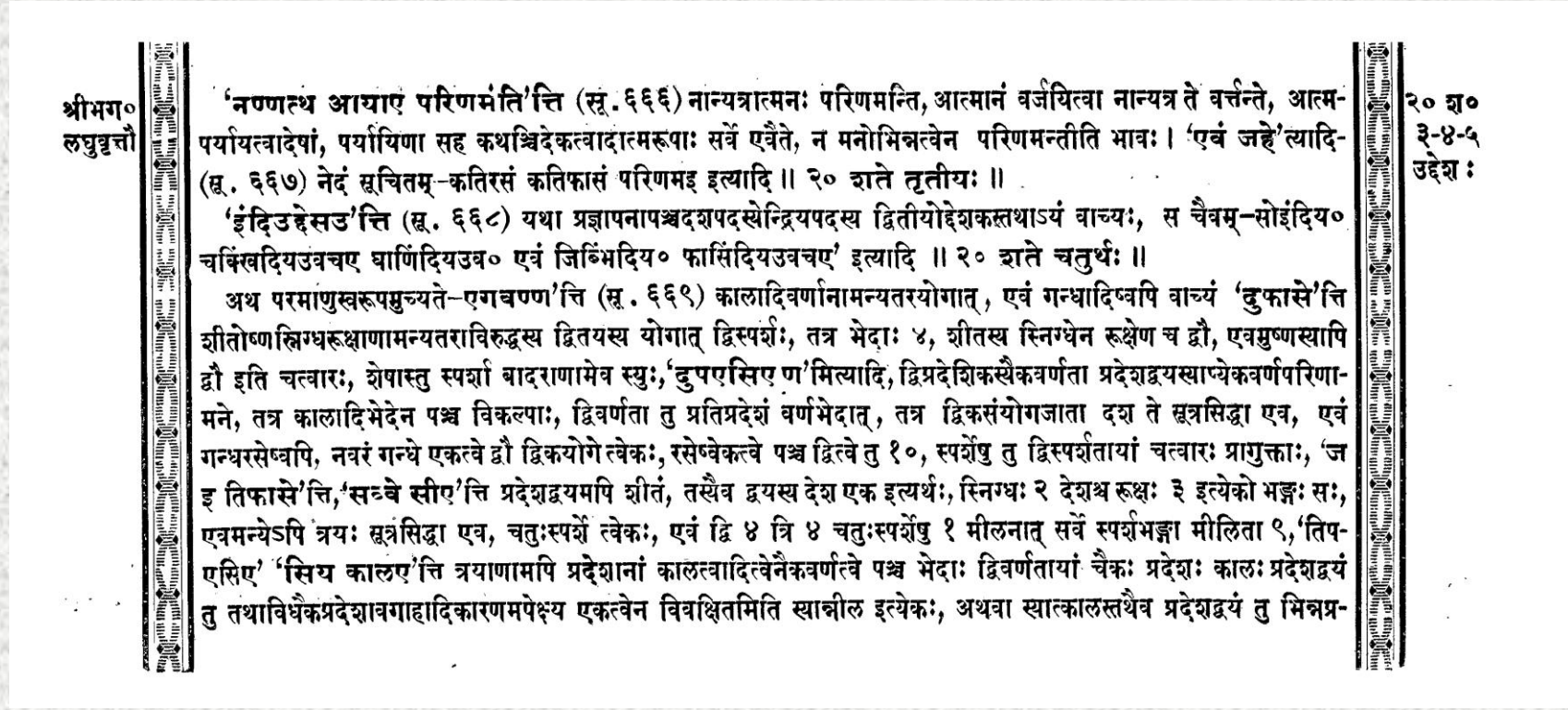

श्रीभग० लघुवृत्तौ

'नण्णत्थ आयाए परिणमंति'त्ति (सू. ६६६) नान्यत्रात्मनः परिणमन्ति, आत्मानं वर्जयित्वा नान्यत्र ते वर्त्तन्ते, आत्मपर्यायत्वादेषां, पर्यायिणा सह कथञ्चिदेकत्वादात्मरूपाः सर्वे एवैते, न मनोभिन्नत्वेन परिणमन्तीति भावः। 'एवं जहे'त्यादि-(सू. ६६७) नेदं सूचितम्-कतिरसं कतिफासं परिणमइ इत्यादि ॥ २० शते तृतीयः ॥

'इंदिउद्देसउ'त्ति (सू. ६६८) यथा प्रज्ञापनापञ्चदशपदस्येन्द्रियपदस्य द्वितीयोद्देशकस्तथाऽयं वाच्यः, स चैवम्-सोइंदिय० चक्खिंदियउवचए घाणिंदियउव० एवं जिब्भिंदिय० फासिंदियउवचए' इत्यादि ॥ २० शते चतुर्थः ॥

अथ परमाणुस्वरूपमुच्यते-एगवण्ण'त्ति (सू. ६६९) कालादिवर्णानामन्यतरयोगात्, एवं गन्धादिष्वपि वाच्यं 'दुफासे'त्ति शीतोष्णस्निग्धरूक्षाणामन्यतराविरुद्धस्य द्वितयस्य योगात् द्विस्पर्शः, तत्र भेदाः ४, शीतस्य स्निग्धेन रूक्षेण च द्वौ, एवमुष्णस्यापि द्वौ इति चत्वारः, शेषास्तु स्पर्शा बादराणामेव स्युः,'दुपएसिए ण'मित्यादि, द्विप्रदेशिकस्यैकवर्णता प्रदेशद्वयस्याप्येकवर्णपरिणामने, तत्र कालादिभेदेन पञ्च विकल्पाः, द्विवर्णता तु प्रतिप्रदेशं वर्णभेदात्, तत्र द्विकसंयोगजाता दश ते सूत्रसिद्धा एव, एवं गन्धरसेष्वपि, नवरं गन्धे एकत्वे द्वौ द्विकयोगे त्वेकः, रसेष्वेकत्वे पञ्च द्वित्वे तु १०, स्पर्शेषु तु द्विस्पर्शतायां चत्वारः प्रागुक्ताः, 'ज इ तिफासे'त्ति,'सव्वे सीए'त्ति प्रदेशद्वयमपि शीतं, तस्यैव द्वयस्य देश एक इत्यर्थः, स्निग्धः २ देशश्च रूक्षः ३ इत्येको भङ्गः सः, एवमन्येऽपि त्रयः सूत्रसिद्धा एव, चतुःस्पर्शे त्वेकः, एवं द्वि ४ त्रि ४ चतुःस्पर्शेषु १ मीलनात् सर्वे स्पर्शभङ्गा मीलिता ९,'तिपएसिए' 'सिय कालए'त्ति त्रयाणामपि प्रदेशानां कालत्वादित्वेनैकवर्णत्वे पञ्च भेदाः द्विवर्णतायां चैकः प्रदेशः कालः प्रदेशद्वयं तु तथाविधैकप्रदेशावगाहादिकारणमपेक्ष्य एकत्वेन विवक्षितमिति स्यान्नील इत्येकः, अथवा स्यात्कालस्तथैव प्रदेशद्वयं तु भिन्नप्र-

२० श० ३-४-५ उद्देश :

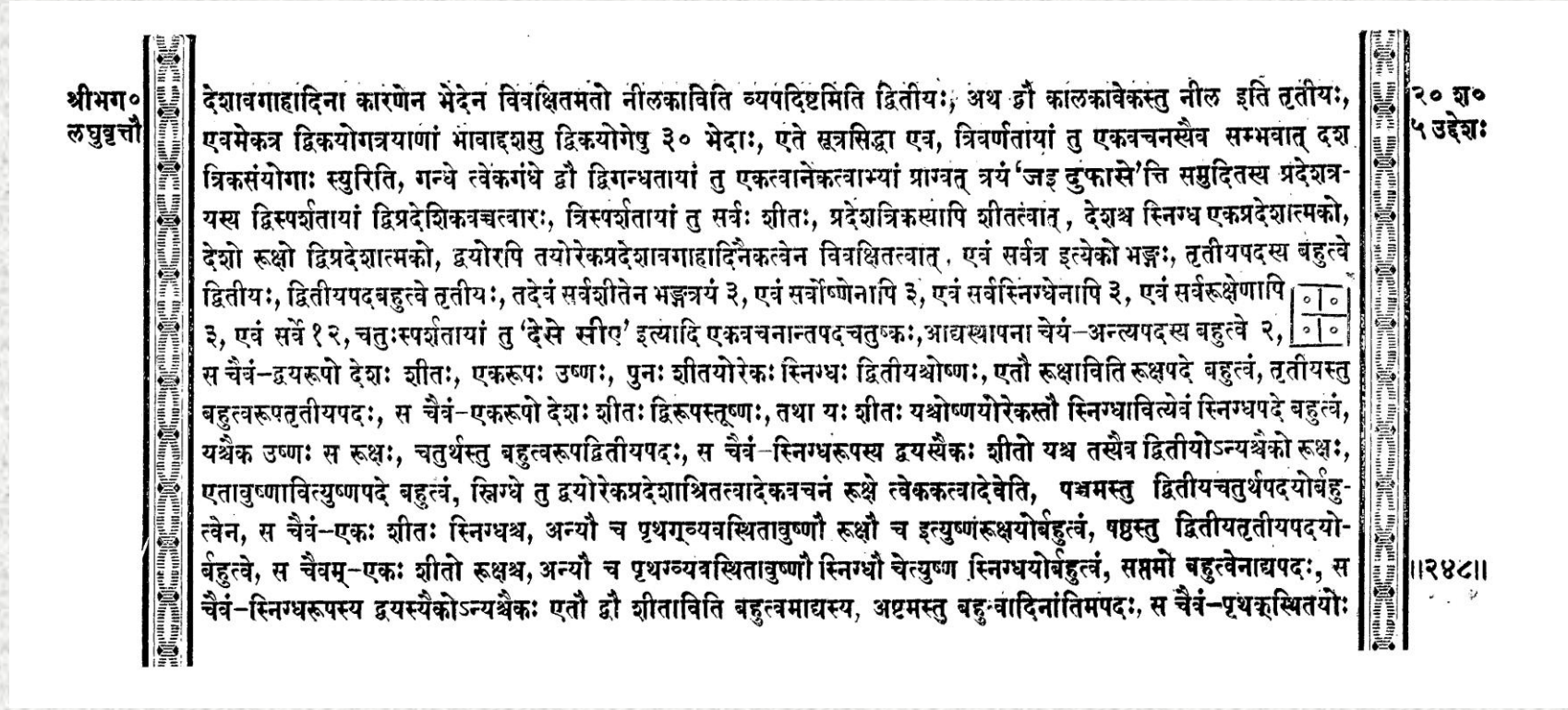

श्रीभग० लघुवृत्तौ

देशावगाहादिना कारणेन भेदेन विवक्षितमतो नीलकाविति व्यपदिष्टमिति द्वितीयः, अथ द्वौ कालकावेकस्तु नील इति तृतीयः, एवमेकत्र द्विकयोगत्रयाणां भावाद्दशसु द्विकयोगेषु ३० भेदाः, एते सूत्रसिद्धा एव, त्रिवर्णतायां तु एकवचनस्यैव सम्भवात् दश त्रिकसंयोगाः स्युरिति, गन्धे त्वेकगंधे द्वौ द्विगन्धतायां तु एकत्वानेकत्वाभ्यां प्राग्वत् त्रयं 'जइ दुफासे'त्ति समुदितस्य प्रदेशत्रयस्य द्विस्पर्शतायां द्विप्रदेशिकवच्चत्वारः, त्रिस्पर्शतायां तु सर्वः शीतः, प्रदेशत्रिकस्यापि शीतत्वात्, देशश्च स्निग्ध एकप्रदेशात्मको, देशो रूक्षो द्विप्रदेशात्मको, द्वयोरपि तयोरेकप्रदेशावगाहादिनैकत्वेन विवक्षितत्वात्, एवं सर्वत्र इत्येको भङ्गः, तृतीयपदस्य बहुत्वे द्वितीयः, द्वितीयपदबहुत्वे तृतीयः, तदेवं सर्वशीतेन भङ्गत्रयं ३, एवं सर्वोष्णेनापि ३, एवं सर्वस्निग्धेनापि ३, एवं सर्वरूक्षेणापि ३, एवं सर्वे १२, चतुःस्पर्शतायां तु 'देसे सीए' इत्यादि एकवचनान्तपदचतुष्कः, आद्यस्थापना चेयं–अन्त्यपदस्य बहुत्वे २, स चैवं–द्वयरूपो देशः शीतः, एकरूपः उष्णः, पुनः शीतयोरेकः स्निग्धः द्वितीयश्चोष्णः, एतौ रूक्षाविति रूक्षपदे बहुत्वं, तृतीयस्तु बहुत्वरूपतृतीयपदः, स चैवं–एकरूपो देशः शीतः द्विरूपस्तूष्णः, तथा यः शीतः यश्चोष्णयोरेकस्तौ स्निग्धाविति स्निग्धपदे बहुत्वं, यश्चैक उष्णः स रूक्षः, चतुर्थस्तु बहुत्वरूपद्वितीयपदः, स चैवं–स्निग्धरूपस्य द्वयस्यैकः शीतो यश्च तस्यैव द्वितीयोऽन्यश्चैको रूक्षः, एतावुष्णाविति उष्णपदे बहुत्वं, स्निग्धे तु द्वयोरेकप्रदेशाश्रितत्वादेकवचनं रूक्षे त्वेककत्वादेवेति, पञ्चमस्तु द्वितीयचतुर्थपदयोर्बहुत्वेन, स चैवं–एकः शीतः स्निग्धश्च, अन्यौ च पृथगुव्यवस्थितावुष्णौ रूक्षौ च इत्युष्णरूक्षयोर्बहुत्वं, षष्ठस्तु द्वितीयतृतीयपदयोर्बहुत्वे, स चैवम्–एकः शीतो रूक्षश्च, अन्यौ च पृथग्व्यवस्थितावुष्णौ स्निग्धौ चेत्युष्ण स्निग्धयोर्बहुत्वं, सप्तमो बहुत्वेनाद्यपदः, स चैवं–स्निग्धरूपस्य द्वयस्यैकोऽन्यश्चैकः एतौ द्वौ शीताविति बहुत्वमाद्यस्य, अष्टमस्तु बहुवादिनांतिमपदः, स चैवं–पृथक्स्थितयोः

२० श० ५ उद्देशः

॥२४८॥

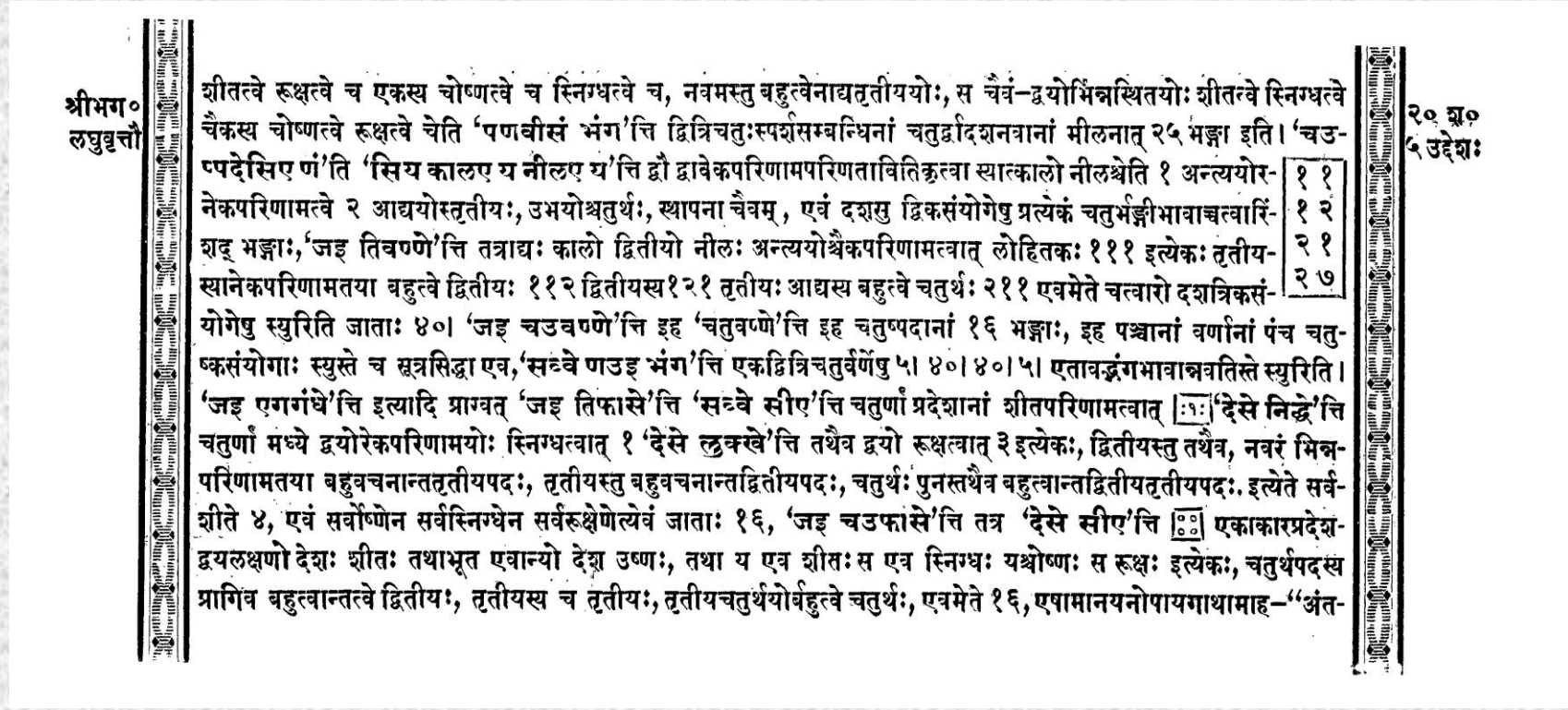

श्रीभग० लघुवृत्तौ

शीतत्वे रूक्षत्वे च एकस्य चोष्णत्वे च स्निग्धत्वे च, नवमस्तु बहुत्वेनाद्यतृतीययोः, स चैवं–द्वयोर्भिन्नस्थितयोः शीतत्वे स्निग्धत्वे चैकस्य चोष्णत्वे रूक्षत्वे चेति 'पणवीसं भंग'त्ति द्वित्रिचतुःस्पर्शसम्बन्धिनां चतुर्दशानां मीलनात् २५ भङ्गा इति। 'चउप्पदेसिए णं'ति 'सिय कालए य नीलए य'त्ति द्वौ द्वावेकपरिणामपरिणताविति कृत्वा स्यात्कालो नीलश्चेति १ अन्त्ययोरनेकपरिणामत्वे २ आद्ययोस्तृतीयः, उभयोश्चतुर्थः, स्थापना चैवम्, एवं दशसु द्विकसंयोगेषु प्रत्येकं चतुर्भङ्गीभावाच्चत्वारिंशद् भङ्गाः, 'जइ तिवण्णे'त्ति तत्राद्यः कालो द्वितीयो नीलः अन्त्ययोश्चैकपरिणामत्वात् लोहितकः १११ इत्येकः तृतीयस्यानेकपरिणामतया बहुत्वे द्वितीयः ११२ द्वितीयस्य १२१ तृतीयः आद्यस्य बहुत्वे चतुर्थः २११ एवमेते चत्वारो दशत्रिकसंयोगेषु स्युरिति जाताः ४०। 'जइ चउवण्णे'त्ति इह 'चतुवण्णे'त्ति इह चतुष्पदानां १६ भङ्गाः, इह पञ्चानां वर्णानां पंच चतुष्कसंयोगाः स्युस्ते च सूत्रसिद्धा एव, 'सव्वे णउइ भंग'त्ति एकद्वित्रिचतुर्वर्णेषु ५। ४०। ४०। ५। एतावद्भंगभावान्नवतिस्ते स्युरिति। 'जइ एगगंधे'त्ति इत्यादि प्राग्वत् 'जइ तिफासे'त्ति 'सव्वे सीए'त्ति चतुर्णां प्रदेशानां शीतपरिणामत्वात् [१:] 'देसे निद्धे'त्ति चतुर्णां मध्ये द्वयोरेकपरिणामयोः स्निग्धत्वात् १ 'देसे लुक्खे'त्ति तथैव द्वयो रूक्षत्वात् २ इत्येकः, द्वितीयस्तु तथैव, नवरं भिन्नपरिणामतया बहुवचनान्ततृतीयपदः, तृतीयस्तु बहुवचनान्तद्वितीयपदः, चतुर्थः पुनस्तथैव बहुत्वान्तद्वितीयतृतीयपदः. इत्येते सर्वशीते ४, एवं सर्वोष्णेन सर्वस्निग्धेन सर्वरूक्षेणेत्येवं जाताः १६, 'जइ चउफासे'त्ति तत्र 'देसे सीए'त्ति [०:] एकाकारप्रदेशद्वयलक्षणो देशः शीतः तथाभूत एवान्यो देश उष्णः, तथा य एव शीतः स एव स्निग्धः यश्चोष्णः स रूक्षः इत्येकः, चतुर्थपदस्य प्रागिव बहुत्वान्तत्वे द्वितीयः, तृतीयस्य च तृतीयः, तृतीयचतुर्थयोर्बहुत्वे चतुर्थः, एवमेते १६, एषामानयनोपायगाथामाह–"अंत-

२० श० ५ उद्देशः

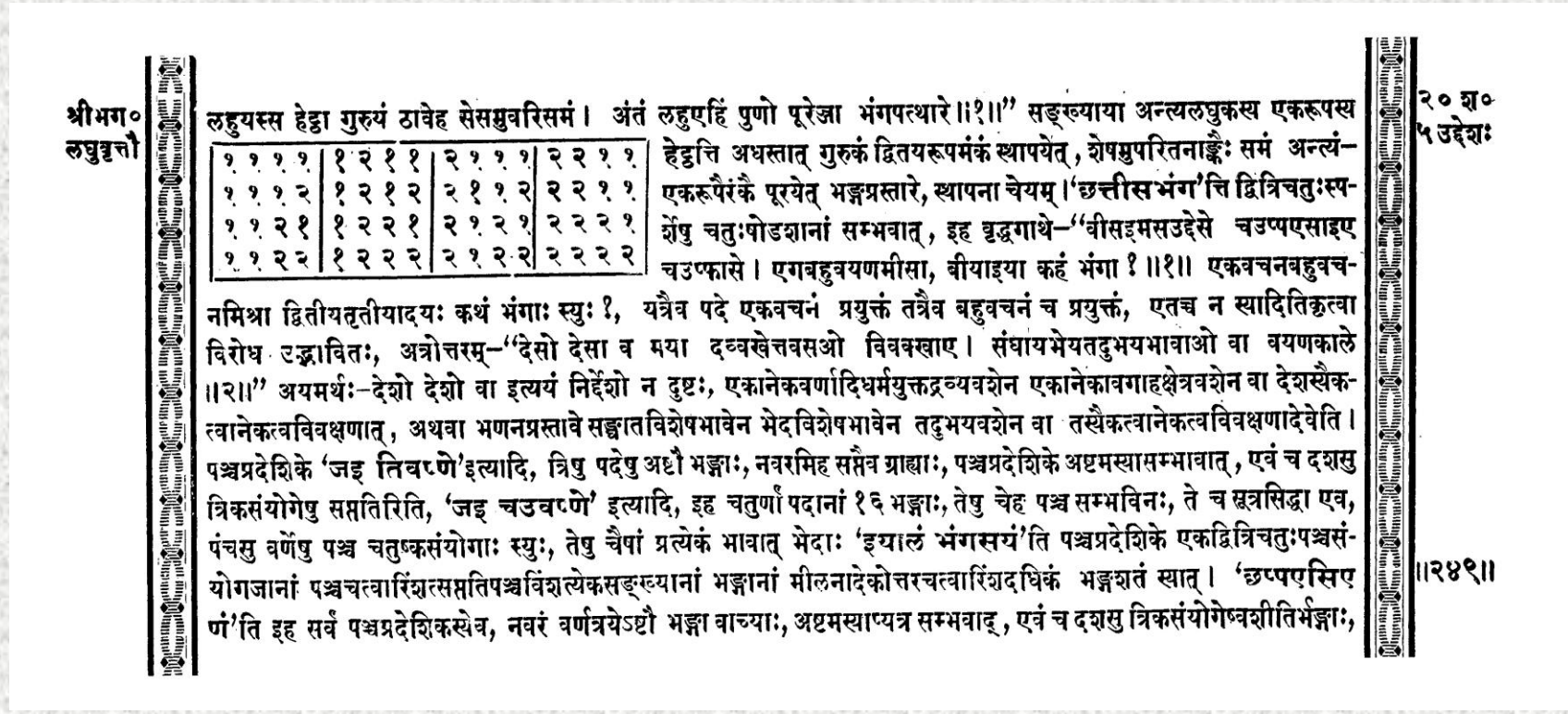

श्रीभग० लघुवृत्तौ

लहुयस्स हेट्ठा गुरुयं ठावेह सेसमुवरिसमं। अंतं लहुएहिं पुणो पूरेज्जा भंगपत्थारे॥१॥" सङ्ख्याया अन्त्यलघुकस्य एकरूपस्य हेट्ठत्ति अधस्तात् गुरुकं द्वितयरूपमंकं स्थापयेत्, शेषमुपरितनाङ्कैः समं अन्त्यं-एकरूपैरंकै पूरयेत् भङ्गप्रस्तारे, स्थापना चेयम्।'छत्तीसभंग'त्ति द्वित्रिचतुःस्थेषु चतुःषोडशानां सम्भवात्, इह वृद्धगाथे-"बीसइमसउद्देसे चउप्पएसाइए चउप्फासे। एगबहुवयणमीसा, बीयाइया कहं भंगा? ॥१॥ एकवचनबहुवचनमिश्रा द्वितीयतृतीयादयः कथं भंगाः स्युः?, यत्रैव पदे एकवचनं प्रयुक्तं तत्रैव बहुवचनं च प्रयुक्तं, एतच्च न स्यादितिकृत्वा विरोध उद्भावितः, अत्रोत्तरम्-"देसो देसा व मया दव्वखेत्तवसओ विवक्खाए। संघायभेयतदुभयभावाओ वा वयणकाले ॥२॥" अयमर्थः-देशो देशो वा इत्ययं निर्देशो न दुष्टः, एकानेकवर्णादिधर्मयुक्तद्रव्यवशेन एकानेकावगाहक्षेत्रवशेन वा देशस्यैकत्वानेकत्वविवक्षणात्, अथवा भणनप्रस्तावे सङ्घातविशेषभावेन भेदविशेषभावेन तदुभयवशेन वा तस्यैकत्वानेकत्वविवक्षणादेवेति। पञ्चप्रदेशिके 'जइ तिवण्णे'इत्यादि, त्रिषु पदेषु अष्टौ भङ्गाः, नवरमिह सप्तैव ग्राह्याः, पञ्चप्रदेशिके अष्टमस्यासम्भवात्, एवं च दशसु त्रिकसंयोगेषु सप्ततिरिति, 'जइ चउवण्णे' इत्यादि, इह चतुर्णां पदानां १६ भङ्गाः, तेषु चेह पञ्च सम्भविनः, ते च सूत्रसिद्धा एव, पंचसु वर्णेषु पञ्च चतुष्कसंयोगाः स्युः, तेषु चैषां प्रत्येकं भावात् भेदाः 'इयालं भंगसयं'ति पञ्चप्रदेशिके एकद्वित्रिचतुःपञ्चसंयोगजानां पञ्चचत्वारिंशत्सप्ततिपञ्चविंशत्येकसङ्ख्यानां भङ्गानां मीलनादेकोत्तरचत्वारिंशदधिकं भङ्गशतं स्यात्। 'छप्पएसिएणं'ति इह सर्वं पञ्चप्रदेशिकस्येव, नवरं वर्णत्रयेऽष्टौ भङ्गा वाच्याः, अष्टमस्याप्यत्र सम्भवाद्, एवं च दशसु त्रिकसंयोगेष्वशीतिर्भङ्गाः,

१	१	१	१	१	१	१	१
१	१	१	२	१	१	२	१
१	१	२	१	१	२	१	१
१	१	२	२	१	२	२	१
१	२	१	१	२	१	१	१
१	२	१	२	२	१	२	१
१	२	२	१	२	२	१	१
१	२	२	२	२	२	२	१

२० श० ५ उद्देशः

॥२४९॥

चतुर्वर्णे तु प्रागुक्तानां अष्टमद्वादशान्तिमभंगत्रयवर्जितानां शेषा एकादश स्युः, एषां च पञ्चसु चतुष्कसंयोगेषु प्रत्येकं भावात् पञ्चपञ्चाशदिति ‘जइ पंचवण्णे’त्ति षड् भङ्गाः, ‘छ.सीयं भंगसयं’ति एकादिसंयोगसम्भवानां पञ्चचत्वारिंशदशीतिपञ्चाशत्–षट्सङ्ख्यभङ्गकानां मीलनात् षडुत्तराशीत्यधिकं भङ्गकशतं स्यादिति, ‘सत्तपएसिए’त्ति इह चतुर्वर्णत्वे प्रागुक्तानां षोडशानामन्तिमवर्जाः शेषाः १५ स्युः, एषां च पञ्चसु चतुष्कसंयोगेषु प्रत्येकं भावात् ७५ भङ्गाः ‘जइ पंचवण्णे’त्ति इह पञ्चानां पदानां ३२ भङ्गाः, स्युः, तेष्वाद्यानां षोडशानामष्टमद्वादशान्त्यत्रयवर्जिताः शेषाः उत्तरेषां च षोडशानामाद्यास्त्रयः पञ्चमनवमौ चैवं सर्वेऽपि १५ सम्भवन्ति, ‘दोसोला भंगसय’त्ति एकद्वित्रिचतुःपञ्चकसंयोगजानां पञ्चचत्वारिंशदशीतिपञ्चाधिकसप्ततिषोडशसङ्ख्यानां भङ्गकानां मीलनात् द्वे शते षोडशोत्तरे स्यातामिति ॥ ‘अट्ठपदेसिए’त्ति इह चतुर्वर्णत्वे प्रागुक्ताः १६ स्युः, तेषां च प्रत्येकं पञ्चसु चतुष्कसंयोगेषु भावात् ८० भङ्गाः, पञ्चवर्णत्वे तु ३२ भङ्गानां १६–२४–२८ अन्त्यत्रयवर्जाः शेषाः २६ भङ्गाः स्युः, ‘दो इक्कतीसाइं’ति प्रागुक्तानां पञ्चचत्वारिंशदशीत्यशीतिषडुत्तरविंशतिसङ्ख्यानां मीलनात् द्वे शते एकत्रिंशदुत्तरे स्यातां। ‘नवपदेसियस्स’त्ति इह पञ्चवर्णत्वे द्वात्रिंशद्भङ्गानामन्त्य एव न स्यात्, शेषं प्रागुक्तानुसारेण भाव्यं। ‘बादरपरिणए णं’ति (सू. ६७०) सर्व एव कर्कशो गुरुः शीतः स्निग्धश्च एकदैवाविरुद्धानां स्पर्शानां सम्भवादित्येको भङ्गः, चतुर्थपदव्यत्यये द्वितीयः, एवमेते एकादिपदव्यभिचारेण १६ भङ्गाः, ‘पंचप्फासे’त्ति कर्कशगुरुशीतैः स्निग्धरूक्षयोरेकानेकत्वकृता चतुर्भङ्गी लब्धा, एष्वेव च कर्कशगुरूष्णैर्लभ्यत इत्येवमष्टौ, एते चाष्टौ कर्कशगुरुभ्यामेव, अन्ये कर्कशलघुभ्यां, एवमेते १६ कर्कशपदेन लब्धाः, एत एव मृदुपदं लभत इत्येवं कर्कशपद एव द्वात्रिंशत् स्निग्धरूक्षयोरेकत्वादिना लब्धा, अन्या द्वात्रिंशच्छीतोष्णयोः अन्या च गुरुलघ्वोः

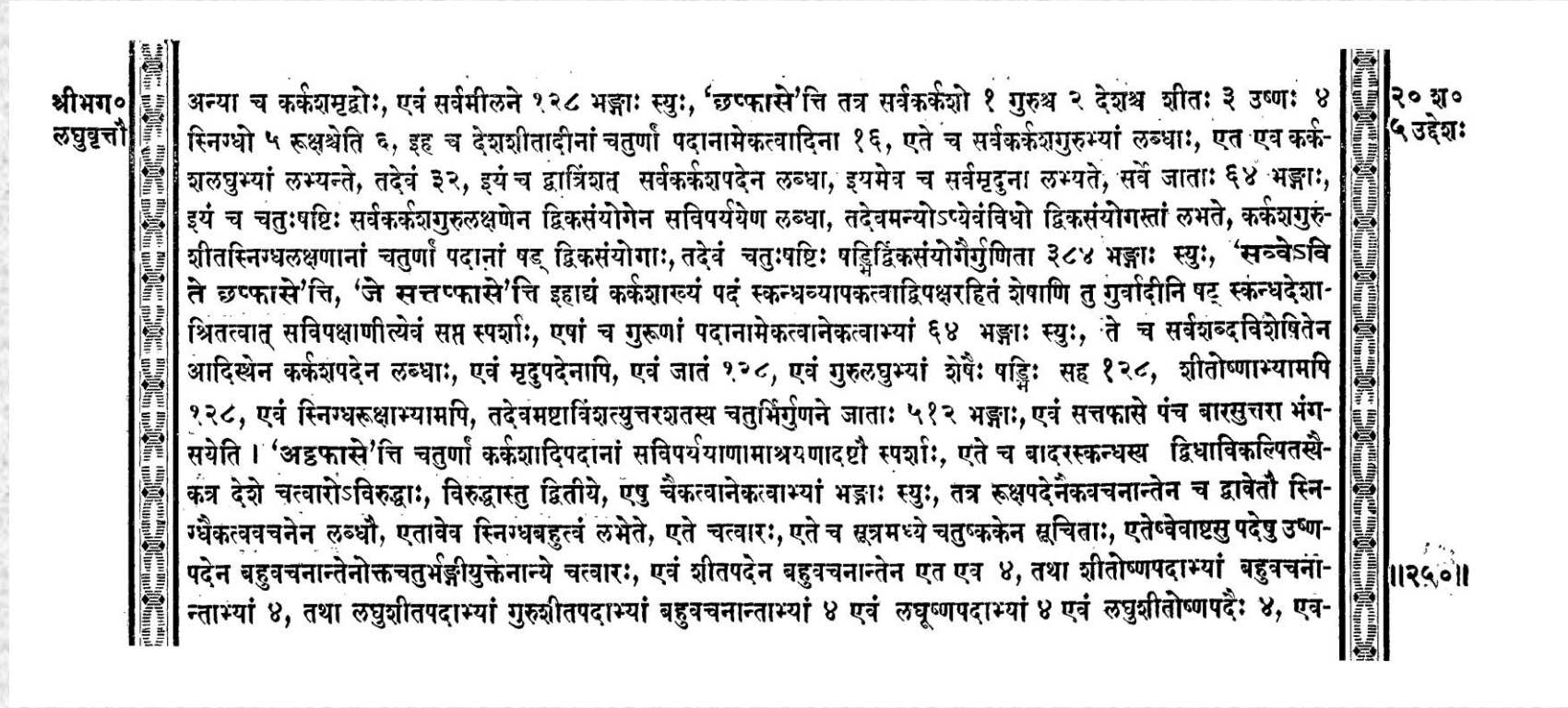

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अन्या च कर्कशमृद्वोः, एवं सर्वमीलने १२८ भङ्गाः स्युः, ‘छप्फासे’त्ति तत्र सर्वकर्कशो १ गुरुश्च २ देशश्च शीतः ३ उष्णः ४ स्निग्धो ५ रूक्षश्चेति ६, इह च देशशीतादीनां चतुर्णां पदानामेकत्वादिना १६, एते च सर्वकर्कशगुरुभ्यां लब्धाः, एत एव कर्कशलघुभ्यां लभ्यन्ते, तदेवं ३२, इयं च द्वात्रिंशत् सर्वकर्कशपदेन लब्धा, इयमेव च सर्वमृदुना लभ्यते, सर्वे जाताः ६४ भङ्गाः, इयं च चतुःषष्टिः सर्वकर्कशगुरुलक्षणेन द्विकसंयोगेन सविपर्ययेण लब्धा, तदेवमन्योऽप्येवंविधो द्विकसंयोगस्तां लभते, कर्कशगुरुशीतस्निग्धलक्षणानां चतुर्णां पदानां षड् द्विकसंयोगाः, तदेवं चतुःषष्टिः षड्भिर्द्विकसंयोगैर्गुणिता ३८४ भङ्गाः स्युः, ‘सव्वेऽवि ते छप्फासे’त्ति, ‘जे सत्तप्फासे’त्ति इहाद्यं कर्कशाख्यं पदं स्कन्धव्यापकत्वाद्विपक्षरहितं शेषाणि तु गुर्वादीनि षट् स्कन्धदेशाश्रितत्वात् सविपक्षाणीत्येवं सप्त स्पर्शाः, एषां च गुरूणां पदानामेकत्वानेकत्वाभ्यां ६४ भङ्गाः स्युः, ते च सर्वशब्दविशेषितेन आदिस्थेन कर्कशपदेन लब्धाः, एवं मृदुपदेनापि, एवं जातं १२८, एवं गुरुलघुभ्यां शेषैः षड्भिः सह १२८, शीतोष्णाभ्यामपि १२८, एवं स्निग्धरूक्षाभ्यामपि, तदेवमष्टाविंशत्युत्तरशतस्य चतुर्भिर्गुणने जाताः ५१२ भङ्गाः, एवं सत्तफासे पंच बारसुत्तरा भंगसयेति। ‘अट्ठफासे’त्ति चतुर्णां कर्कशादिपदानां सविपर्ययाणामाश्रयणादष्टौ स्पर्शाः, एते च बादरस्कन्धस्य द्विधाविकल्पितस्यैकत्र देशे चत्वारोऽविरुद्धाः, विरुद्धास्तु द्वितीये, एषु चैकत्वानेकत्वाभ्यां भङ्गाः स्युः, तत्र रूक्षपदेनैकवचनान्तेन च द्वावेतौ स्निग्धैकत्ववचनेन लब्धौ, एतावेव स्निग्धबहुत्वं लभेते, एते चत्वारः, एते च सूत्रमध्ये चतुष्ककेन सूचिताः, एतेष्वेवाष्टसु पदेषु उष्णपदेन बहुवचनान्तेनोक्तचतुर्भङ्गीयुक्तेनान्ये चत्वारः, एवं शीतपदेन बहुवचनान्तेन एत एव ४, तथा शीतोष्णपदाभ्यां बहुवचनान्ताभ्यां ४, तथा लघुशीतपदाभ्यां गुरुशीतपदाभ्यां बहुवचनान्ताभ्यां ४ एवं लघूष्णपदाभ्यां ४ एवं लघुशीतोष्णपदैः ४, एव-

२० श० ५ उद्देशः

॥२५०॥

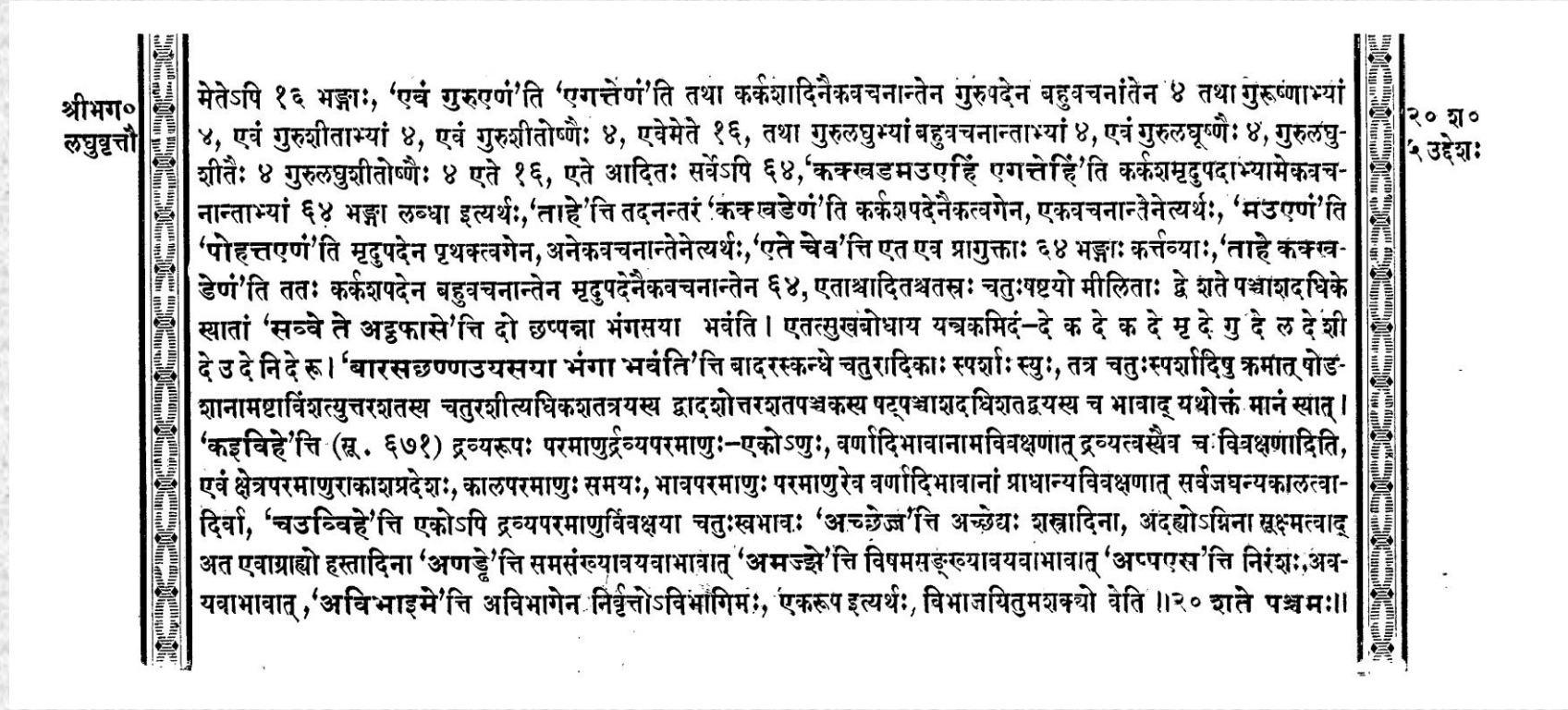

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मेतेऽपि १६ भङ्गाः, ‘एवं गुरुएणं’ति ‘एगत्तेणं’ति तथा कर्कशादिनैकवचनान्तेन गुरुपदेन बहुवचनांतेन ४ तथा गुरूष्णाभ्यां ४, एवं गुरुशीताभ्यां ४, एवं गुरुशीतोष्णैः ४, एवमेते १६, तथा गुरुलघुभ्यां बहुवचनान्ताभ्यां ४, एवं गुरुलघूष्णैः ४, गुरुलघुशीतैः ४ गुरुलघुशीतोष्णैः ४ एते १६, एते आदितः सर्वेऽपि ६४,‘कक्खडमउएहिं एगत्तेहिं’ति कर्कशमृदुपदाभ्यामेकवचनान्ताभ्यां ६४ भङ्गा लब्धा इत्यर्थः,‘ताहे’त्ति तदनन्तरं ‘कक्खडेणं’ति कर्कशपदेनैकत्वगेन, एकवचनान्तेनेत्यर्थः, ‘मउएणं’ति ‘पोहत्तएणं’ति मृदुपदेन पृथक्त्वगेन, अनेकवचनान्तेनेत्यर्थः,‘एते चेव’त्ति एत एव प्रागुक्ताः ६४ भङ्गाः कर्त्तव्याः,‘ताहे कक्खडेणं’ति ततः कर्कशपदेन बहुवचनान्तेन मृदुपदेनैकवचनान्तेन ६४, एताश्चादितश्चतस्रः चतुःषष्टयो मीलिताः द्वे शते पञ्चाशदधिके स्यातां ‘सव्वे ते अट्ठफासे’त्ति दो छप्पन्ना भंगसया भवंति। एतत्सुखबोधाय यन्त्रकमिदं–दे क दे क दे मृ दे गु दे ल दे शी दे उ दे नि दे रू। ‘बारसछण्णउयसया भंगा भवंति’त्ति बादरस्कन्धे चतुरादिकाः स्पर्शाः स्युः, तत्र चतुःस्पर्शादिषु क्रमात् षोडशानामष्टाविंशत्युत्तरशतस्य चतुरशीत्यधिकशतत्रयस्य द्वादशोत्तरशतपञ्चकस्य षट्पञ्चाशदधिशतद्वयस्य च भावाद् यथोक्तं मानं स्यात्। ‘कइविहे’त्ति (सू. ६७१) द्रव्यरूपः परमाणुर्द्रव्यपरमाणुः–एकोऽणुः, वर्णादिभावानामविवक्षणात् द्रव्यत्वस्यैव च विवक्षणादिति, एवं क्षेत्रपरमाणुराकाशप्रदेशः, कालपरमाणुः समयः, भावपरमाणुः परमाणुरेव वर्णादिभावानां प्राधान्यविवक्षणात् सर्वजघन्यकालत्वादिर्वा, ‘चउव्विहे’त्ति एकोऽपि द्रव्यपरमाणुर्विवक्षया चतुःस्वभावः ‘अच्छेज्ज’त्ति अच्छेद्यः शस्त्रादिना, अदह्योऽग्निना सूक्ष्मत्वाद् अत एवाग्राह्यो हस्तादिना ‘अणड्ढे’त्ति समसंख्यावयवाभावात् ‘अमज्झे’त्ति विषमसङ्ख्यावयवाभावात् ‘अप्पएस’त्ति निरंशः,अवयवाभावात्,‘अविभाइमे’त्ति अविभागेन निर्वृत्तोऽविभागिमः, एकरूप इत्यर्थः, विभाजयितुमशक्यो वेति ॥२० शते पञ्चमः॥

२० श० ५ उद्देशः

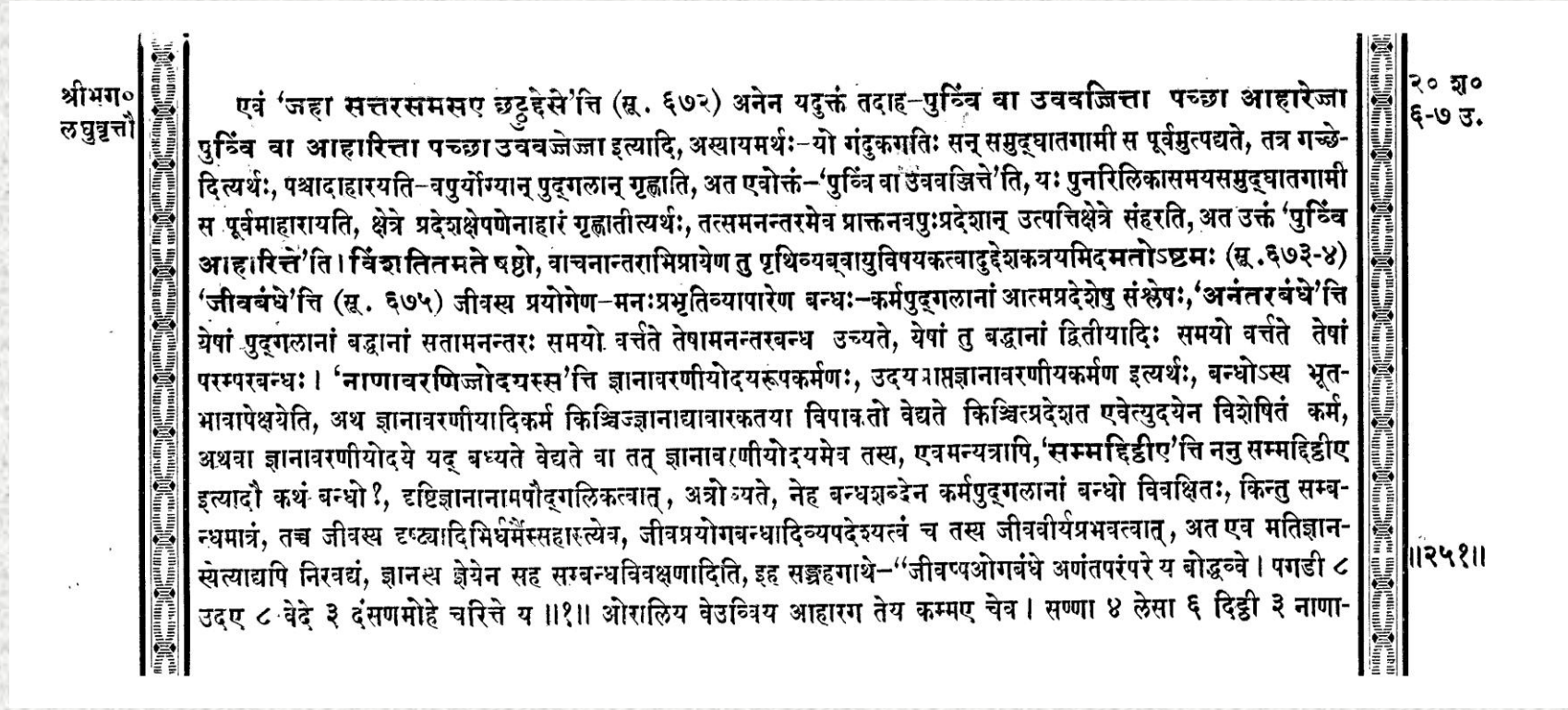

श्रीभग० लघुवृत्तौ

एवं 'जहा सत्तरसमसए छट्ठुद्देसे'त्ति (सू. ६७२) अनेन यदुक्तं तदाह–पुव्विं वा उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा पुव्विं वा आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जा इत्यादि, अस्यायमर्थः–यो गंदुकगतिः सन् समुद्घातगामी स पूर्वमुत्पद्यते, तत्र गच्छेदित्यर्थः, पश्चादाहारयति–वपुर्योग्यान् पुद्गलान् गृह्णाति, अत एवोक्तं–'पुव्विं वा उववज्जित्ते'ति, यः पुनरिलिकासमयसमुद्घातगामी स पूर्वमाहारायति, क्षेत्रे प्रदेशक्षेपणेनाहारं गृह्णातीत्यर्थः, तत्समनन्तरमेव प्राक्तनवपुःप्रदेशान् उत्पत्तिक्षेत्रे संहरति, अत उक्तं 'पुव्विं आहारित्ते'ति। **विंशतितमते षष्ठो**, वाचनान्तराभिप्रायेण तु पृथिव्यब्वायुविषयकत्वादुद्देशकत्रयमिदमतोऽष्टमः (सू.६७३-४) 'जीवबंधे'त्ति (सू. ६७५) जीवस्य प्रयोगेण–मनःप्रभृतिव्यापारेण बन्धः–कर्मपुद्गलानां आत्मप्रदेशेषु संश्लेषः,'अनंतरबंधे'त्ति येषां पुद्गलानां बद्धानां सतामनन्तरः समयो वर्त्तते तेषामनन्तरबन्ध उच्यते, येषां तु बद्धानां द्वितीयादिः समयो वर्त्तते तेषां परम्परबन्धः। 'नाणावरणिज्जोदयस्स'त्ति ज्ञानावरणीयोदयरूपकर्मणः, उदयप्राप्तज्ञानावरणीयकर्मण इत्यर्थः, बन्धोऽस्य भूतभावापेक्षयेति, अथ ज्ञानावरणीयादिकर्म किञ्चिज्ज्ञानाद्यावारकतया विपाकतो वेद्यते किञ्चित्प्रदेशत एवेत्युदयेन विशेषितं कर्म, अथवा ज्ञानावरणीयोदये यद् बध्यते वेद्यते वा तत् ज्ञानावरणीयोदयमेव तस्य, एवमन्यत्रापि,'सम्मद्दिट्ठीए'त्ति ननु सम्मद्दिट्ठीए इत्यादौ कथं बन्धो?, दृष्टिज्ञानानामपौद्गलिकत्वात्, अत्रोच्यते, नेह बन्धशब्देन कर्मपुद्गलानां बन्धो विवक्षितः, किन्तु सम्बन्धमात्रं, तच्च जीवस्य दृष्ट्यादिभिर्धर्मैस्सहास्त्येव, जीवप्रयोगबन्धादिव्यपदेश्यत्वं च तस्य जीववीर्यप्रभवत्वात्, अत एव मतिज्ञानस्येत्याद्यपि निरवद्यं, ज्ञानस्य ज्ञेयेन सह सम्बन्धविवक्षणादिति, इह सङ्ग्रहगाथे–"जीवप्पओगबंधे अणंतपरंपरे य बोद्धव्वे। पगडी ८ उदए ८ वेदे ३ दंसणमोहे चरित्ते य ॥१॥ ओरालिय वेउव्विय आहारग तेय कम्मए चेव। सण्णा ४ लेसा ६ दिट्ठी ३ नाणा-

२० श० ६-७ उ.

॥२५१॥

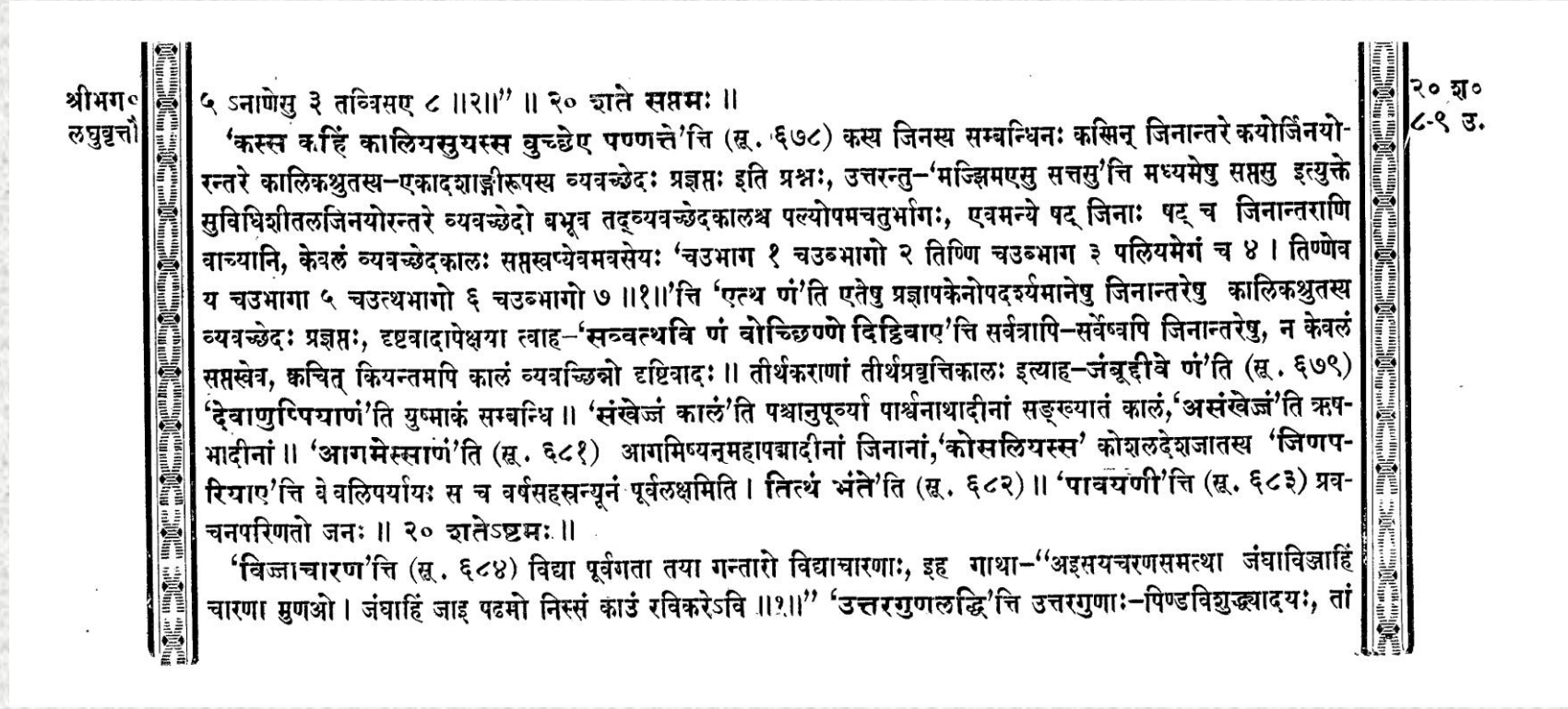

श्रीभग० लघुवृत्तौ

५ ऽनाणेसु ३ तव्विसए ८ ॥२॥" ॥ २० शते सप्तमः ॥

'कस्स कहिं कालियसुयस्स वुच्छेए पण्णत्ते'त्ति (सू. ६७८) कस्य जिनस्य सम्बन्धिनः कस्मिन् जिनान्तरे कयोर्जिनयोरन्तरे कालिकश्रुतस्य-एकादशाङ्गीरूपस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः इति प्रश्नः, उत्तरन्तु-'मज्झिमएसु सत्तसु'त्ति मध्यमेषु सप्तसु इत्युक्ते सुविधिशीतलजिनयोरन्तरे व्यवच्छेदो बभूव तद्व्यवच्छेदकालश्च पल्योपमचतुर्भागः, एवमन्ये षट् जिनाः षट् च जिनान्तराणि वाच्यानि, केवलं व्यवच्छेदकालः सप्तस्वप्येवमवसेयः 'चउभाग १ चउब्भागो २ तिण्णि चउब्भाग ३ पलियमेगं च ४ । तिण्णेव य चउभागा ५ चउत्थभागो ६ चउब्भागो ७ ॥१॥'त्ति 'एत्थ णं'ति एतेषु प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानेषु जिनान्तरेषु कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः, दृष्टवादापेक्षया त्वाह-'सव्वत्थवि णं वोच्छिण्णे दिट्ठिवाए'त्ति सर्वत्रापि-सर्वेष्वपि जिनान्तरेषु, न केवलं सप्तस्वेव, क्वचित् कियन्तमपि कालं व्यवच्छिन्नो दृष्टिवादः ॥ तीर्थकराणां तीर्थप्रवृत्तिकालः इत्याह-'जंबूदीवे णं'ति (सू. ६७९) 'देवाणुप्पियाणं'ति युष्माकं सम्बन्धि ॥ 'संखेज्जं कालं'ति पश्चानुपूर्व्या पार्श्वनाथादीनां सङ्ख्यातं कालं,'असंखेज्जं'ति ऋषभादीनां ॥ 'आगमेस्साणं'ति (सू. ६८१) आगमिष्यन्महापद्मादीनां जिनानां,'कोसलियस्स' कोशलदेशजातस्य 'जिणपरियाए'त्ति वेवलिपर्यायः स च वर्षसहस्रन्यूनं पूर्वलक्षमिति । तित्थं भंते'ति (सू. ६८२) ॥ 'पावयणी'त्ति (सू. ६८३) प्रवचनपरिणतो जनः ॥ २० शतेऽष्टमः ॥

'विज्जाचारण'त्ति (सू. ६८४) विद्या पूर्वगता तया गन्तारो विद्याचारणाः, इह गाथा-"अइसयचरणसमत्था जंघाविज्जाहिं चारणा मुणओ । जंघाहिं जाइ पढमो निस्सं काउं रविकरेऽवि ॥१॥" 'उत्तरगुणलद्धि'त्ति उत्तरगुणाः-पिण्डविशुद्ध्यादयः, तां

२० श० ८-९ उ.

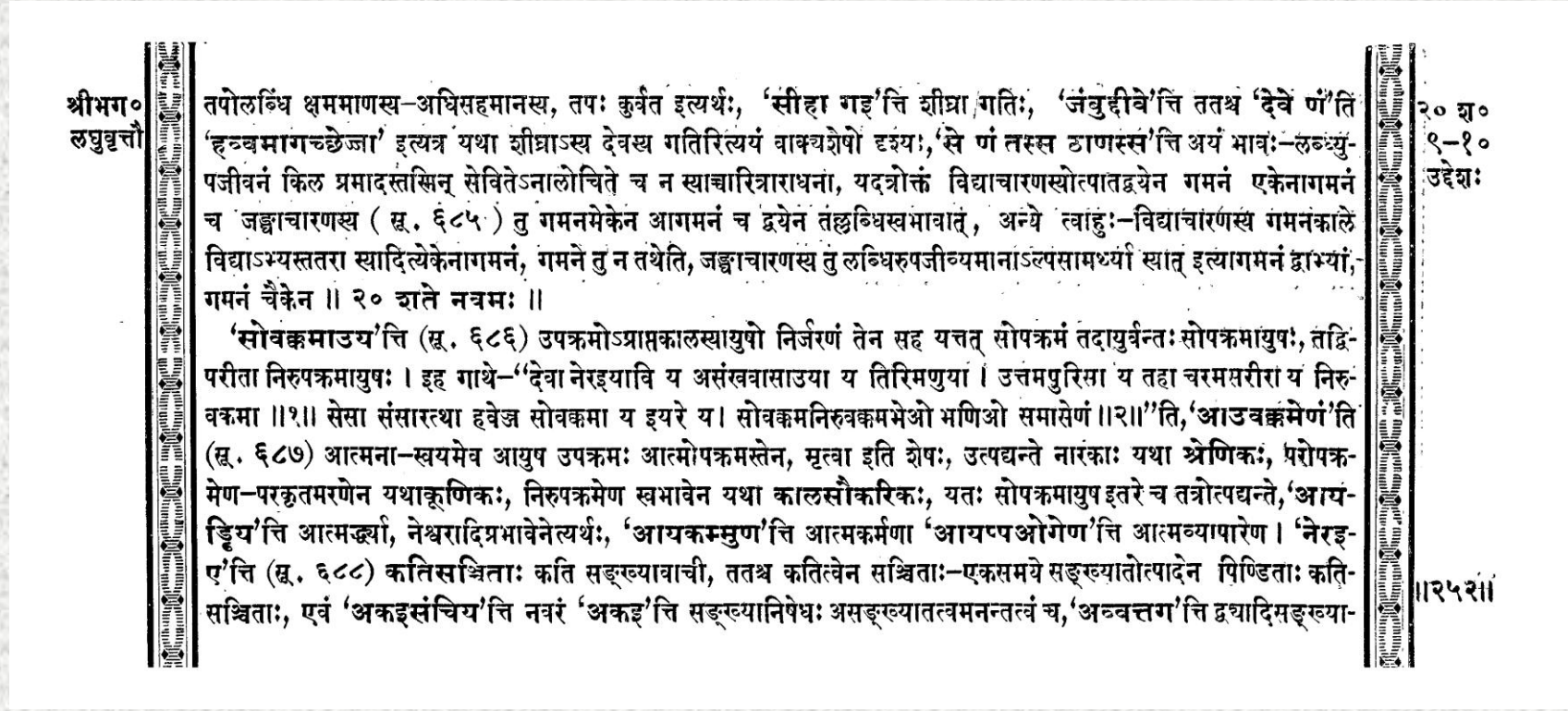

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तपोलब्धिं क्षममाणस्य–अधिसहमानस्य, तपः कुर्वत इत्यर्थः, 'सीहा गइ'त्ति शीघ्रा गतिः, 'जंबुद्दीवे'त्ति ततश्च 'देवे णं'ति 'हव्वमागच्छेज्जा' इत्यत्र यथा शीघ्राऽस्य देवस्य गतिरित्ययं वाक्यशेषो दृश्यः,'से णं तस्स ठाणस्स'त्ति अयं भावः–लब्ध्युपजीवनं किल प्रमादस्तस्मिन् सेवितेऽनालोचिते च न स्याच्चारित्राराधना, यदत्रोक्तं विद्याचारणस्योत्पातद्वयेन गमनं एकेनागमनं च जङ्घाचारणस्य (सू. ६८५) तु गमनमेकेन आगमनं च द्वयेन तल्लब्धिस्वभावात्, अन्ये त्वाहुः–विद्याचारणस्य गमनकाले विद्याऽभ्यस्ततरा स्यादित्येकेनागमनं, गमने तु न तथेति, जङ्घाचारणस्य तु लब्धिरुपजीव्यमानाऽल्पसामर्थ्या स्यात् इत्यागमनं द्वाभ्यां, गमनं चैकेन ॥ २० शते नवमः ॥

'सोवक्कमाउय'त्ति (सू. ६८६) उपक्रमोऽप्राप्तकालस्यायुषो निर्जरणं तेन सह यत्तत् सोपक्रमं तदायुर्वन्तः सोपक्रमायुषः, तद्विपरीता निरुपक्रमायुषः । इह गाथे–"देवा नेरइयावि य असंखवासाउया य तिरिमणुया । उत्तमपुरिसा य तहा चरमसरीरा य निरुवक्कमा ॥१॥ सेसा संसारत्था हवेज्ज सोवक्कमा य इयरे य। सोवक्कमनिरुवक्कमभेओ भणिओ समासेणं ॥२॥"ति,'आउवक्कमेणं'ति (सू. ६८७) आत्मना–स्वयमेव आयुष उपक्रमः आत्मोपक्रमस्तेन, मृत्वा इति शेषः, उत्पद्यन्ते नारकाः यथा श्रेणिकः, परोपक्रमेण–परकृतमरणेन यथाकूणिकः, निरुपक्रमेण स्वभावेन यथा कालसौकरिकः, यतः सोपक्रमायुष इतरे च तत्रोत्पद्यन्ते,'आयड्ढिय'त्ति आत्मर्द्ध्या, नेश्वरादिप्रभावेनेत्यर्थः, 'आयकम्मुण'त्ति आत्मकर्मणा 'आयप्पओगेण'त्ति आत्मव्यापारेण । 'नेरइए'त्ति (सू. ६८८) कतिसञ्चिताः कति सङ्ख्यावाची, ततश्च कतित्वेन सञ्चिताः–एकसमये सङ्ख्यातोत्पादेन पिण्डिताः कतिसञ्चिताः, एवं 'अकइसंचिय'त्ति नवरं 'अकइ'त्ति सङ्ख्यानिषेधः असङ्ख्यातत्वमनन्तत्वं च,'अवत्तव्वग'त्ति द्व्यादिसङ्ख्या-

२० श० ९–१० उद्देशः

॥२५२॥

व्यवहारतः शीर्षप्रहेलिकायाः परतः सङ्ख्यायाश्च सङ्ख्यातत्वेनासङ्ख्यातत्वेन च वक्तुं न शक्यते सः अवक्तव्यः, स एककस्तेना वक्तव्यत एककेन–एकत्वोत्पादेन सञ्चिता अवक्तव्यसञ्चिताः, तत्र नारकादयस्त्रिधा अपि, एकसमयेन तेषामेकादीनामसङ्ख्यातानान्तानामुत्पादात्, पृथ्वीकायादयस्तु पंच अकतिसञ्चिता एव, तेषां समयेनासङ्ख्यातानामेव प्रवेशात्, वनस्पतयस्तु यद्यपि अनन्ता उत्पद्यन्ते तथापि प्रवेशनं विजातीयेभ्य आगतानां यस्तत्रोत्पादस्तद्विवक्षितं, असङ्ख्याता एव च विजातीयेभ्य उद्वृत्तास्तत्रो त्पद्यन्ते इति सूत्रे उक्तं 'एवं जाव वणस्सइकाइय'त्ति, सिद्धा नोअकसिसञ्चिताः, अनन्तानामसङ्ख्यातानाञ्च तेषां समयेनास म्भवादिति ॥ एषामल्पबहुत्वमाह–'एएसि'न्ति अवक्तव्यकसञ्चिताः स्तोकाः, अवक्तव्यस्थानस्यैकत्वात्, कतिसञ्चिता सङ्ख्यात गुणाः, सङ्ख्यातस्थानकानां संख्यातभेदत्वात्, अकतिसञ्चितास्त्वसङ्ख्यातगुणाः, असङ्ख्यातस्थानकानामसङ्ख्यातत्वादित्येके, अन्ये त्वाहुः वस्तुस्वभावोऽत्र कारणं, न तु स्थानकाल्पत्वादि,कथमन्यथा सिद्धाः कतिसञ्चिताः,स्थानकबहुत्वेऽपि स्तोकाः,अवक्तव्यकाः स्थानकस्यैकत्वेऽपि सङ्ख्यातगुणाः, द्व्यादित्वेन केवलिनामल्पानामायुस्समाप्तेः, इयं च लोकस्वभावादेवेति १। 'नेरइयाणं'ति 'छक्क समज्जिय'त्ति षट् परिमाणमस्येति षट्कं–वृन्दं तेन समर्जिताः–पिण्डिताः षट्कसमर्जिताः, अयमर्थः–एकत्र समये ये षट्कसमर्जिता उच्यन्ते, 'नोछक्कसमज्जिय'त्ति नोषट्कं–षट्कभावः, ते चैकादयपञ्चान्ताः, तेन नोषट्केन एकाद्युत्पादेन ये समर्जितास्ते तथा २। तथा 'छक्केण य नो छक्केण य समज्जिय'त्ति एकत्र समये येषां षट्कमुत्पन्नमेकाद्यधिकं ते षट्केन नोषट्केन च समर्जिता उक्ताः ३। छक्के हि य समज्जिय'त्ति एकत्र समये येषां बहूनि षट्कान्युत्पन्नानि ते षट्कैः समर्जिता उक्ताः ४। तथा 'छक्केहि य नोछक्केण य सम ज्जिय'त्ति एकत्र समये येषां बहूनि षट्कान्येकाद्यधिकानि ते षट्कैर्नोषट्केन च समर्जिताः ५। एते पञ्च विकल्पाः, इह च नारकादीनां

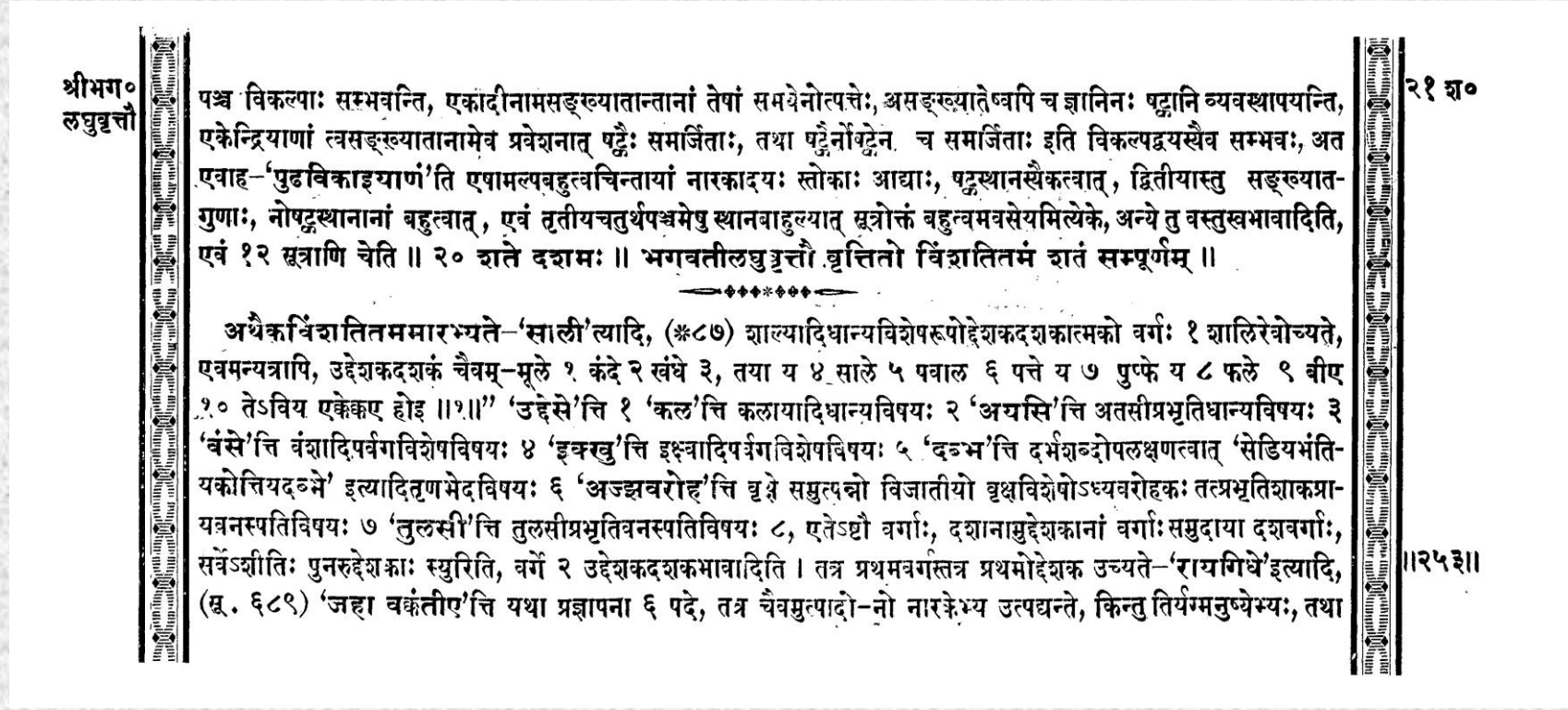

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पञ्च विकल्पाः सम्भवन्ति, एकादीनामसङ्ख्यातान्तानां तेषां समवेनोत्पत्तेः, असङ्ख्यातेष्वपि च ज्ञानिनः षट्टानि व्यवस्थापयन्ति, एकेन्द्रियाणां त्वसङ्ख्यातानामेव प्रवेशनात् षट्टैः समर्जिताः, तथा षट्टैर्नोषट्टेन च समर्जिताः इति विकल्पद्वयस्यैव सम्भवः, अत एवाह–‘पुढविकाइयाणं’ति एषामल्पबहुत्वचिन्तायां नारकादयः स्तोकाः आद्याः, षट्टस्थानस्यैकत्वात्, द्वितीयास्तु सङ्ख्यातगुणाः, नोषट्टस्थानानां बहुत्वात्, एवं तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु स्थानबाहुल्यात् सूत्रोक्तं बहुत्वमवसेयमित्येके, अन्ये तु वस्तुस्वभावादिति, एवं १२ सूत्राणि चेति ॥ २० शते दशमः ॥ भगवतीलघुवृत्तौ वृत्तितो विंशतितमं शतं सम्पूर्णम् ॥

अथैकविंशतितममारभ्यते–‘साली’त्यादि, (*८७) शाल्यादिधान्यविशेषरूपोद्देशकदशकात्मको वर्गः १ शालिरेवोच्यते, एवमन्यत्रापि, उद्देशकदशकं चैवम्–मूले १ कंदे २ खंधे ३, तया य ४ साले ५ पवाल ६ पत्ते य ७ पुप्फे य ८ फले ९ बीए १० तेऽविय एक्केक्कए होइ ॥१॥” ‘उद्देसे’त्ति १ ‘कल’त्ति कलायादिधान्यविषयः २ ‘अयसि’त्ति अतसीप्रभृतिधान्यविषयः ३ ‘वंसे’त्ति वंशादिपर्वगविशेषविषयः ४ ‘इक्खु’त्ति इक्ष्वादिपर्वगविशेषविषयः ५ ‘दब्भ’त्ति दर्भशब्दोपलक्षणत्वात् ‘सेडियभंतियकोत्तियदब्भे’ इत्यादितृणभेदविषयः ६ ‘अज्झवरोह’त्ति वृक्षे समुत्पन्नो विजातीयो वृक्षविशेषोऽध्यवरोहकः तत्प्रभृतिशाकप्रायवनस्पतिविषयः ७ ‘तुलसी’त्ति तुलसीप्रभृतिवनस्पतिविषयः ८, एतेऽष्टौ वर्गाः, दशानामुद्देशकानां वर्गाः समुदाया दशवर्गाः, सर्वेऽशीतिः पुनरुद्देशकाः स्युरिति, वर्गे २ उद्देशकदशकभावादिति । तत्र प्रथमवर्गस्तत्र प्रथमोद्देशक उच्यते–‘रायगिहे’इत्यादि, (सू. ६८९) ‘जहा वक्कंतीए’त्ति यथा प्रज्ञापना ६ पदे, तत्र चैवमुत्पादो–नो नारकेभ्य उत्पद्यन्ते, किन्तु तिर्यग्मनुष्येभ्यः, तथा

२१ श०

॥२५३॥

*** अत्र शतक-२० समाप्तं. अथ शतक-२१ आरभ्यते

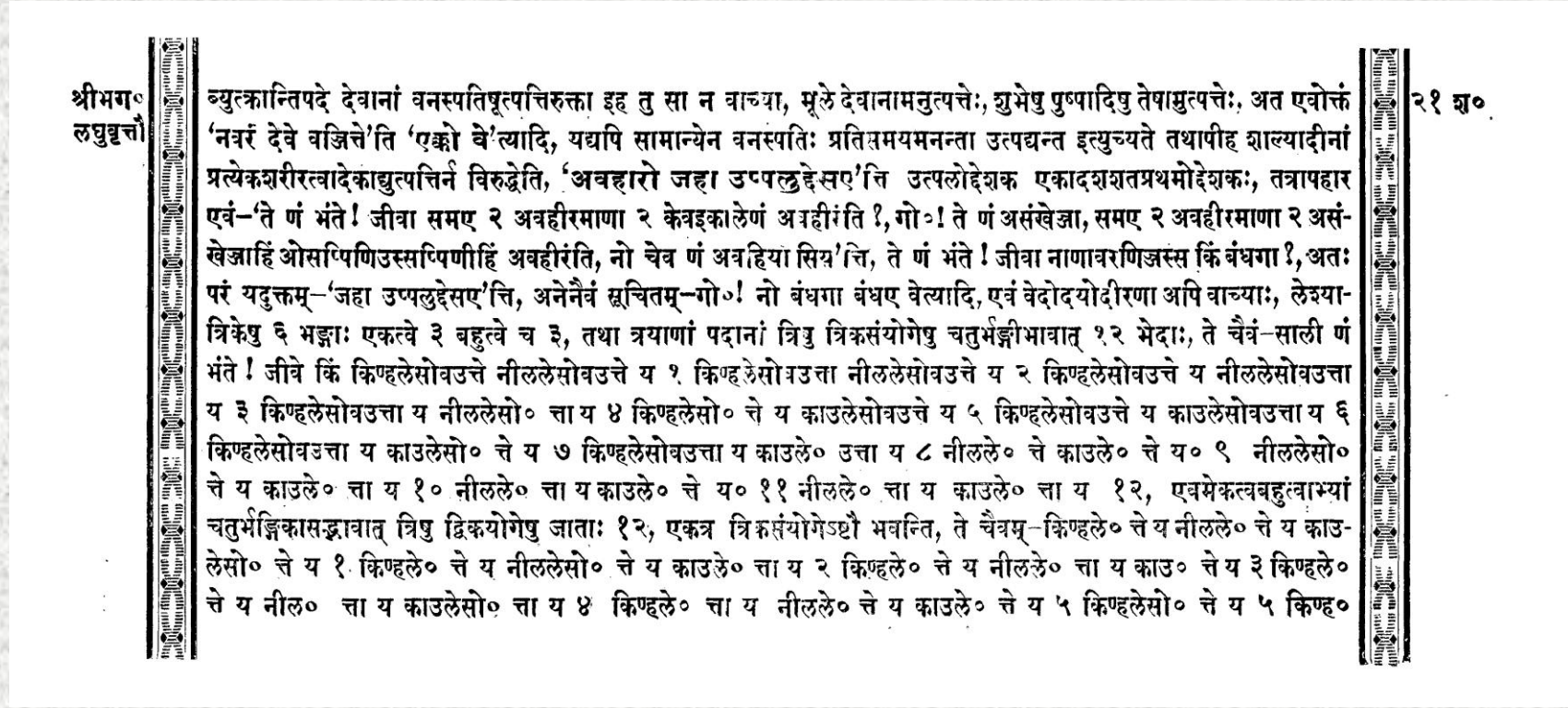

श्रीभग० लघुवृत्तौ

व्युत्क्रान्तिपदे देवानां वनस्पतिषूत्पत्तिरुक्ता इह तु सा न वाच्या, मूले देवानामनुत्पत्तेः, शुभेषु पुष्पादिषु तेषामुत्पत्तेः, अत एवोक्तं 'नवरं देवे वज्जित्ते'ति 'एक्को वे'त्यादि, यद्यपि सामान्येन वनस्पतिः प्रतिसमयमनन्ता उत्पद्यन्त इत्युच्यते तथापीह शाल्यादीनां प्रत्येकशरीरत्वादेकाद्युत्पत्तिर्न विरुद्धेति, 'अवहारो जहा उप्पलुद्देसए'त्ति उत्पलोद्देशक एकादशशतप्रथमोद्देशकः, तत्रापहार एवं–'ते णं भंते! जीवा समए २ अवहीरमाणा २ केवइकालेणं अवहीरंति ?, गो०! ते णं असंखेज्जा, समए २ अवहीरमाणा २ असंखेज्जाहिं ओसप्पिणिउस्सप्पिणीहिं अवहीरंति, नो चेव णं अवहिया सिय'त्ति, ते णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स किं बंधगा ?, अतः परं यदुक्तम्–'जहा उप्पलुद्देसए'त्ति, अनेनैवं सूचितम्–गो०! नो बंधगा बंधए वेत्यादि, एवं वेदोदयोदीरणा अपि वाच्याः, लेश्यात्रिकेषु ६ भङ्गाः एकत्वे ३ बहुत्वे च ३, तथा त्रयाणां पदानां त्रिषु त्रिकसंयोगेषु चतुर्भङ्गीभावात् १२ भेदाः, ते चैवं–साली णं भंते ! जीवे किं किण्हलेसोवउत्ते नीललेसोवउत्ते य १ किण्हलेसोवउत्ता नीललेसोवउत्ते य २ किण्हलेसोवउत्ते य नीललेसोवउत्ता य ३ किण्हलेसोवउत्ता य नीललेसो० त्ता य ४ किण्हलेसो० त्ते य काउलेसोवउत्ते य ५ किण्हलेसोवउत्ते य काउलेसोवउत्ता य ६ किण्हलेसोवउत्ता य काउलेसो० त्ते य ७ किण्हलेसोवउत्ता य काउले० उत्ता य ८ नीलले० त्ते काउले० त्ते य० ९ नीललेसो० त्ते य काउले० त्ता य १० नीलले० त्ता य काउले० त्ते य० ११ नीलले० त्ता य काउले० त्ता य १२, एवमेकत्वबहुत्वाभ्यां चतुर्भङ्गिकासद्भावात् त्रिषु द्विकयोगेषु जाताः १२, एकत्र त्रिकसंयोगेऽष्टौ भवन्ति, ते चैवम्–किण्हले० त्ते य नीलले० त्ते य काउलेसो० त्ते य १ किण्हले० त्ते य नीललेसो० त्ते य काउले० त्ता य २ किण्हले० त्ते य नीलले० त्ता य काउ० त्ते य ३ किण्हले० त्ते य नील० त्ता य काउलेसो० त्ता य ४ किण्हले० त्ता य नीलले० त्ते य काउले० त्ते य ५ किण्हलेसो० त्ते य ५ किण्ह०

२१ श०

प्रत सूत्रांक [६८९-६९०] + गाथा

दीप अनुक्रम [८०६-८२१]

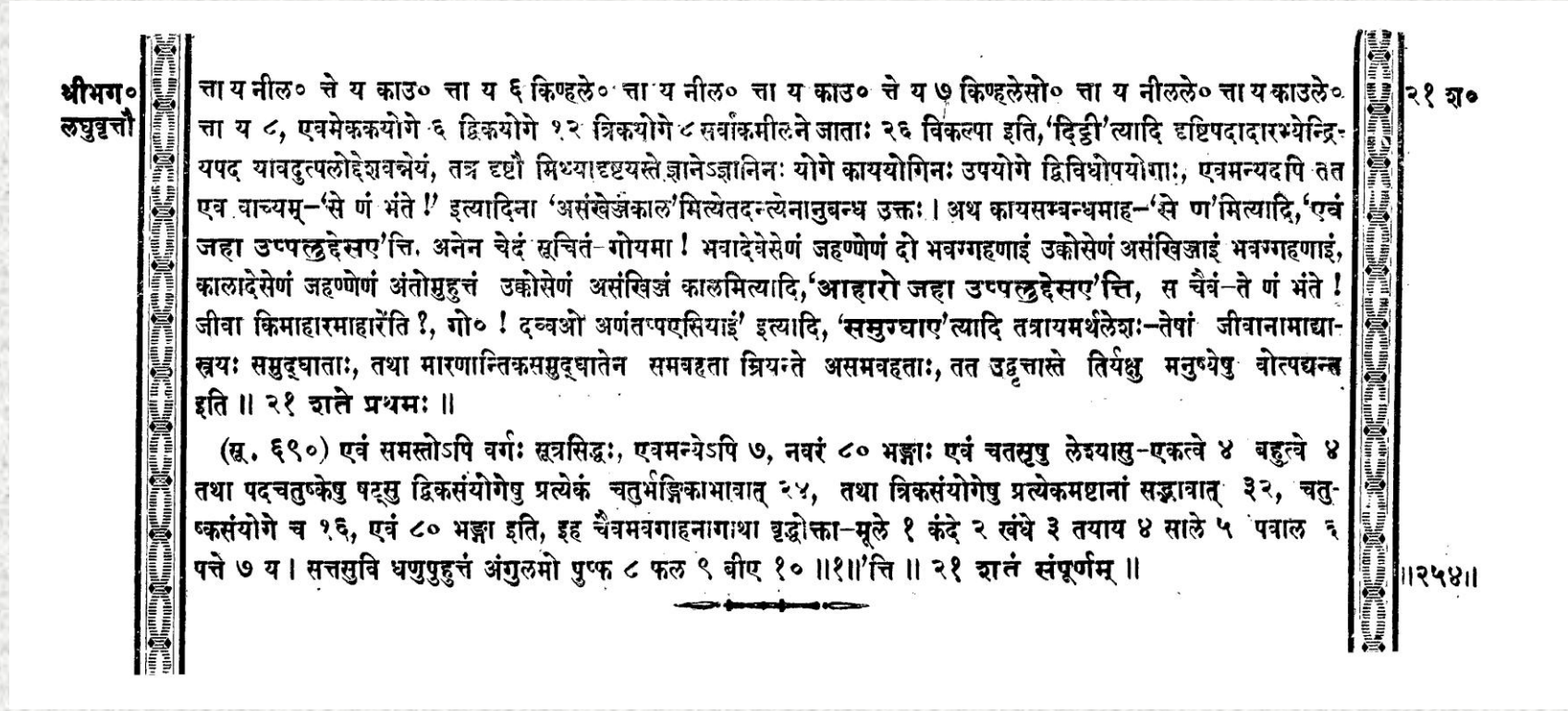

श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्ता य नील० त्ते य काउ० त्ता य ६ किण्हले० त्ता य नील० त्ता य काउ० त्ते य ७ किण्हलेसो० त्ता य नीलले० त्ता य काउले० त्ता य ८, एवमेककयोगे ६ द्विकयोगे १२ त्रिकयोगे ८ सर्वाकमीलने जाताः २६ विकल्पा इति,'दिट्ठी'त्यादि दृष्टिपदादारभ्येन्द्रियपद यावदुत्पलोद्देशवन्नेयं, तत्र दृष्टौ मिथ्यादृष्टयस्ते ज्ञानेऽज्ञानिनः योगे काययोगिनः उपयोगे द्विविधोपयोगाः, एवमन्यदपि तत एव वाच्यम्–'से णं भंते !' इत्यादिना 'असंखेज्जकाल'मित्येतदन्त्येनानुबन्ध उक्तः। अथ कायसम्बन्धमाह–'से ण'मित्यादि,'एवं जहा उप्पलुद्देसए'त्ति. अनेन चेदं सूचितं–गोयमा ! भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं असंखिज्जाइं भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखिज्जं कालमित्यादि,'**आहारो जहा उप्पलुद्देसए**'त्ति, स चैवं–ते णं भंते ! जीवा किमाहारमाहारेंति ?, गो० ! दव्वओ अणंतप्पएसियाइं' इत्यादि, '**समुग्घाए**'त्यादि तत्रायमर्थलेशः–तेषां जीवानामाद्यास्त्रयः समुद्घाताः, तथा मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता म्रियन्ते असमवहताः, तत उद्वृत्तास्ते तिर्यक्षु मनुष्येषु वोत्पद्यन्त इति ॥ २१ शते प्रथमः ॥

(सू. ६९०) एवं समस्तोऽपि वर्गः सूत्रसिद्धः, एवमन्येऽपि ७, नवरं ८० भङ्गाः एवं चतसृषु लेश्यासु–एकत्वे ४ बहुत्वे ४ तथा पदचतुष्केषु षट्सु द्विकसंयोगेषु प्रत्येकं चतुर्भङ्गिकाभावात् २४, तथा त्रिकसंयोगेषु प्रत्येकमष्टानां सद्भावात् ३२, चतुष्कसंयोगे च १६, एवं ८० भङ्गा इति, इह चैवमवगाहनागाथा वृद्धोक्ता–मूले १ कंदे २ खंधे ३ तयाय ४ साले ५ पवाल ६ पत्ते ७ य। सत्तसुवि धणुपुहुत्तं अंगुलमो पुप्फ ८ फल ९ बीए १० ॥१॥'त्ति ॥ २१ शतं संपूर्णम् ॥

२१ श०

॥२५४॥

*** अत्र शतक-२१ समाप्तं.

श्रीभग० लघुवृत्तौ

२२ श०
२३ श०

अथ द्वाविंशं व्याख्यायते, तत्रोद्देशकवर्गसङ्ग्रहगाथेयम्–'ता.ले'त्यादि (*८८) तालतमालप्रमुखवृक्षविशेषविषयोद्देशकदशकात्मकः १ वर्गः, (सू. ६९२) उद्देशके च मूलकन्दादिविषयभेदाः पूर्ववत्, 'एगट्ठिय'त्ति एकमस्थिकं फलमध्ये येषां ते तथा, ते च निम्बाम्रजम्ब्वादयो द्वितीये वाच्याः, 'बहुबीयगा य'त्ति बहूनि बीजानि फलेषु येषां ते तथा, ते च अस्थिकतिन्दुकबदरकपित्थादयो वृक्षविशेषास्तृतीये वाच्याः,'गुच्छा य'त्ति गुच्छा–वृन्ताकीप्रमुखास्ते चतुर्थे वाच्याः,'गुम्म'त्ति गुल्माः सरियकनवमालिकाकोरिण्टकादयस्ते पंचमे वाच्याः, 'वल्ली य'त्ति वल्ल्यः कालिङ्गीतुम्बीप्रमुखास्ताः षष्ठे वाच्याः, 'छद्दस'त्ति षड्वर्गा दशोद्देशकप्रमाणाः, अत एव प्रत्येकं दशोद्देशकप्रमाणत्वाद्वर्गाणामिह षष्टिरुद्देशकाः स्युरिति, शतमिदमनन्तरशतवद् व्याख्येयं, यस्तु विशेषस्स सूत्रसिद्ध एव, इह चेयं वृद्धोक्ता गाथा–"पत्तपवाले पुप्फे फले य बीए य होइ उववाओ। रुक्खेसु सुरगणाणं पसत्थरसवण्णगंधेसु ॥१॥" २२ शतं सम्पूर्णम् ॥

अथ त्रयोविंशं शतमारभ्यते, तत्रोद्देशकवर्गसङ्ग्रहगाथेयम्–'आलुए'त्ति (*८९) (सू. ६९३) आलुकमूलकादिसाधारणवनस्पतिभेदविषयोद्देशकदशकात्मकः १ वर्गः, 'लोही'ति लोहीप्रभृत्यनन्तकायिकविषयो द्वितीयः, 'अवए'त्ति अवकचक्रप्रमुखानन्तकायाख्यस्तृतीयः, 'पाढ'त्ति पाठामृगवालुकीमधुरसादिवनस्पतिभेदविषयश्चतुर्थः, 'मासवण्णी य'त्ति मासपर्णीप्रभृतिवल्लीविषयः पञ्चमः, तन्नामक एवेति, पञ्चैतेऽनन्तरोक्ता दशोद्देशकप्रमाणा वर्गाः, यत एवमतः ५० उद्देशकाः स्युः इहं शते ॥२३ शतं सम्पूर्णम् ॥

*** अत्र शतक-२२ एवं २३ आरब्धे एवं परिसमाप्ते ।

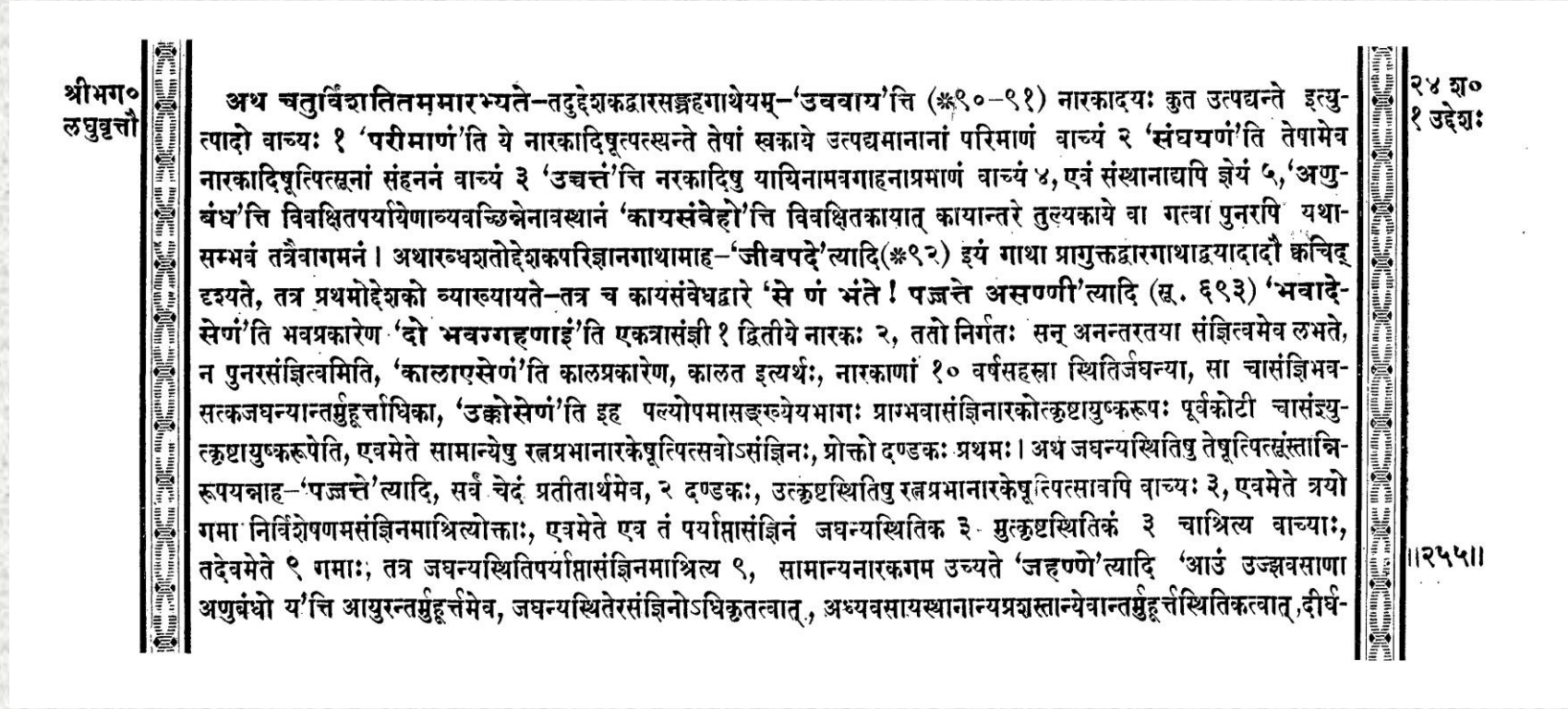

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अथ चतुर्विंशतितममारभ्यते–तदुद्देशकद्वारसङ्ग्रहगाथेयम्–'उववाय'त्ति (*९०–९१) नारकादयः कुत उत्पद्यन्ते इत्युत्पादो वाच्यः १ 'परीमाणं'ति ये नारकादिषूत्पत्स्यन्ते तेषां स्वकाये उत्पद्यमानानां परिमाणं वाच्यं २ 'संघयणं'ति तेषामेव नारकादिषूत्पित्सूनां संहननं वाच्यं ३ 'उच्चत्तं'त्ति नरकादिषु यायिनामवगाहनाप्रमाणं वाच्यं ४, एवं संस्थानाद्यपि ज्ञेयं ५, 'अणुबंध'त्ति विवक्षितपर्यायेणाव्यवच्छित्तेनावस्थानं 'कायसंवेहो'त्ति विवक्षितकायात् कायान्तरे तुल्यकाये वा गत्वा पुनरपि यथासम्भवं तत्रैवागमनं। अथारब्धशतोद्देशकपरिज्ञानगाथामाह–'जीवपदे'त्यादि(*९२) इयं गाथा प्रागुक्तद्वारगाथाद्वयादादौ क्वचिद् दृश्यते, तत्र प्रथमोद्देशको व्याख्यायते–तत्र च कायसंवेधद्वारे 'से णं भंते! पज्जत्ते असण्णी'त्यादि (सू. ६९३) 'भवादेसेणं'ति भवप्रकारेण 'दो भवग्गहणाइं'ति एकत्रासंज्ञी १ द्वितीये नारकः २, ततो निर्गतः सन् अनन्तरतया संज्ञित्वमेव लभते, न पुनरसंज्ञित्वमिति, 'कालाएसेणं'ति कालप्रकारेण, कालत इत्यर्थः, नारकाणां १० वर्षसहस्रा स्थितिर्जघन्या, सा चासंज्ञिभवसत्कजघन्यान्तर्मुहूर्त्ताधिका, 'उक्कोसेणं'ति इह पल्योपमासङ्ख्येयभागः प्राग्भवासंज्ञिनारकोत्कृष्टायुष्करूपः पूर्वकोटी चासंज्ञ्युत्कृष्टायुष्करूपेति, एवमेते सामान्येषु रत्नप्रभानारकेषूत्पित्सवोऽसंज्ञिनः, प्रोक्तो दण्डकः प्रथमः। अथ जघन्यस्थितिषु तेषूत्पित्सूंस्तान्निरूपयन्नाह–'पज्जत्ते'त्यादि, सर्वं चेदं प्रतीतार्थमेव, २ दण्डकः, उत्कृष्टस्थितिषु रत्नप्रभानारकेषूत्पित्सावपि वाच्यः ३, एवमेते त्रयो गमा निर्विशेषणमसंज्ञिनमाश्रित्योक्ताः, एवमेते एव तं पर्याप्तासंज्ञिनं जघन्यस्थितिकं ३ मुत्कृष्टस्थितिकं ३ चाश्रित्य वाच्याः, तदेवमेते ९ गमाः, तत्र जघन्यस्थितिपर्याप्तासंज्ञिनमाश्रित्य ९, सामान्यनारकगम उच्यते 'जहण्णे'त्यादि 'आउं उज्झवसाणा अणुबंधो य'त्ति आयुरन्तर्मुहूर्त्तमेव, जघन्यस्थितेरसंज्ञिनोऽधिकृतत्वात्, अध्यवसायस्थानान्यप्रशस्तान्येवान्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वात्,दीर्घ-

२४ श० १ उद्देशः

॥२५५॥

*** अत्र शतक-२४ आरभ्यते |

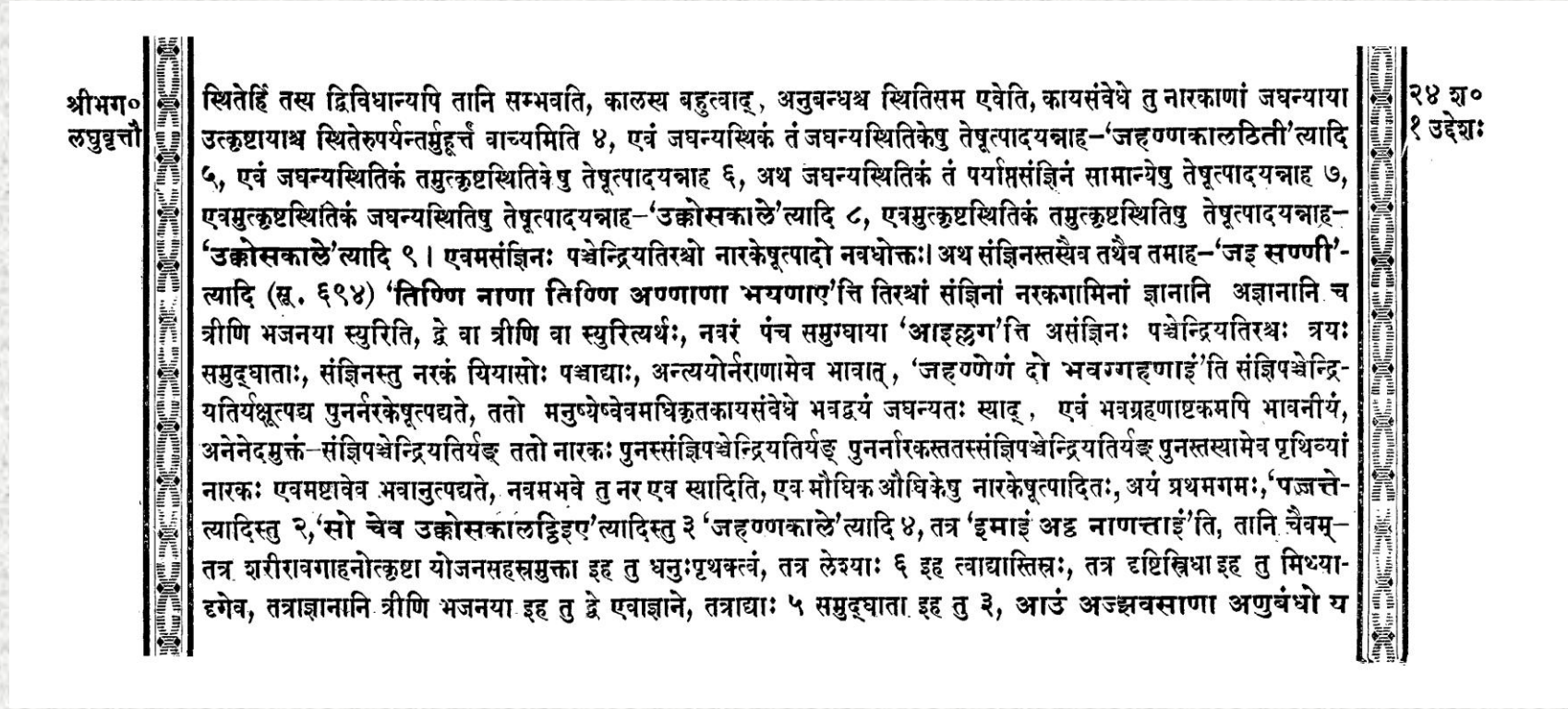

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्थितेर्हि तस्य द्विविधान्यपि तानि सम्भवति, कालस्य बहुत्वाद्, अनुबन्धश्च स्थितिसम एवेति, कायसंवेधे तु नारकाणां जघन्याया उत्कृष्टायाश्च स्थितेरुपर्यन्तर्मुहूर्त्तं वाच्यमिति ४, एवं जघन्यस्थिकं तं जघन्यस्थितिकेषु तेषूत्पादयन्नाह–'जहण्णकालठिती'त्यादि ५, एवं जघन्यस्थितिकं तमुत्कृष्टस्थितिकेषु तेषूत्पादयन्नाह ६, अथ जघन्यस्थितिकं तं पर्याप्तसंज्ञिनं सामान्येषु तेषूत्पादयन्नाह ७, एवमुत्कृष्टस्थितिकं जघन्यस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह–'उक्कोसकाले'त्यादि ८, एवमुत्कृष्टस्थितिकं तमुत्कृष्टस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह–'उक्कोसकाले'त्यादि ९। एवमसंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिरश्चो नारकेषूत्पादो नवधोक्तः। अथ संज्ञिनस्तस्यैव तथैव तमाह–'जइ सण्णी'-त्यादि (सू. ६९४) 'तिण्णि नाणा तिण्णि अण्णाणा भयणाए'त्ति तिरश्चां संज्ञिनां नरकगामिनां ज्ञानानि अज्ञानानि च त्रीणि भजनया स्युरिति, द्वे वा त्रीणि वा स्युरित्यर्थः, नवरं पंच समुग्घाया 'आइल्लग'त्ति असंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिरश्चः त्रयः समुद्घाताः, संज्ञिनस्तु नरकं यियासोः पञ्चाद्याः, अन्त्ययोर्नराणामेव भावात्, 'जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं'ति संज्ञिपञ्चेन्द्रि-यतिर्यक्षूत्पद्य पुनर्नरकेषूत्पद्यते, ततो मनुष्येष्वेवमधिकृतकायसंवेधे भवद्वयं जघन्यतः स्याद्, एवं भवग्रहणाष्टकमपि भावनीयं, अनेनेदमुक्तं–संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ततो नारकः पुनस्संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् पुनर्नारकस्ततस्संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् पुनस्तस्यामेव पृथिव्यां नारकः एवमष्टावेव भवानुत्पद्यते, नवमभवे तु नर एव स्यादिति, एव मौधिक औधिकेषु नारकेषूत्पादितः, अयं प्रथमगमः, 'पज्जत्ते-त्यादिस्तु २, 'सो चेव उक्कोसकालट्ठिइए'त्यादिस्तु ३ 'जहण्णकाले'त्यादि ४, तत्र 'इमाइं अट्ठ नाणत्ताइं'ति, तानि चैवम्–तत्र शरीरावगाहनोत्कृष्टा योजनसहस्रमुक्ता इह तु धनुःपृथक्त्वं, तत्र लेश्याः ६ इह त्वाद्यास्तिस्रः, तत्र दृष्टिस्त्रिधा इह तु मिथ्या-दृगेव, तत्राज्ञानानि त्रीणि भजनया इह तु द्वे एवाज्ञाने, तत्राद्याः ५ समुद्घाता इह तु ३, आउं अज्झवसाणा अणुबंधो य

२४ श० १ उद्देशः

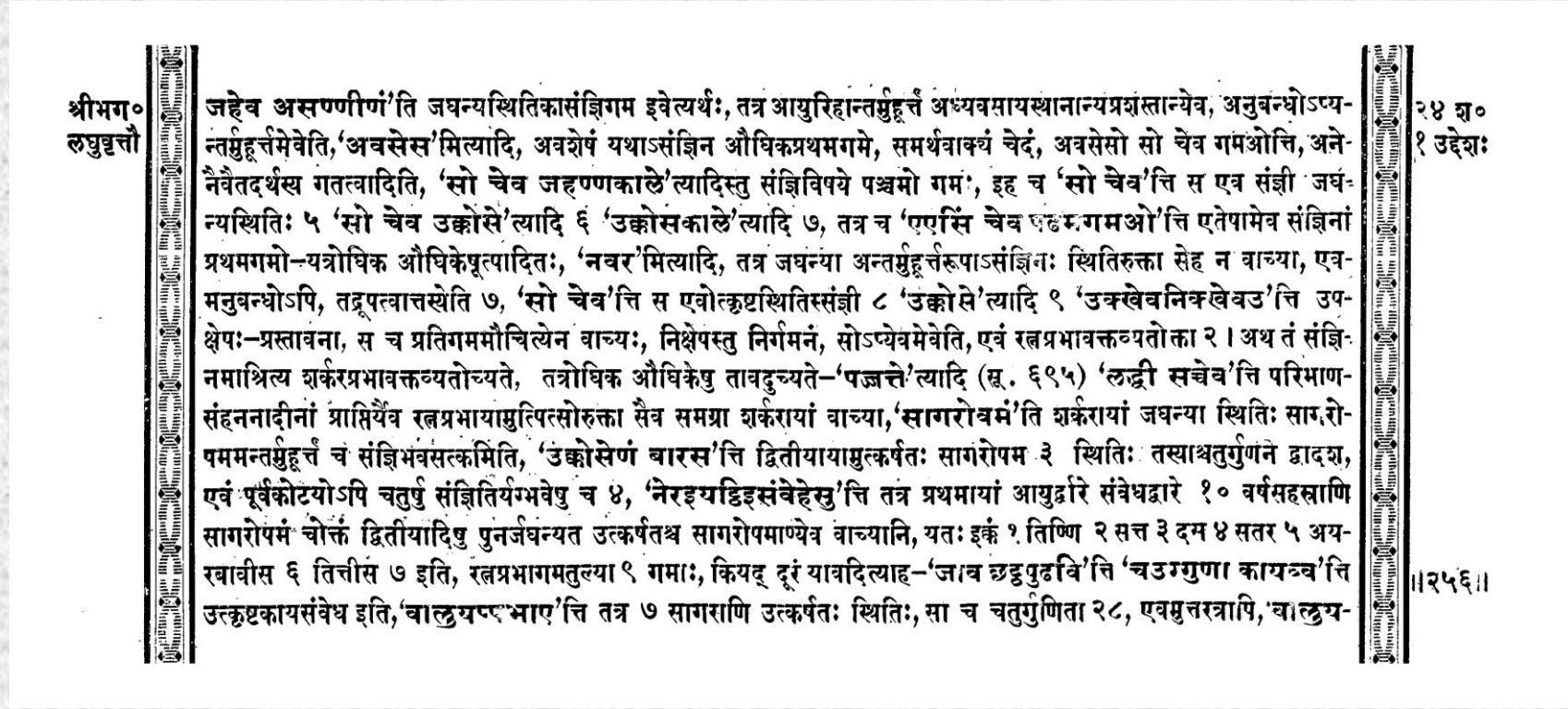

श्रीभग० लघुवृत्तौ

जहेव असण्णीणं'ति जघन्यस्थितिकासंज्ञिगम इवेत्यर्थः, तत्र आयुरिहान्तर्मुहूर्त्तं अध्यवसायस्थानान्यप्रशस्तान्येव, अनुबन्धोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमेवेति,'अवसेस'मित्यादि, अवशेषं यथाऽसंज्ञिन औधिकप्रथमगमे, समर्थवाक्यं चेदं, अवसेसो सो चेव गमओत्ति, अनेनैवैतदर्थस्य गतत्वादिति, 'सो चेव जहण्णकाले'त्यादिस्तु संज्ञिविषये पञ्चमो गमः, इह च 'सो चेव'त्ति स एव संज्ञी जघन्यस्थितिः ५ 'सो चेव उक्कोसे'त्यादि ६ 'उक्कोसकाले'त्यादि ७, तत्र च 'एएसिं चेव छह्मगमओ'त्ति एतेषामेव संज्ञिनां प्रथमगमो–यत्रौधिक औधिकेषूत्पादितः, 'नवर'मित्यादि, तत्र जघन्या अन्तर्मुहूर्त्तरूपाऽसंज्ञिनः स्थितिरुक्ता सेह न वाच्या, एवमनुबन्धोऽपि, तद्रूपत्वात्तस्येति ७, 'सो चेव'त्ति स एवोत्कृष्टस्थितिस्संज्ञी ८ 'उक्कोसे'त्यादि ९ 'उक्खेवनिक्खेवउ'त्ति उपक्षेपः–प्रस्तावना, स च प्रतिगममौचित्येन वाच्यः, निक्षेपस्तु निर्गमनं, सोऽप्येवमेवेति, एवं रत्नप्रभावक्तव्यतोक्ता २। अथ तं संज्ञिनमाश्रित्य शर्करप्रभावक्तव्यतोच्यते, तत्रौधिक औधिकेषु तावदुच्यते–'पज्जत्ते'त्यादि (सू. ६९५) 'लद्धी सचेव'त्ति परिमाणसंहननादीनां प्राप्तिर्यैव रत्नप्रभायामुत्पित्सोरुक्ता सैव समग्रा शर्करायां वाच्या,'सागरोवमं'ति शर्करायां जघन्या स्थितिः सागरोपममन्तर्मुहूर्त्तं च संज्ञिभवसत्कमिति, 'उक्कोसेणं बारस'त्ति द्वितीयायामुत्कर्षतः सागरोपम ३ स्थितिः तस्याश्चतुर्गुणने द्वादश, एवं पूर्वकोटयोऽपि चतुर्षु संज्ञितिर्यग्भवेषु च ४, 'नेरइयट्ठिइसंवेहेसु'त्ति तत्र प्रथमायां आयुर्द्वारे संवेधद्वारे १० वर्षसहस्राणि सागरोपमं चोक्तं द्वितीयादिषु पुनर्जघन्यत उत्कर्षतश्च सागरोपमाण्येव वाच्यानि, यतः इक्कं १ तिण्णि २ सत्त ३ दस ४ सतर ५ अयरावीस ६ तित्तीस ७ इति, रत्नप्रभागमतुल्या ९ गमाः, कियद् दूरं यावदित्याह–'जाव छट्ठपुढवि'त्ति 'चउग्गुणा कायव्व'त्ति उत्कृष्टकायसंवेध इति,'वालुयप्पभाए'त्ति तत्र ७ सागराणि उत्कर्षतः स्थितिः, सा च चतुर्गुणिता २८, एवमुत्तरत्रापि,'वालुय-

२४ श० १ उद्देशः

॥२५६॥

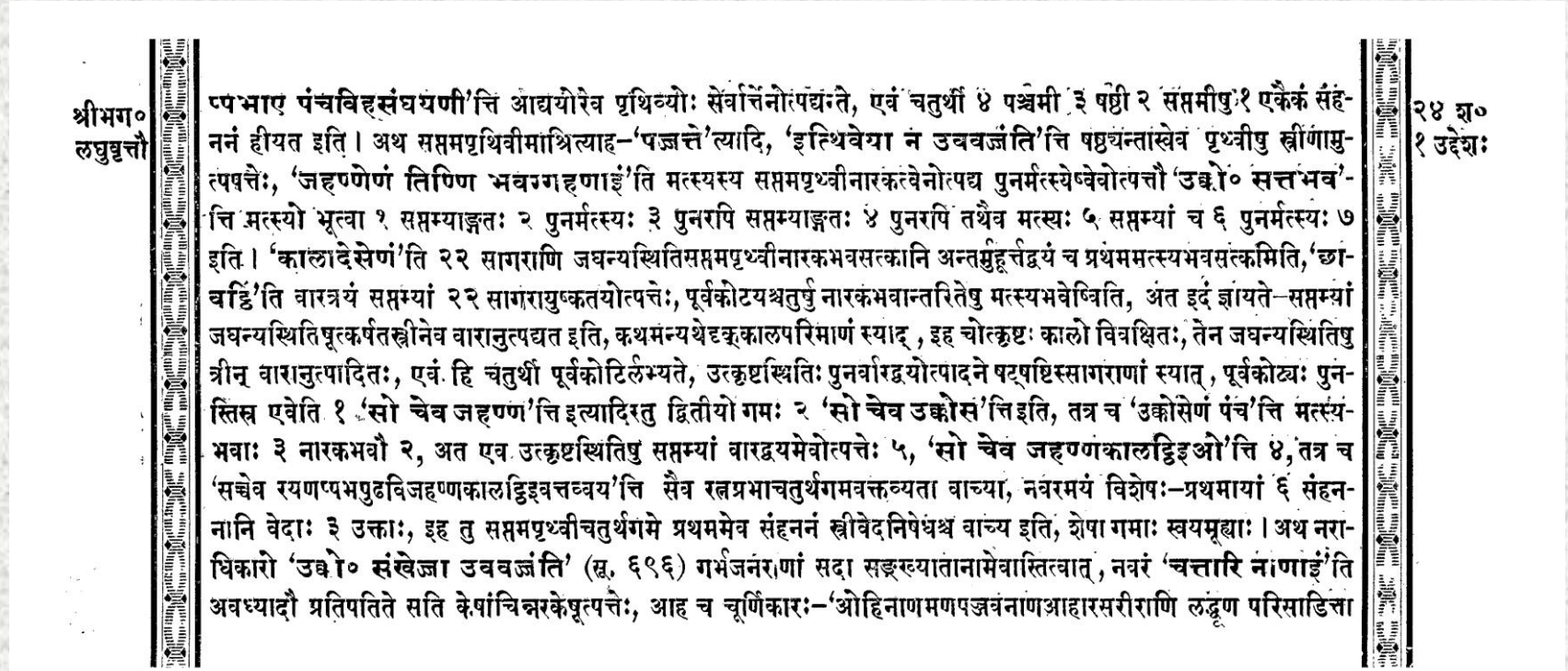

श्रीभग० लघुवृत्तौ

प्पभाए पंचविहसंघयणी'त्ति आद्ययोरेव पृथिव्योः सेवार्त्तेनोत्पद्यन्ते, एवं चतुर्थीं ४ पञ्चमी ३ षष्ठी २ सप्तमीषु १ एकैकं संहननं हीयत इति। अथ सप्तमपृथिवीमाश्रित्याह–'पज्जत्ते'त्यादि, 'इत्थिवेया न उववज्जंति'त्ति षष्ठ्यन्तास्वेव पृथ्वीषु स्त्रीणामुत्पत्तेः, 'जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं'ति मत्स्यस्य सप्तमपृथ्वीनारकत्वेनोत्पद्य पुनर्मत्स्येष्वेवोत्पत्तौ 'उक्को० सत्त भव'त्ति मत्स्यो भूत्वा १ सप्तम्याङ्गतः २ पुनर्मत्स्यः ३ पुनरपि सप्तम्याङ्गतः ४ पुनरपि तथैव मत्स्यः ५ सप्तम्यां च ६ पुनर्मत्स्यः ७ इति। 'कालादेसेणं'ति २२ सागराणि जघन्यस्थितिसप्तमपृथ्वीनारकभवसत्कानि अन्तर्मुहूर्त्तद्वयं च प्रथममत्स्यभवसत्कमिति,'छावट्ठि'ति वारत्रयं सप्तम्यां २२ सागरायुष्कतयोत्पत्तेः, पूर्वकोटयश्चतुर्षु नारकभवान्तरितेषु मत्स्यभवेष्विति, अत इदं ज्ञायते–सप्तम्यां जघन्यस्थितिषूत्कर्षतस्त्रीनेव वारानुत्पद्यत इति, कथमन्यथेदमुक्तकालपरिमाणं स्याद्, इह चोत्कृष्टः कालो विवक्षितः, तेन जघन्यस्थितिषु त्रीन् वारानुत्पादितः, एवं हि चतुर्थी पूर्वकोटिर्लभ्यते, उत्कृष्टस्थितिः पुनर्वारद्वयोत्पादने षट्षष्टिस्सागराणां स्यात्, पूर्वकोट्यः पुनस्तिस्र एवेति १ 'सो चेव जहण्ण'त्ति इत्यादिरतु द्वितीयो गमः २ 'सो चेव उक्कोस'त्तिइति, तत्र च 'उक्कोसेणं पंच'त्ति मत्स्यभवाः ३ नारकभवौ २, अत एव उत्कृष्टस्थितिषु सप्तम्यां वारद्वयमेवोत्पत्तेः ५, 'सो चेव जहण्णकालट्ठिइओ'त्ति ४, तत्र च 'सच्चेव रयणप्पभपुढविजहण्णकालट्ठिइवत्तव्वया'त्ति सैव रत्नप्रभाचतुर्थगमवक्तव्यता वाच्या, नवरमयं विशेषः–प्रथमायां ६ संहननानि वेदाः ३ उक्ताः, इह तु सप्तमपृथ्वीचतुर्थगमे प्रथममेव संहननं स्त्रीवेदनिषेधश्च वाच्य इति, शेषा गमाः स्वयमूह्याः। अथ नराधिकारो 'उक्को० संखेज्जा उववज्जंति' (सू. ६९६) गर्भजनराणां सदा सङ्ख्यातानामेवास्तित्वात्, नवरं 'चत्तारि नाणाइं'ति अवध्यादौ प्रतिपतिते सति केषांचिन्नरकेषूत्पत्तेः, आह च चूर्णिकारः–'ओहिनाणमणपज्जवनाणआहारसरीराणि लद्धूण परिसाडित्ता

२४ श० १ उद्देशः

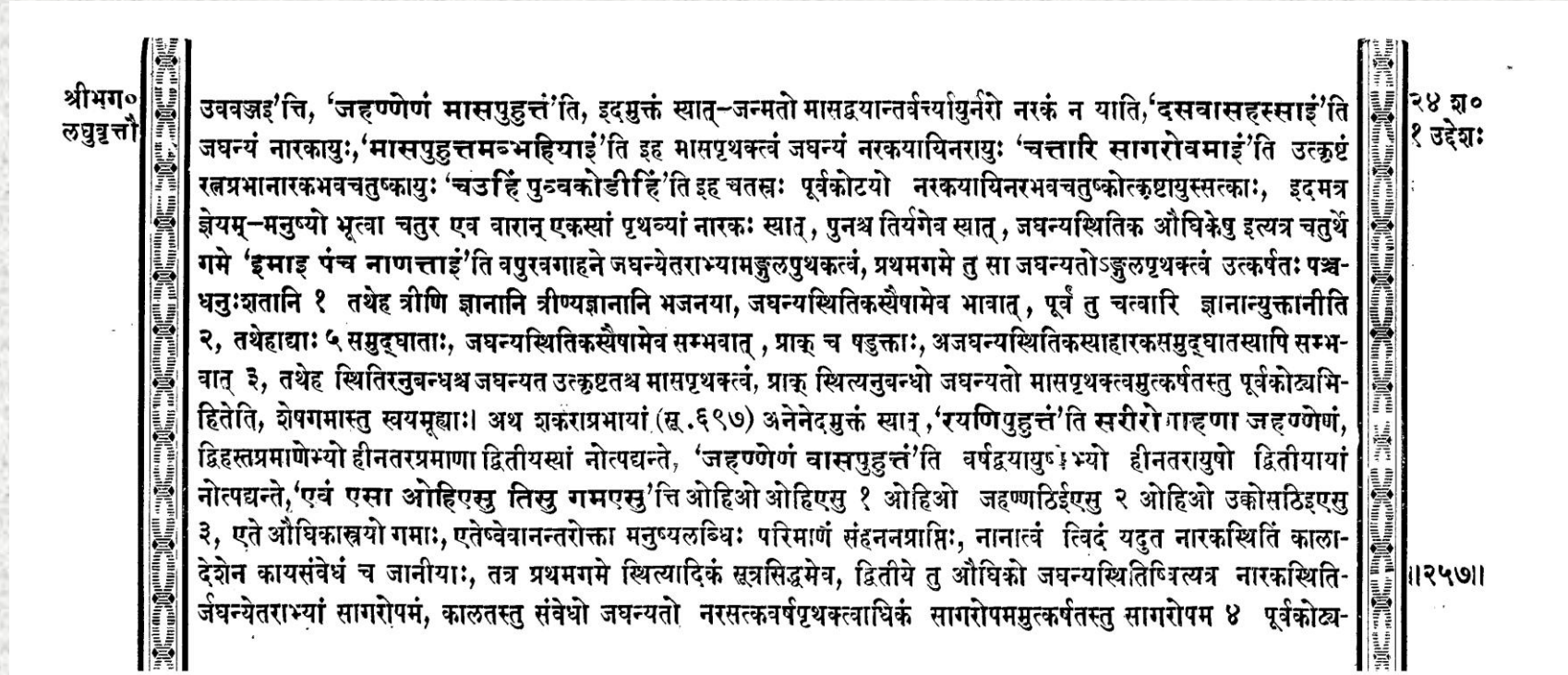

श्रीभग० लघुवृत्तौ

उववज्जइ'त्ति, 'जहण्णेणं मासपुहुत्तं'ति, इदमुक्तं स्यात्–जन्मतो मासद्वयान्तर्वर्त्ययुर्नरो नरकं न याति,'दसवासहस्साइं'ति जघन्यं नारकायुः,'मासपुहुत्तमब्भहियाइं'ति इह मासपृथक्त्वं जघन्यं नरकयायिनरायुः 'चत्तारि सागरोवमाइं'ति उत्कृष्टं रत्नप्रभानारकभवचतुष्कायुः 'चउहिं पुव्वकोडीहिं'ति इह चतसृः पूर्वकोटयो नरकयायिनरभवचतुष्कोत्कृष्टायुस्सत्काः, इदमत्र ज्ञेयम्–मनुष्यो भूत्वा चतुर एव वारान् एकस्यां पृथव्यां नारकः स्यात्, पुनश्च तिर्यगेव स्यात्, जघन्यस्थितिक औधिकेषु इत्यत्र चतुर्थे गमे 'इमाइ पंच नाणत्ताइं'ति वपुरवगाहने जघन्येतराभ्यामङ्गुलपृथक्त्वं, प्रथमगमे तु सा जघन्यतोऽङ्गुलपृथक्त्वं उत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानि १ तथेह त्रीणि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि भजनया, जघन्यस्थितिकस्यैषामेव भावात्, पूर्वं तु चत्वारि ज्ञानान्युक्तानीति २, तथेहाद्याः ५ समुद्घाताः, जघन्यस्थितिकस्यैषामेव सम्भवात्, प्राक् च षडुक्ताः, अजघन्यस्थितिकस्याहारकसमुद्घातस्यापि सम्भवात् ३, तथेह स्थितिरनुबन्धश्च जघन्यत उत्कृष्टतश्च मासपृथक्त्वं, प्राक् स्थित्यनुबन्धो जघन्यतो मासपृथक्त्वमुत्कर्षतस्तु पूर्वकोट्यभिहितेति, शेषगमास्तु स्वयमूह्याः। अथ शर्कराप्रभायां (सू.६९७) अनेनेदमुक्तं स्यात्,'रयणिपुहुत्तं'ति सरीरोगाहणा जहण्णेणं, द्विहस्तप्रमाणेभ्यो हीनतरप्रमाणा द्वितीयस्यां नोत्पद्यन्ते, 'जहण्णेणं वासपुहुत्तं'ति वर्षद्वयायुष्केभ्यो हीनतरायुषो द्वितीयायां नोत्पद्यन्ते,'एवं एसा ओहिएसु तिसु गमएसु'त्ति ओहिओ ओहिएसु १ ओहिओ जहण्णठिईएसु २ ओहिओ उक्कोसठिइएसु ३, एते औधिकास्त्रयो गमाः, एतेष्वेवानन्तरोक्ता मनुष्यलब्धिः परिमाणं संहननप्राप्तिः, नानात्वं त्विदं यदुत नारकस्थितिं कालादेशेन कायसंवेधं च जानीयाः, तत्र प्रथमगमे स्थित्यादिकं सूत्रसिद्धमेव, द्वितीये तु औधिको जघन्यस्थितिष्वित्यत्र नारकस्थितिर्जघन्येतराभ्यां सागरोपमं, कालतस्तु संवेधो जघन्यतो नरसत्कवर्षपृथक्त्वाधिकं सागरोपममुत्कर्षतस्तु सागरोपम ४ पूर्वकोट्य-

२४ श० १ उद्देशः

॥२५७॥

प्रत सूत्रांक [६९३-७१५] + गाथा

दीप अनुक्रम [८३५-८६०]

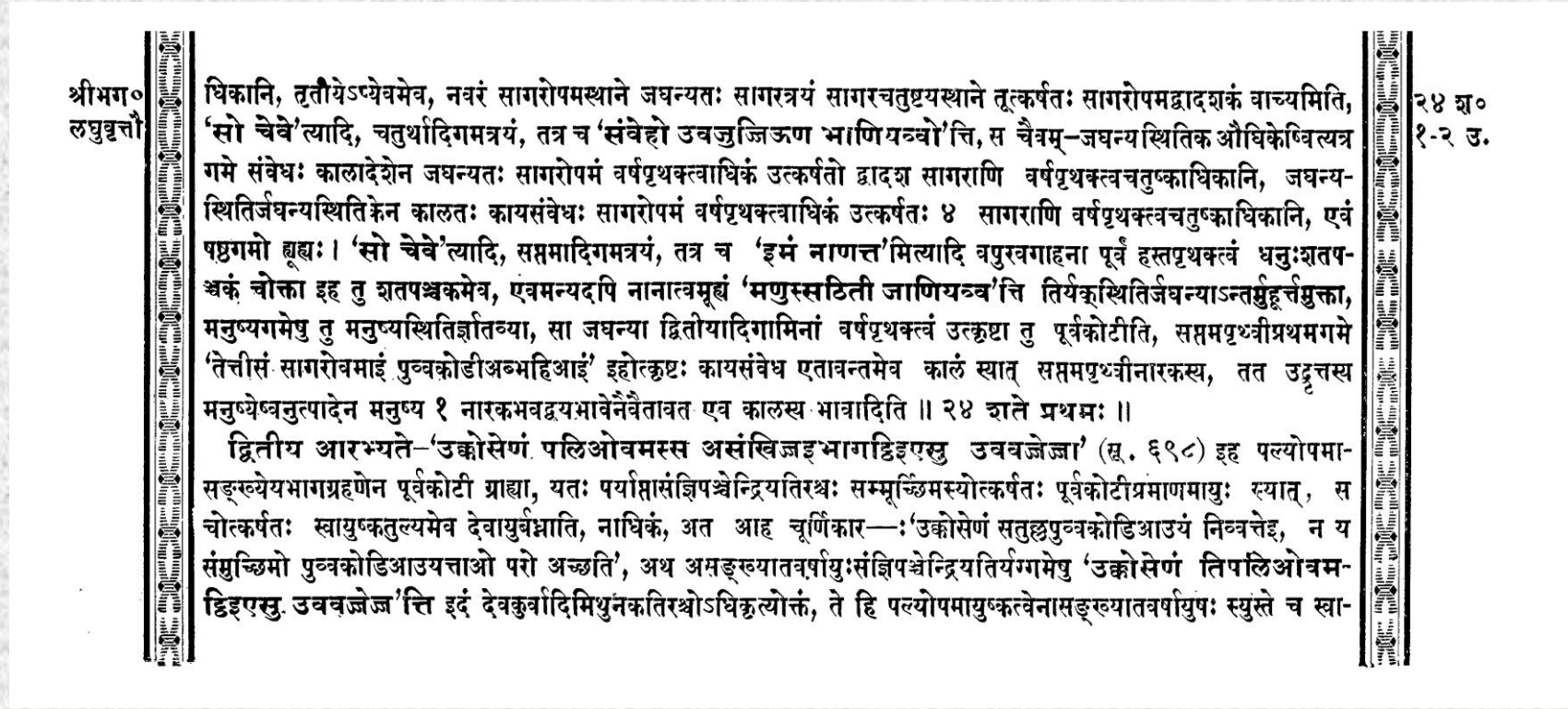

श्रीभग० लघुवृत्तौ

धिकानि, तृतीयेऽप्येवमेव, नवरं सागरोपमस्थाने जघन्यतः सागरत्रयं सागरचतुष्टयस्थाने तूत्कर्षतः सागरोपमद्वादशकं वाच्यमिति, **'सो चेवे'**त्यादि, चतुर्थादिगमत्रयं, तत्र च **'संवेहो उवजुज्जिऊण भाणियव्वो'**त्ति, स चैवम्–जघन्यस्थितिक औधिकेष्वित्यत्र गमे संवेधः कालादेशेन जघन्यतः सागरोपमं वर्षपृथक्त्वाधिकं उत्कर्षतो द्वादश सागराणि वर्षपृथक्त्वचतुष्काधिकानि, जघन्यस्थितिर्जघन्यस्थितिकेन कालतः कायसंवेधः सागरोपमं वर्षपृथक्त्वाधिकं उत्कर्षतः ४ सागराणि वर्षपृथक्त्वचतुष्काधिकानि, एवं षष्ठगमो द्रष्टव्यः। **'सो चेवे'**त्यादि, सप्तमादिगमत्रयं, तत्र च **'इमं नाणत्त'**मित्यादि वपुरवगाहना पूर्वं हस्तपृथक्त्वं धनुःशतपञ्चकं चोक्ता इह तु शतपञ्चकमेव, एवमन्यदपि नानात्वमूह्यं **'मणुस्सठिती जाणियव्व'**त्ति तिर्यक्स्थितिर्जघन्याऽन्तर्मुहूर्त्तमुक्ता, मनुष्यगमेषु तु मनुष्यस्थितिर्ज्ञातव्या, सा जघन्या द्वितीयादिगामिनां वर्षपृथक्त्वं उत्कृष्टा तु पूर्वकोटीति, सप्तमपृथ्वीप्रथमगमे 'तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीअब्भहिआइं' इहोत्कृष्टः कायसंवेध एतावन्तमेव कालं स्यात् सप्तमपृथ्वीनारकस्य, तत उद्वृत्तस्य मनुष्येष्वनुत्पादेन मनुष्य १ नारकभवद्वयभावेनैवैतावत एव कालस्य भावादिति ॥ २४ शते प्रथमः ॥

द्वितीय आरभ्यते–**'उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागट्ठिइएसु उववज्जेज्जा'** (सू. ६९८) इह पल्योपमासङ्ख्येयभागग्रहणेन पूर्वकोटी ग्राह्या, यतः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चः सम्मूर्च्छिमस्योत्कर्षतः पूर्वकोटीप्रमाणमायुः स्यात्, स चोत्कर्षतः स्वायुष्कतुल्यमेव देवायुर्बध्नाति, नाधिकं, अत आह चूर्णिकार—:'उक्कोसेणं सतुल्लपुव्वकोडिआउयं निव्वत्तेइ, न य संमुच्छिमो पुव्वकोडिआउयत्ताओ परो अच्छति', अथ असङ्ख्यातवर्षायुःसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गमेषु **'उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठिइएसु उववज्जेज्ज'**त्ति इदं देवकुर्वादिमिथुनकतिरश्चोऽधिकृत्योक्तं, ते हि पल्योपमायुष्कत्वेनासङ्ख्यातवर्षायुषः स्युस्ते च स्वा-

२४ श० १-२ उ.

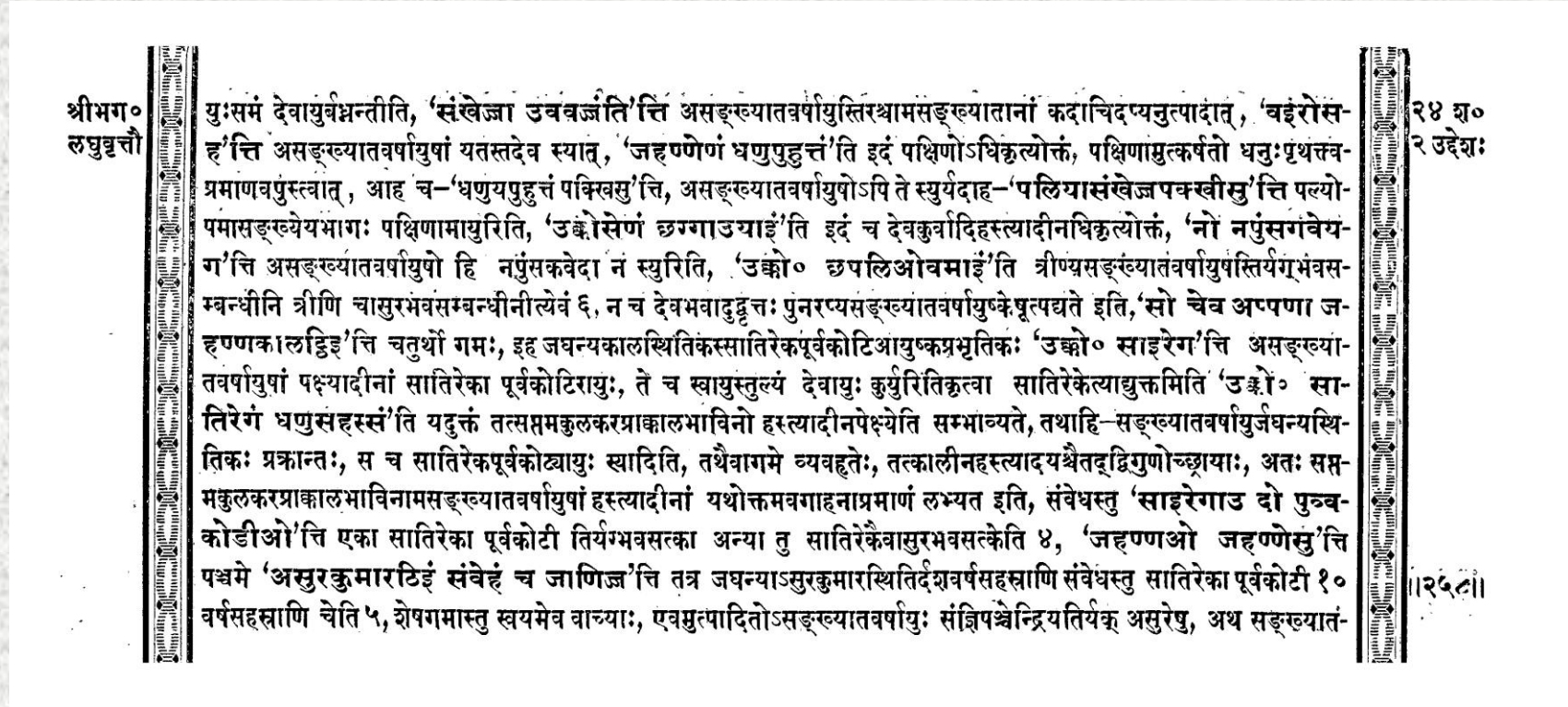

श्रीभग० लघुवृत्तौ

युःसमं देवायुर्बध्नन्तीति, ‘संखेज्जा उववज्जंति’त्ति असङ्ख्यातवर्षायुस्तिरश्चामसङ्ख्यातानां कदाचिदप्यनुत्पादात्, ‘वइरोसह’त्ति असङ्ख्यातवर्षायुषां यतस्तदेव स्यात्, ‘जहण्णेणं धणुपुहुत्तं’ति इदं पक्षिणोऽधिकृत्योक्तं, पक्षिणामुत्कर्षतो धनुःपृथक्त्वप्रमाणवपुस्त्वात्, आह च–‘धणुयपुहुत्तं पक्खिसु’त्ति, असङ्ख्यातवर्षायुषोऽपि ते स्युर्यदाह–‘पलियासंखेज्जपक्खीसु’त्ति पल्योपमासङ्ख्येयभागः पक्षिणामायुरिति, ‘उक्कोसेणं छग्गाउयाइं’ति इदं च देवकुर्वादिहस्त्यादीनधिकृत्योक्तं, ‘नो नपुंसगवेयग’त्ति असङ्ख्यातवर्षायुषो हि नपुंसकवेदा न स्युरिति, ‘उक्को० छपलिओवमाइं’ति त्रीण्यसङ्ख्यातवर्षायुषस्तिर्यग्भवसम्बन्धीनि त्रीणि चासुरभवसम्बन्धीनीत्येवं ६, न च देवभवादुद्वृत्तः पुनरप्यसङ्ख्यातवर्षायुष्केषूत्पद्यते इति,‘सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिइ’त्ति चतुर्थो गमः, इह जघन्यकालस्थितिकस्सातिरेकपूर्वकोटिआयुष्कप्रभृतिकः ‘उक्को० साइरेग’त्ति असङ्ख्यातवर्षायुषां पक्ष्यादीनां सातिरेका पूर्वकोटिरायुः, ते च स्वायुस्तुल्यं देवायुः कुर्युरितिकृत्वा सातिरेकेत्याद्युक्तमिति ‘उक्को० सातिरेगं धणुसहस्सं’ति यदुक्तं तत्सप्तमकुलकरप्राक्कालभाविनो हस्त्यादीनपेक्ष्येति सम्भाव्यते, तथाहि–सङ्ख्यातवर्षायुर्जघन्यस्थितिकः प्रक्रान्तः, स च सातिरेकपूर्वकोट्यायुः स्यादिति, तथैवागमे व्यवहृतेः, तत्कालीनहस्त्यादयश्चैतद्द्विगुणोच्छ्रायाः, अतः सप्तमकुलकरप्राक्कालभाविनामसङ्ख्यातवर्षायुषां हस्त्यादीनां यथोक्तमवगाहनाप्रमाणं लभ्यत इति, संवेधस्तु ‘साइरेगाउ दो पुव्वकोडीओ’त्ति एका सातिरेका पूर्वकोटी तिर्यग्भवसत्का अन्या तु सातिरेकैवासुरभवसत्केति ४, ‘जहण्णओ जहण्णेसु’त्ति पञ्चमे ‘असुरकुमारठिइं संवेहं च जाणिज्ज’त्ति तत्र जघन्याऽसुरकुमारस्थितिर्दशवर्षसहस्राणि संवेधस्तु सातिरेका पूर्वकोटी १० वर्षसहस्राणि चेति ५, शेषगमास्तु स्वयमेव वाच्याः, एवमुत्पादितोऽसङ्ख्यातवर्षायुः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक् असुरेषु, अथ सङ्ख्यातं-

२४ श० २ उद्देशः

॥२५८॥

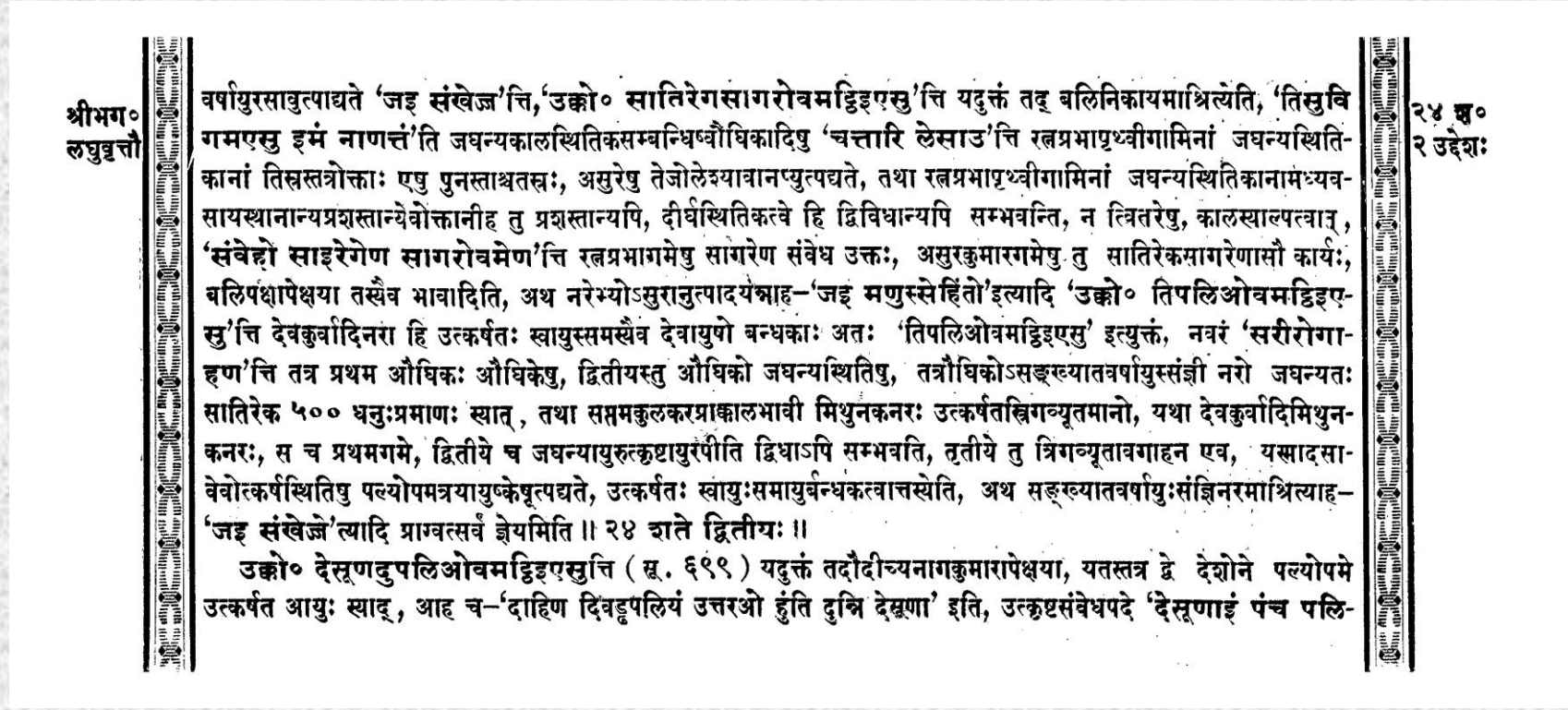

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वर्षायुरसावुत्पाद्यते 'जइ संखेज्ज'त्ति,'उक्को० सातिरेगसागरोवमट्ठिइएसु'त्ति यदुक्तं तद् बलिनिकायमाश्रित्येति, 'तिसुवि गमएसु इमं नाणत्तं'ति जघन्यकालस्थितिकसम्बन्धिष्वौधिकादिषु 'चत्तारि लेसाउ'त्ति रत्नप्रभापृथ्वीगामिनां जघन्यस्थितिकानां तिस्रस्तत्रोक्ताः एषु पुनस्ताश्चतस्रः, असुरेषु तेजोलेश्यावानप्युत्पद्यते, तथा रत्नप्रभापृथ्वीगामिनां जघन्यस्थितिकानामध्यवसायस्थानान्यप्रशस्तान्येवोक्तानीह तु प्रशस्तान्यपि, दीर्घस्थितिकत्वे हि द्विविधान्यपि सम्भवन्ति, न त्वितरेषु, कालस्याल्पत्वात्, 'संवेहो साइरेगेण सागरोवमेण'त्ति रत्नप्रभागमेषु सागरेण संवेध उक्तः, असुरकुमारगमेषु तु सातिरेकसागरेणासौ कार्यः, बलिपक्षापेक्षया तस्यैव भावादिति, अथ नरेभ्योऽसुरानुत्पादयन्नाह–'जइ मणुस्सेहिंतो'इत्यादि 'उक्को० तिपलिओवमट्ठिइएसु'त्ति देवकुर्वादिनरा हि उत्कर्षतः स्वायुस्समस्यैव देवायुषो बन्धकाः अतः 'तिपलिओवमट्ठिइएसु' इत्युक्तं, नवरं 'सरीरोगाहण'त्ति तत्र प्रथम औधिकः औधिकेषु, द्वितीयस्तु औधिको जघन्यस्थितिषु, तत्रौधिकोऽसङ्ख्यातवर्षायुस्संज्ञी नरो जघन्यतः सातिरेक ५०० धनुःप्रमाणः स्यात्, तथा सप्तमकुलकरप्राक्कालभावी मिथुनकनरः उत्कर्षतस्त्रिगव्यूतमानो, यथा देवकुर्वादिमिथुनकनरः, स च प्रथमगमे, द्वितीये च जघन्यायुरुत्कृष्टायुरपीति द्विधाऽपि सम्भवति, तृतीये तु त्रिगव्यूतावगाहन एव, यस्मादसावेवोत्कर्षस्थितिषु पल्योपमत्रयायुष्केषूत्पद्यते, उत्कर्षतः स्वायुःसमायुर्बन्धकत्वात्तस्येति, अथ सङ्ख्यातवर्षायुःसंज्ञिनरमाश्रित्याह–'जइ संखेज्ज'त्यादि प्राग्वत्सर्वं ज्ञेयमिति ॥ २४ शते द्वितीयः ॥

उक्को० देसूणदुपलिओवमट्ठिइएसुत्ति (सू. ६९९) यदुक्तं तदौदीच्यनागकुमारापेक्षया, यतस्तत्र द्वे देशोने पल्योपमे उत्कर्षत आयुः स्याद्, आह च–'दाहिण दिवड्ढपलियं उत्तरओ हुंति दुन्नि देसूणा' इति, उत्कृष्टसंवेधपदे 'देसूणाइं पंच पलि-

२४ श० २ उद्देशः

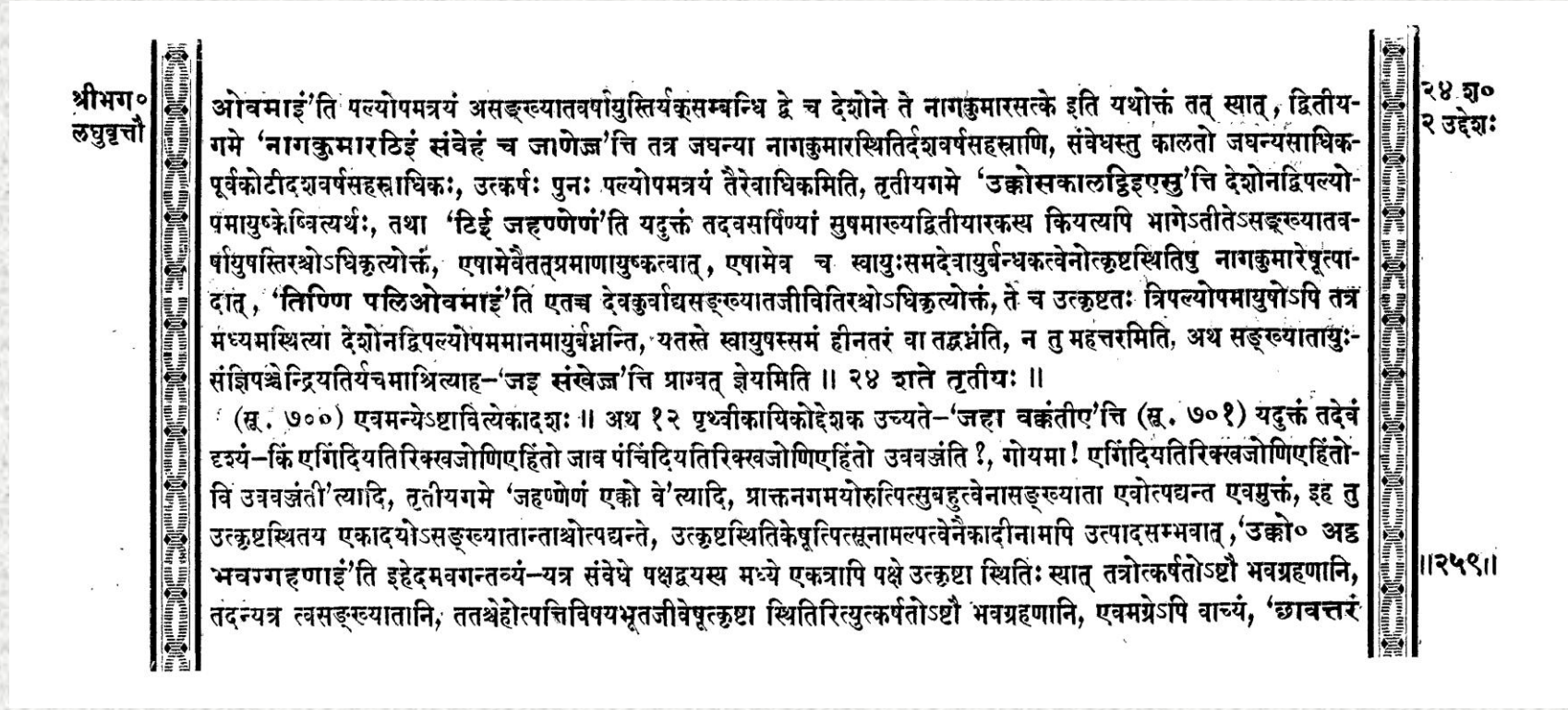

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ओवमाइं'ति पल्योपमत्रयं असङ्ख्यातवर्षायुस्तिर्यक्सम्बन्धि द्वे च देशोने ते नागकुमारसत्के इति यथोक्तं तत् स्यात्, द्वितीयगमे 'नागकुमारठिइं संवेहं च जाणेज्ज'त्ति तत्र जघन्या नागकुमारस्थितिर्दशवर्षसहस्राणि, संवेधस्तु कालतो जघन्यसाधिकपूर्वकोटीदशवर्षसहस्राधिकः, उत्कर्षः पुनः पल्योपमत्रयं तैरेवाधिकमिति, तृतीयगमे 'उक्कोसकालट्ठिइएसु'त्ति देशोनद्विपल्योपमायुष्केष्वित्यर्थः, तथा 'ठिई जहण्णेणं'ति यदुक्तं तदवसर्पिण्यां सुषमाख्यद्वितीयारकस्य कियत्यपि भागेऽतीतेऽसङ्ख्यातवर्षायुषस्तिरश्चोऽधिकृत्योक्तं, एषामेवैतत्प्रमाणायुष्कत्वात्, एषामेव च स्वायुःसमदेवायुर्बन्धकत्वेनोत्कृष्टस्थितिषु नागकुमारेषूत्पादात्, 'तिण्णि पलिओवमाइं'ति एतच्च देवकुर्वाद्यसङ्ख्यातजीवितिरश्चोऽधिकृत्योक्तं, ते च उत्कृष्टतः त्रिपल्योपमायुषोऽपि तत्र मध्यमस्थित्या देशोनद्विपल्योपममानमायुर्बध्नन्ति, यतस्ते स्वायुष्समं हीनतरं वा तद्बध्नंति, न तु महत्तरमिति, अथ सङ्ख्यातायुःसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यंचमाश्रित्याह–'जइ संखेज्ज'त्ति प्राग्वत् ज्ञेयमिति ॥ २४ शते तृतीयः ॥

(सू. ७००) एवमन्येऽष्टावित्येकादशः ॥ अथ १२ पृथ्वीकायिकोद्देशक उच्यते–'जहा वक्कंतीए'त्ति (सू. ७०१) यदुक्तं तदेवं दृश्यं–किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ?, गोयमा! एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतोवि उववज्जंती'त्यादि, तृतीयगमे 'जहण्णेणं एक्को वे'त्यादि, प्राक्तनगमयोरुत्पित्सुबहुत्वेनासङ्ख्याता एवोत्पद्यन्त एवमुक्तं, इह तु उत्कृष्टस्थितय एकादयोऽसङ्ख्यातान्ताश्चोत्पद्यन्ते, उत्कृष्टस्थितिकेषूत्पित्सूनामल्पत्वेनैकादीनामपि उत्पादसम्भवात्, 'उक्को० अट्ठ भवग्गहणाइं'ति इहेदमवगन्तव्यं–यत्र संवेधे पक्षद्वयस्य मध्ये एकत्रापि पक्षे उत्कृष्टा स्थितिः स्यात् तत्रोत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणानि, तदन्यत्र त्वसङ्ख्यातानि, ततश्चेहोत्पत्तिविषयभूतजीवेषूत्कृष्टा स्थितिरित्युत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणानि, एवमग्रेऽपि वाच्यं, 'छावत्तरं

२४ श० २ उद्देशः

॥२५९॥

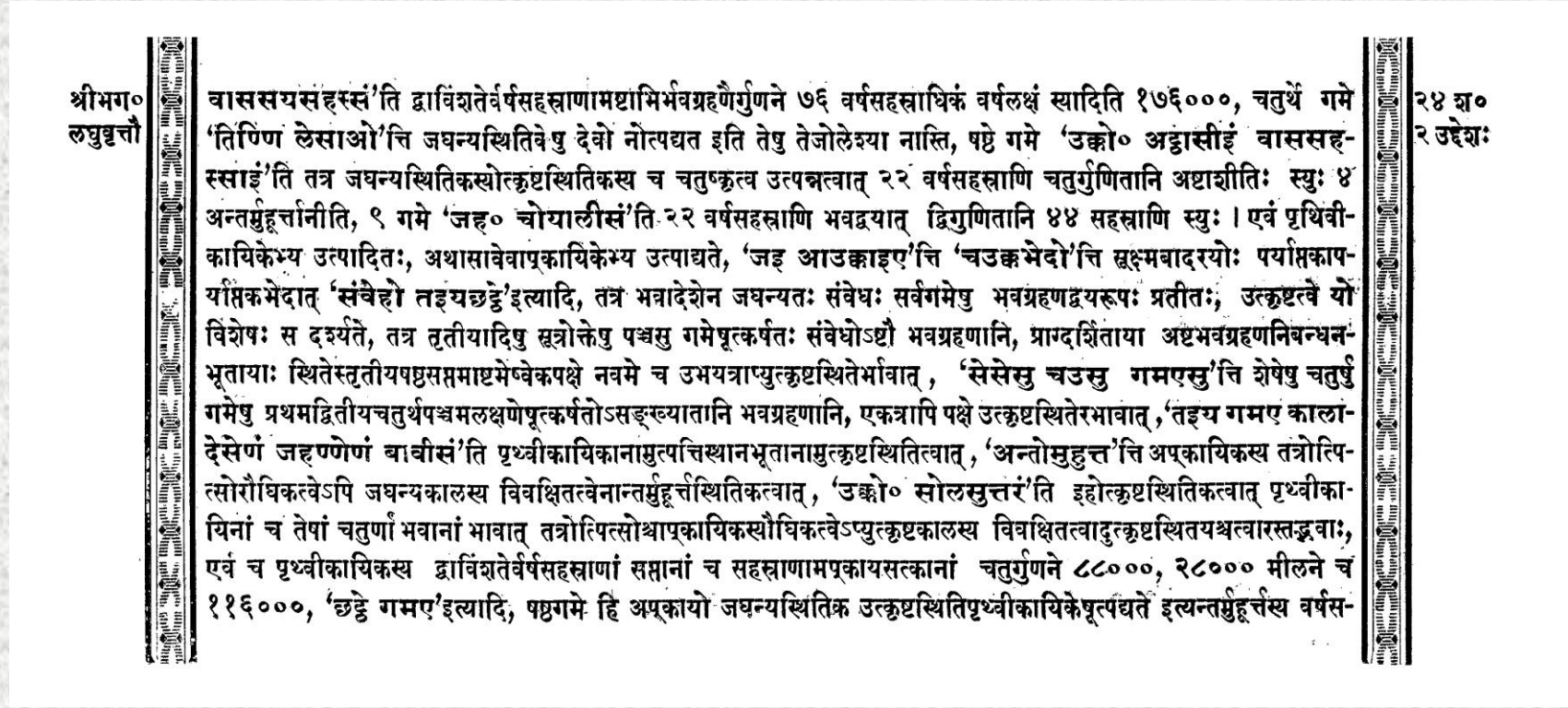

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वाससयसहस्सं'ति द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणामष्टाभिर्भवग्रहणैर्गुणने ७६ वर्षसहस्राधिकं वर्षलक्षं स्यादिति १७६०००, चतुर्थे गमे 'तिण्णि लेसाओ'त्ति जघन्यस्थितिकेषु देवो नोत्पद्यत इति तेषु तेजोलेश्या नास्ति, षष्ठे गमे 'उक्को० अट्ठासीइं वाससहस्साइं'ति तत्र जघन्यस्थितिकस्योत्कृष्टस्थितिकस्य च चतुष्कृत्व उत्पन्नत्वात् २२ वर्षसहस्राणि चतुर्गुणितानि अष्टाशीतिः स्युः ४ अन्तर्मुहूर्त्तानीति, ९ गमे 'जह० चोयालीसं'ति २२ वर्षसहस्राणि भवद्वयात् द्विगुणितानि ४४ सहस्राणि स्युः। एवं पृथिवीकायिकेभ्य उत्पादितः, अथासावेवाप्कायिकेभ्य उत्पाद्यते, 'जइ आउक्काइए'त्ति 'चउक्कभेदो'त्ति सूक्ष्मबादरयोः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात् 'संवेहो तइयछट्ठे'इत्यादि, तत्र भवादेशेन जघन्यतः संवेधः सर्वगमेषु भवग्रहणद्वयरूपः प्रतीतः, उत्कृष्टत्वे यो विशेषः स दर्श्यते, तत्र तृतीयादिषु सूत्रोक्तेषु पञ्चसु गमेषूत्कर्षतः संवेधोऽष्टौ भवग्रहणानि, प्राग्दर्शिताया अष्टभवग्रहणनिबन्धनभूतायाः स्थितेस्तृतीयषष्ठसप्तमाष्टमेष्वेकपक्षे नवमे च उभयत्राप्युत्कृष्टस्थितेर्भावात्, 'सेसेसु चउसु गमएसु'त्ति शेषेषु चतुर्षु गमेषु प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमलक्षणेषूत्कर्षतोऽसङ्ख्यातानि भवग्रहणानि, एकत्रापि पक्षे उत्कृष्टस्थितेरभावात्, 'तइय गमए कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं'ति पृथ्वीकायिकानामुत्पत्तिस्थानभूतानामुत्कृष्टस्थितित्वात्, 'अन्तोमुहुत्त'त्ति अप्कायिकस्य तत्रोत्पित्सोरौधिकत्वेऽपि जघन्यकालस्य विवक्षितत्वेनान्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वात्, 'उक्को० सोलसुत्तरं'ति इहोत्कृष्टस्थितिकत्वात् पृथ्वीकायिनां च तेषां चतुर्णां भवानां भावात् तत्रोत्पित्सोश्चाप्कायिकस्यौधिकत्वेऽप्युत्कृष्टकालस्य विवक्षितत्वादुत्कृष्टस्थितयश्चत्वारस्तद्भवाः, एवं च पृथ्वीकायिकस्य द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां सप्तानां च सहस्राणामप्कायसत्कानां चतुर्गुणने ८८०००, २८००० मीलने च ११६०००, 'छट्ठे गमए'इत्यादि, षष्ठगमे हि अप्कायो जघन्यस्थितिक उत्कृष्टस्थितिपृथ्वीकायिकेषूत्पद्यते इत्यन्तर्मुहूर्त्तस्य वर्षस-

२४ श० २ उद्देशः

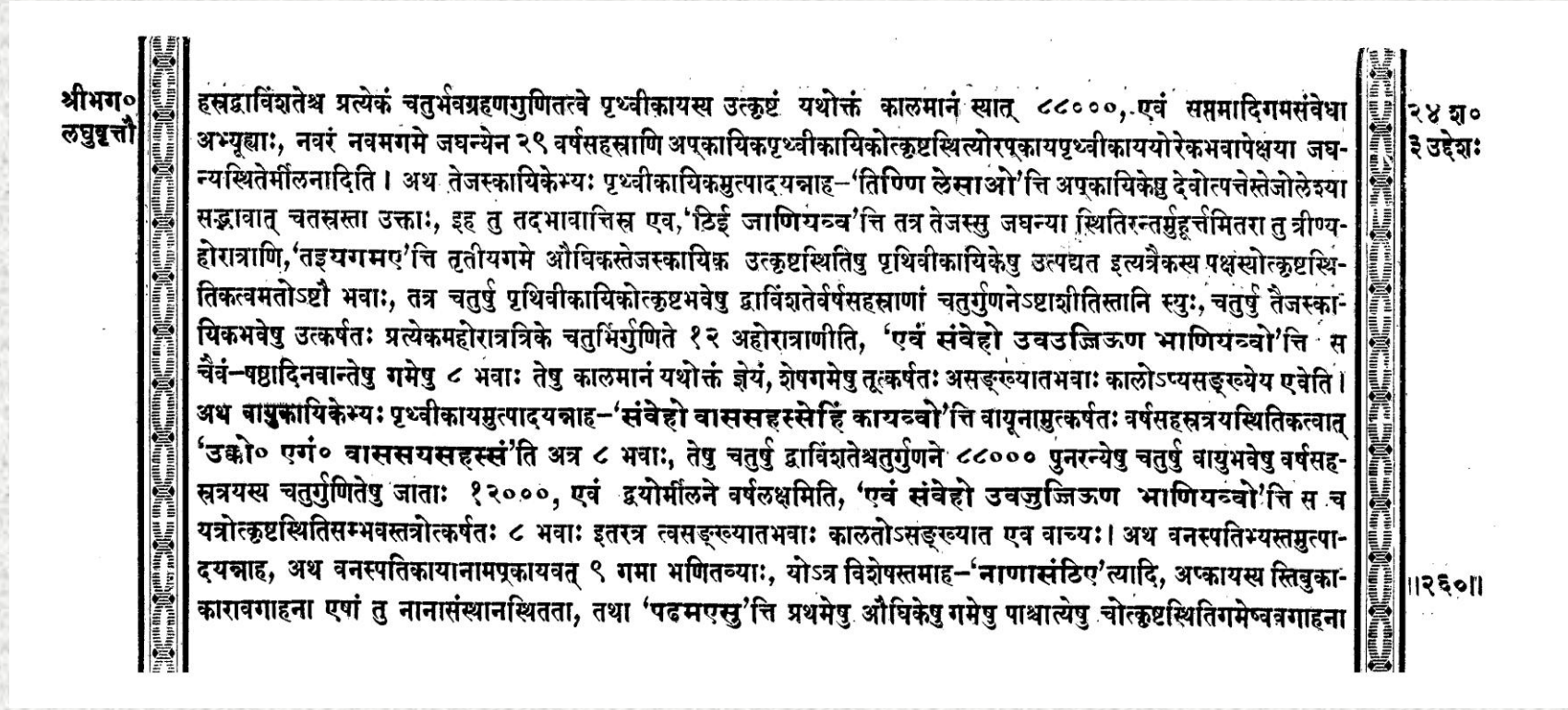

श्रीभग० लघुवृत्तौ

हस्तद्वाविंशतेश्च प्रत्येकं चतुर्भवग्रहणगुणितत्वे पृथ्वीकायस्य उत्कृष्टं यथोक्तं कालमानं स्यात् ८८०००, एवं सप्तमादिगमसंवेधा अभ्यूह्याः, नवरं नवमगमे जघन्येन २९ वर्षसहस्राणि अप्कायिकपृथ्वीकायिकोत्कृष्टस्थित्योरप्कायपृथ्वीकाययोरेकभवापेक्षया जघन्यस्थितेर्मीलनादिति। अथ तेजस्कायिकेभ्यः पृथ्वीकायिकमुत्पादयन्नाह–‘तिण्णि लेसाओ’त्ति अप्कायिकेषु देवोत्पत्तेस्तेजोलेश्या सद्भावात् चतस्रस्ता उक्ताः, इह तु तदभावात्तिस्र एव,‘ठिई जाणियव्व’त्ति तत्र तेजस्सु जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमितरा तु त्रीण्यहोरात्राणि,‘तइयगमए’त्ति तृतीयगमे औधिकस्तेजस्कायिक उत्कृष्टस्थितिषु पृथिवीकायिकेषु उत्पद्यत इत्यत्रैकस्य पक्षस्योत्कृष्टस्थितिकत्वमतोऽष्टौ भवाः, तत्र चतुर्षु पृथिवीकायिकोत्कृष्टभवेषु द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां चतुर्गुणनेऽष्टाशीतिस्तानि स्युः, चतुर्षु तैजस्कायिकभवेषु उत्कर्षतः प्रत्येकमहोरात्रत्रिके चतुर्भिर्गुणिते १२ अहोरात्राणीति, ‘एवं संवेहो उवउज्जिऊण भाणियव्वो’त्ति स चैवं–षष्ठादिनवान्तेषु गमेषु ८ भवाः तेषु कालमानं यथोक्तं ज्ञेयं, शेषगमेषु तूत्कर्षतः असङ्ख्यातभवाः कालोऽप्यसङ्ख्येय एवेति। अथ वायुकायिकेभ्यः पृथ्वीकायमुत्पादयन्नाह–‘संवेहो वाससहस्सेहिं कायव्वो’त्ति वायूनामुत्कर्षतः वर्षसहस्रत्रयस्थितिकत्वात् ‘उक्को० एगं० वाससयसहस्सं’ति अत्र ८ भवाः, तेषु चतुर्षु द्वाविंशतेश्चतुर्गुणने ८८००० पुनरन्येषु चतुर्षु वायुभवेषु वर्षसहस्रत्रयस्य चतुर्गुणितेषु जाताः १२०००, एवं द्वयोर्मीलने वर्षलक्षमिति, ‘एवं संवेहो उवजुज्जिऊण भाणियव्वो’त्ति स च यत्रोत्कृष्टस्थितिसम्भवस्तत्रोत्कर्षतः ८ भवाः इतरत्र त्वसङ्ख्यातभवाः कालतोऽसङ्ख्यात एव वाच्यः। अथ वनस्पतिभ्यस्तमुत्पादयन्नाह, अथ वनस्पतिकायानामप्कायवत् ९ गमा भणितव्याः, योऽत्र विशेषस्तमाह–‘नाणासंठिए’त्यादि, अप्कायस्य स्तिबुकाकारावगाहना एषां तु नानासंस्थानस्थितता, तथा ‘पढमएसु’त्ति प्रथमेषु औधिकेषु गमेषु पाश्चात्येषु चोत्कृष्टस्थितिगमेष्ववगाहना

२४ श० ३ उद्देशः

॥२६०॥

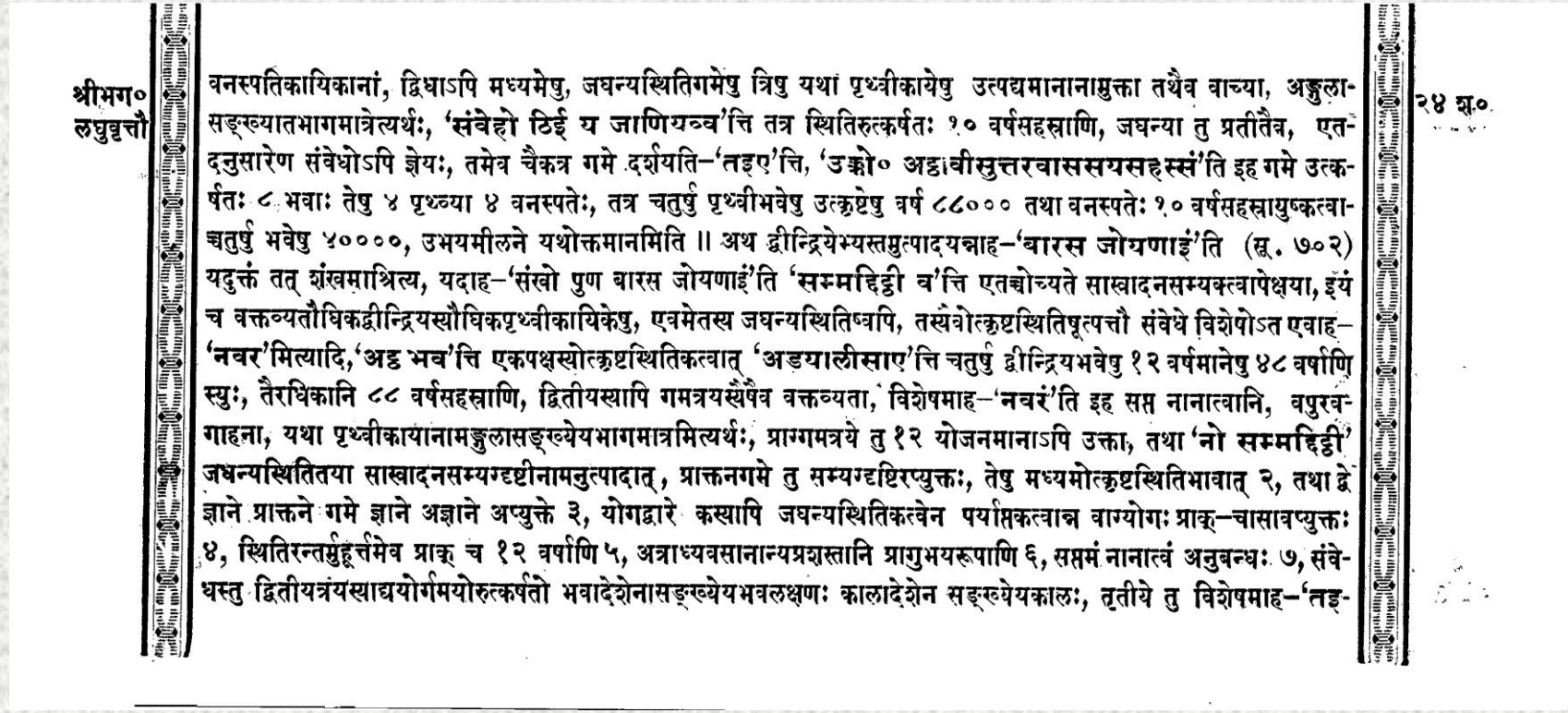

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वनस्पतिकायिकानां, द्विधाऽपि मध्यमेषु, जघन्यस्थितिगमेषु त्रिषु यथा पृथ्वीकायेषु उत्पद्यमानानामुक्ता तथैव वाच्या, अङ्गुलासङ्ख्यातभागमात्रेत्यर्थः, **'संवेहो ठिई य जाणियव्व'**त्ति तत्र स्थितिरुत्कर्षतः १० वर्षसहस्राणि, जघन्या तु प्रतीतैव, एतदनुसारेण संवेधोऽपि ज्ञेयः, तमेव चैकत्र गमे दर्शयति–**'तइए'**त्ति, **'उक्को० अट्ठावीसुत्तरवाससयसहस्सं'**ति इह गमे उत्कर्षतः ८ भवाः तेषु ४ पृथ्व्या ४ वनस्पतेः, तत्र चतुर्षु पृथ्वीभवेषु उत्कृष्टेषु वर्ष ८८००० तथा वनस्पतेः १० वर्षसहस्रायुष्कत्वाच्चतुर्षु भवेषु ४००००, उभयमीलने यथोक्तमानमिति ॥ अथ द्वीन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह–**'बारस जोयणाइं'**ति (सू. ७०२) यदुक्तं तत् शंखमाश्रित्य, यदाह–'संखो पुण बारस जोयणाइं'ति **'सम्मद्दिट्ठी व'**त्ति एतच्चोच्यते सास्वादनसम्यक्त्वापेक्षया, इयं च वक्तव्यतौधिकद्वीन्द्रियस्यौधिकपृथ्वीकायिकेषु, एवमेतस्य जघन्यस्थितिष्वपि, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिषूत्पत्तौ संवेधे विशेषोऽत एवाह– **'नवर'**मित्यादि,**'अट्ठ भव'**त्ति एकपक्षस्योत्कृष्टस्थितिकत्वात् **'अडयालीसाए'**त्ति चतुर्षु द्वीन्द्रियभवेषु १२ वर्षमानेषु ४८ वर्षाणि स्युः, तैरधिकानि ८८ वर्षसहस्राणि, द्वितीयस्यापि गमत्रयस्यैषैव वक्तव्यता, विशेषमाह–**'नवरं'**ति इह सप्त नानात्वानि, वपुरवगाहना, यथा पृथ्वीकायानामङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रमित्यर्थः, प्राग्गमत्रये तु १२ योजनमानाऽपि उक्ता, तथा **'नो सम्मद्दिट्ठी'** जघन्यस्थितितया सास्वादनसम्यग्दृष्टीनामनुत्पादात्, प्राक्तनगमे तु सम्यग्दृष्टिरप्युक्तः, तेषु मध्यमोत्कृष्टस्थितिभावात् २, तथा द्वे ज्ञाने प्राक्तने गमे ज्ञाने अज्ञाने अप्युक्ते ३, योगद्वारे कस्यापि जघन्यस्थितिकत्वेन पर्याप्तकत्वान्न वाग्योगः प्राक्–चासावप्युक्तः ४, स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमेव प्राक् च १२ वर्षाणि ५, अत्राध्यवसानान्यप्रशस्तानि प्रागुभयरूपाणि ६, सप्तमं नानात्वं अनुबन्धः ७, संवेधस्तु द्वितीयत्रंयस्याद्ययोर्गमयोरुत्कर्षतो भवादेशेनासङ्ख्येयभवलक्षणः कालादेशेन सङ्ख्येयकालः, तृतीये तु विशेषमाह–**'तइ-**

२४ श०

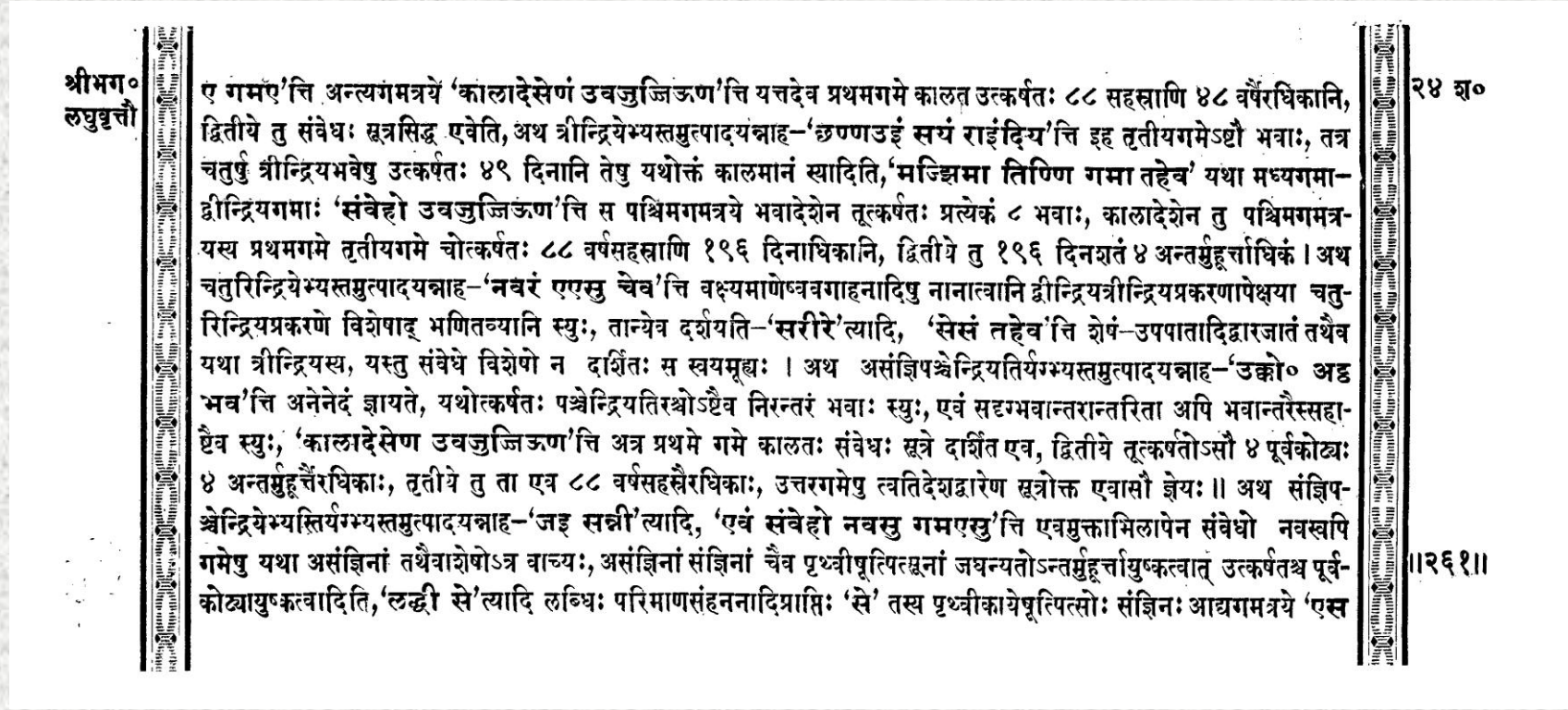

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ए गमए'त्ति अन्त्यगमत्रये 'कालादेसेणं उवजुज्जिऊण'त्ति यत्तदेव प्रथमगमे कालतः उत्कर्षतः ८८ सहस्राणि ४८ वर्षैरधिकानि, द्वितीये तु संवेधः सूत्रसिद्ध एवेति, अथ त्रीन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह–'छण्णउइं सयं राइंदिय'त्ति इह तृतीयगमेऽष्टौ भवाः, तत्र चतुर्षु त्रीन्द्रियभवेषु उत्कर्षतः ४९ दिनानि तेषु यथोक्तं कालमानं स्यादिति,'मज्झिमा तिण्णि गमा तहेव' यथा मध्यगमा–द्वीन्द्रियगमाः 'संवेहो उवजुज्जिऊण'त्ति स पश्चिमगमत्रये भवादेशेन तूत्कर्षतः प्रत्येकं ८ भवाः, कालादेशेन तु पश्चिमगमत्रयस्य प्रथमगमे तृतीयगमे चोत्कर्षतः ८८ वर्षसहस्राणि १९६ दिनाधिकानि, द्वितीये तु १९६ दिनशतं ४ अन्तर्मुहूर्त्ताधिकं। अथ चतुरिन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह–'नवरं एएसु चेव'त्ति वक्ष्यमाणेष्ववगाहनादिषु नानात्वानि द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियप्रकरणापेक्षया चतुरिन्द्रियप्रकरणे विशेषाद् भणितव्यानि स्युः, तान्येव दर्शयति–'सरीरे'त्यादि, 'सेसं तहेव'त्ति शेषं–उपपातादिद्वारजातं तथैव यथा त्रीन्द्रियस्य, यस्तु संवेधे विशेषो न दर्शितः स स्वयमूह्यः। अथ असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यस्तमुत्पादयन्नाह–'उक्को० अट्ठ भव'त्ति अनेनेदं ज्ञायते, यथोत्कर्षतः पञ्चेन्द्रियतिरश्चोऽष्टैव निरन्तरं भवाः स्युः, एवं सदृग्भवान्तरान्तरिता अपि भवान्तरैस्सहाष्टैव स्युः, 'कालादेसेण उवजुज्जिऊण'त्ति अत्र प्रथमे गमे कालतः संवेधः सूत्रे दर्शित एव, द्वितीये तूत्कर्षतोऽसौ ४ पूर्वकोट्यः ४ अन्तर्मुहूर्त्तैरधिकाः, तृतीये तु ता एव ८८ वर्षसहस्रैरधिकाः, उत्तरगमेषु त्वतिदेशद्वारेण सूत्रोक्त एवासौ ज्ञेयः॥ अथ संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यस्तिर्यग्भ्यस्तमुत्पादयन्नाह–'जइ सन्नी'त्यादि, 'एवं संवेहो नवसु गमएसु'त्ति एवमुक्ताभिलापेन संवेधो नवस्वपि गमेषु यथा असंज्ञिनां तथैवाशेषोऽत्र वाच्यः, असंज्ञिनां संज्ञिनां चैव पृथ्वीषूत्पित्सूनां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तायुष्कत्वात् उत्कर्षतश्च पूर्वकोट्यायुष्कत्वादिति,'लद्धी से'त्यादि लब्धिः परिमाणसंहननादिप्राप्तिः 'से' तस्य पृथ्वीकायेषूत्पित्सोः संज्ञिनः आद्यगमत्रये 'एस्स

२४ श०

॥२६१॥

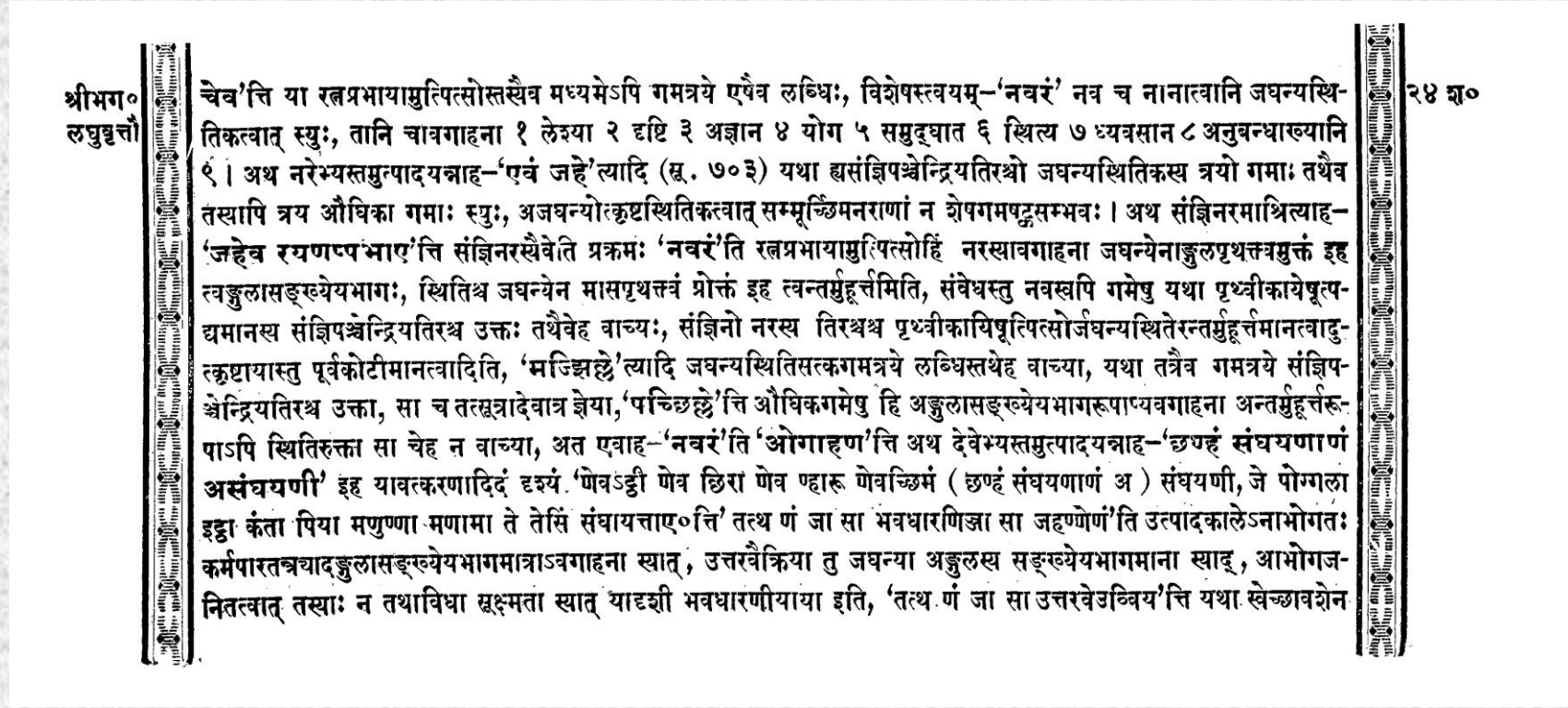

श्रीभग० लघुवृत्तौ

चेव'त्ति या रत्नप्रभायामुत्पित्सोस्तस्यैव मध्यमेऽपि गमत्रये एषैव लब्धिः, विशेषस्त्वयम्–'नवरं' नव च नानात्वानि जघन्यस्थितिकत्वात् स्युः, तानि चावगाहना १ लेश्या २ दृष्टि ३ अज्ञान ४ योग ५ समुद्घात ६ स्थित्य ७ ध्यवसान ८ अनुबन्धाख्यानि ९। अथ नरेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह–'एवं जहे'त्यादि (सू. ७०३) यथा ह्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चो जघन्यस्थितिकस्य त्रयो गमाः तथैव तस्यापि त्रय औधिका गमाः स्युः, अजघन्योत्कृष्टस्थितिकत्वात् सम्मूर्च्छिमनराणां न शेषगमषट्कसम्भवः। अथ संज्ञिनरमाश्रित्याह–'जहेव रयणप्पभाए'त्ति संज्ञिनरस्यैवेति प्रक्रमः 'नवरं'ति रत्नप्रभायामुत्पित्सोर्हि नरस्यावगाहना जघन्येनाङ्गुलपृथक्त्वमुक्तं इह त्वङ्गुलासङ्ख्येयभागः, स्थितिश्च जघन्येन मासपृथक्त्वं प्रोक्तं इह त्वन्तर्मुहूर्त्तमिति, संवेधस्तु नवस्वपि गमेषु यथा पृथ्वीकायेषूत्पद्यमानस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च उक्तः तथैवेह वाच्यः, संज्ञिनो नरस्य तिरश्चश्च पृथ्वीकायिषूत्पित्सोर्जघन्यस्थितेरन्तर्मुहूर्त्तमानत्वादुत्कृष्टायास्तु पूर्वकोटीमानत्वादिति, 'मज्झिल्ले'त्यादि जघन्यस्थितिसत्कगमत्रये लब्धिस्तथेह वाच्या, यथा तत्रैव गमत्रये संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च उक्ता, सा च तत्सूत्रादेवात्र ज्ञेया,'पच्छिल्ले'त्ति औधिकगमेषु हि अङ्गुलासङ्ख्येयभागरूपाप्यवगाहना अन्तर्मुहूर्त्तरूपाऽपि स्थितिरुक्ता सा चेह न वाच्या, अत एवाह–'नवरं'ति 'ओगाहण'त्ति अथ देवेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह–'छण्हं संघयणाणं असंघयणी' इह यावत्करणादिदं दृश्यं 'णेवऽट्ठी णेव छिरा णेव ण्हारू णेवच्छिमं (छण्हं संघयणाणं अ) संघयणी, जे पोग्गला इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणामा ते तेसिं संघायत्ताए०त्ति' तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं'ति उत्पादकालेऽनाभोगतः कर्मपारतन्त्र्याद्अङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्राऽवगाहना स्यात्, उत्तरवैक्रिया तु जघन्या अङ्गुलस्य सङ्ख्येयभागमाना स्याद्, आभोगजनितत्वात् तस्याः न तथाविधा सूक्ष्मता स्यात् यादृशी भवधारणीयाया इति, 'तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विय'त्ति यथा स्वेच्छावशेन

२४ श०

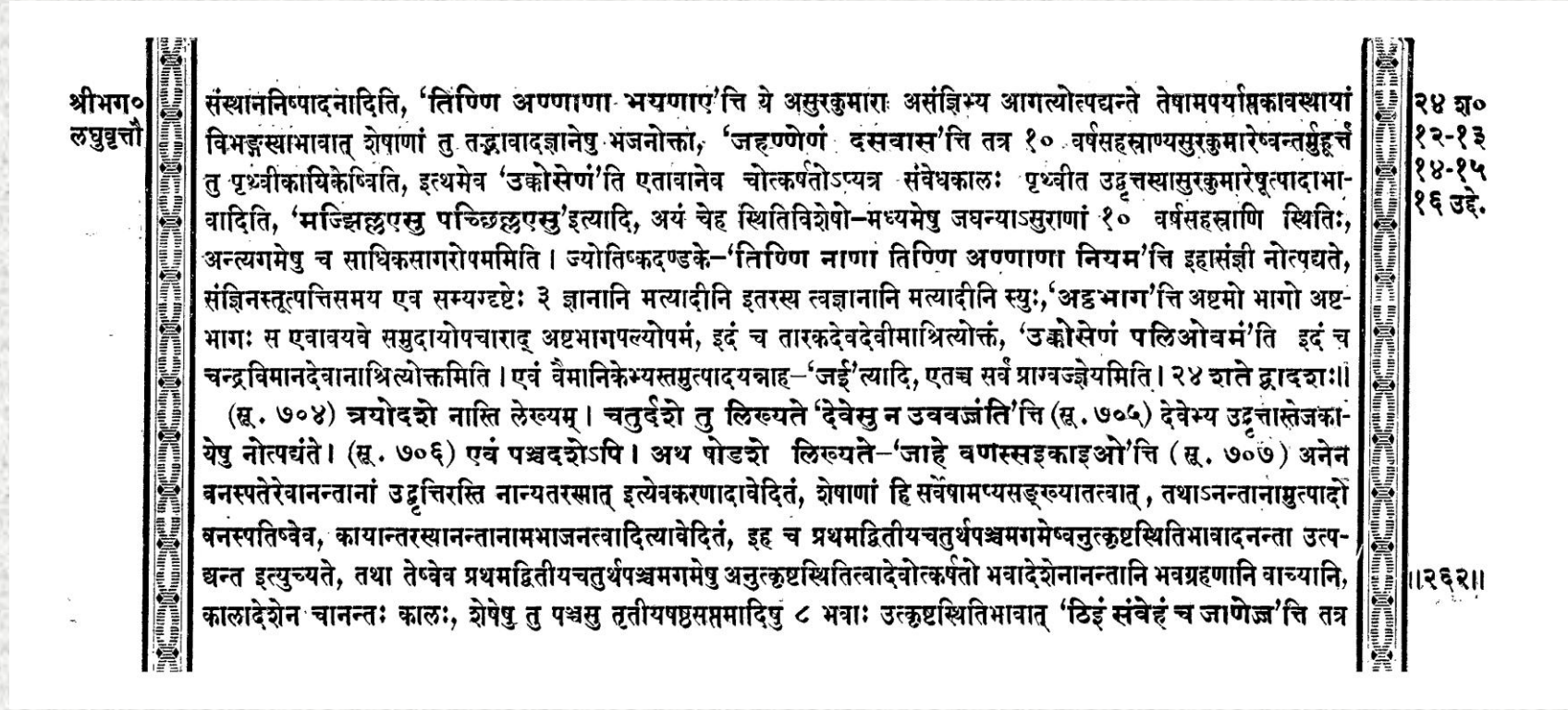

श्रीभग० लघुवृत्तौ

संस्थाननिष्पादनादिति, 'तिण्णि अण्णाणा भयणाए'त्ति ये असुरकुमारा असंज्ञिभ्य आगत्योत्पद्यन्ते तेषामपर्याप्तकावस्थायां विभङ्गस्याभावात् शेषाणां तु तद्भावादज्ञानेषु भजनोक्ता, 'जहण्णेणं दसवास'त्ति तत्र १० वर्षसहस्राण्यसुरकुमारेष्वन्तर्मुहूर्त्तं तु पृथ्वीकायिकेष्विति, इत्थमेव 'उक्कोसेणं'ति एतावानेव चोत्कर्षतोऽप्यत्र संवेधकालः पृथ्वीत उद्वृत्तस्यासुरकुमारेषूत्पादाभावादिति, 'मज्झिल्लएसु पच्छिल्लएसु'इत्यादि, अयं चेह स्थितिविशेषो–मध्यमेषु जघन्याऽसुराणां १० वर्षसहस्राणि स्थितिः, अन्त्यगमेषु च साधिकसागरोपममिति। ज्योतिष्कदण्डके–'तिण्णि नाणा तिण्णि अण्णाणा नियम'त्ति इहासंज्ञी नोत्पद्यते, संज्ञिनस्तूत्पत्तिसमय एव सम्यग्दृष्टेः ३ ज्ञानानि मत्यादीनि इतरस्य त्वज्ञानानि मत्यादीनि स्युः,'अट्ठभाग'त्ति अष्टमो भागो अष्टभागः स एवावयवे समुदायोपचाराद् अष्टभागपल्योपमं, इदं च तारकदेवदेवीमाश्रित्योक्तं, 'उक्कोसेणं पलिओवमं'ति इदं च चन्द्रविमानदेवानाश्रित्योक्तमिति। एवं वैमानिकेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह–'जई'त्यादि, एतच्च सर्वं प्राग्वज्ज्ञेयमिति। २४ शते द्वादशः॥

(सू. ७०४) त्रयोदशे नास्ति लेख्यम्। चतुर्दशे तु लिख्यते 'देवेसु न उववज्जंति'त्ति (सू. ७०५) देवेभ्य उद्वृत्तास्तेजकायेषु नोत्पद्यंते। (सू. ७०६) एवं पञ्चदशेऽपि। अथ षोडशे लिख्यते–'जाहे वणस्सइकाइओ'त्ति (सू. ७०७) अनेन वनस्पतेरेवानन्तानां उद्वृत्तिरस्ति नान्यतरस्मात् इत्येवकरणादावेदितं, शेषाणां हि सर्वेषामप्यसङ्ख्यातत्वात्, तथाऽनन्तानामुत्पादो वनस्पतिष्वेव, कायान्तरस्यानन्तानामभाजनत्वादित्यावेदितं, इह च प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमगमेष्वनुत्कृष्टस्थितिभावादनन्ता उत्पद्यन्त इत्युच्यते, तथा तेष्वेव प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमगमेषु अनुत्कृष्टस्थितित्वादेवोत्कर्षतो भवादेशेनानन्तानि भवग्रहणानि वाच्यानि, कालादेशेन चानन्तः कालः, शेषेषु तु पञ्चसु तृतीयषष्ठसप्तमादिषु ८ भवाः उत्कृष्टस्थितिभावात् 'ठिइं संवेहं च जाणेज्ज'त्ति तत्र ॥२६२॥

२४ श० १२-१३ १४-१५ १६ उद्दे.

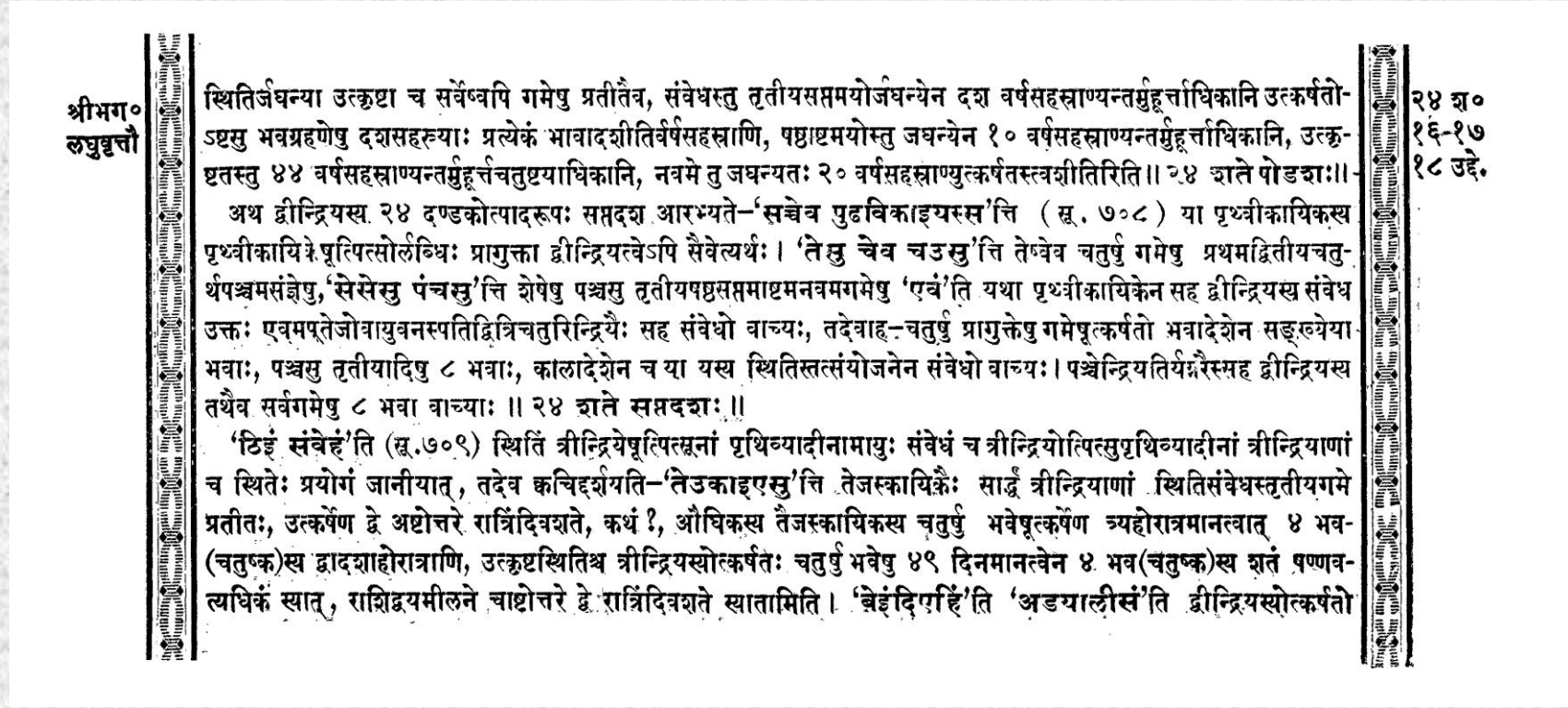

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्थितिर्जघन्या उत्कृष्टा च सर्वेष्वपि गमेषु प्रतीतैव, संवेधस्तु तृतीयसप्तमयोर्जघन्येन दश वर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताधिकानि उत्कर्षतोऽष्टसु भवग्रहणेषु दशसहस्र्याः प्रत्येकं भावादशीतिर्वर्षसहस्राणि, षष्ठाष्टमयोस्तु जघन्येन १० वर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताधिकानि, उत्कृष्टतस्तु ४४ वर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्तचतुष्टयाधिकानि, नवमे तु जघन्यतः २० वर्षसहस्राण्युत्कर्षतस्त्वशीतिरिति॥ २४ शते षोडशः॥

२४ श० १६-१७ १८ उद्दे.

अथ द्वीन्द्रियस्य २४ दण्डकोत्पादरूपः सप्तदश आरभ्यते–‘सच्चेव पुढविकाइयस्स’त्ति (सू. ७०८) या पृथ्वीकायिकस्य पृथ्वीकायिकेषूत्पित्सोर्लब्धिः प्रागुक्ता द्वीन्द्रियत्वेऽपि सैवेत्यर्थः। ‘तेसु चेव चउसु’त्ति तेष्वेव चतुर्षु गमेषु प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमसंज्ञेषु, ‘सेसेसु पंचसु’त्ति शेषेषु पञ्चसु तृतीयषष्ठसप्तमाष्टमनवमगमेषु ‘एवं’ति यथा पृथ्वीकायिकेन सह द्वीन्द्रियस्य संवेध उक्तः एवमप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियैः सह संवेधो वाच्यः, तदेवाह–चतुर्षु प्रागुक्तेषु गमेषूत्कर्षतो भवादेशेन सङ्ख्येया भवाः, पञ्चसु तृतीयादिषु ८ भवाः, कालादेशेन च या यस्य स्थितिस्तत्संयोजनेन संवेधो वाच्यः। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिस्तु द्वीन्द्रियस्य तथैव सर्वगमेषु ८ भवा वाच्याः॥ २४ शते सप्तदशः॥

‘ठिइं संवेहं’ति (सू.७०९) स्थितिं त्रीन्द्रियेषूत्पित्सूनां पृथिव्यादीनामायुः संवेधं च त्रीन्द्रियोत्पित्सुपृथिव्यादीनां त्रीन्द्रियाणां च स्थितेः प्रयोगं जानीयात्, तदेव क्वचिद्दर्शयति–‘तेउकाइएसु’त्ति तेजस्कायिकैः सार्द्धं त्रीन्द्रियाणां स्थितिसंवेधस्तृतीयगमे प्रतीतः, उत्कर्षेण द्वे अष्टोत्तरे रात्रिंदिवशते, कथं?, औधिकस्य तैजस्कायिकस्य चतुर्षु भवेषूत्कर्षेण त्र्यहोरात्रमानत्वात् ४ भव(चतुष्क)स्य द्वादशाहोरात्राणि, उत्कृष्टस्थितिश्च त्रीन्द्रियस्योत्कर्षतः चतुर्षु भवेषु ४९ दिनमानत्वेन ४ भव(चतुष्क)स्य शतं षण्णवत्यधिकं स्यात्, राशिद्वयमीलने चाष्टोत्तरे द्वे रात्रिंदिवशते स्यातामिति। ‘बेइंदिएहिं’ति ‘अडयालीसं’ति द्वीन्द्रियस्योत्कर्षतो

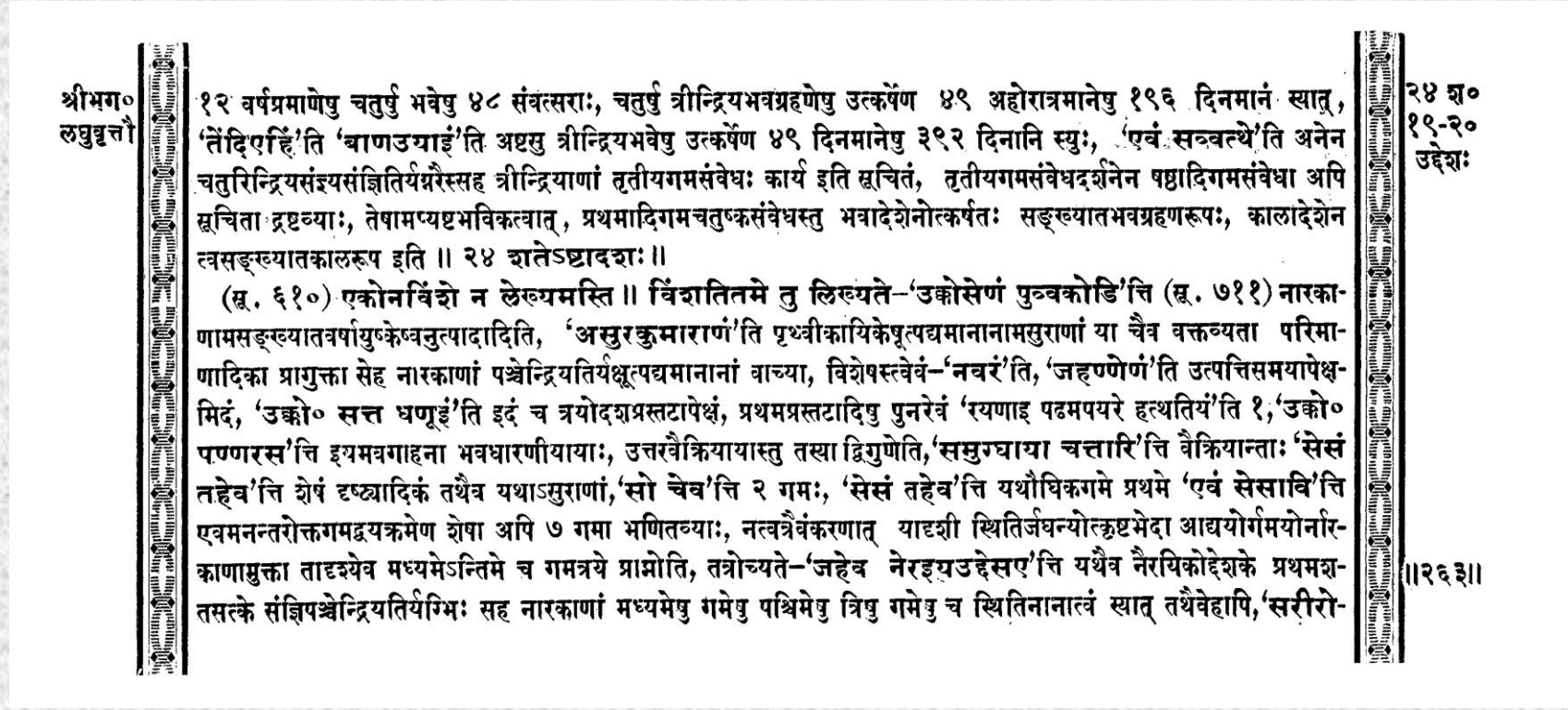

श्रीभग० लघुवृत्तौ

१२ वर्षप्रमाणेषु चतुर्षु भवेषु ४८ संवत्सराः, चतुर्षु त्रीन्द्रियभवग्रहणेषु उत्कर्षेण ४९ अहोरात्रमानेषु १९६ दिनमानं स्यात्, 'तेंदिएहिं'ति 'बाणउयाइं'ति अष्टसु त्रीन्द्रियभवेषु उत्कर्षेण ४९ दिनमानेषु ३९२ दिनानि स्युः, 'एवं सव्वत्थे'ति अनेन चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञितिर्यग्नैस्सह त्रीन्द्रियाणां तृतीयगमसंवेधः कार्य इति सूचितं, तृतीयगमसंवेधदर्शनेन षष्ठादिगमसंवेधा अपि सूचिता द्रष्टव्याः, तेषामप्यष्टभविकत्वात्, प्रथमादिगमचतुष्कसंवेधस्तु भवादेशेनोत्कर्षतः सङ्ख्यातभवग्रहणरूपः, कालादेशेन त्वसङ्ख्यातकालरूप इति ॥ २४ शतेऽष्टादशः॥

(सू. ६१०) **एकोनविंशे न लेख्यमस्ति॥ विंशतितमे तु लिख्यते**–'उक्कोसेणं पुव्वकोडि'त्ति (सू. ७११) नारकाणामसङ्ख्यातवर्षायुष्केष्वनुत्पादादिति, 'असुरकुमाराणं'ति पृथ्वीकायिकेषूत्पद्यमानानामसुराणां या चैव वक्तव्यता परिमाणादिका प्रागुक्ता सेह नारकाणां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानानां वाच्या, विशेषस्त्वेवं–'नवरं'ति, 'जहण्णेणं'ति उत्पत्तिसमयापेक्षमिदं, 'उक्को० सत्त धणूइं'ति इदं च त्रयोदशप्रस्तटापेक्षं, प्रथमप्रस्तटादिषु पुनरेवं 'रयणाइ पढमपयरे हत्थतियं'ति १, 'उक्को० पण्णरस'त्ति इयमवगाहना भवधारणीयायाः, उत्तरवैक्रियायास्तु तस्या द्विगुणेति, 'समुग्घाया चत्तारि'त्ति वैक्रियान्ताः 'सेसं तहेव'त्ति शेषं दृष्ट्यादिकं तथैव यथाऽसुराणां, 'सो चेव'त्ति २ गमः, 'सेसं तहेव'त्ति यथौघिकगमे प्रथमे 'एवं सेसावि'त्ति एवमनन्तरोक्तगमद्वयक्रमेण शेषा अपि ७ गमा भणितव्याः, नत्वत्रैवंकरणात् यादृशी स्थितिर्जघन्योत्कृष्टभेदा आद्ययोर्गमयोर्नारकाणामुक्ता तादृश्येव मध्यमेऽन्तिमे च गमत्रये प्राप्नोति, तत्रोच्यते–'जहेव नेरइयउद्देसए'त्ति यथैव नैरयिकोद्देशके प्रथमशतसत्के संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिः सह नारकाणां मध्यमेषु गमेषु पश्चिमेषु त्रिषु गमेषु च स्थितिनानात्वं स्यात् तथैवेहापि, 'सरीरो-

२४ श० १९-२० उद्देशः

॥२६३॥

प्रत सूत्रांक [६९३-७१५] + गाथा

दीप अनुक्रम [८३५-८६०]

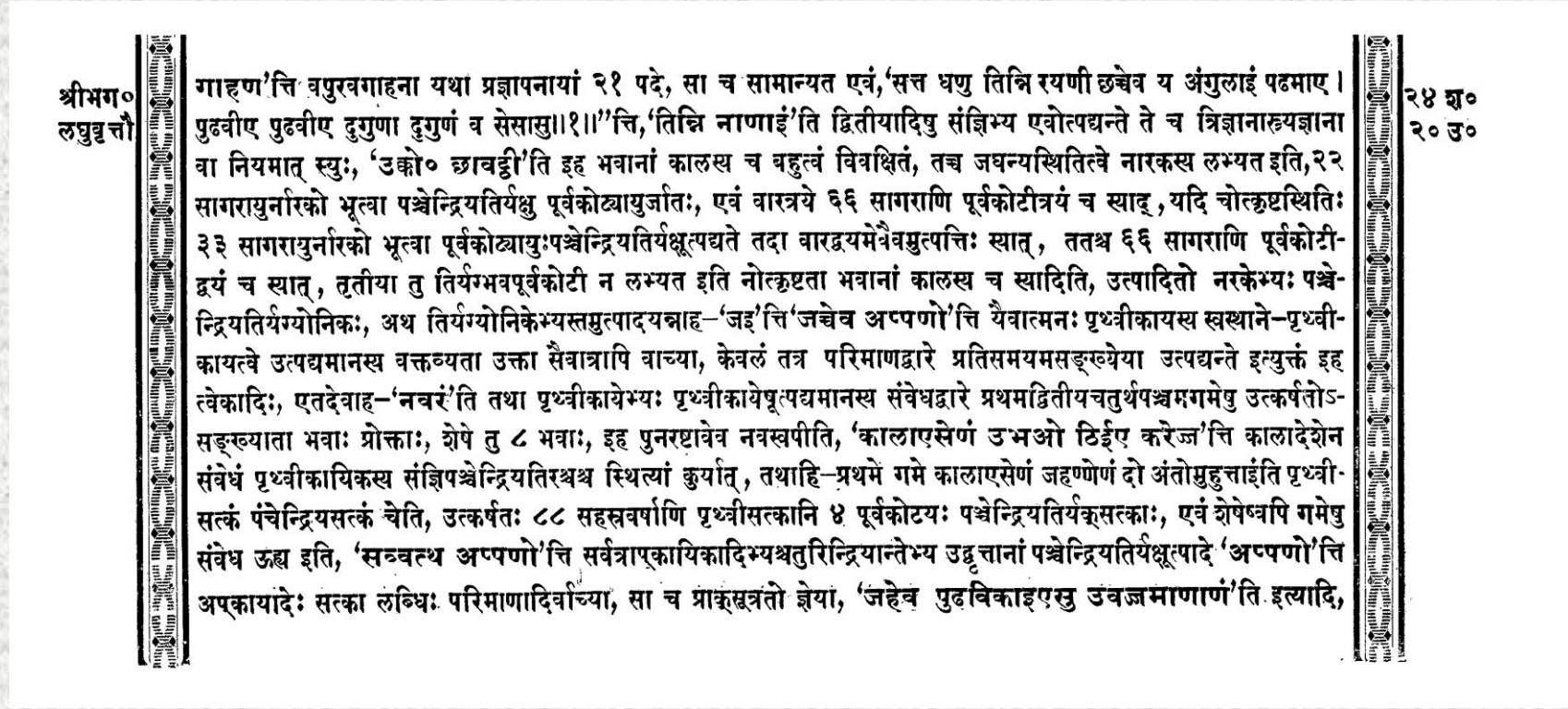

श्रीभग० लघुवृत्तौ

गाहण'त्ति वपुरवगाहना यथा प्रज्ञापनायां २१ पदे, सा च सामान्यत एवं,'सत्त धणु तिन्नि रयणी छच्चेव य अंगुलाइं पढमाए। पुढवीए पुढवीए दुगुणा दुगुणं व सेसासु॥१॥"त्ति,'तिन्नि नाणाइं'ति द्वितीयादिषु संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते ते च त्रिज्ञानाऽज्ञाना वा नियमात् स्युः, 'उक्को० छावट्ठी'ति इह भवानां कालस्य च बहुत्वं विवक्षितं, तच्च जघन्यस्थितित्वे नारकस्य लभ्यत इति,२२ सागरायुर्नारको भूत्वा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पूर्वकोट्यायुर्जातः, एवं वारत्रये ६६ सागराणि पूर्वकोटीत्रयं च स्याद्, यदि चोत्कृष्टस्थितिः ३३ सागरायुर्नारको भूत्वा पूर्वकोट्यायुःपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यते तदा वारद्वयमेवमुत्पत्तिः स्यात्, ततश्च ६६ सागराणि पूर्वकोटीद्वयं च स्यात्, तृतीया तु तिर्यग्भवपूर्वकोटी न लभ्यत इति नोत्कृष्टता भवानां कालस्य च स्यादिति, उत्पादितो नरकेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकः, अथ तिर्यग्योनिकेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह–'जइ'त्ति'जच्चेव अप्पणो'त्ति यैवात्मनः पृथ्वीकायस्य स्वस्थाने–पृथ्वीकायत्वे उत्पद्यमानस्य वक्तव्यता उक्ता सैवात्रापि वाच्या, केवलं तत्र परिमाणद्वारे प्रतिसमयमसङ्ख्येया उत्पद्यन्ते इत्युक्तं इह त्वेकादिः, एतदेवाह–'नवरं'ति तथा पृथ्वीकायेभ्यः पृथ्वीकायेषूत्पद्यमानस्य संवेधद्वारे प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमगमेषु उत्कर्षतोऽसङ्ख्याता भवाः प्रोक्ताः, शेषे तु ८ भवाः, इह पुनरष्टावेव नवस्वपीति, 'कालाएसेणं उभओ ठिईए करेज्ज'त्ति कालादेशेन संवेधं पृथ्वीकायिकस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चश्च स्थित्यां कुर्यात्, तथाहि–प्रथमे गमे कालाएसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ताइंति पृथ्वीसत्कं पंचेन्द्रियसत्कं चेति, उत्कर्षतः ८८ सहस्रवर्षाणि पृथ्वीसत्कानि ४ पूर्वकोटयः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सत्काः, एवं शेषेष्वपि गमेषु संवेध ऊह्य इति, 'सव्वत्थ अप्पणो'त्ति सर्वत्राप्कायिकादिभ्यश्चतुरिन्द्रियान्तेभ्य उद्वृत्तानां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पादे 'अप्पणो'त्ति अप्कायादेः सत्का लब्धिः परिमाणादिर्वाच्या, सा च प्राक्सूत्रतो ज्ञेया, 'जहेव पुढविकाइएसु उवज्जमाणाणं'ति इत्यादि,

२४ श० २० उ०

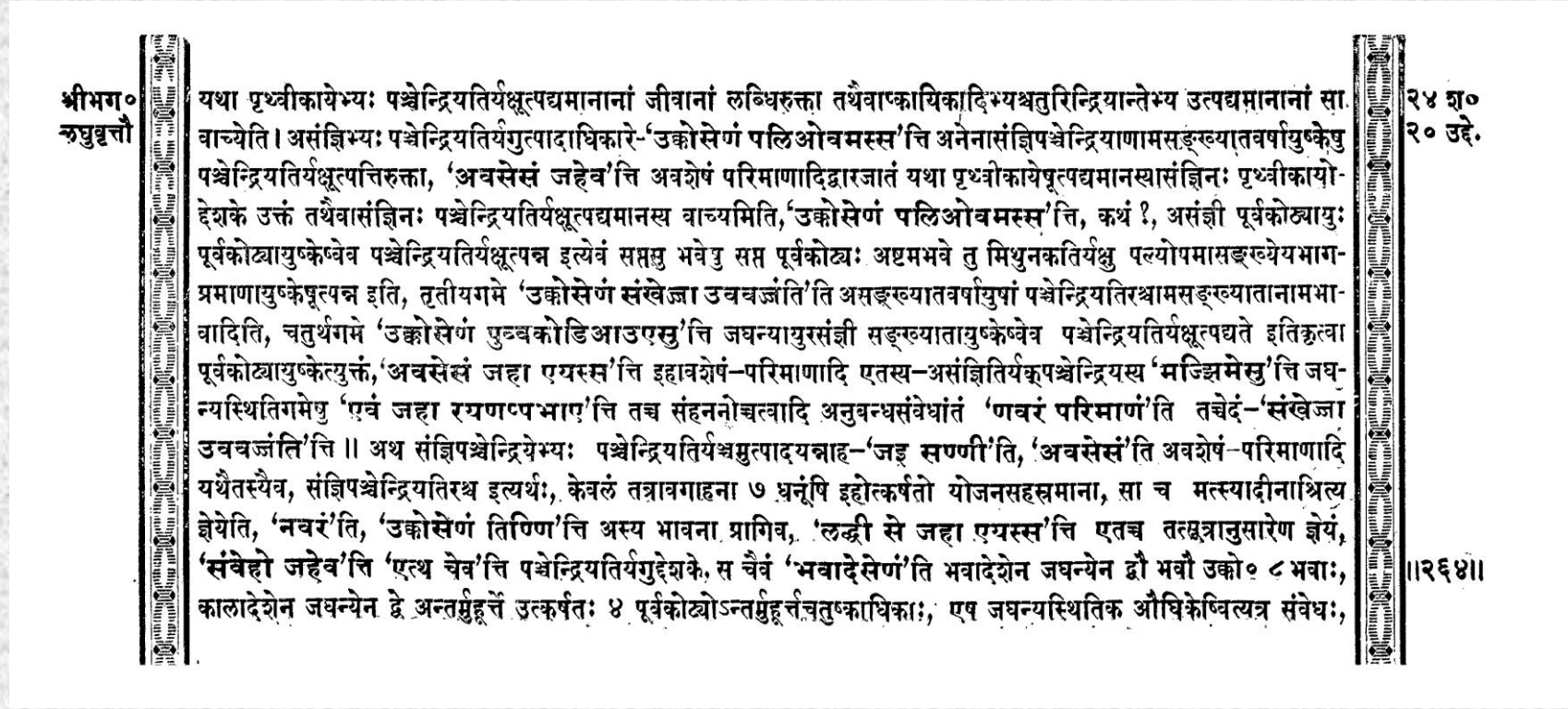

श्रीभग० रघुवृत्तौ

यथा पृथ्वीकायेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानानां जीवानां लब्धिरुक्ता तथैवाप्कायिकादिभ्यश्चतुरिन्द्रियान्तेभ्य उत्पद्यमानानां सा वाच्येति। असंज्ञिभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यगुत्पादाधिकारे-'उक्कोसेणं पलिओवमस्स'त्ति अनेनासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामसङ्ख्यातवर्षायुष्केषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पत्तिरुक्ता, 'अवसेसं जहेव'त्ति अवशेषं परिमाणादिद्वारजातं यथा पृथ्वीकायेषूत्पद्यमानस्यासंज्ञिनः पृथ्वीकायोद्देशके उक्तं तथैवासंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानस्य वाच्यमिति,'उक्कोसेणं पलिओवमस्स'त्ति, कथं ?, असंज्ञी पूर्वकोट्यायुः पूर्वकोट्यायुष्केष्वेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पन्न इत्येवं सप्तसु भवेषु सप्त पूर्वकोट्यः अष्टमभवे तु मिथुनकतिर्यक्षु पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाणायुष्केषूत्पन्न इति, तृतीयगमे 'उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति'त्ति असङ्ख्यातवर्षायुषां पञ्चेन्द्रियतिरश्चामसङ्ख्यातानामभावादिति, चतुर्थगमे 'उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु'त्ति जघन्यायुरसंज्ञी सङ्ख्यातायुष्केष्वेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यते इतिकृत्वा पूर्वकोट्यायुष्केत्युक्तं,'अवसेसं जहा एयस्स'त्ति इहावशेषं–परिमाणादि एतस्य–असंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य 'मज्झिमेसु'त्ति जघन्यस्थितिगमेषु 'एवं जहा रयणप्पभाए'त्ति तच्च संहननोच्चत्वादि अनुबन्धसंवेधांतं 'णवरं परिमाणं'ति तच्चेदं–'संखेज्जा उववज्जंति'त्ति ॥ अथ संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमुत्पादयन्नाह–'जइ सण्णी'ति, 'अवसेसं'ति अवशेषं–परिमाणादि यथैतस्यैव, संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च इत्यर्थः, केवलं तत्रावगाहना ७ धनूंषि इहोत्कर्षतो योजनसहस्रमाना, सा च मत्स्यादीनाश्रित्य ज्ञेयेति, 'नवरं'ति, 'उक्कोसेणं तिण्णि'त्ति अस्य भावना प्रागिव, 'लद्धी से जहा एयस्स'त्ति एतच्च तत्सूत्रानुसारेण ज्ञेयं, 'संवेहो जहेव'त्ति 'एत्थ चेव'त्ति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गुद्देशके, स चैवं 'भवादेसेणं'ति भवादेशेन जघन्येन द्वौ भवौ उक्को० ८ भवाः, कालादेशेन जघन्येन द्वे अन्तर्मुहूर्त्ते उत्कर्षतः ४ पूर्वकोट्योऽन्तर्मुहूर्त्तचतुष्काधिकाः, एष जघन्यस्थितिक औधिकेष्वित्यत्र संवेधः,

२४ श० २० उद्दे. ॥२६४॥

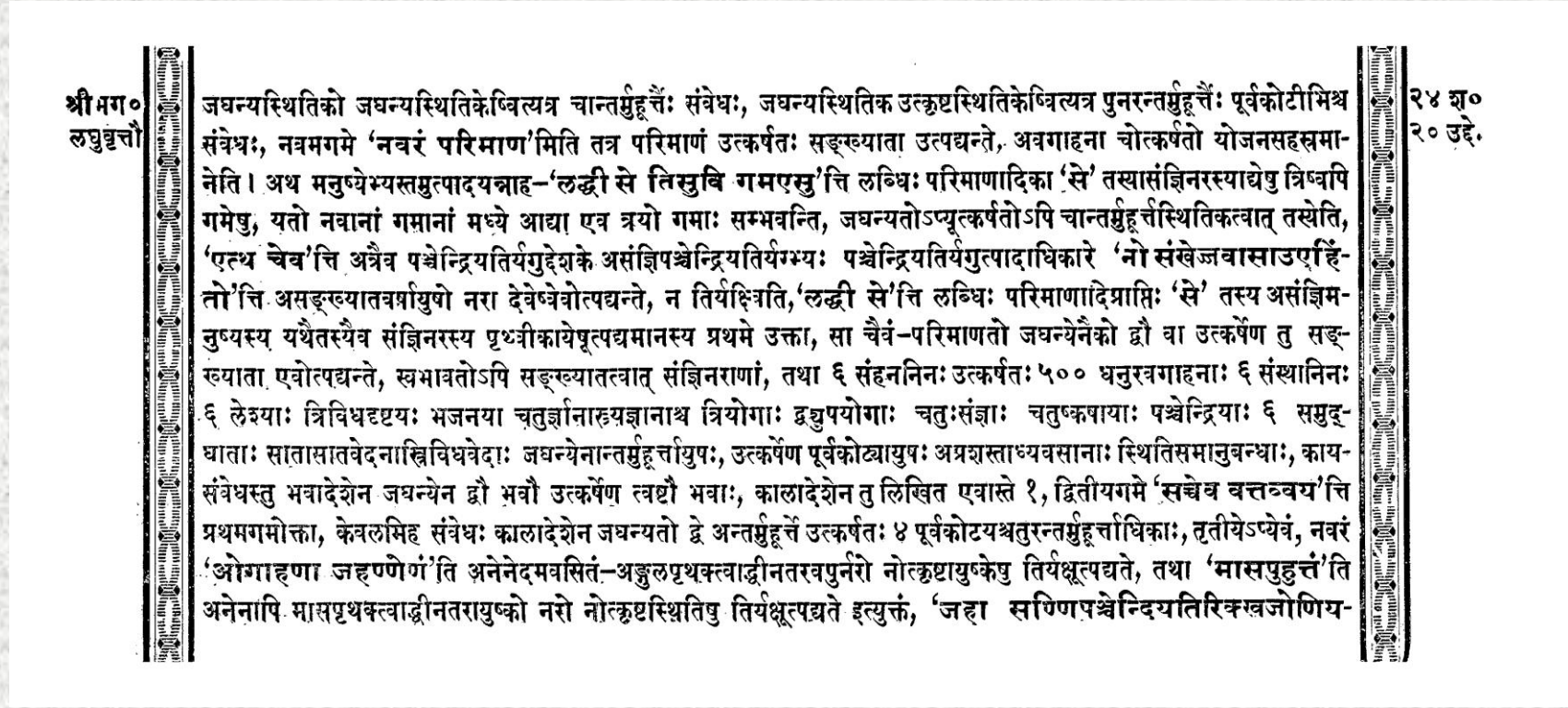

श्रीभग० लघुवृत्तौ

जघन्यस्थितिको जघन्यस्थितिकेष्वित्यत्र चान्तर्मुहूर्त्तैः संवेधः, जघन्यस्थितिक उत्कृष्टस्थितिकेष्वित्यत्र पुनरन्तर्मुहूर्त्तैः पूर्वकोटीभिश्च संवेधः, नवमगमे 'नवरं परिमाण'मिति तत्र परिमाणं उत्कर्षतः सङ्ख्याता उत्पद्यन्ते, अवगाहना चोत्कर्षतो योजनसहस्रमानेति। अथ मनुष्येभ्यस्तमुत्पादयन्नाह–'लद्धी से तिसुवि गमएसु'त्ति लब्धिः परिमाणादिका 'से' तस्यासंज्ञिनरस्याद्येषु त्रिष्वपि गमेषु, यतो नवानां गमानां मध्ये आद्या एव त्रयो गमाः सम्भवन्ति, जघन्यतोऽप्युत्कर्षतोऽपि चान्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वात् तस्येति, 'एत्थ चेव'त्ति अत्रैव पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशके असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यगुत्पादाधिकारे 'नो संखेज्जवासाउएहिंतो'त्ति असङ्ख्यातवर्षायुषो नरा देवेष्वेवोत्पद्यन्ते, न तिर्यक्ष्विति,'लद्धी से'त्ति लब्धिः परिमाणादेप्राप्तिः 'से' तस्य असंज्ञिमनुष्यस्य यथैतस्यैव संज्ञिनरस्य पृथ्वीकायेषूत्पद्यमानस्य प्रथमे उक्ता, सा चैवं–परिमाणतो जघन्येनैको द्वौ वा उत्कर्षेण तु सङ्ख्याता एवोत्पद्यन्ते, स्वभावतोऽपि सङ्ख्यातत्वात् संज्ञिनराणां, तथा ६ संहननिनः उत्कर्षतः ५०० धनुरवगाहनाः ६ संस्थानिनः ६ लेश्याः त्रिविधदृष्टयः भजनया चतुर्ज्ञानाज्ञानाश्च त्रियोगाः द्वयुपयोगाः चतुःसंज्ञाः चतुष्कषायाः पञ्चेन्द्रियाः ६ समुद्घाताः सातासातवेदनास्त्रिविधवेदाः जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तायुषः, उत्कर्षेण पूर्वकोट्यायुषः अप्रशस्ताध्यवसानाः स्थितिसमानुबन्धाः, कायसंवेधस्तु भवादेशेन जघन्येन द्वौ भवौ उत्कर्षेण त्वष्टौ भवाः, कालादेशेन तु लिखित एवास्ते १, द्वितीयगमे 'सच्चेव वत्तव्वय'त्ति प्रथमगमोक्ता, केवलमिह संवेधः कालादेशेन जघन्यतो द्वे अन्तर्मुहूर्त्ते उत्कर्षतः ४ पूर्वकोटयश्चतुरन्तर्मुहूर्त्ताधिकाः, तृतीयेऽप्येवं, नवरं 'ओगाहणा जहण्णेणं'ति अनेनेदमवसितं–अङ्गुलपृथक्त्वाद्धीनतरवपुर्नरो नोत्कृष्टायुष्केषु तिर्यक्षूत्पद्यते, तथा 'मासपुहुत्त'त्ति अनेनापि मासपृथक्त्वाद्धीनतरायुष्को नरो नोत्कृष्टस्थितिषु तिर्यक्षूत्पद्यते इत्युक्तं, 'जहा सण्णिपञ्चेन्दियतिरिक्खजोणिय-

२४ श० २० उद्दे.

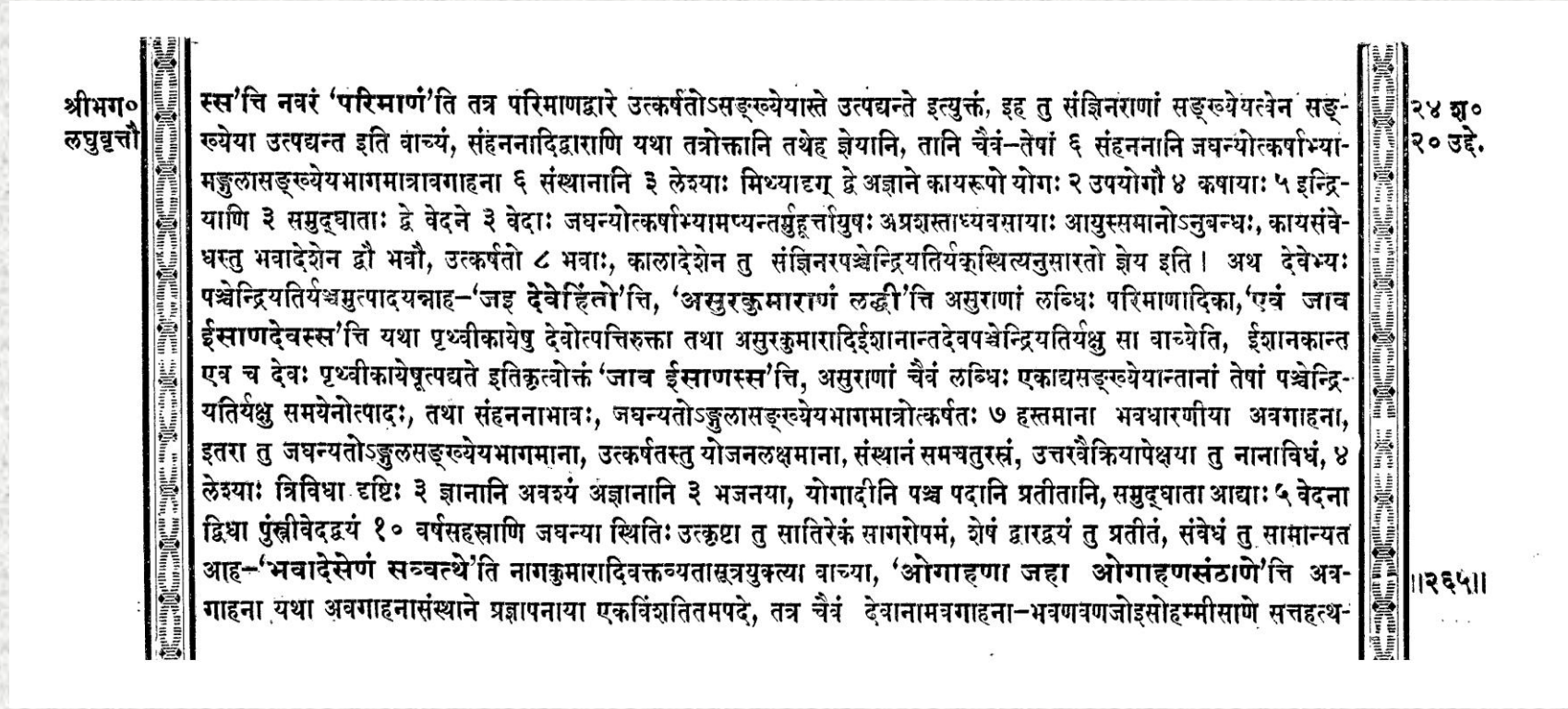

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्स'त्ति नवरं 'परिमाणं'ति तत्र परिमाणद्वारे उत्कर्षतोऽसङ्ख्येयास्ते उत्पद्यन्ते इत्युक्तं, इह तु संज्ञिनराणां सङ्ख्येयत्वेन सङ्ख्येया उत्पद्यन्त इति वाच्यं, संहननादिद्वाराणि यथा तत्रोक्तानि तथेह ज्ञेयानि, तानि चैवं–तेषां ६ संहननानि जघन्योत्कर्षाभ्यामङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रावगाहना ६ संस्थानानि ३ लेश्याः मिथ्यादृग् द्वे अज्ञाने कायरूपो योगः २ उपयोगौ ४ कषायाः ५ इन्द्रियाणि ३ समुद्घाताः द्वे वेदने ३ वेदाः जघन्योत्कर्षाभ्यामप्यन्तर्मुहूर्त्तायुषः अप्रशस्ताध्यवसायाः आयुस्समानोऽनुबन्धः, कायसंवेधस्तु भवादेशेन द्वौ भवौ, उत्कर्षतो ८ भवाः, कालादेशेन तु संज्ञिनरपञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्थित्यनुसारतो ज्ञेय इति। अथ देवेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमुत्पादयन्नाह–'जइ देवेहिंतो'त्ति, 'असुरकुमाराणं लद्धी'त्ति असुराणां लब्धिः परिमाणादिका,'एवं जाव ईसाणदेवस्स'त्ति यथा पृथ्वीकायेषु देवोत्पत्तिरुक्ता तथा असुरकुमारादिईशानान्तदेवपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु सा वाच्येति, ईशानकान्त एव च देवः पृथ्वीकायेषूत्पद्यते इतिकृत्वोक्तं 'जाव ईसाणस्स'त्ति, असुराणां चैवं लब्धिः एकाद्यसङ्ख्येयान्तानां तेषां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु समयेनोत्पादः, तथा संहननाभावः, जघन्यतोऽङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रोत्कर्षतः ७ हस्तमाना भवधारणीया अवगाहना, इतरा तु जघन्यतोऽङ्गुलसङ्ख्येयभागमाना, उत्कर्षतस्तु योजनलक्षमाना, संस्थानं समचतुरस्रं, उत्तरवैक्रियापेक्षया तु नानाविधं, ४ लेश्याः त्रिविधा दृष्टिः ३ ज्ञानानि अवश्यं अज्ञानानि ३ भजनया, योगादीनि पञ्च पदानि प्रतीतानि, समुद्घाता आद्याः ५ वेदना द्विधा पुंस्त्रीवेदद्वयं १० वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः उत्कृष्टा तु सातिरेकं सागरोपमं, शेषं द्वारद्वयं तु प्रतीतं, संवेधं तु सामान्यत आह–'भवादेसेणं सव्वत्थे'ति नागकुमारादिवक्तव्यतासूत्रयुक्त्या वाच्या, 'ओगाहणा जहा ओगाहणसंठाणे'त्ति अवगाहना यथा अवगाहनासंस्थाने प्रज्ञापनाया एकविंशतितमपदे, तत्र चैवं देवानामवगाहना–भवणवणजोइसोहम्मीसाणे सत्तहत्थ-

२४ श० २० उद्दे.

॥२६५॥

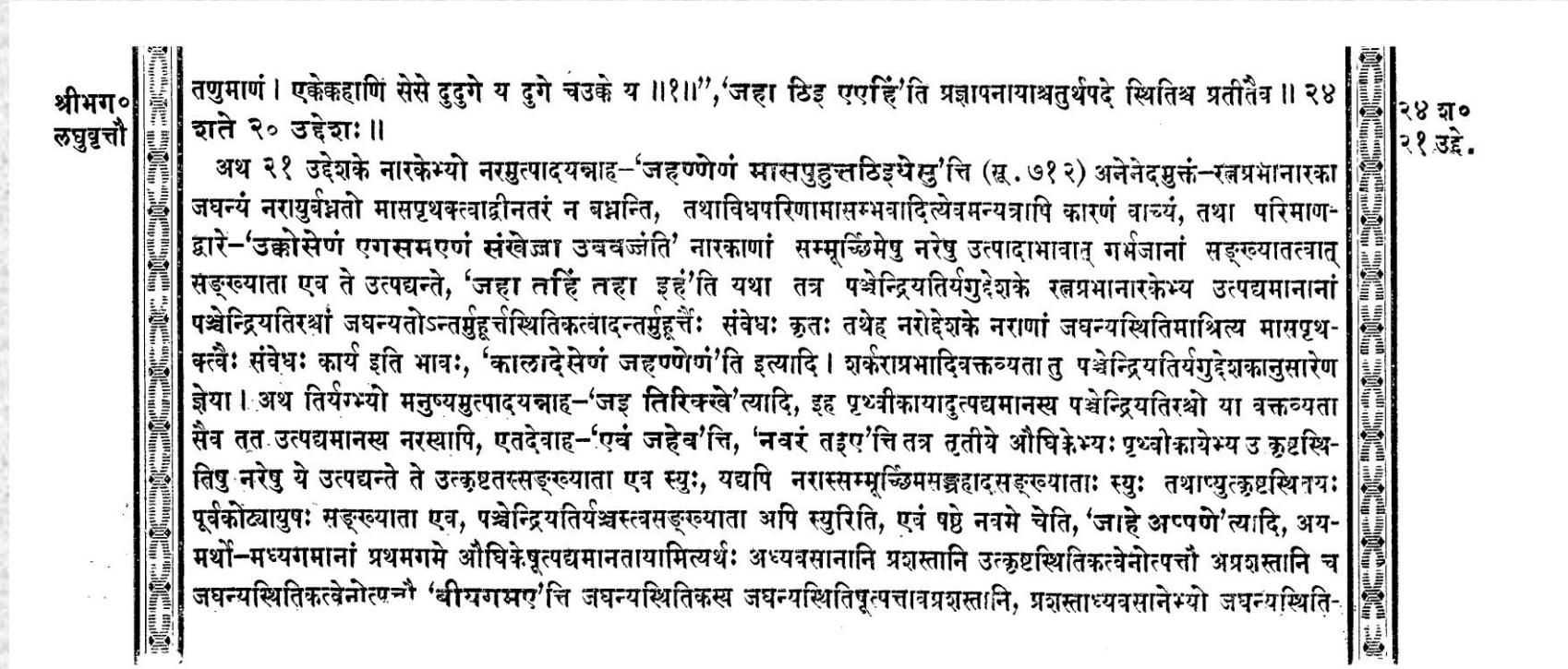

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तणुमाणं। एक्केकहाणिं सेसे दुदुगे य दुगे चउके य ॥१॥", 'जहा ठिइ एएहिं'ति प्रज्ञापनायाश्चतुर्थपदे स्थितिश्च प्रतीतैव ॥ २४ शते २० उद्देशः ॥

२४ श० २१ उद्दे.

अथ २१ उद्देशके नारकेभ्यो नरमुत्पादयन्नाह–'जहण्णेणं मासपुहुत्तठिइएसु'त्ति (सू. ७१२) अनेनेदमुक्तं–रत्नप्रभानारका जघन्यं नरायुर्बध्नतो मासपृथक्त्वाद्धीनतरं न बध्नन्ति, तथाविधपरिणामासम्भवादित्येवमन्यत्रापि कारणं वाच्यं, तथा परिमाणद्वारे–'उक्कोसेणं एगसमएणं संखेज्जा उववज्जंति' नारकाणां सम्मूर्च्छिमेषु नरेषु उत्पादाभावात् गर्भजानां सङ्ख्यातत्वात् सङ्ख्याता एव ते उत्पद्यन्ते, 'जहा तहिं तहा इहं'ति यथा तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशके रत्नप्रभानारकेभ्य उत्पद्यमानानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वादन्तर्मुहूर्त्तैः संवेधः कृतः तथेह नरोद्देशके नराणां जघन्यस्थितिमाश्रित्य मासपृथक्त्वैः संवेधः कार्य इति भावः, 'कालादेसेणं जहण्णेणं'ति इत्यादि। शर्कराप्रभादिवक्तव्यता तु पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशकानुसारेण ज्ञेया। अथ तिर्यग्भ्यो मनुष्यमुत्पादयन्नाह–'जइ तिरिक्खे'त्यादि, इह पृथ्वीकायादुत्पद्यमानस्य पञ्चेन्द्रियतिरश्चो या वक्तव्यता सैव तत उत्पद्यमानस्य नरस्यापि, एतदेवाह–'एवं जहेव'त्ति, 'नवरं तइए'त्ति तत्र तृतीये औधिकेभ्यः पृथ्वीकायेभ्य उ कृष्टस्थितिषु नरेषु ये उत्पद्यन्ते ते उत्कृष्टतस्सङ्ख्याता एव स्युः, यद्यपि नरास्सम्मूर्च्छिमसङ्ग्रहादसङ्ख्याताः स्युः तथाप्युत्कृष्टस्थितयः पूर्वकोट्यायुषः सङ्ख्याता एव, पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्त्वसङ्ख्याता अपि स्युरिति, एवं षष्ठे नवमे चेति, 'जाहे अप्पणे'त्यादि, अयमर्थो–मध्यगमानां प्रथमगमे औधिकेषूत्पद्यमानतायामित्यर्थः अध्यवसानानि प्रशस्तानि उत्कृष्टस्थितिकत्वेनोत्पत्तौ अप्रशस्तानि च जघन्यस्थितिकत्वेनोत्पत्तौ 'बीयगमए'त्ति जघन्यस्थितिकस्य जघन्यस्थितिषूत्पत्तावप्रशस्तानि, प्रशस्ताध्यवसानेभ्यो जघन्यस्थिति-

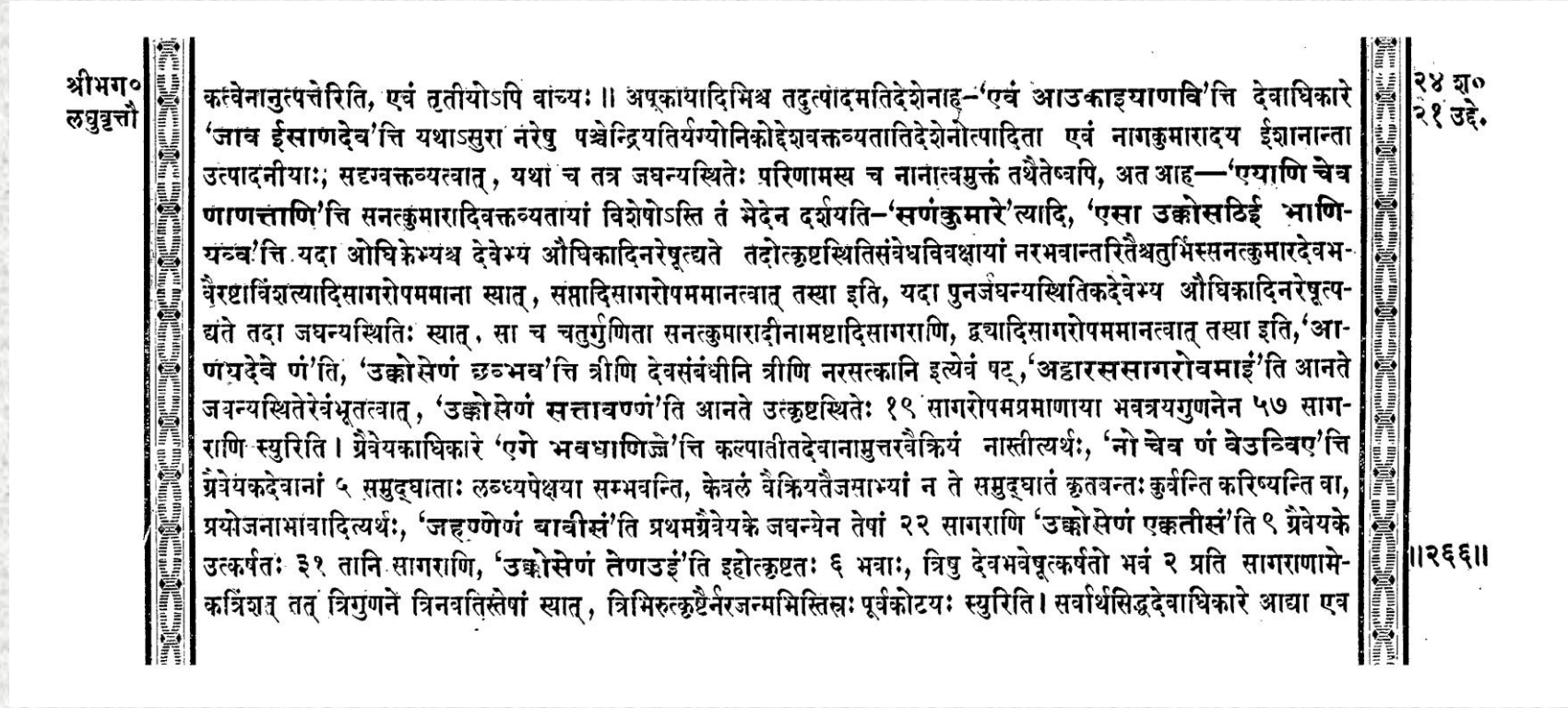

श्रीभग० लघुवृत्तौ

कत्वेनानुत्पत्तेरिति, एवं तृतीयोऽपि वाच्यः ॥ अप्कायादिभिश्च तदुत्पादमतिदेशेनाह–‘एवं आउकाइयाणवि’त्ति देवाधिकारे ‘जाव ईसाणदेव’त्ति यथाऽसुरा नरेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकोद्देशवक्तव्यतातिदेशेनोत्पादिता एवं नागकुमारादय ईशानान्ता उत्पादनीयाः, सदृग्वक्तव्यत्वात्, यथा च तत्र जघन्यस्थितेः परिणामस्य च नानात्वमुक्तं तथैतेष्वपि, अत आह—‘एयाणि चेव णाणत्ताणि’त्ति सनत्कुमारादिवक्तव्यतायां विशेषोऽस्ति तं भेदेन दर्शयति–‘सणंकुमारे’त्यादि, ‘एसा उक्कोसठिई भाणियव्व’त्ति यदा ओघिकेभ्यश्च देवेभ्य औधिकादिनरेषूत्पद्यते तदोत्कृष्टस्थितिसंवेधविवक्षायां नरभवान्तरितैश्चतुर्भिस्सनत्कुमारदेवभवैरष्टाविंशत्यादिसागरोपममाना स्यात्, सप्तादिसागरोपममानत्वात् तस्या इति, यदा पुनर्जघन्यस्थितिकदेवेभ्य औधिकादिनरेषूत्पद्यते तदा जघन्यस्थितिः स्यात्, सा च चतुर्गुणिता सनत्कुमारादीनामष्टादिसागराणि, द्व्यादिसागरोपममानत्वात् तस्या इति,‘आणयदेवे णं’ति, ‘उक्कोसेणं छब्भव’त्ति त्रीणि देवसंबंधीनि त्रीणि नरसत्कानि इत्येवं षट्,‘अट्ठारससागरोवमाइं’ति आनते जघन्यस्थितेरेवंभूतत्वात्, ‘उक्कोसेणं सत्तावण्णं’ति आनते उत्कृष्टस्थितेः १९ सागरोपमप्रमाणाया भवत्रयगुणनेन ५७ सागराणि स्युरिति। ग्रैवेयकाधिकारे ‘एगे भवधाणिज्जे’त्ति कल्पातीतदेवानामुत्तरवैक्रियं नास्तीत्यर्थः, ‘नो चेव णं वेउव्विए’त्ति ग्रैवेयकदेवानां ५ समुद्घाताः लब्ध्यपेक्षया सम्भवन्ति, केवलं वैक्रियतैजसाभ्यां न ते समुद्घातं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा, प्रयोजनाभावादित्यर्थः, ‘जहण्णेणं बावीसं’ति प्रथमग्रैवेयके जघन्येन तेषां २२ सागराणि ‘उक्कोसेणं एक्कतीसं’ति ९ ग्रैवेयके उत्कर्षतः ३१ तानि सागराणि, ‘उक्कोसेणं तेणउइं’ति इहोत्कृष्टतः ६ भवाः, त्रिषु देवभवेषूत्कर्षतो भवं २ प्रति सागराणामेकत्रिंशत् तत् त्रिगुणनें त्रिनवतिस्तेषां स्यात्, त्रिभिरुत्कृष्टैर्नरजन्मभिस्तिस्रः पूर्वकोटयः स्युरिति। सर्वार्थसिद्धदेवाधिकारे आद्या एव

२४ श० २१ उद्दे.

॥२६६॥

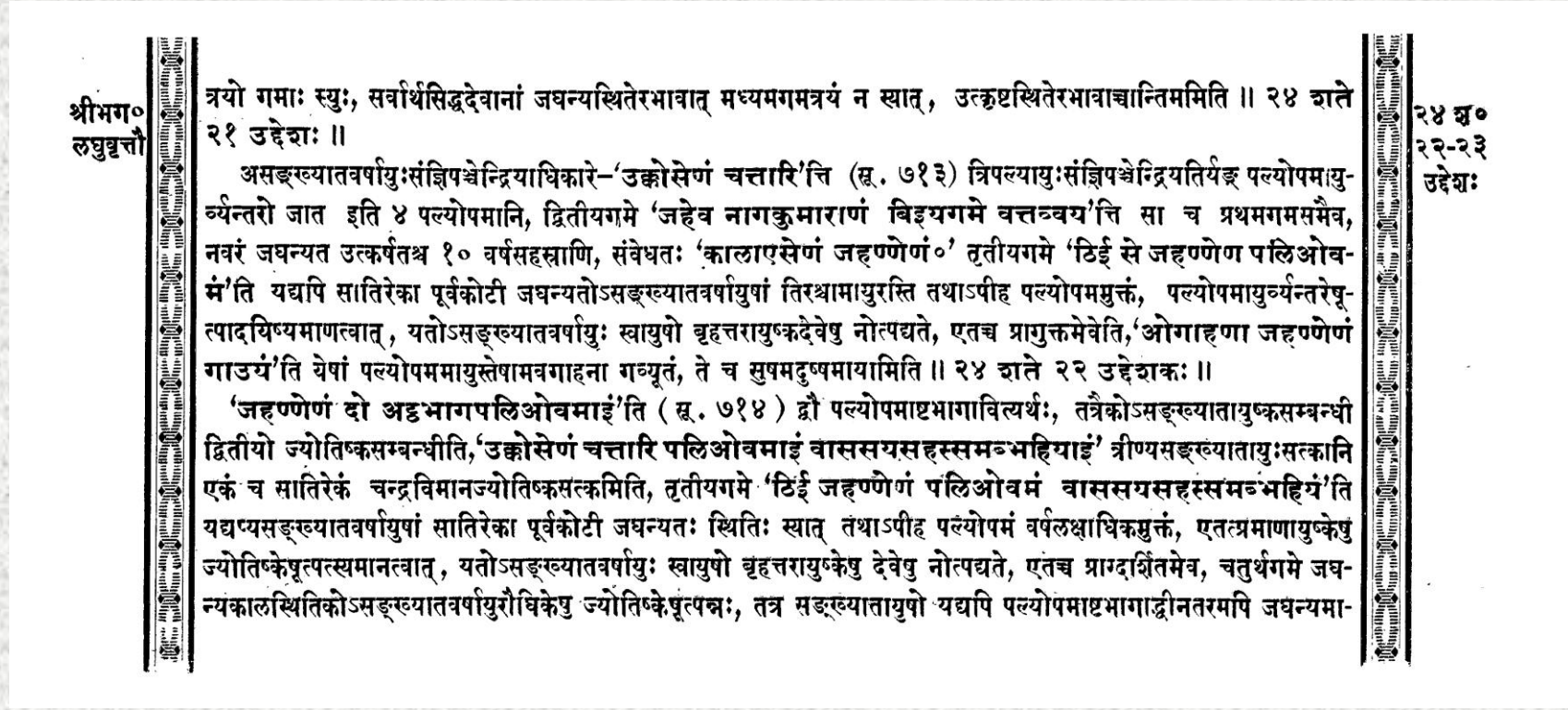

श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्रयो गमाः स्युः, सर्वार्थसिद्धदेवानां जघन्यस्थितेरभावात् मध्यमगमत्रयं न स्यात्, उत्कृष्टस्थितेरभावाच्चान्तिममिति ॥ २४ शते २१ उद्देशः ॥

असङ्ख्यातवर्षायुःसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाधिकारे–'उक्कोसेणं चत्तारि'त्ति (सू. ७१३) त्रिपल्यायुःसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्ग पल्योपमायुर्व्यन्तरो जात इति ४ पल्योपमानि, द्वितीयगमे 'जहेव नागकुमाराणं बिइयगमे वत्तव्वय'त्ति सा च प्रथमगमसमैव, नवरं जघन्यत उत्कर्षतश्च १० वर्षसहस्राणि, संवेधतः 'कालाएसेणं जहण्णेणं०' तृतीयगमे 'ठिई से जहण्णेण पलिओवमं'ति यद्यपि सातिरेका पूर्वकोटी जघन्यतोऽसङ्ख्यातवर्षायुषां तिरश्चामायुरस्ति तथाऽपीह पल्योपममुक्तं, पल्योपमायुर्व्यन्तरेषूत्पादयिष्यमाणत्वात्, यतोऽसङ्ख्यातवर्षायुः स्वायुषो बृहत्तरायुष्कदेवेषु नोत्पद्यते, एतच्च प्रागुक्तमेवेति,'ओगाहणा जहण्णेणं गाउयं'ति येषां पल्योपममायुस्तेषामवगाहना गव्यूतं, ते च सुषमदुष्षमायामिति ॥ २४ शते २२ उद्देशकः ॥

'जहण्णेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइं'ति (सू. ७१४) द्वौ पल्योपमाष्टभागावित्यर्थः, तत्रैकोऽसङ्ख्यातायुष्कसम्बन्धी द्वितीयो ज्योतिष्कसम्बन्धीति,'उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइं' त्रीण्यसङ्ख्यातायुःसत्कानि एकं च सातिरेकं चन्द्रविमानज्योतिष्कसत्कमिति, तृतीयगमे 'ठिई जहण्णेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं'ति यद्यप्यसङ्ख्यातवर्षायुषां सातिरेका पूर्वकोटी जघन्यतः स्थितिः स्यात् तथाऽपीह पल्योपमं वर्षलक्षाधिकमुक्तं, एतत्प्रमाणायुष्केषु ज्योतिष्केषूत्पत्स्यमानत्वात्, यतोऽसङ्ख्यातवर्षायुः स्वायुषो बृहत्तरायुष्केषु देवेषु नोत्पद्यते, एतच्च प्राग्दर्शितमेव, चतुर्थगमे जघन्यकालस्थितिकोऽसङ्ख्यातवर्षायुरौधिकेषु ज्योतिष्केषूत्पन्नः, तत्र सङ्ख्यातायुषो यद्यपि पल्योपमाष्टभागाद्धीनतरमपि जघन्यमा-

२४ श० २२-२३ उद्देशः

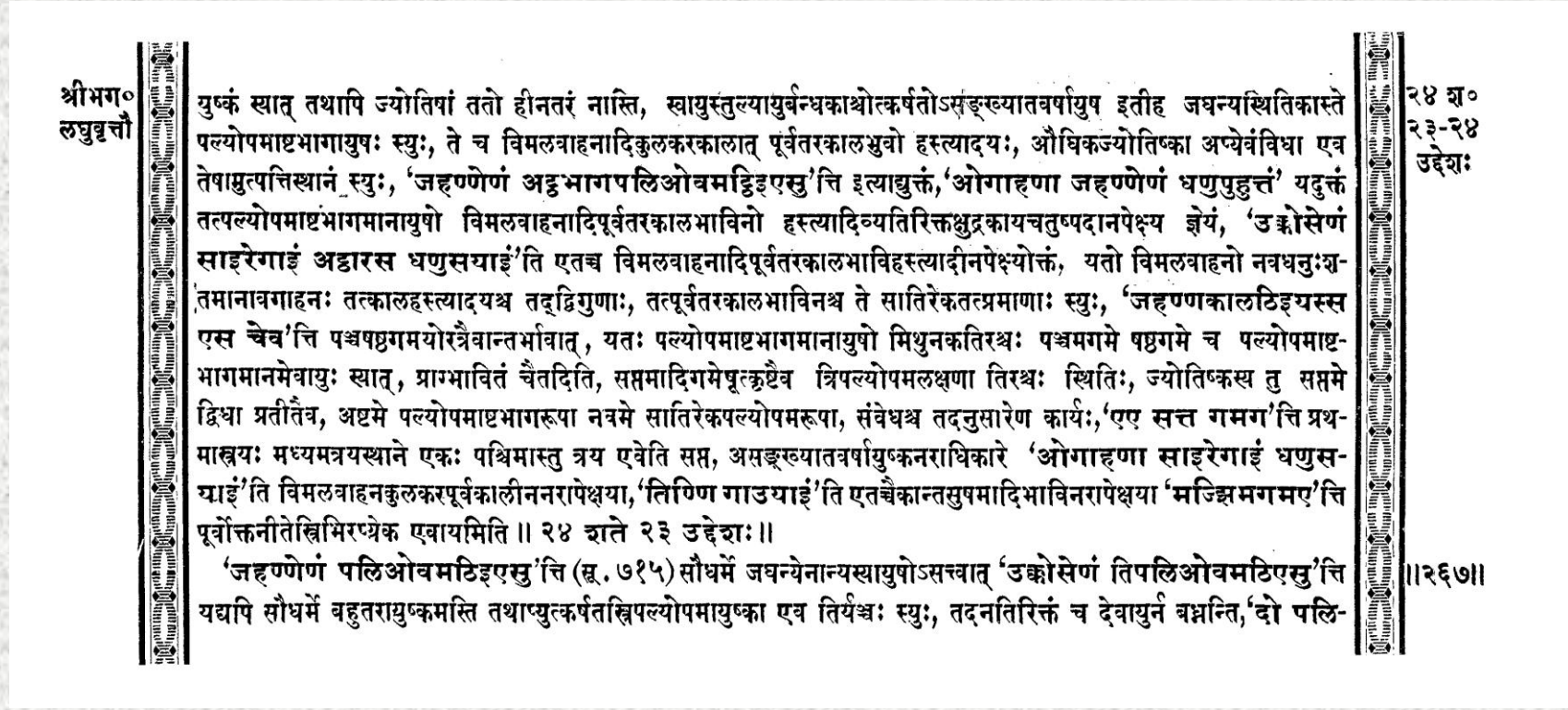

श्रीभग० लघुवृत्तौ

युष्कं स्यात् तथापि ज्योतिषां ततो हीनतरं नास्ति, स्यायुस्तुल्यायुर्बन्धकाश्चोत्कर्षतोऽसङ्ख्यातवर्षायुष इतीह जघन्यस्थितिकास्ते पल्योपमाष्टभागायुषः स्युः, ते च विमलवाहनादिकुलकरकालात् पूर्वतरकालभुवो हस्त्यादयः, औधिकज्योतिष्का अप्येवंविधा एव तेषामुत्पत्तिस्थानं स्युः, 'जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिइएसु'त्ति इत्याद्युक्तं,'ओगाहणा जहण्णेणं धणुपुहुत्तं' यदुक्तं तत्पल्योपमाष्टभागमानायुषो विमलवाहनादिपूर्वतरकालभाविनो हस्त्यादिव्यतिरिक्तक्षुद्रकायचतुष्पदानपेक्ष्य ज्ञेयं, 'उक्कोसेणं साइरेगाइं अट्ठारस धणुसयाइं'ति एतच्च विमलवाहनादिपूर्वतरकालभाविहस्त्यादीनपेक्ष्योक्तं, यतो विमलवाहनो नवधनुःशतमानावगाहनः तत्कालहस्त्यादयश्च तद्द्विगुणाः, तत्पूर्वतरकालभाविनश्च ते सातिरेकतत्प्रमाणाः स्युः, 'जहण्णकालठिइयस्स एस चेव'त्ति पञ्चषष्ठगमयोरत्रैवान्तर्भावात्, यतः पल्योपमाष्टभागमानायुषो मिथुनकतिरश्चः पञ्चमगमे षष्ठगमे च पल्योपमाष्टभागमानमेवायुः स्यात्, प्राग्भावितं चैतदिति, सप्तमादिगमेषूत्कृष्टैव त्रिपल्योपमलक्षणा तिरश्चः स्थितिः, ज्योतिष्कस्य तु सप्तमे द्विधा प्रतीतैव, अष्टमे पल्योपमाष्टभागरूपा नवमे सातिरेकपल्योपमरूपा, संवेधश्च तदनुसारेण कार्यः,'एए सत्त गमग'त्ति प्रथमास्त्रयः मध्यमत्रयस्थाने एकः पश्चिमास्तु त्रय एवेति सप्त, असङ्ख्यातवर्षायुष्कनराधिकारे 'ओगाहणा साइरेगाइं धणुसयाइं'ति विमलवाहनकुलकरपूर्वकालीननरापेक्षया,'तिण्णि गाउयाइं'ति एतच्चैकान्तसुषमादिभाविनरापेक्षया 'मज्झिमगमए'त्ति पूर्वोक्तनीतेस्त्रिभिरप्येक एवायमिति ॥ २४ शते २३ उद्देशः ॥

'जहण्णेणं पलिओवमट्ठिइएसु'त्ति (सू. ७१५) सौधर्मे जघन्येनान्यस्यायुषोऽसत्त्वात् 'उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठिएसु'त्ति यद्यपि सौधर्मे बहुतरायुष्कमस्ति तथाप्युत्कर्षतस्त्रिपल्योपमायुष्का एव तिर्यञ्चः स्युः, तदनतिरिक्तं च देवायुर्न बध्नन्ति,'दो पलि-

२४ श० २३-२४ उद्देशः

॥२६७॥

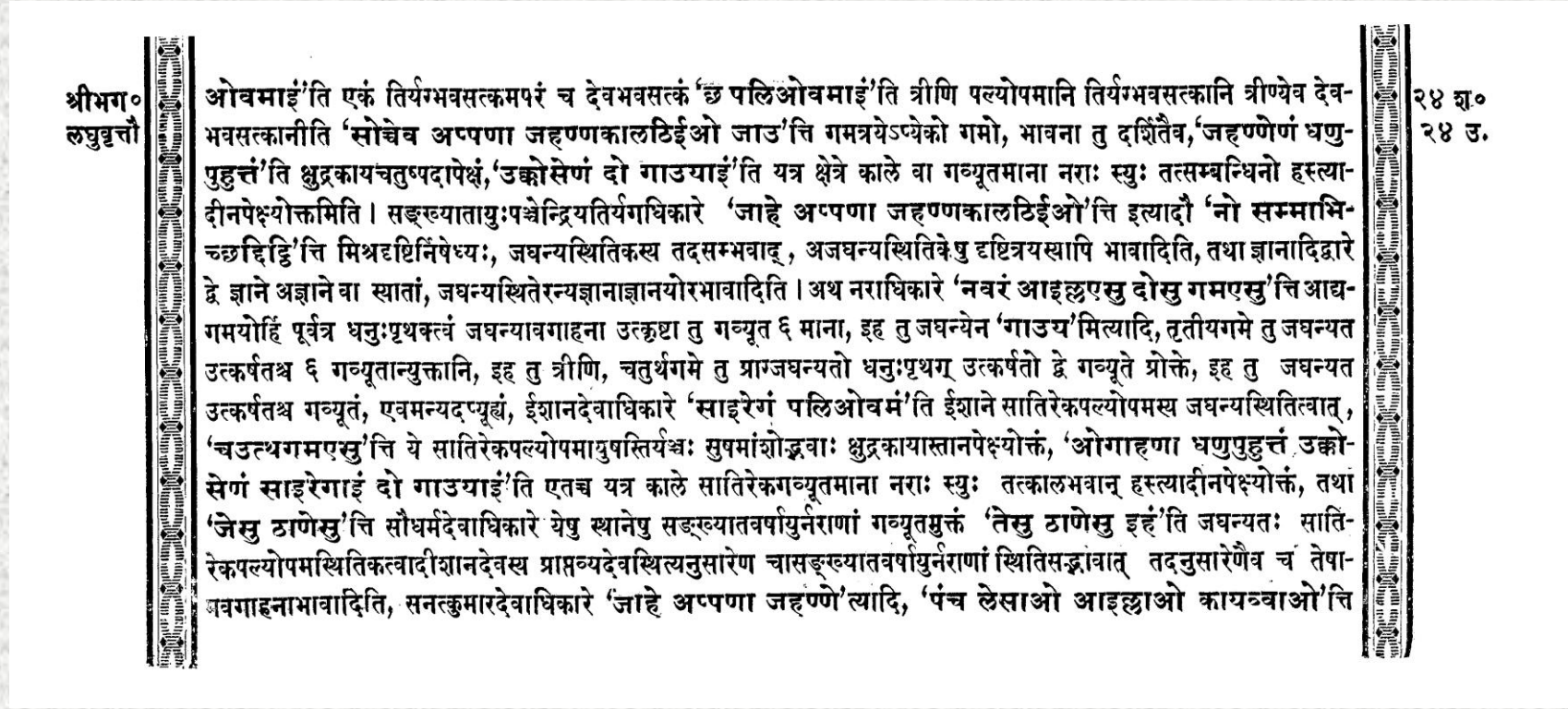

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ओवमाइं'ति एकं तिर्यग्भवसत्कमपरं च देवभवसत्कं 'छ पलिओवमाइं'ति त्रीणि पल्योपमानि तिर्यग्भवसत्कानि त्रीण्येव देवभवसत्कानीति 'सोच्चेव अप्पणा जहण्णकालठिईओ जाउ'त्ति गमत्रयेऽप्येको गमो, भावना तु दर्शितैव,'जहण्णेणं धणुपुहुत्तं'ति क्षुद्रकायचतुष्पदापेक्षं,'उक्कोसेणं दो गाउयाइं'ति यत्र क्षेत्रे काले वा गव्यूतमाना नराः स्युः तत्सम्बन्धिनो हस्त्यादीनपेक्ष्योक्तमिति। सङ्ख्यातायुःपञ्चेन्द्रियतिर्यगधिकारे 'जाहे अप्पणा जहण्णकालठिईओ'त्ति इत्यादौ 'नो सम्मामिच्छदिट्ठि'त्ति मिश्रदृष्टिर्निषेध्यः, जघन्यस्थितिकस्य तदसम्भवाद्, अजघन्यस्थितिकेषु दृष्टित्रयस्यापि भावादिति, तथा ज्ञानादिद्वारे द्वे ज्ञाने अज्ञाने वा स्यातां, जघन्यस्थितेरन्यज्ञानाज्ञानयोरभावादिति। अथ नराधिकारे 'नवरं आइल्लएसु दोसु गमएसु'त्ति आद्यगमयोर्हि पूर्वत्र धनुःपृथक्त्वं जघन्यावगाहना उत्कृष्टा तु गव्यूत ६ माना, इह तु जघन्येन 'गाउय'मित्यादि, तृतीयगमे तु जघन्यत उत्कर्षतश्च ६ गव्यूतान्युक्तानि, इह तु त्रीणि, चतुर्थगमे तु प्राग्जघन्यतो धनुःपृथग् उत्कर्षतो द्वे गव्यूते प्रोक्ते, इह तु जघन्यत उत्कर्षतश्च गव्यूतं, एवमन्यदप्यूह्यं, ईशानदेवाधिकारे 'साइरेगं पलिओवमं'ति ईशाने सातिरेकपल्योपमस्य जघन्यस्थितित्वात्, 'चउत्थगमएसु'त्ति ये सातिरेकपल्योपमायुषस्तिर्यञ्चः सुषमांशोद्भवाः क्षुद्रकायास्तानपेक्ष्योक्तं, 'ओगाहणा धणुपुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगाइं दो गाउयाइं'ति एतच्च यत्र काले सातिरेकगव्यूतमाना नराः स्युः तत्कालभवान् हस्त्यादीनपेक्ष्योक्तं, तथा 'जेसु ठाणेसु'त्ति सौधर्मदेवाधिकारे येषु स्थानेषु सङ्ख्यातवर्षायुर्नराणां गव्यूतमुक्तं 'तेसु ठाणेसु इहं'ति जघन्यतः सातिरेकपल्योपमस्थितिकत्वादीशानदेवस्य प्राप्तव्यदेवस्थित्यनुसारेण चासङ्ख्यातवर्षायुर्नराणां स्थितिसद्भावात् तदनुसारेणैव च तेषामवगाहनाभावादिति, सनत्कुमारदेवाधिकारे 'जाहे अप्पणा जहण्णे'त्यादि, 'पंच लेसाओ आइल्लाओ कायव्वाओ'त्ति

२४ श० २४ उ.

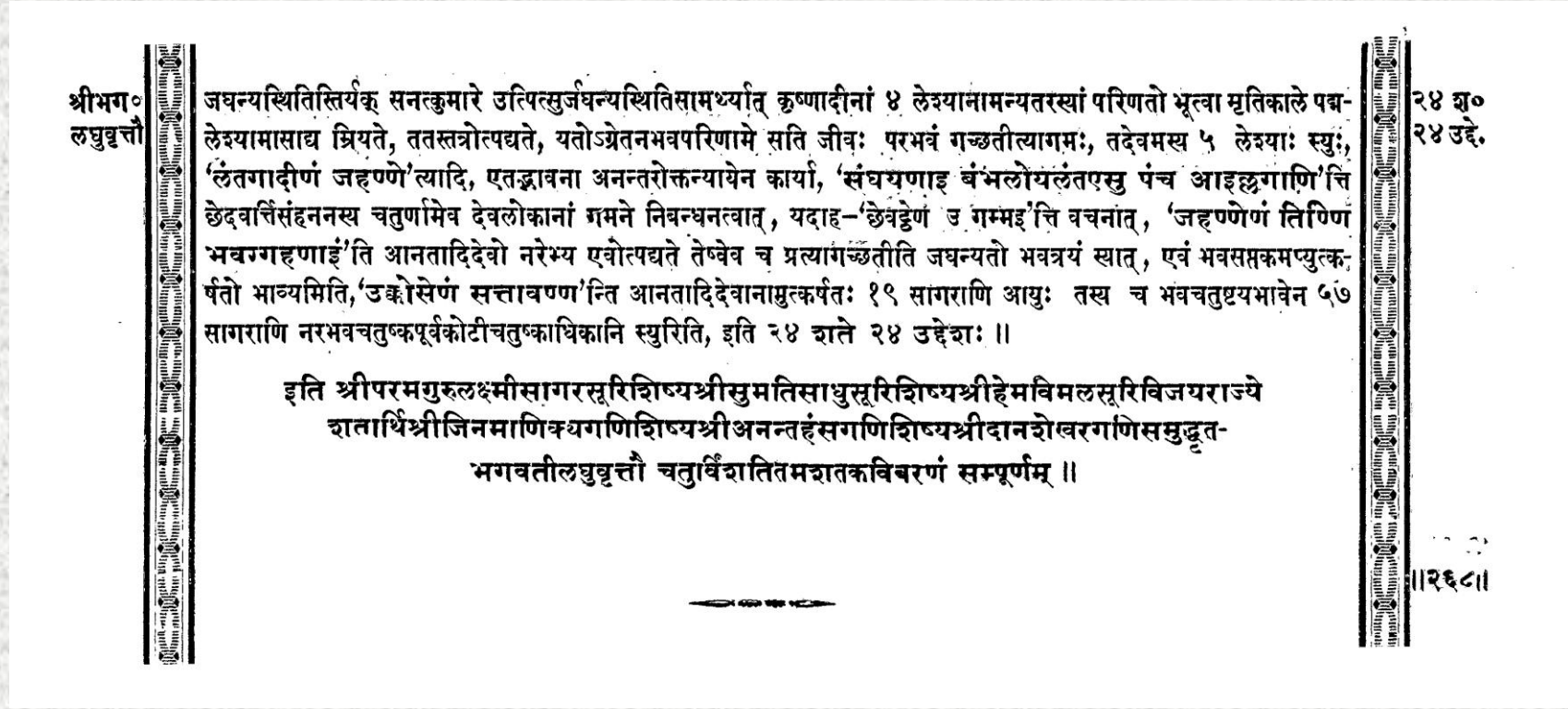

श्रीभग० लघुवृत्तौ

जघन्यस्थितिस्तिर्यक् सनत्कुमारे उत्पित्सुर्जघन्यस्थितिसामर्थ्यात् कृष्णादीनां ४ लेश्यानामन्यतरस्यां परिणतो भूत्वा मृतिकाले पद्म-लेश्यामासाद्य म्रियते, ततस्तत्रोत्पद्यते, यतोऽग्रेतनभवपरिणामे सति जीवः परभवं गच्छतीत्यागमः, तदेवमस्य ५ लेश्याः स्युः, 'लंतगादीणं जहण्णे'त्यादि, एतद्भावना अनन्तरोक्तन्यायेन कार्या, 'संघयणाइ बंभलोयलंतएसु पंच आइल्लगाणि'त्ति छेदवर्त्तिसंहननस्य चतुर्णामेव देवलोकानां गमने निबन्धनत्वात्, यदाह–'छेवट्ठेणं उ गम्मइ'त्ति वचनात्, 'जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं'ति आनतादिदेवो नरेभ्य एवोत्पद्यते तेष्वेव च प्रत्यागच्छतीति जघन्यतो भवत्रयं स्यात्, एवं भवसप्तकमप्युत्कर्षतो भाव्यमिति,'उक्कोसेणं सत्तावण्ण'न्ति आनतादिदेवानामुत्कर्षतः १९ सागराणि आयुः तस्य च भवचतुष्टयभावेन ५७ सागराणि नरभवचतुष्कपूर्वकोटीचतुष्काधिकानि स्युरिति, इति २४ शते २४ उद्देशः ॥

इति श्रीपरमगुरुलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यश्रीसुमतिसाधुसूरिशिष्यश्रीहेमविमलसूरिविजयराज्ये
शतार्थिश्रीजिनमाणिक्यगणिशिष्यश्रीअनन्तहंसगणिशिष्यश्रीदानशेखरगणिसमुद्धृत-
भगवतीलघुवृत्तौ चतुर्विंशतितमशतकविवरणं सम्पूर्णम् ॥

॥२६८॥

२४ श० २४ उद्दे.

*** अत्र शतक-२४ समाप्तं

प्रत सूत्रांक [७१६-८०९] + गाथा

दीप अनुक्रम [८६१-९७४]

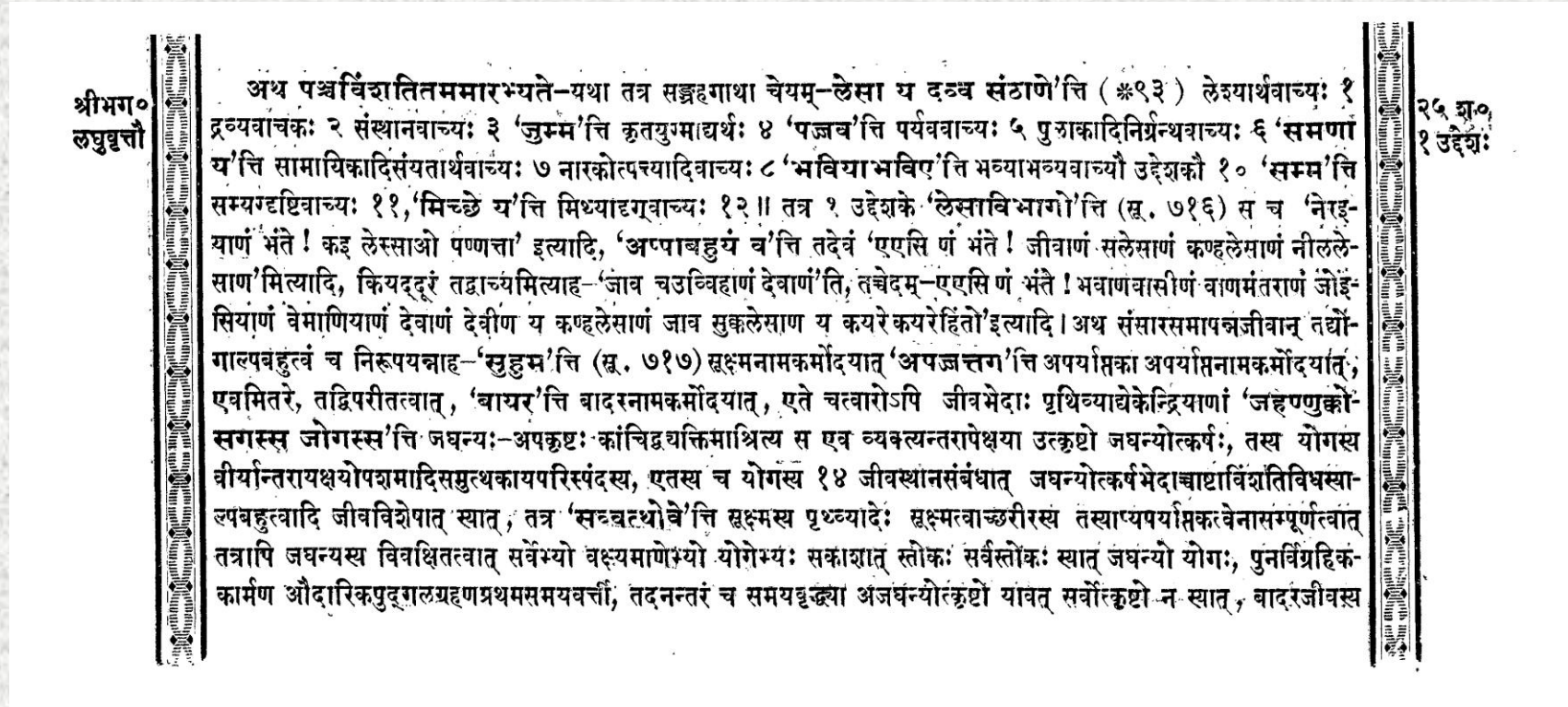

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अथ पञ्चविंशतितममारभ्यते–यथा तत्र सङ्ग्रहगाथा चेयम्–लेसा य दव्व संठाणे'त्ति (*९३) लेश्यार्थवाच्यः १ द्रव्यवाचकः २ संस्थानवाच्यः ३ 'जुम्म'त्ति कृतयुग्माद्यर्थः ४ 'पज्जव'त्ति पर्यववाच्यः ५ पुलाकादिनिर्ग्रन्थवाच्यः ६ 'समणा य'त्ति सामायिकादिसंयतार्थवाच्यः ७ नारकोत्पत्त्यादिवाच्यः ८ 'भविया भविए'त्ति भव्याभव्यवाच्यौ उद्देशकौ १० 'सम्म'त्ति सम्यग्दृष्टिवाच्यः ११, 'मिच्छे य'त्ति मिथ्यादृग्वाच्यः १२॥ तत्र १ उद्देशके 'लेसाविभागो'त्ति (सू. ७१६) स च 'नेरइयाणं भंते! कइ लेस्साओ पण्णत्ता' इत्यादि, 'अप्पाबहुयं च'त्ति तदेवं 'एएसि णं भंते! जीवाणं सलेसाणं कण्हलेसाणं नीललेसाण'मित्यादि, कियद्दूरं तद्वाच्यमित्याह–'जाव चउव्विहाणं देवाणं'ति, तच्चेदम्–एएसि णं भंते! भवणवासीणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं देवाणं देवीण य कण्हलेसाणं जाव सुक्कलेसाण य कयरे कयरेहिंतो'इत्यादि। अथ संसारसमापन्नजीवान् तद्योगाल्पबहुत्वं च निरूपयन्नाह–'सुहुम'त्ति (सू. ७१७) सूक्ष्मनामकर्मोदयात् 'अपज्जत्तग'त्ति अपर्याप्तका अपर्याप्तनामकर्मोदयात्, एवमितरे, तद्विपरीतत्वात्, 'बायर'त्ति बादरनामकर्मोदयात्, एते चत्वारोऽपि जीवभेदाः पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां 'जहण्णुक्कोसगस्स जोगस्स'त्ति जघन्यः–अपकृष्टः कांचिद्व्यक्तिमाश्रित्य स एव व्यक्त्यन्तरापेक्षया उत्कृष्टो जघन्योत्कर्षः, तस्य योगस्य वीर्यान्तरायक्षयोपशमादिसमुत्थकायपरिस्पंदस्य, एतस्य च योगस्य १४ जीवस्थानसंबंधात् जघन्योत्कर्षभेदाच्चाष्टाविंशतिविधस्याल्पबहुत्वादि जीवविशेषात् स्यात्, तत्र 'सव्वत्थोवे'त्ति सूक्ष्मस्य पृथ्व्यादेः सूक्ष्मत्वाच्छरीरस्य तस्याप्यपर्याप्तकत्वेनासम्पूर्णत्वात् तत्रापि जघन्यस्य विवक्षितत्वात् सर्वेभ्यो वक्ष्यमाणेभ्यो योगेभ्यः सकाशात् स्तोकः सर्वस्तोकः स्यात् जघन्यो योगः, पुनर्विग्रहिककार्मण औदारिकपुद्गलग्रहणप्रथमसमयवर्त्ती, तदनन्तरं च समयवृद्ध्या अजघन्योत्कृष्टो यावत् सर्वोत्कृष्टो न स्यात्, बादरजीवस्य

२५ श०, १ उद्देशः

*** अत्र शतक-२५ आरभ्यते

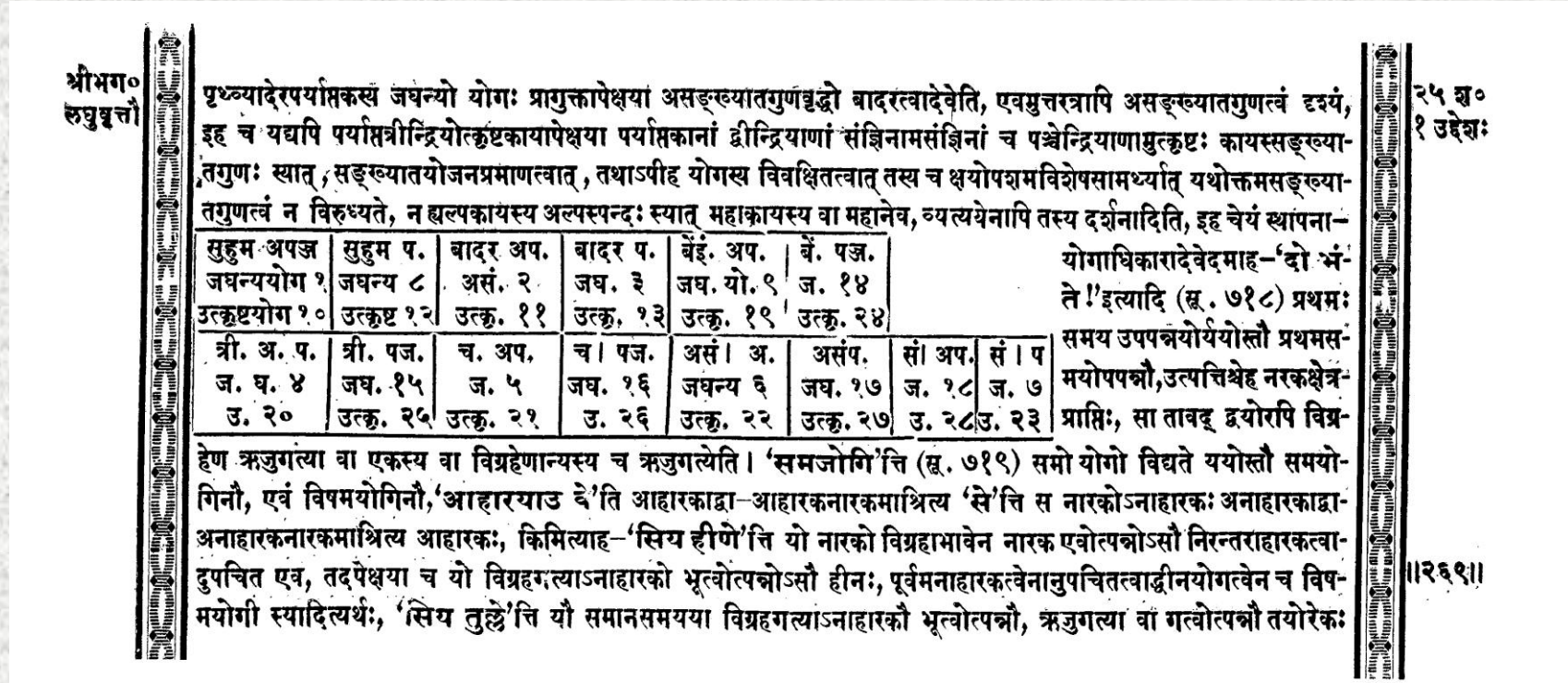

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पृथ्व्यादेरपर्याप्तकस्य जघन्यो योगः प्रागुक्तापेक्षया असङ्ख्यातगुणवृद्धो बादरत्वादेवेति, एवमुत्तरत्रापि असङ्ख्यातगुणत्वं दृश्यं, इह च यद्यपि पर्याप्तत्रीन्द्रियोत्कृष्टकायापेक्षया पर्याप्तकानां द्वीन्द्रियाणां संज्ञिनामसंज्ञिनां च पञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टः कायस्सङ्ख्यातगुणः स्यात्, सङ्ख्यातयोजनप्रमाणत्वात्, तथाऽपीह योगस्य विवक्षितत्वात् तस्य च क्षयोपशमविशेषसामर्थ्यात् यथोक्तमसङ्ख्यातगुणत्वं न विरुध्यते, न ह्यल्पकायस्य अल्पस्पन्दः स्यात् महाकायस्य वा महानेव, व्यत्ययेनापि तस्य दर्शनादिति, इह चेयं स्थापना—

सुहुम अपज्ज जघन्ययोग १ उत्कृष्टयोग १०	सुहुम प. जघन्य ८ उत्कृष्ट १२	बादर अप. असं. २ उत्कृ. ११	बादर प. जघ. ३ उत्कृ. १३	बेंइं. अप. जघ. यो. ९ उत्कृ. १९	बें. पज्ज. ज. १४ उत्कृ. २४		
त्री. अ. प. ज. घ. ४ उ. २०	त्री. पज. जघ. १५ उत्कृ. २५	च. अप. ज. ५ उत्कृ. २१	च। पज. जघ. १६ उ. २६	असं। अ. जघन्य ६ उत्कृ. २२	असंप. जघ. १७ उत्कृ. २७	सं। अप. ज. १८ उ. २८	सं। प ज. ७ उ. २३

योगाधिकारादेवेदमाह—'दो भंते !' इत्यादि (सू. ७१८) प्रथमः समय उपपन्नयोर्ययोस्तौ प्रथमसमयोपपन्नौ, उत्पत्तिश्चेह नरकक्षेत्रप्राप्तिः, सा तावद् द्वयोरपि विग्रहेण ऋजुगत्या वा एकस्य वा विग्रहेणान्यस्य च ऋजुगत्येति। 'समजोगि'त्ति (सू. ७१९) समो योगो विद्यते ययोस्तौ समयोगिनौ, एवं विषमयोगिनौ, 'आहारयाउ वे'ति आहारकाद्वा—आहारकनारकमाश्रित्य 'से'त्ति स नारकोऽनाहारकः अनाहारकाद्वा-अनाहारकनारकमाश्रित्य आहारकः, किमित्याह—'सिय हीणे'त्ति यो नारको विग्रहाभावेन नारक एवोत्पन्नोऽसौ निरन्तराहारकत्वादुपचित एव, तदपेक्षया च यो विग्रहगत्याऽनाहारको भूत्वोत्पन्नोऽसौ हीनः, पूर्वमनाहारकत्वेनानुपचितत्वाद्धीनयोगत्वेन च विषमयोगी स्यादित्यर्थः, 'सिय तुल्ले'त्ति यौ समानसमयया विग्रहगत्याऽनाहारकौ भूत्वोत्पन्नौ, ऋजुगत्या वा गत्वोत्पन्नौ तयोरेकः

२५ श० १ उद्देशः

॥२६९॥

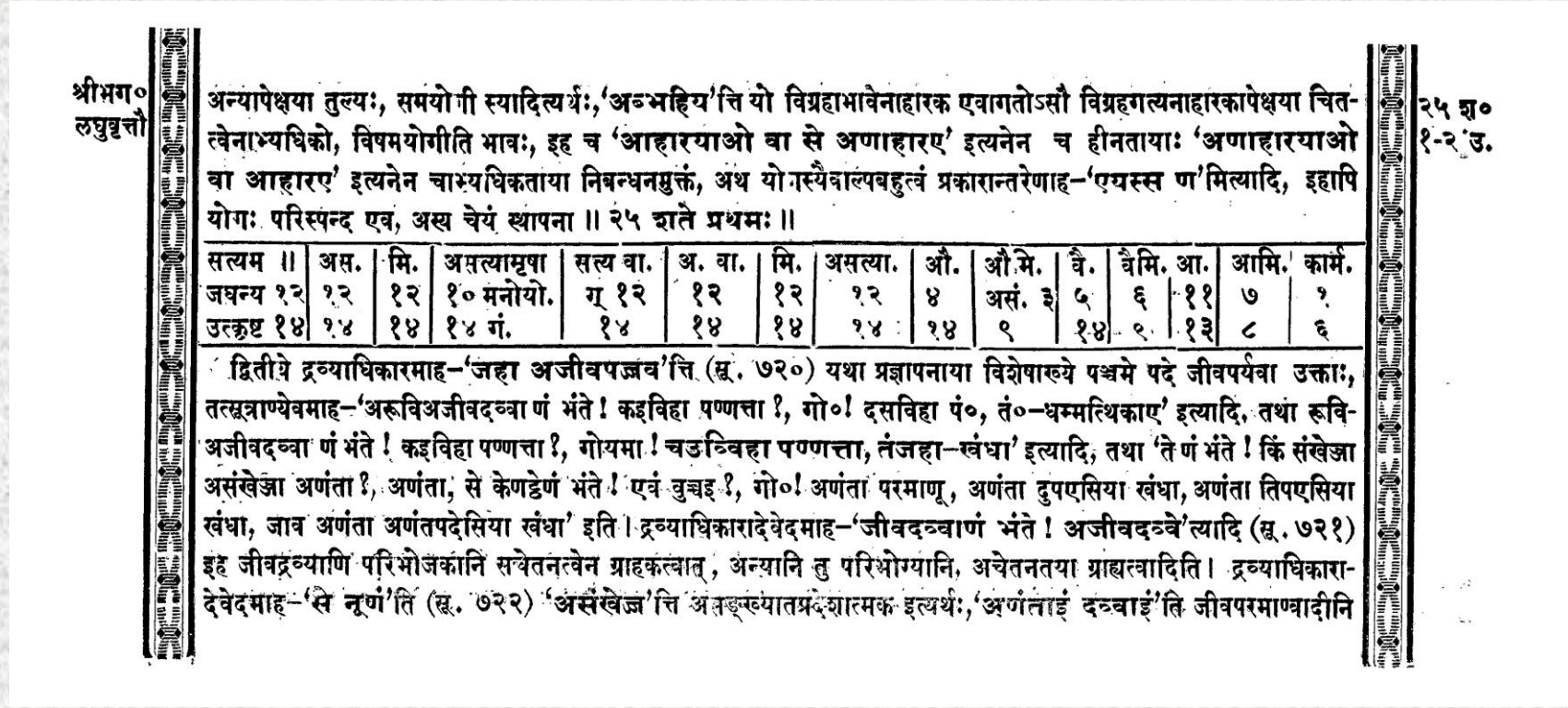

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अन्यापेक्षया तुल्यः, समयोगी स्यादित्यर्थः,'अब्भहिय'त्ति यो विग्रहाभावेनाहारक एवागतोऽसौ विग्रहगत्यनाहारकापेक्षया चित्त्वेनाभ्यधिको, विषमयोगीति भावः, इह च 'आहारयाओ वा से अणाहारए' इत्यनेन च हीनतायाः 'अणाहारयाओ वा आहारए' इत्यनेन चाभ्यधिकताया निबन्धनमुक्तं, अथ योगस्यैवाल्पबहुत्वं प्रकारान्तरेणाह–'एयस्स ण'मित्यादि, इहापि योगः परिस्पन्द एव, अस्य चेयं स्थापना ॥ २५ शते प्रथमः ॥

	सत्यम ॥	अस.	मि.	असत्यामृषा	सत्य वा.	अ. वा.	मि.	असत्या.	औ.	औ.मे.	वै.	वैमि.	आ.	आमि.	कार्म.
जघन्य	१२	१२	१२	१० मनोयो.	ग् १२	१२	१२	१२	४	असं. ३	५	६	११	७	१
उत्कृष्ट	१४	१४	१४	१४ गं.	१४	१४	१४	१४	१४	९	१४	९	१३	८	६

द्वितीये द्रव्याधिकारमाह–'जहा अजीवपज्जव'त्ति (सू. ७२०) यथा प्रज्ञापनाया विशेषाख्ये पञ्चमे पदे जीवपर्यवा उक्ताः, तत्सूत्राण्येवमाह–'अरूविअजीवदव्वा णं भंते! कइविहा पण्णत्ता?, गो०! दसविहा पं०, तं०–धम्मत्थिकाए' इत्यादि, तथा 'रूविअजीवदव्वा णं भंते! कइविहा पण्णत्ता?, गोयमा! चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा–खंधा' इत्यादि, तथा 'ते णं भंते! किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता?, अणंता, से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ?, गो०! अणंता परमाणू, अणंता दुपएसिया खंधा, अणंता तिपएसिया खंधा, जाव अणंता अणंतपदेसिया खंधा' इति। द्रव्याधिकारादेवेदमाह–'जीवदव्वाणं भंते! अजीवदव्वे'त्यादि (सू. ७२१) इह जीवद्रव्याणि परिभोजकानि सचेतनत्वेन ग्राहकत्वात्, अन्यानि तु परिभोग्यानि, अचेतनतया ग्राह्यत्वादिति। द्रव्याधिकारादेवेदमाह–'से नूणं'ति (सू. ७२२) 'असंखेज्ज'त्ति असङ्ख्यातप्रदेशात्मक इत्यर्थः,'अणंताइं दव्वाइं'ति जीवपरमाण्वादीनि

२५ श० १-२ उ.

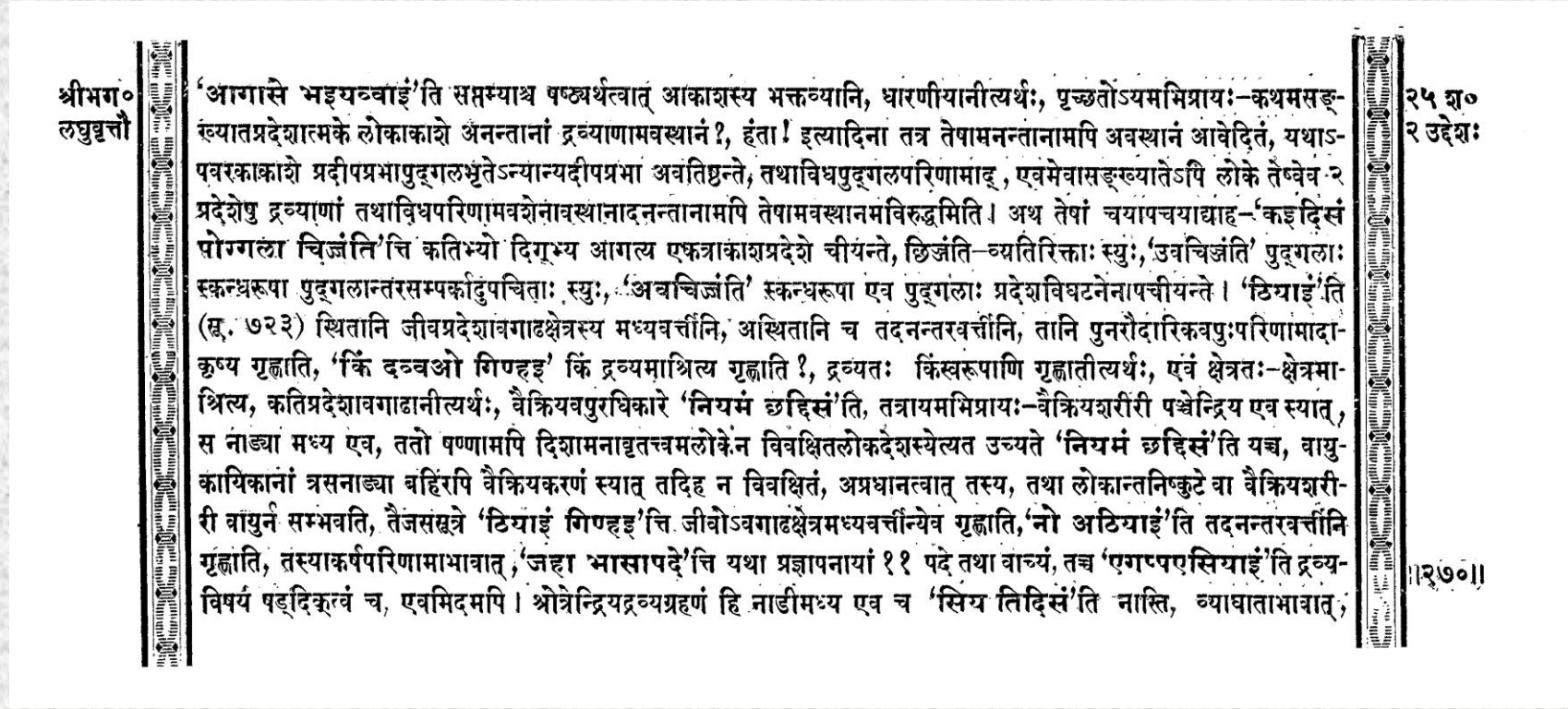

श्रीभग० लघुवृत्तौ

‘आगासे भइयव्वाइं’ति सप्तम्याश्च षष्ठ्यर्थत्वात् आकाशस्य भक्तव्यानि, धारणीयानीत्यर्थः, पृच्छतोऽयमभिप्रायः–कथमसङ्-ख्यातप्रदेशात्मके लोकाकाशे अनन्तानां द्रव्याणामवस्थानं?, हंता! इत्यादिना तत्र तेषामनन्तानामपि अवस्थानं आवेदितं, यथाऽ-पवरकाकाशे प्रदीपप्रभापुद्गलभृतेऽन्यान्यदीपप्रभा अवतिष्ठन्ते, तथाविधपुद्गलपरिणामाद्, एवमेवासङ्ख्यातेऽपि लोके तेष्वेव २ प्रदेशेषु द्रव्याणां तथाविधपरिणामवशेनावस्थानादनन्तानामपि तेषामवस्थानमविरुद्धमिति। अथ तेषां चयापचयाद्याह–‘कइदिसं पोग्गला चिज्जंति’त्ति कतिभ्यो दिग्भ्य आगत्य एकत्राकाशप्रदेशे चीयन्ते, छिज्जंति–व्यतिरिक्ताः स्युः,‘उवचिज्जंति’ पुद्गलाः स्कन्धरूपा पुद्गलान्तरसम्पर्कादुपचिताः स्युः, ‘अवचिज्जंति’ स्कन्धरूपा एव पुद्गलाः प्रदेशविघटनेनापचीयन्ते। ‘ठियाइं’ति (सू. ७२३) स्थितानि जीवप्रदेशावगाढक्षेत्रस्य मध्यवर्त्तीनि, अस्थितानि च तदनन्तरवर्त्तीनि, तानि पुनरौदारिकवपुःपरिणामादा-कृष्य गृह्णाति, ‘किं दव्वओ गिण्हइ’ किं द्रव्यमाश्रित्य गृह्णाति?, द्रव्यतः किंस्वरूपाणि गृह्णातीत्यर्थः, एवं क्षेत्रतः–क्षेत्रमा-श्रित्य, कतिप्रदेशावगाढानीत्यर्थः, वैक्रियवपुरधिकारे ‘नियमं छद्दिसं’ति, तत्रायमभिप्रायः–वैक्रियशरीरी पञ्चेन्द्रिय एव स्यात्, स नाड्या मध्य एव, ततो षण्णामपि दिशामनावृतत्त्वमलोकेन विवक्षितलोकदेशस्येत्यत उच्यते ‘नियमं छद्दिसं’ति यच्च, वायु-कायिकानां त्रसनाड्या बहिरपि वैक्रियकरणं स्यात् तदिह न विवक्षितं, अप्रधानत्वात् तस्य, तथा लोकान्तनिष्कुटे वा वैक्रियशरी-री वायुर्न सम्भवति, तैजससूत्रे ‘ठियाइं गिण्हइ’त्ति जीवोऽवगाढक्षेत्रमध्यवर्त्तीन्येव गृह्णाति,‘नो अठियाइं’ति तदनन्तरवर्त्तीनि गृह्णाति, तस्याकर्षपरिणामाभावात्,‘जहा भासापदे’त्ति यथा प्रज्ञापनायां ११ पदे तथा वाच्यं, तच्च ‘एगप्पएसियाइं’ति द्रव्य-विषयं षड्दिक्त्वं च, एवमिदमपि। श्रोत्रेन्द्रियद्रव्यग्रहणं हि नाडीमध्य एव च ‘सिय तिदिसं’ति नास्ति, व्याघाताभावात्;

२५ श० २ उद्देशः

॥२७०॥

प्रत सूत्रांक [७१६-८०९] + गाथा

दीप अनुक्रम [८६१-९७४]

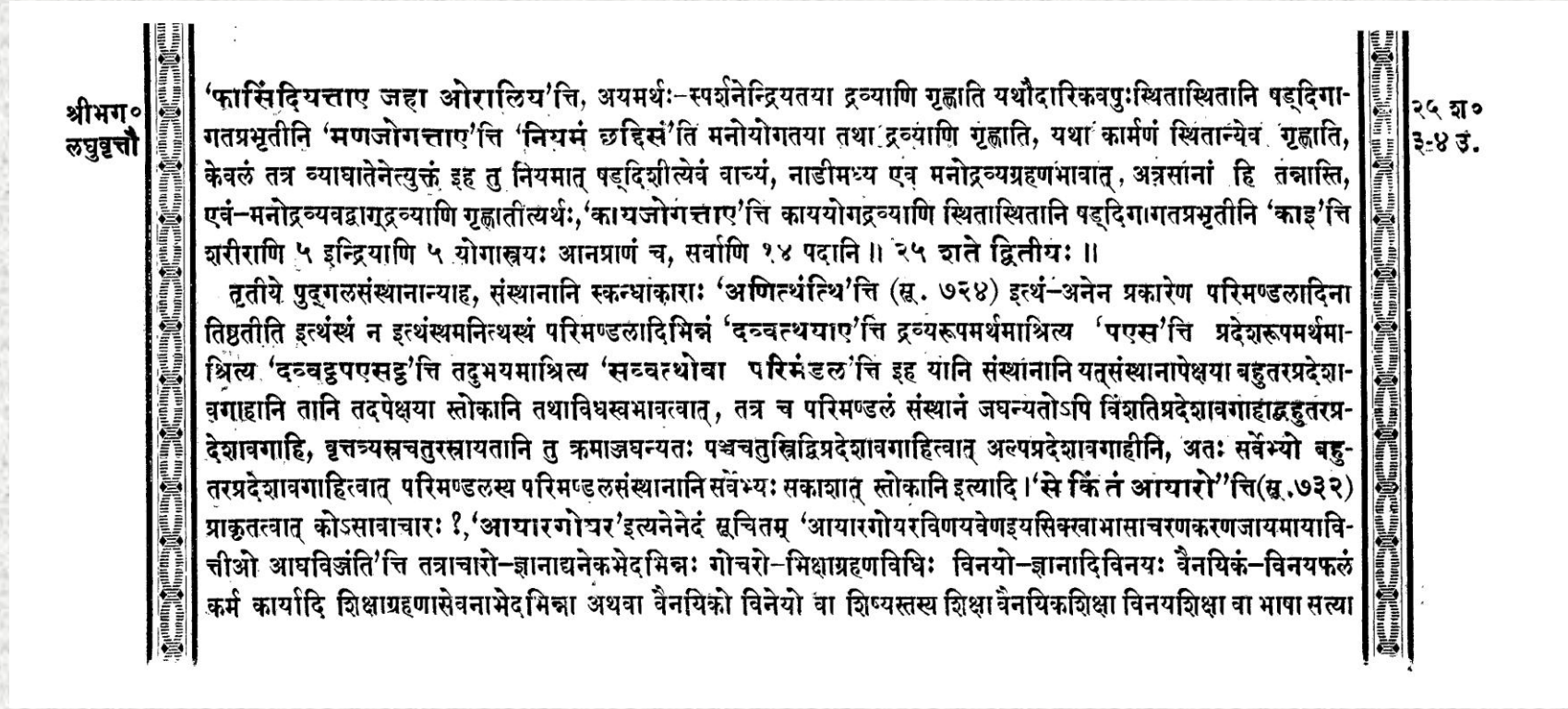

श्रीभग० लघुवृत्तौ

‘फासिंदियत्ताए जहा ओरालिय’त्ति, अयमर्थः–स्पर्शनेन्द्रियतया द्रव्याणि गृह्णाति यथौदारिकवपुःस्थितास्थितानि षड्दिगागतप्रभृतीनि ‘मणजोगत्ताए’त्ति ‘नियमं छद्दिसं’ति मनोयोगतया तथा द्रव्याणि गृह्णाति, यथा कार्मणं स्थितान्येव गृह्णाति, केवलं तत्र व्याघातेनेत्युक्तं इह तु नियमात् षड्दिशीत्येवं वाच्यं, नाडीमध्य एव मनोद्रव्यग्रहणभावात्, अत्रसानां हि तन्नास्ति, एवं–मनोद्रव्यवद्वागद्रव्याणि गृह्णातीत्यर्थः,‘कायजोगत्ताए’त्ति काययोगद्रव्याणि स्थितास्थितानि षड्दिगागतप्रभृतीनि ‘काइ’त्ति शरीराणि ५ इन्द्रियाणि ५ योगास्त्रयः आनप्राणं च, सर्वाणि १४ पदानि ॥ २५ शते द्वितीयः ॥

तृतीये पुद्गलसंस्थानान्याह, संस्थानानि स्कन्धाकाराः ‘अणित्थंत्थि’त्ति (सू. ७२४) इत्थं–अनेन प्रकारेण परिमण्डलादिना तिष्ठतीति इत्थंस्थं न इत्थंस्थमनित्थस्थं परिमण्डलादिभिन्नं ‘दव्वत्थयाए’त्ति द्रव्यरूपमर्थमाश्रित्य ‘पएस’त्ति प्रदेशरूपमर्थमाश्रित्य ‘दव्वट्ठपएसट्ठ’त्ति तदुभयमाश्रित्य ‘सव्वत्थोवा परिमंडल’त्ति इह यानि संस्थानानि यत्संस्थानापेक्षया बहुतरप्रदेशावगाहानि तानि तदपेक्षया स्तोकानि तथाविधस्वभावत्वात्, तत्र च परिमण्डलं संस्थानं जघन्यतोऽपि विंशतिप्रदेशावगाहाद्बहुतरप्रदेशावगाहि, वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतानि तु क्रमाज्जघन्यतः पञ्चचतुस्त्रिद्विप्रदेशावगाहित्वात् अल्पप्रदेशावगाहीनि, अतः सर्वेभ्यो बहुतरप्रदेशावगाहित्वात् परिमण्डलस्य परिमण्डलसंस्थानानि सर्वेभ्यः सकाशात् स्तोकानि इत्यादि।‘से किं तं आयारो’’त्ति(सू.७३२) प्राकृतत्वात् कोऽसावाचारः ?,‘आयारगोयर’इत्यनेनेदं सूचितम् ‘आयारगोयरविणयवेणइयसिक्खाभासाचरणकरणजायमायावित्तीओ आघविज्जंति’त्ति तत्राचारो–ज्ञानाद्यनेकभेदभिन्नः गोचरो–भिक्षाग्रहणविधिः विनयो–ज्ञानादिविनयः वैनयिकं–विनयफलं कर्म कार्यादि शिक्षाग्रहणासेवनाभेदभिन्ना अथवा वैनयिको विनेयो वा शिष्यस्तस्य शिक्षा वैनयिकशिक्षा विनयशिक्षा वा भाषा सत्या

२५ श० ३-४ उ.

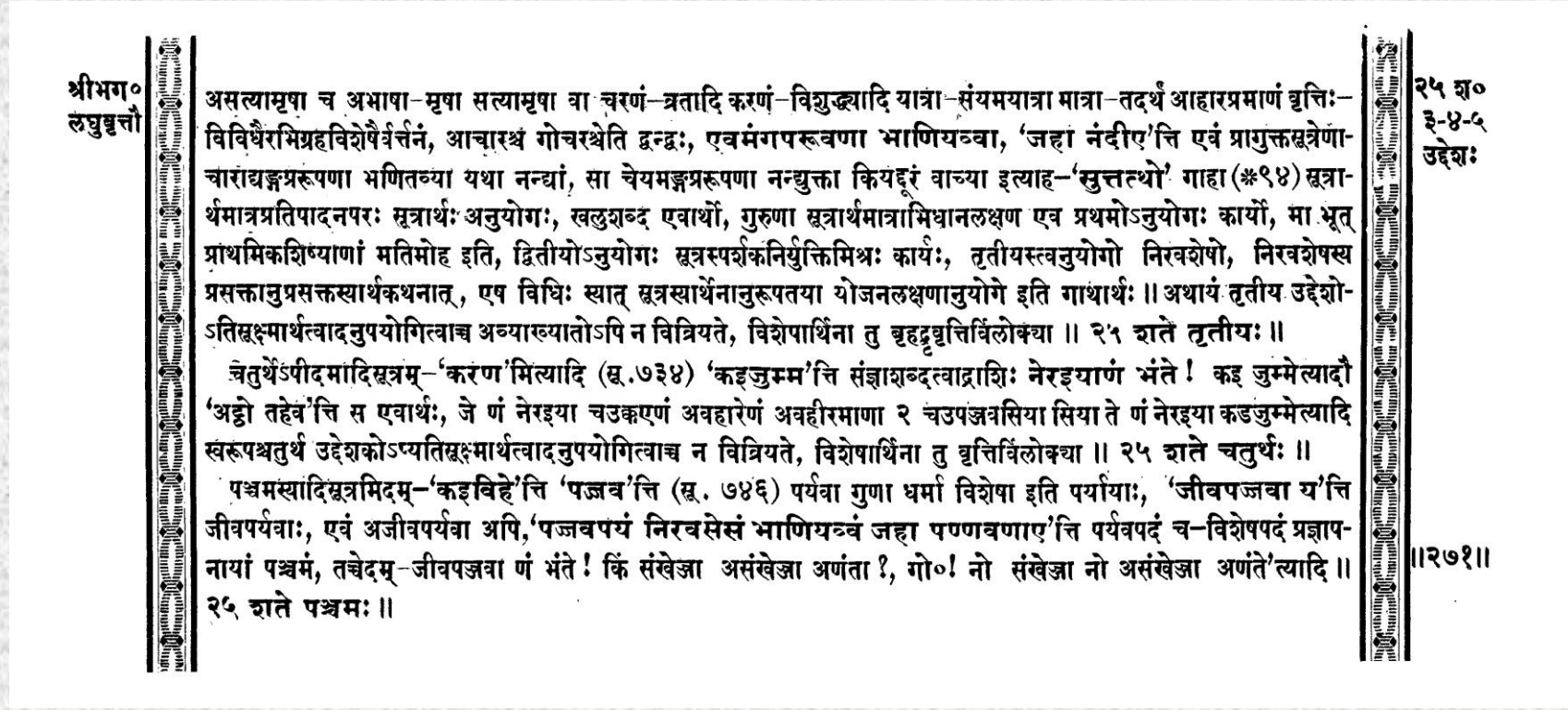

श्रीभग० लघुवृत्तौ

असत्यामृषा च अभाषा-मृषा सत्यामृषा वा चरणं-व्रतादि करणं-विशुद्ध्यादि यात्रा-संयमयात्रा मात्रा-तदर्थं आहारप्रमाणं वृत्तिः-विविधैरभिग्रहविशेषैर्वर्त्तनं, आचारश्च गोचरश्चेति द्वन्द्वः, एवमंगपरूवणा भाणियव्वा, 'जहा नंदीए'त्ति एवं प्रागुक्तसूत्रेणाचाराद्यङ्गप्ररूपणा भणितव्या यथा नन्द्यां, सा चेयमङ्गप्ररूपणा नन्द्युक्ता कियदूरं वाच्या इत्याह-'**सुत्तत्थो**' गाहा (*९४) सूत्रार्थमात्रप्रतिपादनपरः सूत्रार्थः अनुयोगः, खलुशब्द एवार्थो, गुरुणा सूत्रार्थमात्राभिधानलक्षण एव प्रथमोऽनुयोगः कार्यो, मा भूत् प्राथमिकशिष्याणां मतिमोह इति, द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिमिश्रः कार्यः, तृतीयस्त्वनुयोगो निरवशेषो, निरवशेषस्य प्रसक्तानुप्रसक्तस्यार्थकथनात्, एष विधिः स्यात् सूत्रस्यार्थेनानुरूपतया योजनलक्षणानुयोगे इति गाथार्थः ॥ अथायं तृतीय उद्देशोऽतिसूक्ष्मार्थत्वादनुपयोगित्वाच्च अव्याख्यातोऽपि न विव्रियते, विशेषार्थिना तु बृहद्वृत्तिर्विलोक्या ॥ २५ शते तृतीयः ॥

चतुर्थेऽपीदमादिसूत्रम्-'करण'मित्यादि (सू.७३४) 'कइजुम्म'त्ति संज्ञाशब्दत्वाद्राशिः नेरइयाणं भंते! कइ जुम्मेत्यादौ 'अट्ठो तहेव'त्ति स एवार्थः, जे णं नेरइया चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणा २ चउपज्जवसिया सिया ते णं नेरइया कडजुम्मेत्यादि स्वरूपश्चतुर्थ उद्देशकोऽप्यतिसूक्ष्मार्थत्वादनुपयोगित्वाच्च न विव्रियते, विशेषार्थिना तु वृत्तिर्विलोक्या ॥ २५ शते चतुर्थः ॥

पञ्चमस्यादिसूत्रमिदम्-'कइविहे'त्ति 'पज्जव'त्ति (सू. ७४६) पर्यवा गुणा धर्मा विशेषा इति पर्यायाः, '**जीवपज्जवा य**'त्ति जीवपर्यवाः, एवं अजीवपर्यवा अपि,'**पज्जवपयं निरवसेसं भाणियव्वं जहा पण्णवणाए**'त्ति पर्यवपदं च-विशेषपदं प्रज्ञापनायां पञ्चमं, तच्चेदम्-जीवपज्जवा णं भंते! किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता?, गो०! नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंते'त्यादि ॥ २५ शते पञ्चमः ॥

२५ श० ३-४-५ उद्देशः

॥२७१॥

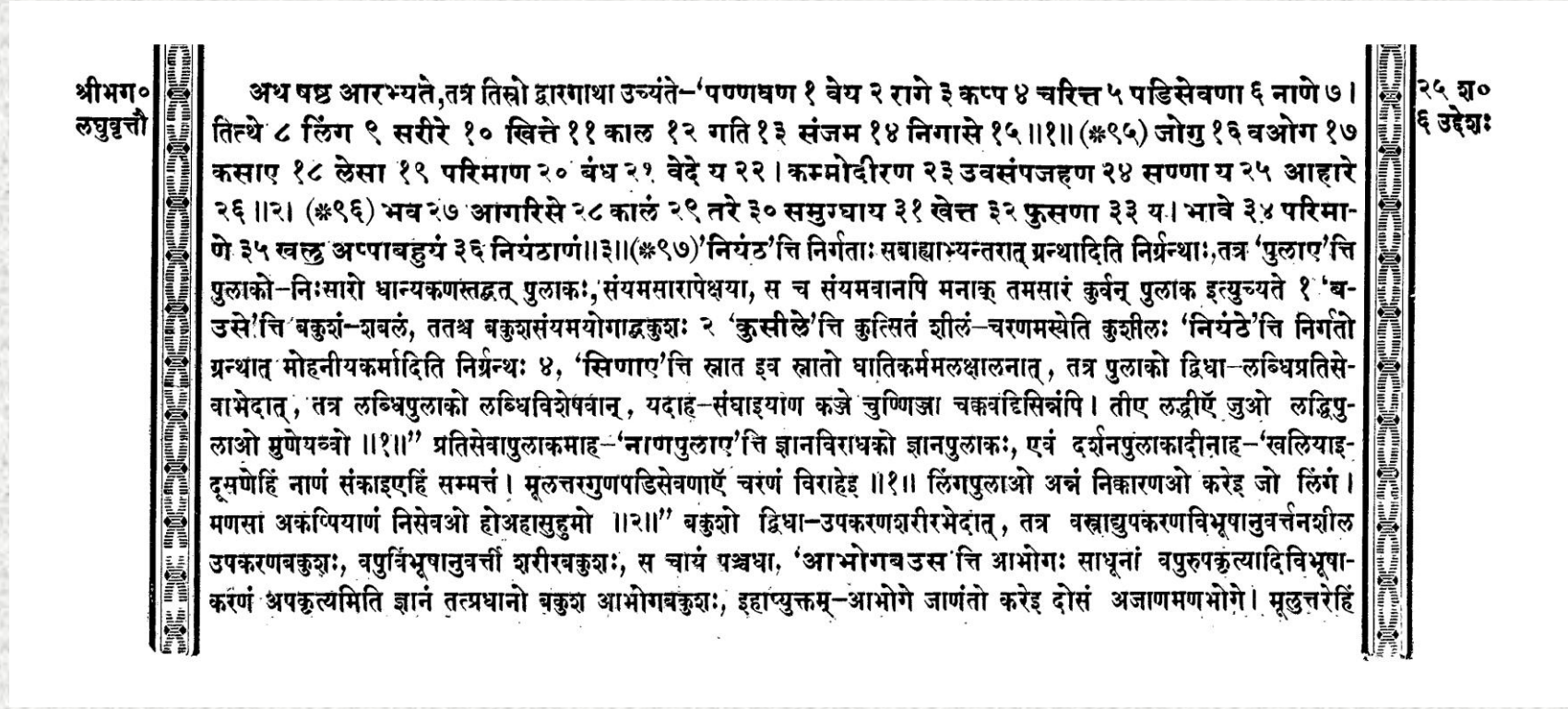

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अथ षष्ठ आरभ्यते,तत्र तिस्रो द्वारगाथा उच्यंते–‘पण्णवण १ वेय २ रागे ३ कप्प ४ चरित्त ५ पडिसेवणा ६ नाणे ७। तित्थे ८ लिंग ९ सरीरे १० खित्ते ११ काल १२ गति १३ संजम १४ निगासे १५ ॥१॥ (*९५) जोगु १६ वओग १७ कसाए १८ लेसा १९ परिमाण २० बंध २१ वेदे य २२। कम्मोदीरण २३ उवसंपजहण २४ सण्णा य २५ आहारे २६ ॥२। (*९६) भव २७ आगरिसे २८ कालं २९ तरे ३० समुग्घाय ३१ खेत्त ३२ फुसणा ३३ य। भावे ३४ परिमाणे ३५ खलु अप्पाबहुयं ३६ नियंठाणं॥३॥(*९७)’नियंठ’त्ति निर्गताः सबाह्याभ्यन्तरात् ग्रन्थादिति निर्ग्रन्थाः,तत्र ‘पुलाए’त्ति पुलाको–निःसारो धान्यकणस्तद्वत् पुलाकः,संयमसारापेक्षया, स च संयमवानपि मनाक् तमसारं कुर्वन् पुलाक इत्युच्यते १ ‘बउसे’त्ति बकुशं–शबलं, ततश्च बकुशसंयमयोगाद्बकुशः २ ‘कुसीले’त्ति कुत्सितं शीलं–चरणमस्येति कुशीलः ‘नियंठे’त्ति निर्गतो ग्रन्थात् मोहनीयकर्मादिति निर्ग्रन्थः ४, ‘सिणाए’त्ति स्नात इव स्नातो घातिकर्ममलक्षालनात्, तत्र पुलाको द्विधा–लब्धिप्रतिसेवाभेदात्, तत्र लब्धिपुलाको लब्धिविशेषवान्, यदाह–संघाइयाण कज्जे चुण्णिज्जा चक्कवट्टिसिन्नंपि। तीए लद्धीऍ जुओ लद्धिपुलाओ मुणेयव्वो ॥१॥” प्रतिसेवापुलाकमाह–‘नाणपुलाए’त्ति ज्ञानविराधको ज्ञानपुलाकः, एवं दर्शनपुलाकादीनाह–‘खलियाइदूसणेहिं नाणं संकाइएहिं सम्मत्तं। मूलुत्तरगुणपडिसेवणाऍ चरणं विराहेइ ॥१॥ लिंगपुलाओ अन्नं निक्कारणओ करेइ जो लिंगं। मणसा अकप्पियाणं निसेवओ होअहासुहुमो ॥२॥” बकुशो द्विधा–उपकरणशरीरभेदात्, तत्र वस्त्राद्युपकरणविभूषानुवर्त्तनशील उपकरणबकुशः, वपुर्विभूषानुवर्त्ती शरीरबकुशः, स चायं पञ्चधा, ‘आभोगबउस’त्ति आभोगः साधूनां वपुरुपकृत्यादिविभूषाकरणं अपकृत्यमिति ज्ञानं तत्प्रधानो बकुश आभोगबकुशः, इहाप्युक्तम्–आभोगे जाणंतो करेइ दोसं अजाणमणभोगे। मूलुत्तरेहिं

२५ श० ६ उद्देशः

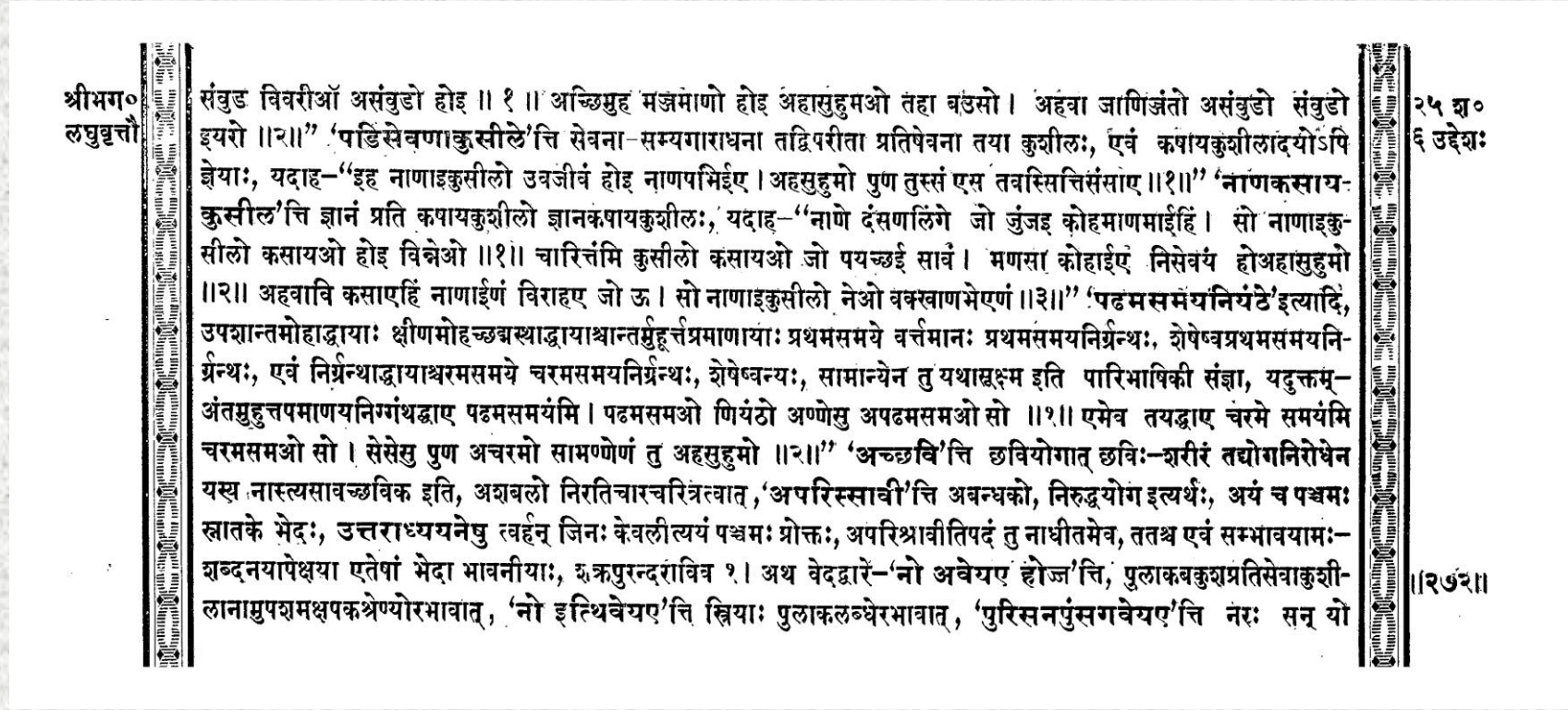

श्रीभग० लघुवृत्तौ

संवुड विवरीओ असंवुडो होइ ॥ १ ॥ अच्छिमुह मज्जमाणो होइ अहासुहुमओ तहा बउसो। अहवा जाणिज्जंतो असंवुडो संवुडो इयरो ॥२॥” ‘पडिसेवणाकुसीले’त्ति सेवना-सम्यगाराधना तद्विपरीता प्रतिषेवना तया कुशीलः, एवं कषायकुशीलादयोऽपि ज्ञेयाः, यदाह-“इह नाणाइकुसीलो उवजीवं होइ नाणपभिईए। अहसुहुमो पुण तुस्सं एस तवस्सित्तिसंसाए ॥१॥” ‘नाणकसाय-कुसील’त्ति ज्ञानं प्रति कषायकुशीलो ज्ञानकषायकुशीलः, यदाह-“नाणे दंसणलिंगे जो जुंजइ कोहमाणमाईहिं। सो नाणाइकुसीलो कसायओ होइ विन्नेओ ॥१॥ चारित्तंमि कुसीलो कसायओ जो पयच्छई सावं। मणसा कोहाईए निसेवयं होअहासुहुमो ॥२॥ अहवावि कसाएहिं नाणाईणं विराहए जो ऊ। सो नाणाइकुसीलो नेओ वक्खाणभेएणं ॥३॥” ‘पढमसमयनियंठे’इत्यादि, उपशान्तमोहाद्धायाः क्षीणमोहच्छद्मस्थाद्धायाश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणायाः प्रथमसमये वर्त्तमानः प्रथमसमयनिर्ग्रन्थः, शेषेष्वप्रथमसमयनिर्ग्रन्थः, एवं निर्ग्रन्थाद्धायाश्चरमसमये चरमसमयनिर्ग्रन्थः, शेषेष्वन्यः, सामान्येन तु यथासूक्ष्म इति पारिभाषिकी संज्ञा, यदुक्तम्-अंतमुहुत्तपमाणयनिग्गंथद्धाए पढमसमयंमि। पढमसमओ णियंठो अण्णेसु अपढमसमओ सो ॥१॥ एमेव तयद्धाए चरमे समयंमि चरमसमओ सो। सेसेसु पुण अचरमो सामण्णेणं तु अहसुहुमो ॥२॥” ‘अच्छवि’त्ति छवियोगात् छविः-शरीरं तद्योगनिरोधेन यस्य नास्त्यसावच्छविक इति, अशबलो निरतिचारचरित्रत्वात्, ‘अपरिस्सावी’त्ति अबन्धको, निरुद्धयोग इत्यर्थः, अयं च पञ्चमः स्नातके भेदः, उत्तराध्ययनेषु त्वर्हन् जिनः केवलीत्ययं पञ्चमः प्रोक्तः, अपरिश्रावीतिपदं तु नाधीतमेव, ततश्च एवं सम्भावयामः-शब्दनयापेक्षया एतेषां भेदा भावनीयाः, शक्रपुरन्दराविव १। अथ वेदद्वारे-‘नो अवेयए होज्ज’त्ति, पुलाकबकुशप्रतिसेवाकुशीलानामुपशमक्षपकश्रेण्योरभावात्, ‘नो इत्थिवेयए’त्ति स्त्रियाः पुलाकलब्धेरभावात्, ‘पुरिसनपुंसगवेयए’त्ति नरः सन् यो

२५ श० ६ उद्देशः

॥२७२॥

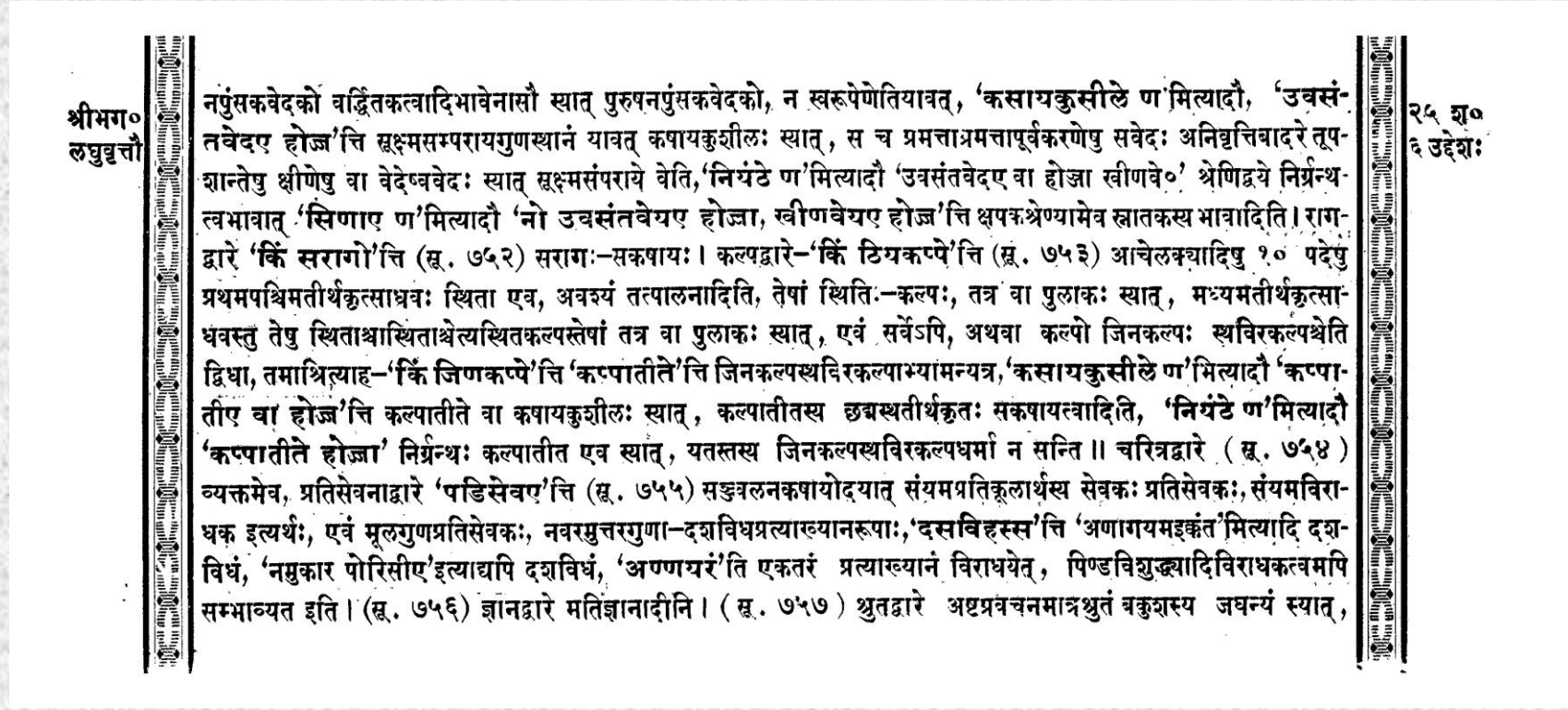

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नपुंसकवेदको वर्द्धितकत्वादिभावेनासौ स्यात् पुरुषनपुंसकवेदको, न स्वरूपेणेतियावत्, **'कसायकुसीले ण'**मित्यादौ, **'उवसंतवेदए होज्ज'**त्ति सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानं यावत् कषायकुशीलः स्यात्, स च प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणेषु सवेदः अनिवृत्तिबादरे तूपशान्तेषु क्षीणेषु वा वेदेष्ववेदः स्यात् सूक्ष्मसंपराये वेति,**'नियंठे ण'**मित्यादौ 'उवसंतवेदए वा होज्जा खीणवे०' श्रेणिद्वये निर्ग्रन्थत्वभावात् **'सिणाए ण'**मित्यादौ **'नो उवसंतवेयए होज्जा, खीणवेयए होज्ज'**त्ति क्षपकश्रेण्यामेव स्नातकस्य भावादिति। रागद्वारे **'किं सरागो'**त्ति (सू. ७५२) सरागः–सकषायः। कल्पद्वारे–**'किं ठियकप्पे'**त्ति (सू. ७५३) आचेलक्यादिषु १० पदेषु प्रथमपश्चिमतीर्थकृत्साधवः स्थिता एव, अवश्यं तत्पालनादिति, तेषां स्थितिः–कल्पः, तत्र वा पुलाकः स्यात्, मध्यमतीर्थकृत्साधवस्तु तेषु स्थिताश्चास्थिताश्चेत्यस्थितकल्पस्तेषां तत्र वा पुलाकः स्यात्, एवं सर्वेऽपि, अथवा कल्पो जिनकल्पः स्थविरकल्पश्चेति द्विधा, तमाश्रित्याह–**'किं जिणकप्पे'**त्ति **'कप्पातीते'**त्ति जिनकल्पस्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र,**'कसायकुसीले ण'**मित्यादौ **'कप्पातीए वा होज्ज'**त्ति कल्पातीते वा कषायकुशीलः स्यात्, कल्पातीतस्य छद्मस्थतीर्थकृतः सकषायत्वादिति, **'नियंठे ण'**मित्यादौ **'कप्पातीते होज्जा'** निर्ग्रन्थः कल्पातीत एव स्यात्, यतस्तस्य जिनकल्पस्थविरकल्पधर्मा न सन्ति॥ चरित्रद्वारे (सू. ७५४) व्यक्तमेव, प्रतिसेवनाद्वारे **'पडिसेवए'**त्ति (सू. ७५५) सञ्ज्वलनकषायोदयात् संयमप्रतिकूलार्थस्य सेवकः प्रतिसेवकः, संयमविराधक इत्यर्थः, एवं मूलगुणप्रतिसेवकः, नवरमुत्तरगुणा–दशविधप्रत्याख्यानरूपाः,**'दसविहस्स'**त्ति 'अणागयमइक्कंत'मित्यादि दशविधं, 'नमुकार पोरिसीए'इत्याद्यपि दशविधं, **'अण्णयरं'**ति एकतरं प्रत्याख्यानं विराधयेत्, पिण्डविशुद्ध्यादिविराधकत्वमपि सम्भाव्यत इति। (सू. ७५६) ज्ञानद्वारे मतिज्ञानादीनि। (सू. ७५७) श्रुतद्वारे अष्टप्रवचनमात्रश्रुतं बकुशस्य जघन्यं स्यात्,

२५ श० ६ उद्देशः

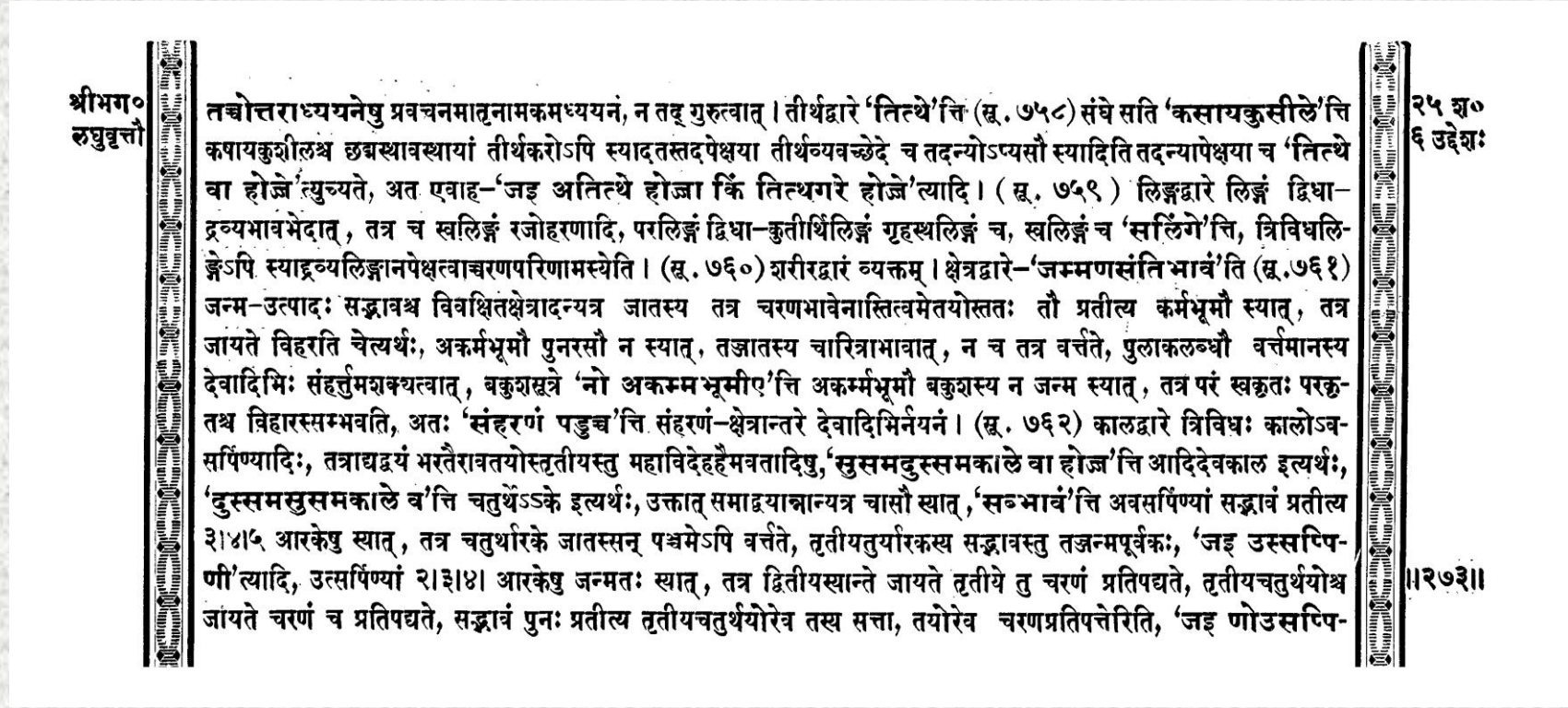

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तच्चोत्तराध्ययनेषु प्रवचनमातृनामकमध्ययनं, न तद् गुरुत्वात्। तीर्थद्वारे 'तित्थे'त्ति (सू. ७५८) संघे सति 'कसायकुसीले'त्ति कषायकुशीलश्च छद्मस्थावस्थायां तीर्थकरोऽपि स्यादतस्तदपेक्षया तीर्थव्यवच्छेदे च तदन्योऽप्यसौ स्यादिति तदन्यापेक्षया च 'तित्थे वा होज्ज'त्युच्यते, अत एवाह–'जइ अतित्थे होज्जा किं तित्थगरे होज्ज'त्यादि। (सू. ७५९) लिङ्गद्वारे लिङ्गं द्विधा–द्रव्यभावभेदात्, तत्र च स्वलिङ्गं रजोहरणादि, परलिङ्गं द्विधा–कुतीर्थिलिङ्गं गृहस्थलिङ्गं च, स्वलिङ्गं च 'सलिंगे'त्ति, त्रिविधलिङ्गेऽपि स्याद्द्रव्यलिङ्गानपेक्षत्वाच्चरणपरिणामस्येति। (सू. ७६०) शरीरद्वारं व्यक्तम्। क्षेत्रद्वारे–'जम्मणसंतिभावं'ति (सू.७६१) जन्म–उत्पादः सद्भावश्च विवक्षितक्षेत्रादन्यत्र जातस्य तत्र चरणभावेनास्तित्वमेतयोस्ततः तौ प्रतीत्य कर्मभूमौ स्यात्, तत्र जायते विहरति चेत्यर्थः, अकर्मभूमौ पुनरसौ न स्यात्, तज्जातस्य चारित्राभावात्, न च तत्र वर्त्तते, पुलाकलब्धौ वर्त्तमानस्य देवादिभिः संहर्त्तुमशक्यत्वात्, बकुशसूत्रे 'नो अकम्मभूमीए'त्ति अकर्म्मभूमौ बकुशस्य न जन्म स्यात्, तत्र परं स्वकृतः परकृतश्च विहारस्सम्भवति, अतः 'संहरणं पडुच्च'त्ति संहरणं–क्षेत्रान्तरे देवादिभिर्नयनं। (सू. ७६२) कालद्वारे त्रिविधः कालोऽवसर्पिण्यादिः, तत्राद्वयं भरतैरावतयोस्तृतीयस्तु महाविदेहहैमवतादिषु,'सुसमदुस्समकाले वा होज्ज'त्ति आदिदेवकाल इत्यर्थः, 'दुस्समसुसमकाले व'त्ति चतुर्थेऽऽके इत्यर्थः, उक्तात् समाद्वयान्नान्यत्र चासौ स्यात्,'सब्भावं'त्ति अवसर्पिण्यां सद्भावं प्रतीत्य ३।४।५ आरकेषु स्यात्, तत्र चतुर्थारके जातस्सन् पञ्चमेऽपि वर्त्तते, तृतीयतुर्यारकस्य सद्भावस्तु तज्जन्मपूर्वकः, 'जइ उस्सप्पिणी'त्यादि, उत्सर्पिण्यां २।३।४। आरकेषु जन्मतः स्यात्, तत्र द्वितीयस्यान्ते जायते तृतीये तु चरणं प्रतिपद्यते, तृतीयचतुर्थयोश्च जायते चरणं च प्रतिपद्यते, सद्भावं पुनः प्रतीत्य तृतीयचतुर्थयोरेव तस्य सत्ता, तयोरेव चरणप्रतिपत्तेरिति, 'जइ णोउसप्पि-

२५ श० ६ उद्देशः

॥२७३॥

णीए'त्यादि, 'सुसमसुसमपलिभागे'त्ति सुषमसुषमायाः प्रतिभागः–सादृश्यं यत्र काले स तथा, स च देवकुरूत्तरकुरुषु, एवं सुषमप्रतिभागो हरिवर्षरम्यकवर्षेषु, सुषमदुष्षमाप्रतिभागो हिमवदैरण्यवतेषु, दुष्षमसुषमाप्रतिभागो महाविदेहेषु, निर्ग्रन्थस्नातकौ पुलाकवद्वाच्यौ,'नवरं एएसिं'ति पुलाकस्य प्रागुक्तयुक्त्या संहरणं नास्ति, एतयोश्च तत् संहरणमस्तीतिकृत्वा तद्वाच्यं, संहरणद्वारेण च यस्तयोः सर्वकालेषु सम्भवः असौ पूर्वसंहृतयोर्निर्ग्रन्थस्नातकत्वप्राप्तौ द्रष्टव्यो, यतो नापगतवेदानां संहरणमस्तीति,यदाह–"समणी-१ मवगयवेयं २ परिहार ३ पुलाय ४ मप्पमत्तं ५ च। चोद्दसपुव्विं ६ आहारगं ७ च न य कोइ संहरइ ॥१॥"त्ति (सू.७६३) गतिद्वारे–सौधर्मादिका देवगतिरिन्द्रादयस्तद्देहायुश्च पुलाकादीनां निरूप्यते–'अविराहणं पडुच्च'त्ति अविराधना हि ज्ञानादीनां यथावत्पालनात् अनुपजीवना अतस्तां प्रतीत्य, अविराधकास्सन्त इत्यर्थः, 'अण्णयरेसु उववज्जेज्ज'त्ति भवनपत्यादीनामन्यतरेषु देवेषूत्पद्येत, विराधितसंयमानां भवनपत्याद्युत्पादस्योक्तत्वात्, यच्च प्रागुक्तं 'विमाणेसु उववज्जेज्ज'त्ति तत् संयमाविराधकत्व-माश्रित्य ज्ञेयं। संयमद्वारे–संयमस्थानानि तेषामल्पबहुत्वादि चिन्त्यते, तत्र 'पुलागस्से'त्यादि (सू. ७७४) संयमः–चारित्रं तस्य स्थानानि–प्रकर्षापकर्षकृता भेदाः संयमस्थानानि तानि च प्रत्येकं सर्वाकाशप्रदेशाग्रगुणितसर्वाकाशपरिमाणपर्यवोपेतानि स्युः, तानि च पुलाकस्यासङ्ख्यातानि स्युः, विचित्रत्वात् चारित्रमोहनीयक्षयोपशमस्य, एवं यावत्कषायकुशीलस्य, 'अजहण्णमणुक्कोस-एणं'ति निर्ग्रन्थस्यैकं संयमस्थानं स्यात्, कषायाणामुपशमस्य क्षयस्य चाविचित्रत्वेन शुद्धेरेकविधत्वाद्, एकत्वादेव च तदजघन्यो-त्कृष्टं, बहुष्वेव जघन्योत्कृष्टसद्भावादिति। अथ पुलाकादीनां मिथः संयमस्थानाल्पबहुत्वमाह–'एएसि णं'ति सर्वेभ्यः स्तोकं सर्व-स्तोकं निर्ग्रन्थस्य स्नातकस्य च संयमस्थानं, कुतः ?, शुद्धेरेकविधत्वात्, पुलाकादीनां तूत्तरक्रमेणासङ्ख्येयगुणानि तानि, क्षयो-

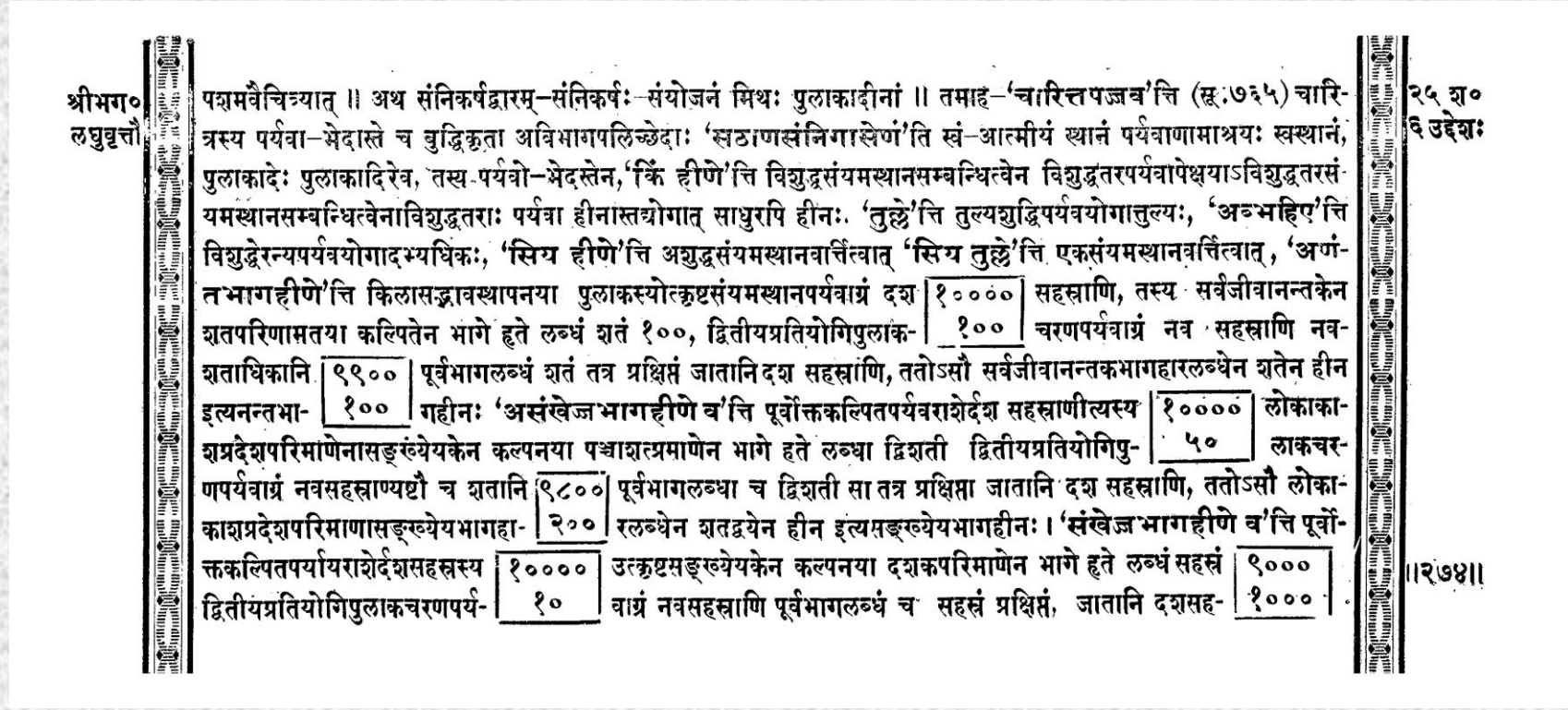

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पशमवैचित्र्यात् ॥ अथ संनिकर्षद्वारम्–संनिकर्षः–संयोजनं मिथः पुलाकादीनां ॥ तमाह–‘चारित्तपज्जव’त्ति (सू.७६५) चारित्रस्य पर्यवा–भेदास्ते च बुद्धिकृता अविभागपलिच्छेदाः ‘सठाणसंनिगासेणं’ति स्वं–आत्मीयं स्थानं पर्यवाणामाश्रयः स्वस्थानं, पुलाकादेः पुलाकादिरेव, तस्य पर्यवो–भेदस्तेन,‘किं हीणे’त्ति विशुद्धसंयमस्थानसम्बन्धित्वेन विशुद्धतरपर्यवापेक्षयाऽविशुद्धतरसंयमस्थानसम्बन्धित्वेनाविशुद्धतराः पर्यवा हीनास्तद्योगात् साधुरपि हीनः. ‘तुल्ले’त्ति तुल्यशुद्धिपर्यवयोगात्तुल्यः, ‘अब्भहिए’त्ति विशुद्धेरन्यपर्यवयोगादभ्यधिकः, ‘सिय हीणे’त्ति अशुद्धसंयमस्थानवर्त्तित्वात् ‘सिय तुल्ले’त्ति एकसंयमस्थानवर्त्तित्वात्, ‘अणंतभागहीणे’त्ति किलासद्भावस्थापनया पुलाकस्योत्कृष्टसंयमस्थानपर्यवाग्रं दश $\frac{१००००}{१००}$ सहस्राणि, तस्य सर्वजीवानन्तकेन शतपरिणामतया कल्पितेन भागे हृते लब्धं शतं १००, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं नव सहस्राणि नवशताधिकानि $\frac{९९००}{१००}$ पूर्वभागलब्धं शतं तत्र प्रक्षिप्तं जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसौ सर्वजीवानन्तकभागहारलब्धेन शतेन हीन इत्यनन्तभागहीनः ‘असंखेज्जभागहीणे व’त्ति पूर्वोक्तकल्पितपर्यवराशेर्दश सहस्राणीत्यस्य $\frac{१००००}{५०}$ लोकाकाशप्रदेशपरिमाणेनासङ्ख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन भागे हृते लब्धा द्विशती द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं नवसहस्राण्यष्टौ च शतानि $\frac{९८००}{२००}$ पूर्वभागलब्धा च द्विशती सा तत्र प्रक्षिप्ता जातानि दश सहस्राणि, ततोऽसौ लोकाकाशप्रदेशपरिमाणासङ्ख्येयभागहारलब्धेन शतद्वयेन हीन इत्यसङ्ख्येयभागहीनः । ‘संखेज्जभागहीणे व’त्ति पूर्वोक्तकल्पितपर्यायराशेर्दशसहस्रस्य $\frac{१००००}{१०}$ उत्कृष्टसङ्ख्येयकेन कल्पनया दशकपरिमाणेन भागे हृते लब्धं सहस्रं $\frac{९०००}{१०००}$ द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं नवसहस्राणि पूर्वभागलब्धं च सहस्रं प्रक्षिप्तं, जातानि दशसह-

२५ श० ६ उद्देशः

॥२७४॥

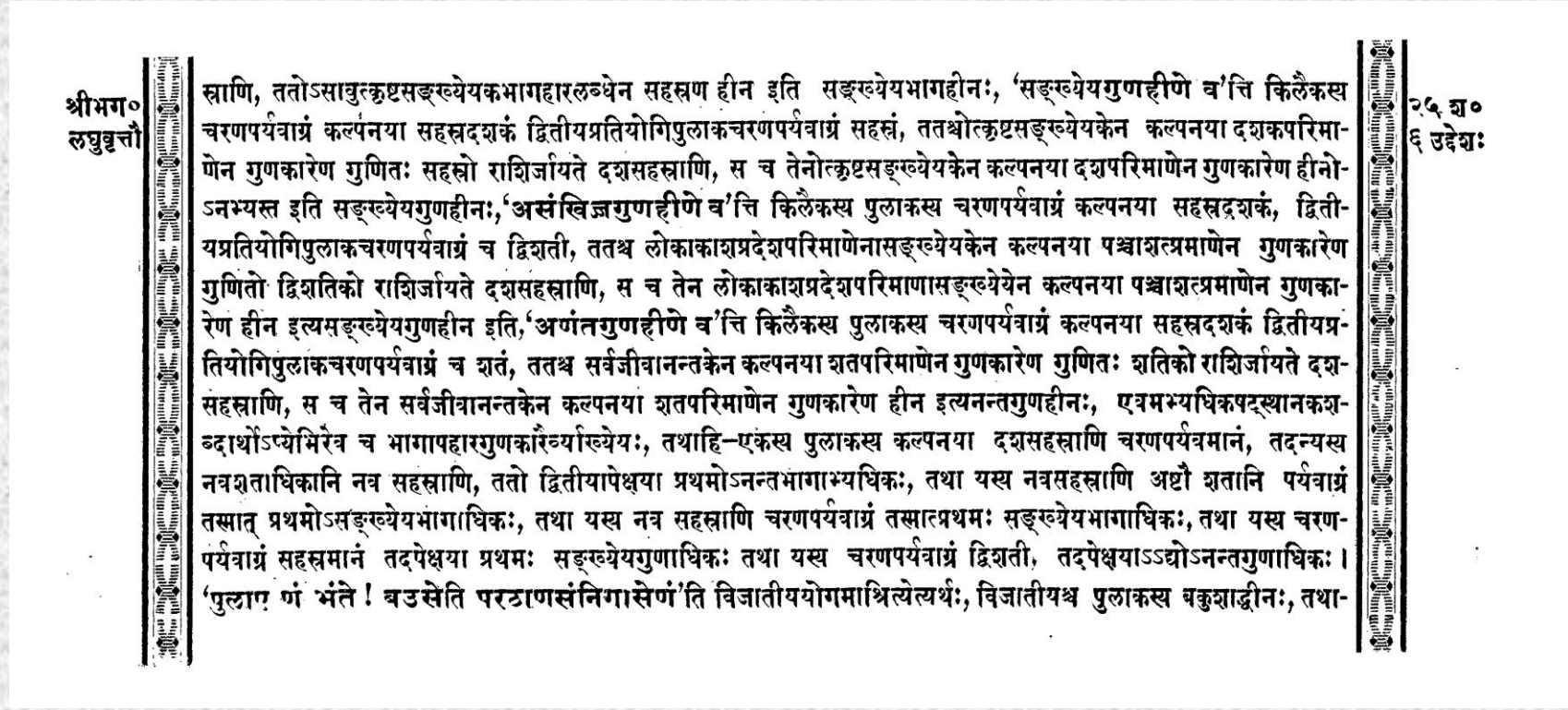

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्राणि, ततोऽसावुत्कृष्टसङ्ख्येयकभागहारलब्धेन सहस्रेण हीन इति सङ्ख्येयभागहीनः, ‘सङ्ख्येयगुणहीणे व’त्ति किलैकस्य चरणपर्यवाग्रं कल्पनया सहस्रदशकं द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं सहस्रं, ततश्चोत्कृष्टसङ्ख्येयकेन कल्पनया दशकपरिमाणेन गुणकारेण गुणितः सहस्रो राशिर्जायते दशसहस्राणि, स च तेनोत्कृष्टसङ्ख्येयकेन कल्पनया दशपरिमाणेन गुणकारेण हीनोऽनभ्यस्त इति सङ्ख्येयगुणहीनः,‘असंखिज्जगुणहीणे व’त्ति किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्रं कल्पनया सहस्रदशकं, द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं च द्विशती, ततश्च लोकाकाशप्रदेशपरिमाणेनासङ्ख्येयकेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन गुणकारेण गुणितो द्विशतिको राशिर्जायते दशसहस्राणि, स च तेन लोकाकाशप्रदेशपरिमाणासङ्ख्येयेन कल्पनया पञ्चाशत्प्रमाणेन गुणकारेण हीन इत्यसङ्ख्येयगुणहीन इति,‘अणंतगुणहीणे व’त्ति किलैकस्य पुलाकस्य चरणपर्यवाग्रं कल्पनया सहस्रदशकं द्वितीयप्रतियोगिपुलाकचरणपर्यवाग्रं च शतं, ततश्च सर्वजीवानन्तकेन कल्पनया शतपरिमाणेन गुणकारेण गुणितः शतिको राशिर्जायते दशसहस्राणि, स च तेन सर्वजीवानन्तकेन कल्पनया शतपरिमाणेन गुणकारेण हीन इत्यनन्तगुणहीनः, एवमभ्यधिकषट्स्थानकशब्दार्थोऽप्येभिरेव च भागापहारगुणकारैर्व्याख्येयः, तथाहि—एकस्य पुलाकस्य कल्पनया दशसहस्राणि चरणपर्यवमानं, तदन्यस्य नवशताधिकानि नव सहस्राणि, ततो द्वितीयापेक्षया प्रथमोऽनन्तभागाभ्यधिकः, तथा यस्य नवसहस्राणि अष्टौ शतानि पर्यवाग्रं तस्मात् प्रथमोऽसङ्ख्येयभागाधिकः, तथा यस्य नव सहस्राणि चरणपर्यवाग्रं तस्मात्प्रथमः सङ्ख्येयभागाधिकः, तथा यस्य चरणपर्यवाग्रं सहस्रमानं तदपेक्षया प्रथमः सङ्ख्येयगुणाधिकः तथा यस्य चरणपर्यवाग्रं द्विशती, तदपेक्षयाऽऽद्योऽनन्तगुणाधिकः। ‘पुलाए णं भंते ! बउसेति परठाणसंनिगासेणं’ति विजातीययोगमाश्रित्येत्यर्थः, विजातीयश्च पुलाकस्य बकुशाद्धीनः, तथा-

२५ श० ६ उद्देशः

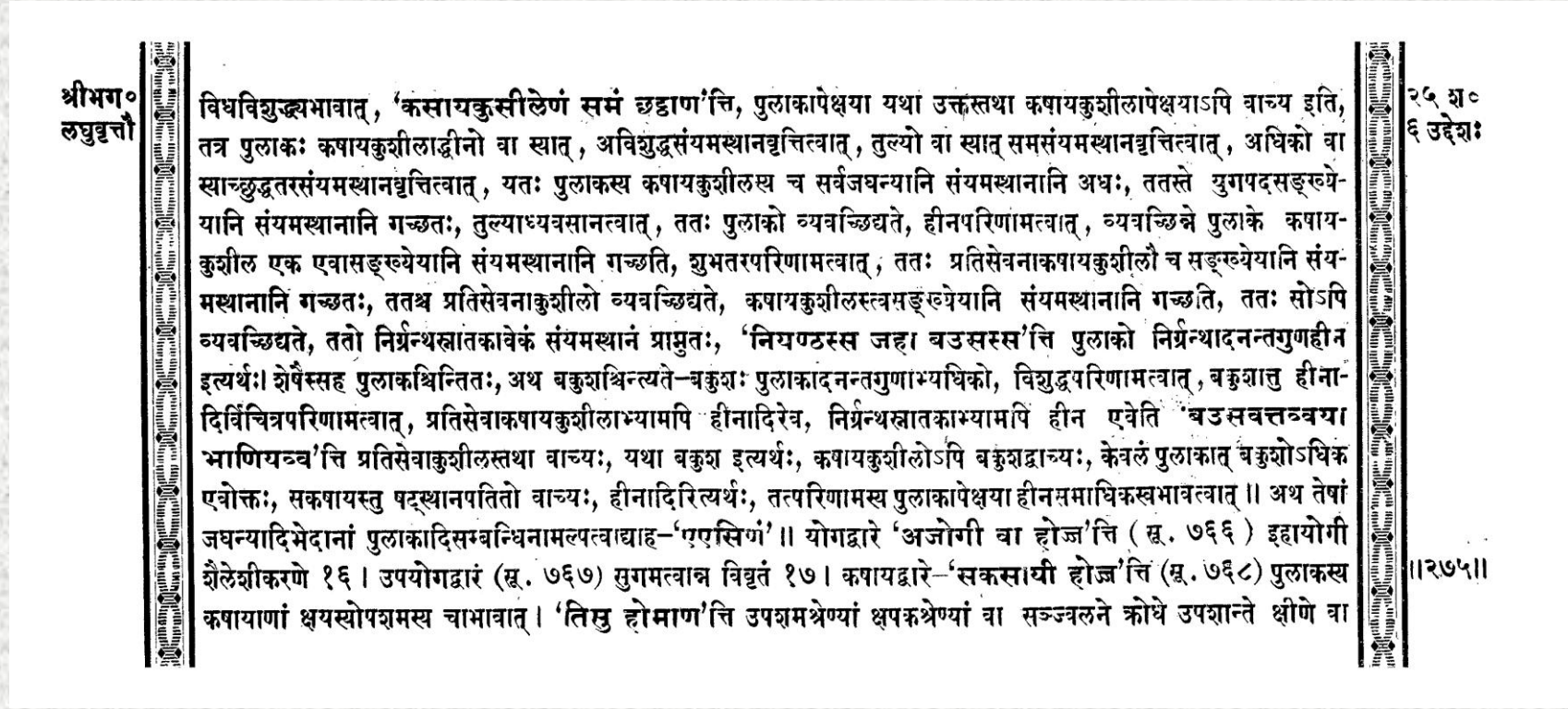

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विधविशुद्ध्यभावात्, 'कसायकुसीलेणं समं छट्ठाण'त्ति, पुलाकापेक्षया यथा उक्तस्तथा कषायकुशीलापेक्षयाऽपि वाच्य इति, तत्र पुलाकः कषायकुशीलाद्धीनो वा स्यात्, अविशुद्धसंयमस्थानवृत्तित्वात्, तुल्यो वा स्यात् समसंयमस्थानवृत्तित्वात्, अधिको वा स्याच्छुद्धतरसंयमस्थानवृत्तित्वात्, यतः पुलाकस्य कषायकुशीलस्य च सर्वजघन्यानि संयमस्थानानि अधः, ततस्ते युगपदसङ्ख्येयानि संयमस्थानानि गच्छतः, तुल्याध्यवसानत्वात्, ततः पुलाको व्यवच्छिद्यते, हीनपरिणामत्वात्, व्यवच्छिन्ने पुलाके कषायकुशील एक एवासङ्ख्येयानि संयमस्थानानि गच्छति, शुभतरपरिणामत्वात्, ततः प्रतिसेवनाकषायकुशीलौ च सङ्ख्येयानि संयमस्थानानि गच्छतः, ततश्च प्रतिसेवनाकुशीलो व्यवच्छिद्यते, कषायकुशीलस्त्वसङ्ख्येयानि संयमस्थानानि गच्छति, ततः सोऽपि व्यवच्छिद्यते, ततो निर्ग्रन्थस्नातकावेकं संयमस्थानं प्राप्नुतः, 'नियण्ठस्स जहा बउसस्स'त्ति पुलाको निर्ग्रन्थादनन्तगुणहीन इत्यर्थः। शेषैस्सह पुलाकश्चिन्तितः, अथ बकुशश्चिन्त्यते–बकुशः पुलाकादनन्तगुणाभ्यधिको, विशुद्धपरिणामत्वात्, बकुशात्तु हीनादिर्विचित्रपरिणामत्वात्, प्रतिसेवाकषायकुशीलाभ्यामपि हीनादिरेव, निर्ग्रन्थस्नातकाभ्यामपि हीन एवेति 'बउसवत्तव्वया भाणियव्व'त्ति प्रतिसेवाकुशीलस्तथा वाच्यः, यथा बकुश इत्यर्थः, कषायकुशीलोऽपि बकुशद्वाच्यः, केवलं पुलाकात् बकुशोऽधिक एवोक्तः, सकषायस्तु षट्स्थानपतितो वाच्यः, हीनादिरित्यर्थः, तत्परिणामस्य पुलाकापेक्षया हीनसमाधिकस्वभावत्वात्॥ अथ तेषां जघन्यादिभेदानां पुलाकादिसम्बन्धिनामल्पत्वाद्याह–'एएसिणं'॥ योगद्वारे 'अजोगी वा होज्ज'त्ति (सू. ७६६) इहायोगी शैलेशीकरणे १६। उपयोगद्वारं (सू. ७६७) सुगमत्वान्न विवृतं १७। कषायद्वारे–'सकसायी होज्ज'त्ति (सू. ७६८) पुलाकस्य कषायाणां क्षयस्योपशमस्य चाभावात्। 'तिसु होमाण'त्ति उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा सञ्ज्वलने क्रोधे उपशान्ते क्षीणे वा

२५ श० ६ उद्देशः

॥२७५॥

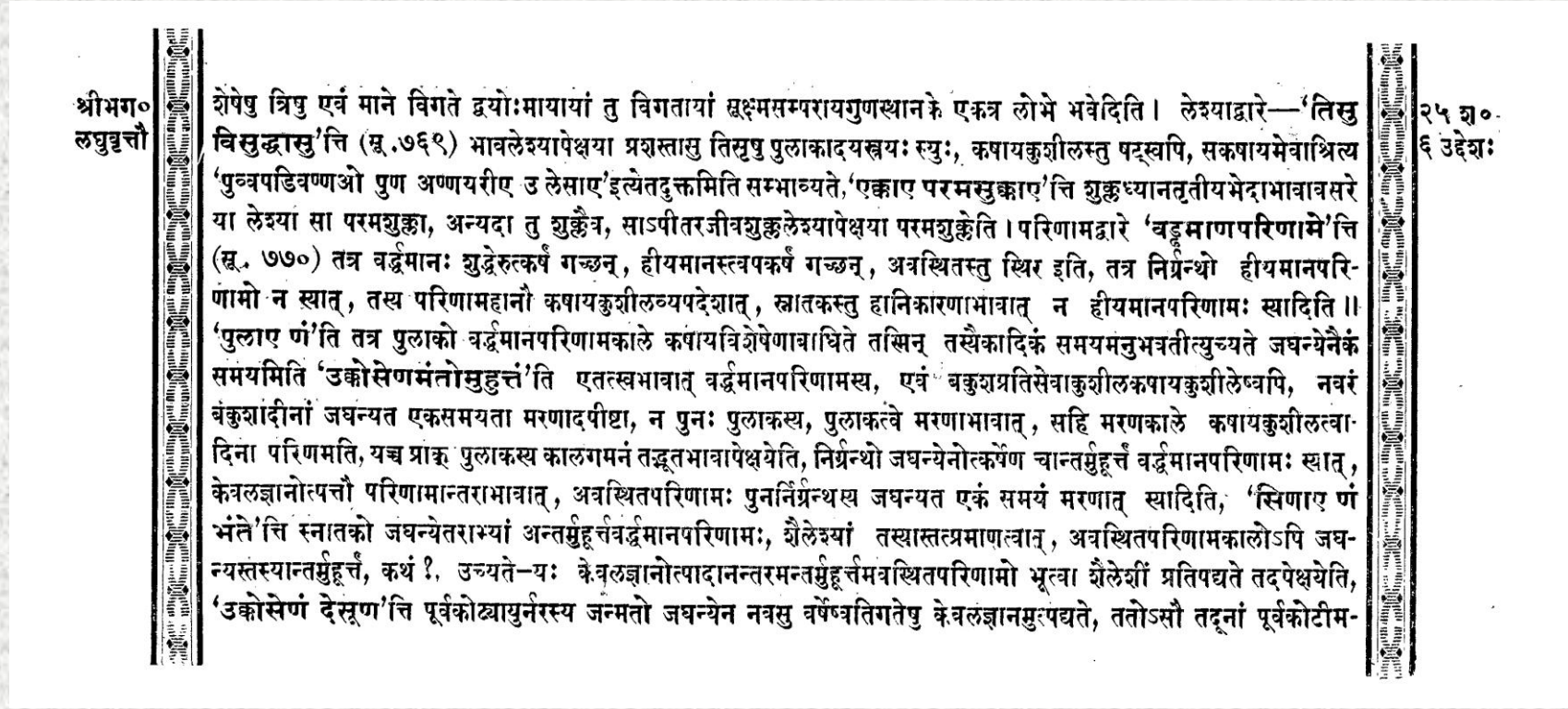

श्रीभग० लघुवृत्तौ

शेषेषु त्रिषु एवं माने विगते द्वयोःमायायां तु विगतायां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकत्र लोभे भवेदिति। लेश्याद्वारे—'तिसु विसुद्धासु'त्ति (सू.७६९) भावलेश्यापेक्षया प्रशस्तासु तिसृषु पुलाकादयस्त्रयः स्युः, कषायकुशीलस्तु षट्स्वपि, सकषायमेवाश्रित्य 'पुव्वपडिवण्णओ पुण अण्णयरीए उ लेसाए'इत्येतदुक्तमिति सम्भाव्यते,'एक्काए परमसुक्काए'त्ति शुक्लध्यानतृतीयभेदाभावावसरे या लेश्या सा परमशुक्ला, अन्यदा तु शुक्लैव, साऽपीतरजीवशुक्ललेश्यापेक्षया परमशुक्लेति। परिणामद्वारे 'वड्ढमाणपरिणामे'त्ति (सू. ७७०) तत्र वर्द्धमानः शुद्धेरुत्कर्षं गच्छन्, हीयमानस्त्वपकर्षं गच्छन्, अवस्थितस्तु स्थिर इति, तत्र निर्ग्रन्थो हीयमानपरिणामो न स्यात्, तस्य परिणामहानौ कषायकुशीलव्यपदेशात्, स्नातकस्तु हानिकारणाभावात् न हीयमानपरिणामः स्यादिति॥ 'पुलाए णं'ति तत्र पुलाको वर्द्धमानपरिणामकाले कषायविशेषेणाबाधिते तस्मिन् तस्यैकादिकं समयमनुभवतीत्युच्यते जघन्येनैकं समयमिति 'उक्कोसेणमंतोमुहुत्तं'ति एतत्स्वभावात् वर्द्धमानपरिणामस्य, एवं बकुशप्रतिसेवाकुशीलकषायकुशीलेष्वपि, नवरं बकुशादीनां जघन्यत एकसमयता मरणादपीष्टा, न पुनः पुलाकस्य, पुलाकत्वे मरणाभावात्, सहि मरणकाले कषायकुशीलत्वादिना परिणमति, यच्च प्राक् पुलाकस्य कालगमनं तद्भूतभावापेक्षयेति, निर्ग्रन्थो जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्त्तं वर्द्धमानपरिणामः स्यात्, केवलज्ञानोत्पत्तौ परिणामान्तराभावात्, अवस्थितपरिणामः पुनर्निर्ग्रन्थस्य जघन्यत एकं समयं मरणात् स्यादिति, 'सिणाए णं भंते'त्ति स्नातको जघन्येतराभ्यां अन्तर्मुहूर्त्तवर्द्धमानपरिणामः, शैलेश्यां तस्यास्तत्प्रमाणत्वात्, अवस्थितपरिणामकालोऽपि जघन्यस्तस्यान्तर्मुहूर्त्तं, कथं ?, उच्यते—यः केवलज्ञानोत्पादानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमवस्थितपरिणामो भूत्वा शैलेशीं प्रतिपद्यते तदपेक्षयेति, 'उक्कोसेणं देसूण'त्ति पूर्वकोट्यायुर्नरस्य जन्मतो जघन्येन नवसु वर्षेष्वतिगतेषु केवलज्ञानमुत्पद्यते, ततोऽसौ तदूनां पूर्वकोटीम-

२५ श० ६ उद्देशः

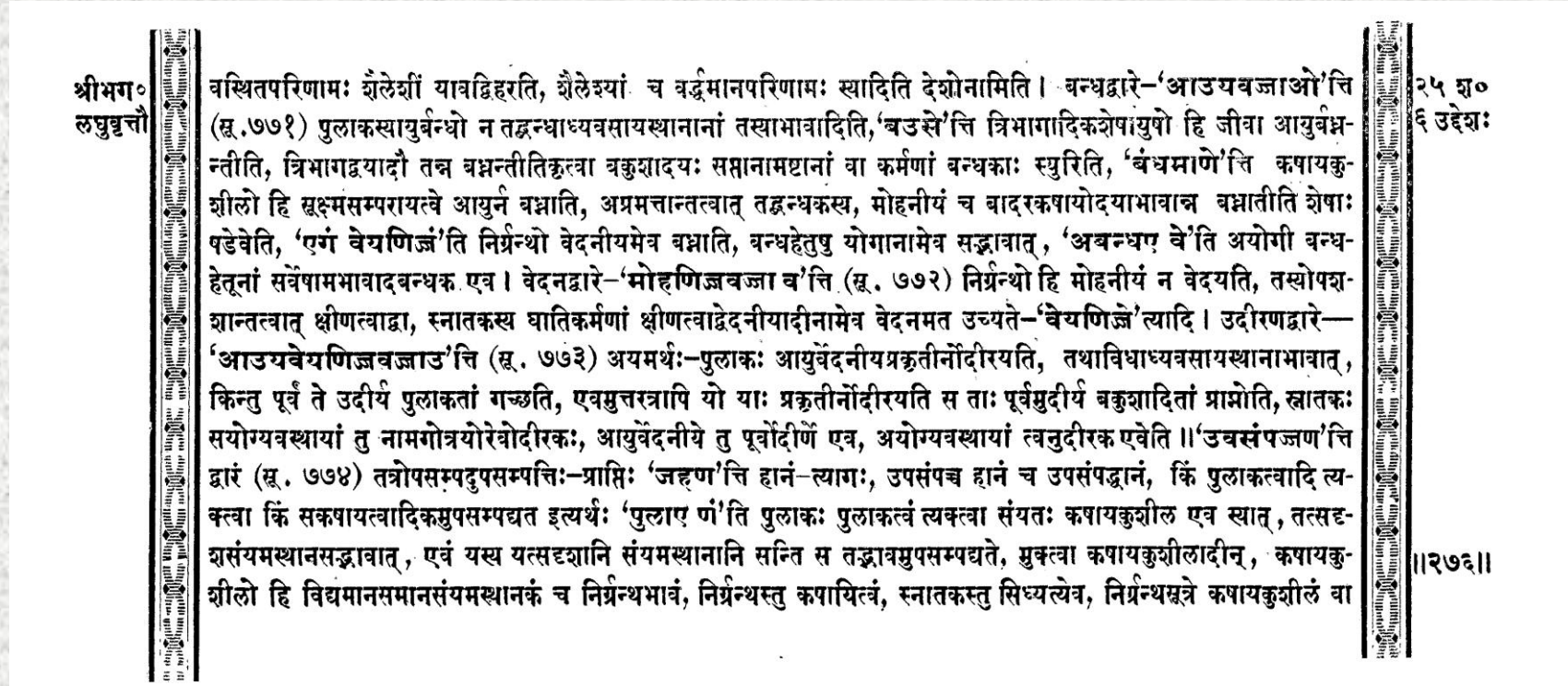

श्रीभग० लघुवृत्तौ

वस्थितपरिणामः शैलेशीं यावद्विहरति, शैलेश्यां च वर्द्धमानपरिणामः स्यादिति देशोनामिति। बन्धद्वारे–'आउयवज्जाओ'त्ति (सू.७७१) पुलाकस्यायुर्बन्धो न तद्बन्धाध्यवसायस्थानानां तस्याभावादिति,'बउसे'त्ति त्रिभागादिकशेषायुषो हि जीवा आयुर्बध्नन्तीति, त्रिभागद्वयादौ तन्न बध्नन्तीतिकृत्वा बकुशादयः सप्तानामष्टानां वा कर्मणां बन्धकाः स्युरिति, 'बंधमाणे'त्ति कषायकुशीलो हि सूक्ष्मसम्परायत्वे आयुर्न बध्नाति, अप्रमत्तान्तत्वात् तद्बन्धकस्य, मोहनीयं च बादरकषायोदयाभावान्न बध्नातीति शेषाः षडेवेति, 'एगं वेयणिज्जं'ति निर्ग्रन्थो वेदनीयमेव बध्नाति, बन्धहेतुषु योगानामेव सद्भावात्, 'अबन्धए वे'ति अयोगी बन्धहेतूनां सर्वेषामभावादबन्धक एव। वेदनद्वारे–'मोहणिज्जवज्जा व'त्ति (सू. ७७२) निर्ग्रन्थो हि मोहनीयं न वेदयति, तस्योपशान्तत्वात् क्षीणत्वाद्वा, स्नातकस्य घातिकर्मणां क्षीणत्वाद्वेदनीयादीनामेव वेदनमत उच्यते–'वेयणिज्जे'त्यादि। उदीरणद्वारे—'आउयवेयणिज्जवज्जाउ'त्ति (सू. ७७३) अयमर्थः–पुलाकः आयुर्वेदनीयप्रकृतीर्नोदीरयति, तथाविधाध्यवसायस्थानाभावात्, किन्तु पूर्वं ते उदीर्य पुलाकतां गच्छति, एवमुत्तरत्रापि यो याः प्रकृतीर्नोदीरयति स ताः पूर्वमुदीर्य बकुशादितां प्राप्नोति, स्नातकः सयोग्यवस्थायां तु नामगोत्रयोरेवोदीरकः, आयुर्वेदनीये तु पूर्वोदीर्णे एव, अयोग्यवस्थायां त्वनुदीरक एवेति ॥'उवसंपज्जण'त्ति द्वारं (सू. ७७४) तत्रोपसम्पदुपसम्पत्तिः–प्राप्तिः 'जहण'त्ति हानं–त्यागः, उपसंपच्च हानं च उपसंपद्धानं, किं पुलाकत्वादि त्यक्त्वा किं सकषायत्वादिकमुपसम्पद्यत इत्यर्थः 'पुलाए णं'ति पुलाकः पुलाकत्वं त्यक्त्वा संयतः कषायकुशील एव स्यात्, तत्सदृशसंयमस्थानसद्भावात्, एवं यस्य यत्सदृशानि संयमस्थानानि सन्ति स तद्भावमुपसम्पद्यते, मुक्त्वा कषायकुशीलादीन्, कषायकुशीलो हि विद्यमानसमानसंयमस्थानकं च निर्ग्रन्थभावं, निर्ग्रन्थस्तु कषायित्वं, स्नातकस्तु सिध्यत्येव, निर्ग्रन्थसूत्रे कषायकुशीलं वा

२५ श० ६ उद्देशः

॥२७६॥

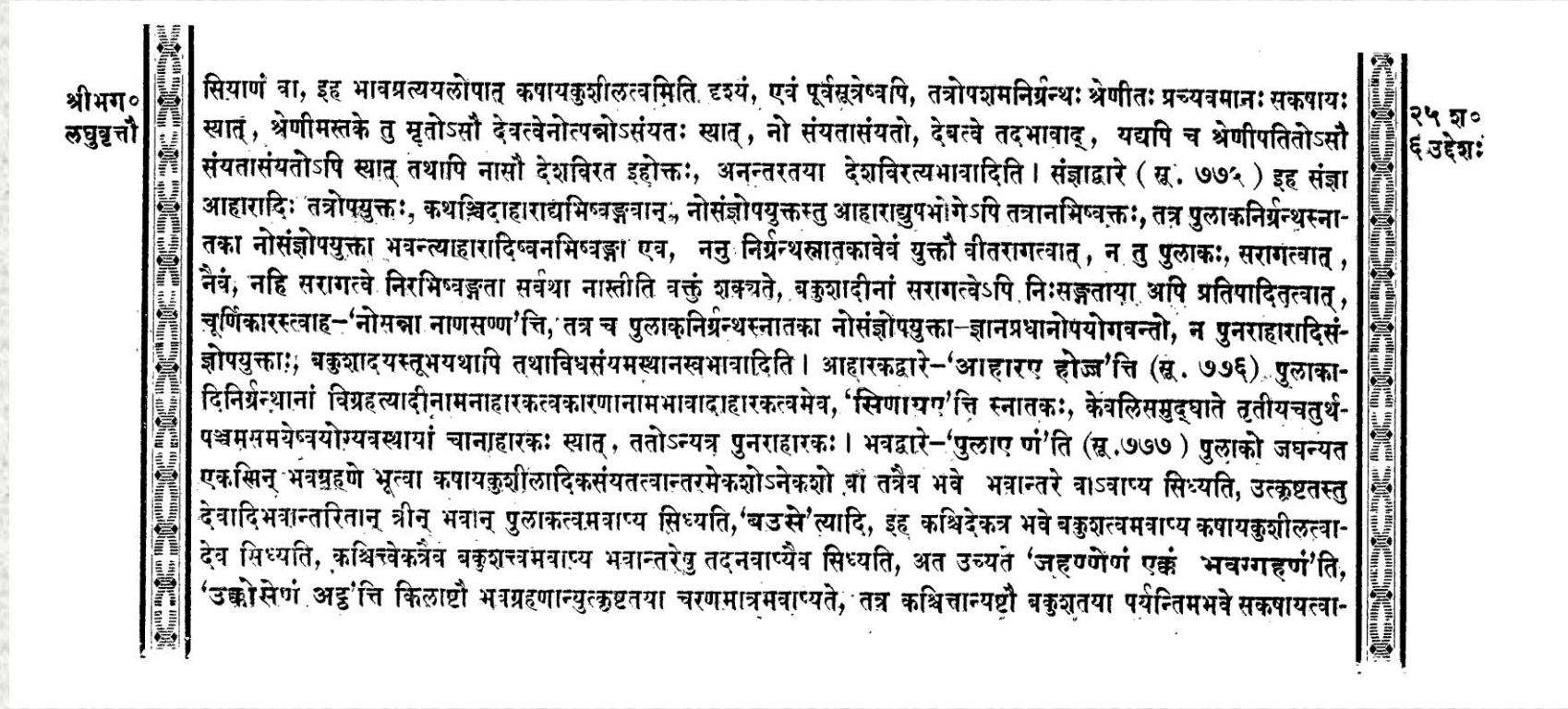

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सियाणं वा, इह भावप्रत्ययलोपात् कषायकुशीलत्वमिति दृश्यं, एवं पूर्वसूत्रेष्वपि, तत्रोपशमनिर्ग्रन्थः श्रेणीतः प्रच्यवमानः सकषायः स्यात्, श्रेणीमस्तके तु मृतोऽसौ देवत्वेनोत्पन्नोऽसंयतः स्यात्, नो संयतासंयतो, देवत्वे तदभावाद्, यद्यपि च श्रेणीपतितोऽसौ संयतासंयतोऽपि स्यात् तथापि नासौ देशविरत इहोक्तः, अनन्तरतया देशविरत्यभावादिति। संज्ञाद्वारे (सू. ७७५) इह संज्ञा आहारादिः तत्रोपयुक्तः, कथञ्चिदाहाराद्यभिष्वङ्गवान्, नोसंज्ञोपयुक्तस्तु आहाराद्युपभोगेऽपि तत्रानभिष्वक्तः, तत्र पुलाकनिर्ग्रन्थस्नातका नोसंज्ञोपयुक्ता भवन्त्याहारादिष्वनभिष्वङ्गा एव, ननु निर्ग्रन्थस्नातकावेवं युक्तौ वीतरागत्वात्, न तु पुलाकः, सरागत्वात्, नैवं, नहि सरागत्वे निरभिष्वङ्गता सर्वथा नास्तीति वक्तुं शक्यते, बकुशादीनां सरागत्वेऽपि निःसङ्गताया अपि प्रतिपादितत्वात्, चूर्णिकारस्त्वाह–‘नोसन्ना नाणसण्ण’त्ति, तत्र च पुलाकनिर्ग्रन्थस्नातका नोसंज्ञोपयुक्ता–ज्ञानप्रधानोपयोगवन्तो, न पुनराहारादिसंज्ञोपयुक्ताः; बकुशादयस्तूभयथापि तथाविधसंयमस्थानस्वभावादिति। आहारकद्वारे–‘आहारए होज्ज’त्ति (सू. ७७६) पुलाकादिनिर्ग्रन्थानां विग्रहत्यादीनामनाहारकत्वकारणानामभावादाहारकत्वमेव, ‘सिणायए’त्ति स्नातकः, केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वयोग्यवस्थायां चानाहारकः स्यात्, ततोऽन्यत्र पुनराहारकः। भवद्वारे–‘पुलाए णं’ति (सू.७७७) पुलाको जघन्यत एकस्मिन् भवग्रहणे भूत्वा कषायकुशीलादिकसंयतत्वान्तरमेकशोऽनेकशो वा तत्रैव भवे भवान्तरे वाऽवाप्य सिध्यति, उत्कृष्टतस्तु देवादिभवान्तरितान् त्रीन् भवान् पुलाकत्वमवाप्य सिध्यति, ‘बउसे’त्यादि, इह कश्चिदेकत्र भवे बकुशत्वमवाप्य कषायकुशीलत्वादेव सिध्यति, कश्चित्त्वेकत्रैव बकुशत्वमवाप्य भवान्तरेषु तदनवाप्यैव सिध्यति, अत उच्यते ‘जहण्णेणं एक्कं भवग्गहणं’ति, ‘उक्कोसेणं अट्ठ’त्ति किलाष्टौ भवग्रहणान्युत्कृष्टतया चरणमात्रमवाप्यते, तत्र कश्चित्तान्यष्टौ बकुशतया पर्यन्तिमभवे सकषायत्वा-

२५ श० ६ उद्देशः

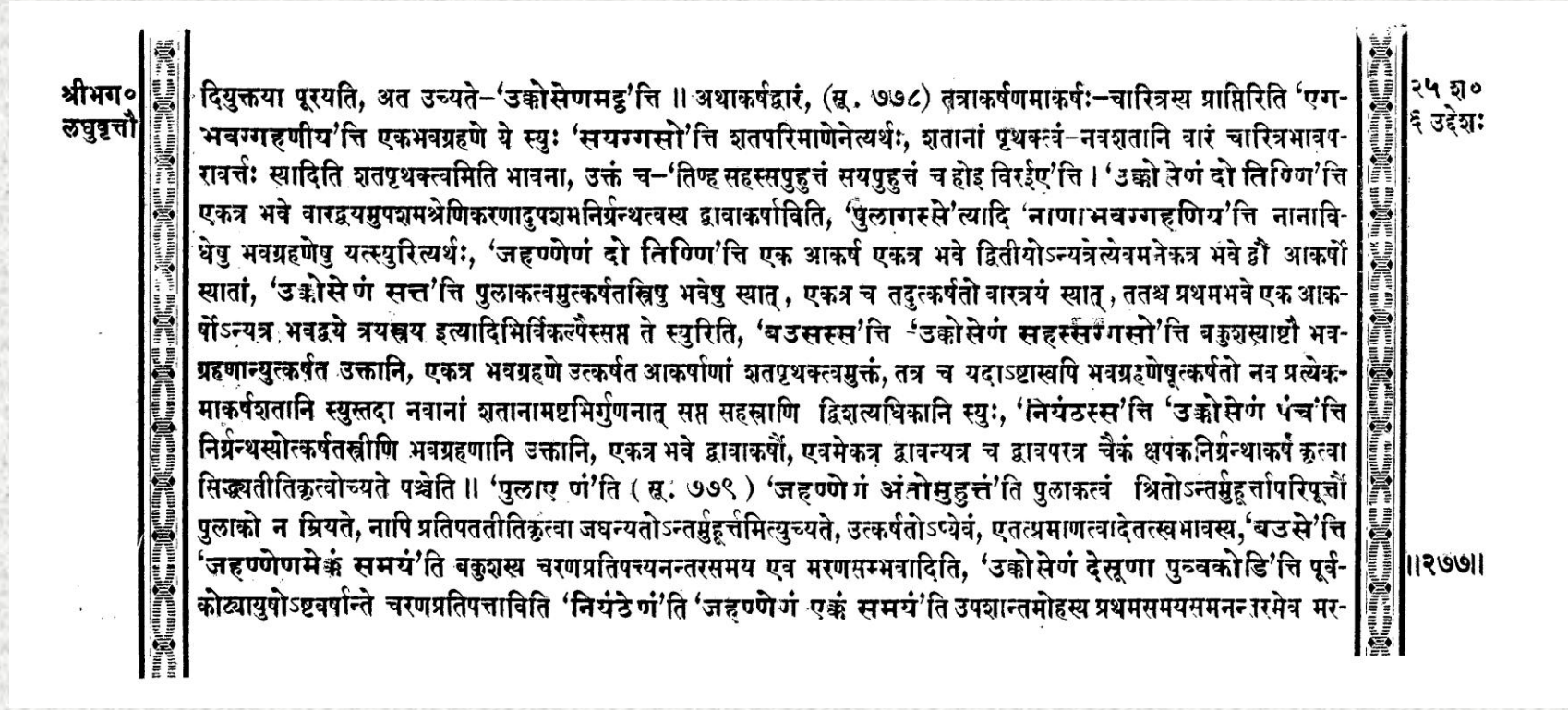

श्रीभग० लघुवृत्तौ

दियुक्तया पूरयति, अत उच्यते–‘उक्कोसेणमट्ठ’त्ति ॥ अथाकर्षद्वारं, (सू. ७७८) तत्राकर्षणमाकर्षः–चारित्रस्य प्राप्तिरिति ‘एग-भवग्गहणीय’त्ति एकभवग्रहणे ये स्युः ‘सयग्गसो’त्ति शतपरिमाणेनेत्यर्थः, शतानां पृथक्त्वं–नवशतानि वारं चारित्रभावप-रावर्त्तः स्यादिति शतपृथक्त्वमिति भावना, उक्तं च–‘तिण्ह सहस्सपुहुत्तं सयपुहुत्तं च होइ विरईए’त्ति । ‘उक्को सेणं दो तिण्णि’त्ति एकत्र भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणादुपशमनिर्ग्रन्थत्वस्य द्वावाकर्षाविति, ‘पुलागस्से’त्यादि ‘नाणाभवग्गहणिय’त्ति नानावि-धेषु भवग्रहणेषु यत्स्युरित्यर्थः, ‘जहण्णेणं दो तिण्णि’त्ति एक आकर्ष एकत्र भवे द्वितीयोऽन्यत्रेत्येवमनेकत्र भवे द्वौ आकर्षौ स्यातां, ‘उक्कोसेणं सत्त’त्ति पुलाकत्वमुत्कर्षतस्त्रिषु भवेषु स्यात्, एकत्र च तदुत्कर्षतो वारत्रयं स्यात्, ततश्च प्रथमभवे एक आक-र्षोऽन्यत्र भवद्वये त्रयस्त्रय इत्यादिभिर्विकल्पैस्सप्त ते स्युरिति, ‘बउसस्स’त्ति ‘उक्कोसेणं सहस्सग्गसो’त्ति बकुशस्याष्टौ भव-ग्रहणान्युत्कर्षत उक्तानि, एकत्र भवग्रहणे उत्कर्षत आकर्षाणां शतपृथक्त्वमुक्तं, तत्र च यदाऽष्टास्वपि भवग्रहणेष्वुत्कर्षतो नव प्रत्येक-माकर्षशतानि स्युस्तदा नवानां शतानामष्टभिर्गुणनात् सप्त सहस्राणि द्विशत्यधिकानि स्युः, ‘नियंठस्स’त्ति ‘उक्कोसेणं पंच’त्ति निर्ग्रन्थस्योत्कर्षतस्त्रीणि भवग्रहणानि उक्तानि, एकत्र भवे द्वावाकर्षौ, एवमेकत्र द्वावन्यत्र च द्वावपरत्र चैकं क्षपकनिर्ग्रन्थाकर्षं कृत्वा सिद्ध्यतीतिकृत्वोच्यते पञ्चेति ॥ ‘पुलाए णं’ति (सू. ७७९) ‘जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं’ति पुलाकत्वं श्रितोऽन्तर्मुहूर्त्तापरिपूर्त्तौ पुलाको न म्रियते, नापि प्रतिपततीतिकृत्वा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमित्युच्यते, उत्कर्षतोऽप्येवं, एतत्प्रमाणत्वादेतत्स्वभावस्य, ‘बउसे’त्ति ‘जहण्णेणमेक्कं समयं’ति बकुशस्य चरणप्रतिपत्त्यनन्तरसमय एव मरणसम्भवादिति, ‘उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडि’त्ति पूर्व-कोट्यायुषोऽष्टवर्षान्ते चरणप्रतिपत्ताविति ‘नियंठे णं’ति ‘जहण्णेणं एक्कं समयं’ति उपशान्तमोहस्य प्रथमसमयसमनन्तरमेव मर-

२५ श० ६ उद्देशः

॥२७७॥

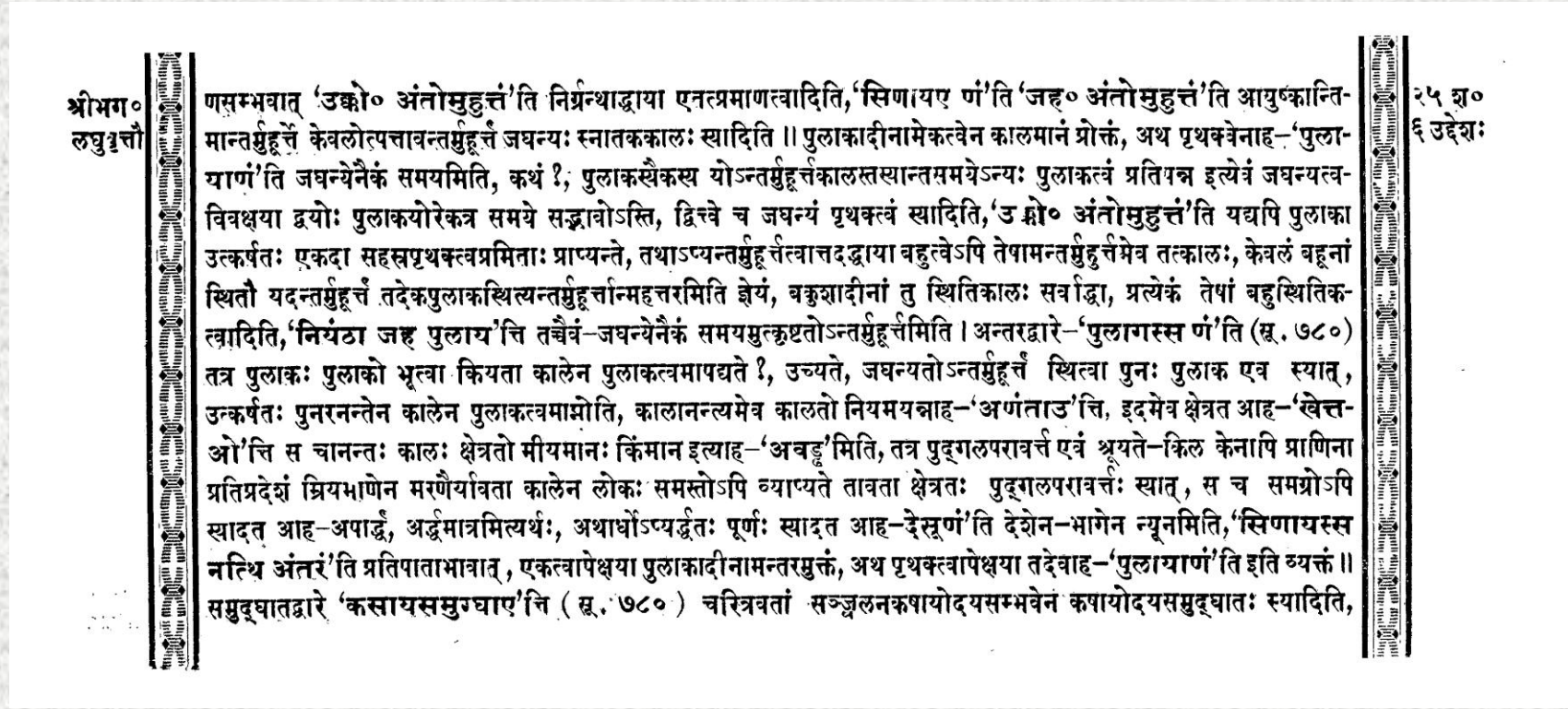

श्रीभग० लघुवृत्तौ

णसम्भवात् 'उक्को० अंतोमुहुत्तं'ति निर्ग्रन्थाद्धाया एतत्प्रमाणत्वादिति,'सिणायए णं'ति 'जह० अंतोमुहुत्तं'ति आयुष्कान्ति-मान्तर्मुहूर्त्तं केवलोत्पत्तावन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यः स्नातककालः स्यादिति ॥ पुलाकादीनामेकत्वेन कालमानं प्रोक्तं, अथ पृथक्त्वेनाह–'पुला-याणं'ति जघन्येनैकं समयमिति, कथं ?, पुलाकस्यैकस्य योऽन्तर्मुहूर्त्तकालस्तस्यान्तसमयेऽन्यः पुलाकत्वं प्रतिपन्न इत्येवं जघन्यत्व-विवक्षया द्वयोः पुलाकयोरेकत्र समये सद्भावोऽस्ति, द्वित्वे च जघन्यं पृथक्त्वं स्यादिति,'उक्को० अंतोमुहुत्तं'ति यद्यपि पुलाका उत्कर्षतः एकदा सहस्रपृथक्त्वप्रमिताः प्राप्यन्ते, तथाऽप्यन्तर्मुहूर्त्तत्वात्तद्दद्धाया बहुत्वेऽपि तेषामन्तर्मुहुर्त्तमेव तत्कालः, केवलं बहूनां स्थितौ यदन्तर्मुहूर्त्तं तदेकपुलाकस्थित्यन्तर्मुहूर्त्तान्महत्तरमिति ज्ञेयं, बकुशादीनां तु स्थितिकालः सर्वाद्धा, प्रत्येकं तेषां बहुस्थितिक-त्वादिति,'नियंठा जह पुलाय'त्ति तच्चैवं–जघन्येनैकं समयमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति । अन्तरद्वारे–'पुलागस्स णं'ति (सू. ७८०) तत्र पुलाकः पुलाको भूत्वा कियता कालेन पुलाकत्वमापद्यते ?, उच्यते, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनः पुलाक एव स्यात्, उत्कर्षतः पुनरनन्तेन कालेन पुलाकत्वमाप्नोति, कालानन्त्यमेव कालतो नियमयन्नाह–'अणंताउ'त्ति, इदमेव क्षेत्रत आह–'खेत्त-ओ'त्ति स चानन्तः कालः क्षेत्रतो मीयमानः किंमान इत्याह–'अवड्ढ'मिति, तत्र पुद्गलपरावर्त्तं एवं श्रूयते–किल केनापि प्राणिना प्रतिप्रदेशं म्रियमाणेन मरणैर्यावता कालेन लोकः समस्तोऽपि व्याप्यते तावता क्षेत्रतः पुद्गलपरावर्त्तः स्यात्, स च समग्रोऽपि स्यादत आह–अपार्द्धं, अर्द्धमात्रमित्यर्थः, अथार्धोऽप्यर्द्धतः पूर्णः स्यादत आह–देसूणं'ति देशेन–भागेन न्यूनमिति,'सिणायस्स नत्थि अंतरं'ति प्रतिपाताभावात्, एकत्वापेक्षया पुलाकादीनामन्तरमुक्तं, अथ पृथक्त्वापेक्षया तदेवाह–'पुलायाणं'ति इति व्यक्तं ॥ समुद्घातद्वारे 'कसायसमुग्घाए'त्ति (सू. ७८०) चरित्रवतां सञ्ज्वलनकषायोदयसम्भवेन कषायोदयसमुद्घातः स्यादिति,

२५ श० ६ उद्देशः

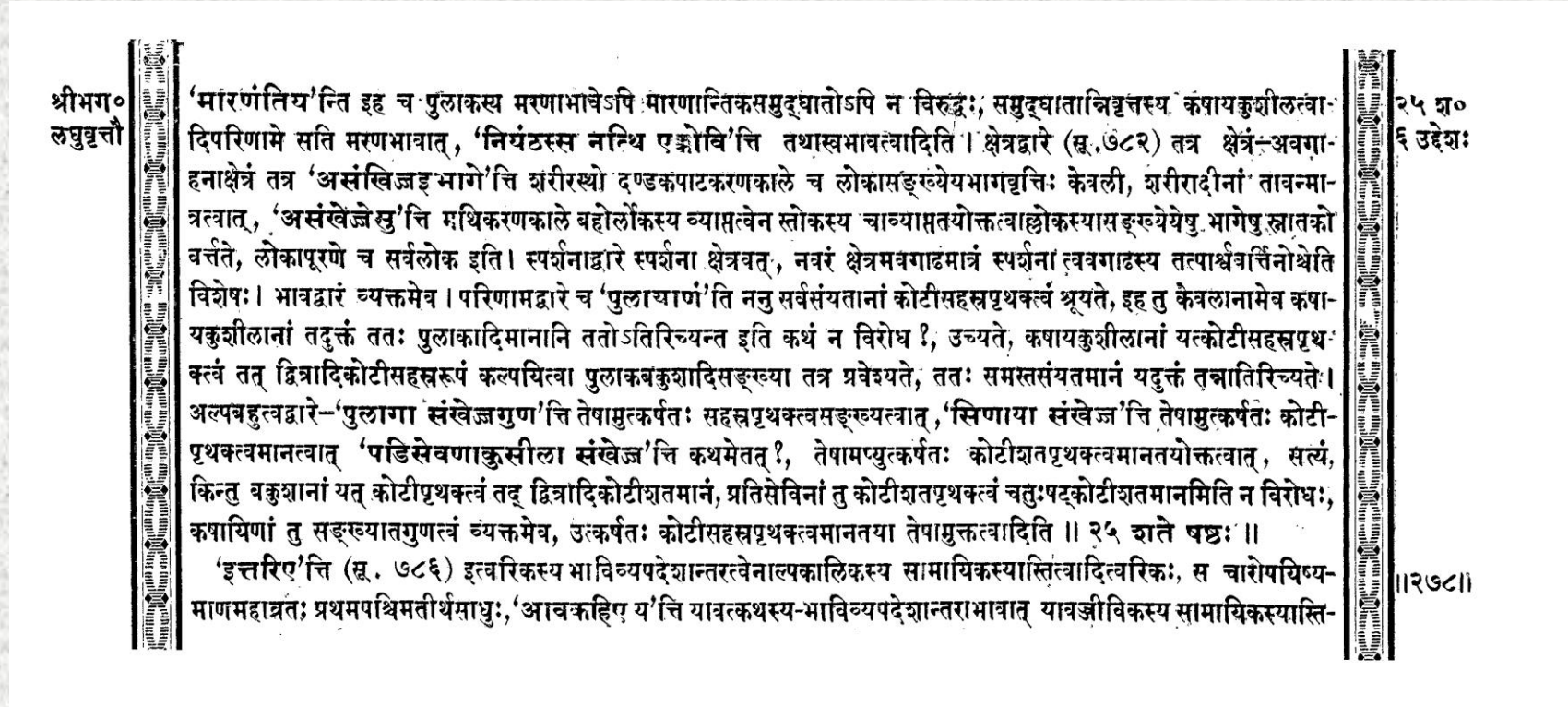

श्रीभग० लघुवृत्तौ

‘मारणंतिय’न्ति इह च पुलाकस्य मरणाभावेऽपि मारणान्तिकसमुद्घातोऽपि न विरुद्धः, समुद्घातान्निवृत्तस्य कषायकुशीलत्वादिपरिणामे सति मरणभावात्, ‘नियंठस्स नन्थि एक्कोवि’त्ति तथास्वभावत्वादिति। क्षेत्रद्वारे (सू. ७८२) तत्र क्षेत्रं-अवगाहनाक्षेत्रं तत्र ‘असंखिज्जइभागे’त्ति शरीरस्थो दण्डकपाटकरणकाले च लोकासङ्ख्येयभागवृत्तिः केवली, शरीरादीनां तावन्मात्रत्वात्, ‘असंखेज्जेसु’त्ति मथिकरणकाले बहोर्लोकस्य व्याप्तत्वेन स्तोकस्य चाव्याप्ततयोक्तत्वाल्लोकस्यासङ्ख्येयेषु भागेषु स्नातको वर्त्तते, लोकापूरणे च सर्वलोक इति। स्पर्शनाद्वारे स्पर्शना क्षेत्रवत्, नवरं क्षेत्रमवगाढमात्रं स्पर्शना त्ववगाढस्य तत्पार्श्ववर्त्तिनोश्चेति विशेषः। भावद्वारं व्यक्तमेव। परिणामद्वारे च ‘पुलायाणं’ति ननु सर्वसंयतानां कोटीसहस्रपृथक्त्वं श्रूयते, इह तु केवलानामेव कषायकुशीलानां तदुक्तं ततः पुलाकादिमानानि ततोऽतिरिच्यन्त इति कथं न विरोध?, उच्यते, कषायकुशीलानां यत्कोटीसहस्रपृथक्त्वं तत् द्वित्रादिकोटीसहस्ररूपं कल्पयित्वा पुलाकबकुशादिसङ्ख्या तत्र प्रवेश्यते, ततः समस्तसंयतमानं यदुक्तं तन्नातिरिच्यते। अल्पबहुत्वद्वारे-‘पुलागा संखेज्जगुण’त्ति तेषामुत्कर्षतः सहस्रपृथक्त्वसङ्ख्यत्वात्, ‘सिणाया संखेज्ज’त्ति तेषामुत्कर्षतः कोटीपृथक्त्वमानत्वात् ‘पडिसेवणाकुसीला संखेज्ज’त्ति कथमेतत्?, तेषामप्युत्कर्षतः कोटीशतपृथक्त्वमानतयोक्तत्वात्, सत्यं, किन्तु बकुशानां यत् कोटीपृथक्त्वं तद् द्वित्रादिकोटीशतमानं, प्रतिसेविनां तु कोटीशतपृथक्त्वं चतुःषट्कोटीशतमानमिति न विरोधः, कषायिणां तु सङ्ख्यातगुणत्वं व्यक्तमेव, उत्कर्षतः कोटीसहस्रपृथक्त्वमानतया तेषामुक्तत्वादिति ॥ २५ शते षष्ठः ॥

‘इत्तरिए’त्ति (सू. ७८६) इत्वरिकस्य भाविव्यपदेशान्तरत्वेनाल्पकालिकस्य सामायिकस्यास्तित्वादित्वरिकः, स चारोपयिष्यमाणमहाव्रतः प्रथमपश्चिमतीर्थसाधुः, ‘आवकहिए य’त्ति यावत्कथस्य-भाविव्यपदेशान्तराभावात् यावज्जीविकस्य सामायिकस्यास्ति-

२५ श० ६ उद्देशः

॥२७८॥

त्वाद्यावत्कथिकः, स च मध्यमजिनमहाविदेहजिनसत्कसाधुः, 'साइयारे'त्ति सातिचारस्य यदारोप्यते तत्सातिचारमेव छेदोपस्थापनीयं, तद्योगात् साधुरपि सातिचार एव, एवं निरतिचारच्छेदोपस्थापनीययोगान्निरतिचारः, स च विनेयः, पार्श्वनाथतीर्थात् वीरतीर्थसङ्क्रान्तौ वा, छेदोपस्थापनीयसाधुश्च प्रथमपश्चिमतीर्थयोरेव स्यादिति। 'निव्विसमाणे'त्ति परिहारितपस्तपस्यन् 'निव्विट्ठकाइए'त्ति, निर्विशमानकानुचरका इत्यर्थः,'संकिलिस्समाणए'त्ति उपशमश्रेणीतः प्रच्यवमानः,'विसुज्झमाणए'त्ति उपशमश्रेणीं क्षपकश्रेणीं वा समारोहन्, 'छउमत्थे केवली य'त्ति व्यक्तं। अथ सामायिकसंयतादीनां स्वरूपं गाथाभिराह–'सामाइयंमि उ'गाहा (*९८) कण्ठ्या,'छेदोवट्ठावणे'त्ति (*९९) छेदेन–पूर्वपर्यायच्छेदेनोपस्थानं व्रतेषु यत्र तच्छेदोपस्थापनं यद्योगात् छेदोपस्थानः, स च सातिचार इतरश्च स्यात्,'परिहरइ' गाहा (*१००) परिहरति–निर्विशमानकादिभेदं तप आसेवते यः साधुः। 'लोभाणु०' (*१०१) लोभाणून्–लोभलक्षणकषायसूक्ष्मकिट्टिकाः वेदयन् यो वर्त्तते 'उवसंते'गाहा (*१०२) उपशान्ते मोहनीयकर्मणि यः छद्मस्थः क्षीणे वा यः छद्मस्थो जिनो वा वर्त्तते स यथाख्यातसंयम इति। वेदद्वारे (सू. ७८७) सामायिकसंयतः अवेदकोऽपि स्यात्, नवमगुणस्थानके हि वेदस्योपशमः क्षयो वा स्यात्, नवमगुणस्थानकं यावत् सामायिकसंयतो व्यपदिश्यते, सामायिकसंयतस्यवेदस्त्रिवेदोऽप्यवेदश्च स्यात्, अवेदस्तु क्षीणोपशान्तवेद इत्यर्थः, 'परिहारविसुद्धी य'त्ति पुरुषवेदो वा पुरुषनपुंसकवेदो वा स्यादिति,'सुहुमसंपराए'त्ति क्षीणोपशान्तवेदत्वेनावेद इत्यर्थः,एवमन्यान्यपि अतिदेशसूत्राण्यनन्तरोद्देशकानुसारेण स्वयं ज्ञेयानि। कल्पद्वारे 'अट्ठियकप्पे'त्ति अस्थितकल्पो हि मध्यमजिनमहाविदेहजिनतीर्थेषु स्यात्, तत्र छेदोपस्थापनीयं नास्ति. चारित्रद्वारमाश्रित्येदमुक्तं। 'सामाइयसंजए णं भंते! किं पुलाए'इत्यादि (सू. ७८८) पुलाकादिपरिणामस्य चारि-

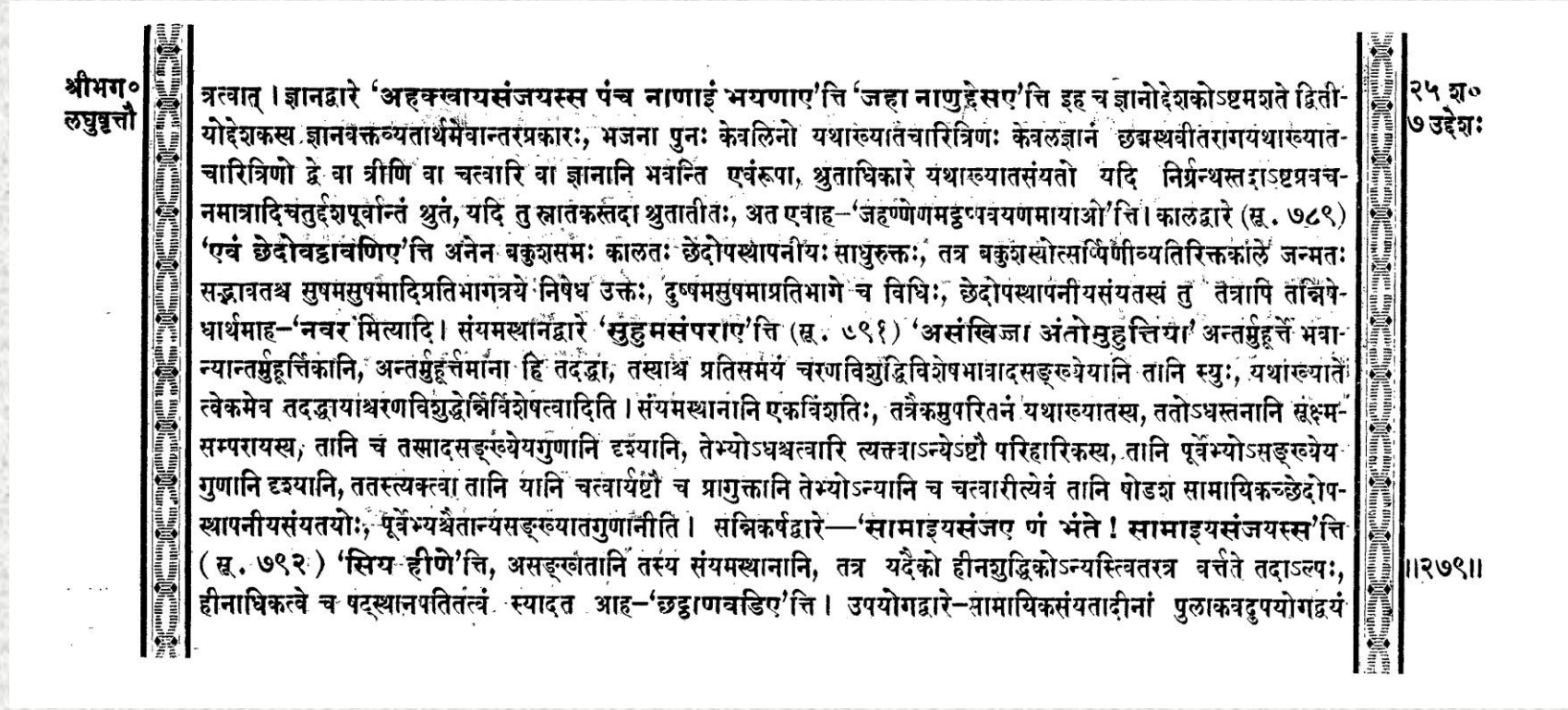

श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्वात् । ज्ञानद्वारे 'अहक्खायसंजयस्स पंच नाणाइं भयणाए'त्ति 'जहा नाणुद्देसए'त्ति इह च ज्ञानोद्देशकोऽष्टमशते द्वितीयोद्देशकस्य ज्ञानवक्तव्यतार्थमेवान्तरप्रकारः, भजना पुनः केवलिनो यथाख्यातचारित्रिणः केवलज्ञानं छद्मस्थवीतरागयथाख्यातचारित्रिणो द्वे वा त्रीणि वा चत्वारि वा ज्ञानानि भवन्ति एवंरूपा, श्रुताधिकारे यथाख्यातसंयतो यदि निर्ग्रन्थस्तदाऽष्टप्रवचनमात्रादिचतुर्दशपूर्वान्तं श्रुतं, यदि तु स्नातकस्तदा श्रुतातीतः, अत एवाह–'जहण्णेणमट्ठपवयणमायाओ'त्ति। कालद्वारे (सू. ७८९) 'एवं छेदोवट्ठावणिए'त्ति अनेन बकुशसमः कालतः छेदोपस्थापनीयः साधुरुक्तः, तत्र बकुशस्योत्सर्पिणीव्यतिरिक्तकाले जन्मतः सद्भावतश्च सुषमसुषमादिप्रतिभागत्रये निषेध उक्तः, दुष्षमसुषमाप्रतिभागे च विधिः, छेदोपस्थापनीयसंयतस्य तु तत्रापि तन्निषेधार्थमाह–'नवर मित्यादि। संयमस्थानद्वारे 'सुहुमसंपराए'त्ति (सू. ७९१) 'असंखिज्जा अंतोमुहुत्तिया' अन्तर्मुहूर्त्ते भवान्यान्तर्मुहूर्त्तिकानि, अन्तर्मुहूर्त्तमाना हि तद्भवा, तस्माच्च प्रतिसमयं चरणविशुद्धिविशेषभावादसङ्ख्येयानि तानि स्युः, यथाख्यातं त्वेकमेव तद्भवायाश्चरणविशुद्धेर्निर्विशेषत्वादिति। संयमस्थानानि एकविंशतिः, तत्रैकमुपरितनं यथाख्यातस्य, ततोऽधस्तनानि सूक्ष्मसम्परायस्य, तानि च तस्मादसङ्ख्येयगुणानि दृश्यानि, तेभ्योऽधश्चत्वारि त्यक्त्वाऽन्येऽष्टौ परिहारिकस्य, तानि पूर्वेभ्योऽसङ्ख्येयगुणानि दृश्यानि, ततस्त्यक्त्वा तानि यानि चत्वार्यष्टौ च प्रागुक्तानि तेभ्योऽन्यानि च चत्वारीत्येवं तानि षोडश सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयतयोः, पूर्वेभ्यश्चैतान्यसङ्ख्यातगुणानीति। सन्निकर्षद्वारे—'सामाइयसंजए णं भंते! सामाइयसंजयस्स'त्ति (सू. ७९२) 'सिय हीणे'त्ति, असङ्खेयानि तस्य संयमस्थानानि, तत्र यदैको हीनशुद्धिकोऽन्यस्त्वितरत्र वर्त्तते तदाऽल्पः, हीनाधिकत्वे च षट्स्थानपतितत्वं स्यादत आह–'छट्ठाणवडिए'त्ति। उपयोगद्वारे–सामायिकसंयतादीनां पुलाकवदुपयोगद्वयं

२५ श० ७ उद्देशः

॥२७९॥

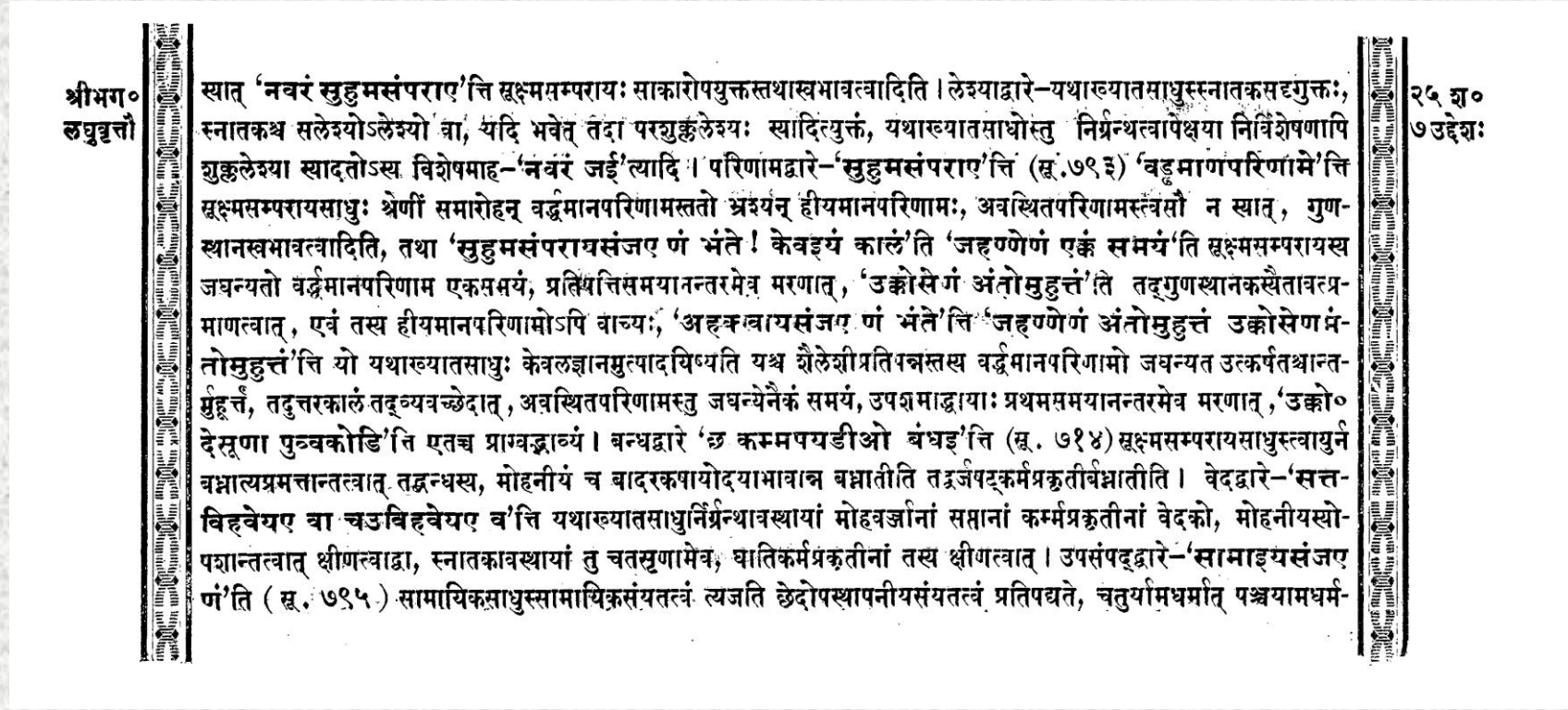

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्यात् 'नवरं सुहुमसंपराए'त्ति सूक्ष्मसम्परायः साकारोपयुक्तस्तथास्वभावत्वादिति। लेश्याद्वारे–यथाख्यातसाधुस्नातकसद्भुक्तः, स्नातकश्च सलेश्योऽलेश्यो वा, यदि भवेत् तदा परशुक्ललेश्यः स्यादित्युक्तं, यथाख्यातसाधोस्तु निर्ग्रन्थत्वापेक्षया निर्विशेषणापि शुक्ललेश्या स्यादतोऽस्य विशेषमाह–'नवरं जई'त्यादि। परिणामद्वारे–'सुहुमसंपराए'त्ति (सू.७९३) 'वड्ढमाणपरिणामे'त्ति सूक्ष्मसम्परायसाधुः श्रेणीं समारोहन् वर्द्धमानपरिणामस्ततो भ्रश्यन् हीयमानपरिणामः, अवस्थितपरिणामस्त्वसौ न स्यात्, गुणस्थानस्वभावत्वादिति, तथा 'सुहुमसंपरायसंजए णं भंते! केवइयं कालं'ति 'जहण्णेणं एक्कं समयं'ति सूक्ष्मसम्परायस्य जघन्यतो वर्द्धमानपरिणाम एकसमयं, प्रतिपत्तिसमयानन्तरमेव मरणात्, 'उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं'ति तद्गुणस्थानकस्यैतावत्प्रमाणत्वात्, एवं तस्य हीयमानपरिणामोऽपि वाच्यः, 'अहक्खायसंजए णं भंते'त्ति 'जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं'ति यो यथाख्यातसाधुः केवलज्ञानमुत्पादयिष्यति यश्च शैलेशीप्रतिपन्नस्तस्य वर्द्धमानपरिणामो जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तं, तदुत्तरकालं तद्व्यवच्छेदात्, अवस्थितपरिणामस्तु जघन्येनैकं समयं, उपशमाद्धायाः प्रथमसमयानन्तरमेव मरणात्,'उक्को० देसूणा पुव्वकोडि'त्ति एतच्च प्राग्वद्भावनीयं। बन्धद्वारे 'छ कम्मपयडीओ बंधइ'त्ति (सू. ७१४) सूक्ष्मसम्परायसाधुस्त्वायुर्न बध्नात्यप्रमत्तान्तत्वात् तद्बन्धस्य, मोहनीयं च बादरकषायोदयाभावान्न बध्नातीति तद्वर्जषट्कर्मप्रकृतीर्बध्नातीति। वेदद्वारे–'सत्तविहवेयए वा चउविहवेयए व'त्ति यथाख्यातसाधुर्निर्ग्रन्थावस्थायां मोहवर्जानां सप्तानां कर्म्मप्रकृतीनां वेदको, मोहनीयस्योपशान्तत्वात् क्षीणत्वाद्वा, स्नातकावस्थायां तु चतसृणामेव, घातिकर्मप्रकृतीनां तस्य क्षीणत्वात्। उपसंपद्द्वारे–'सामाइयसंजए णं'ति (सू. ७९५) सामायिकसाधुस्सामायिकसंयतत्वं त्यजति छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं प्रतिपद्यते, चतुर्यामधर्मात् पञ्चयामधर्म-

२५ श० ७ उद्देशः

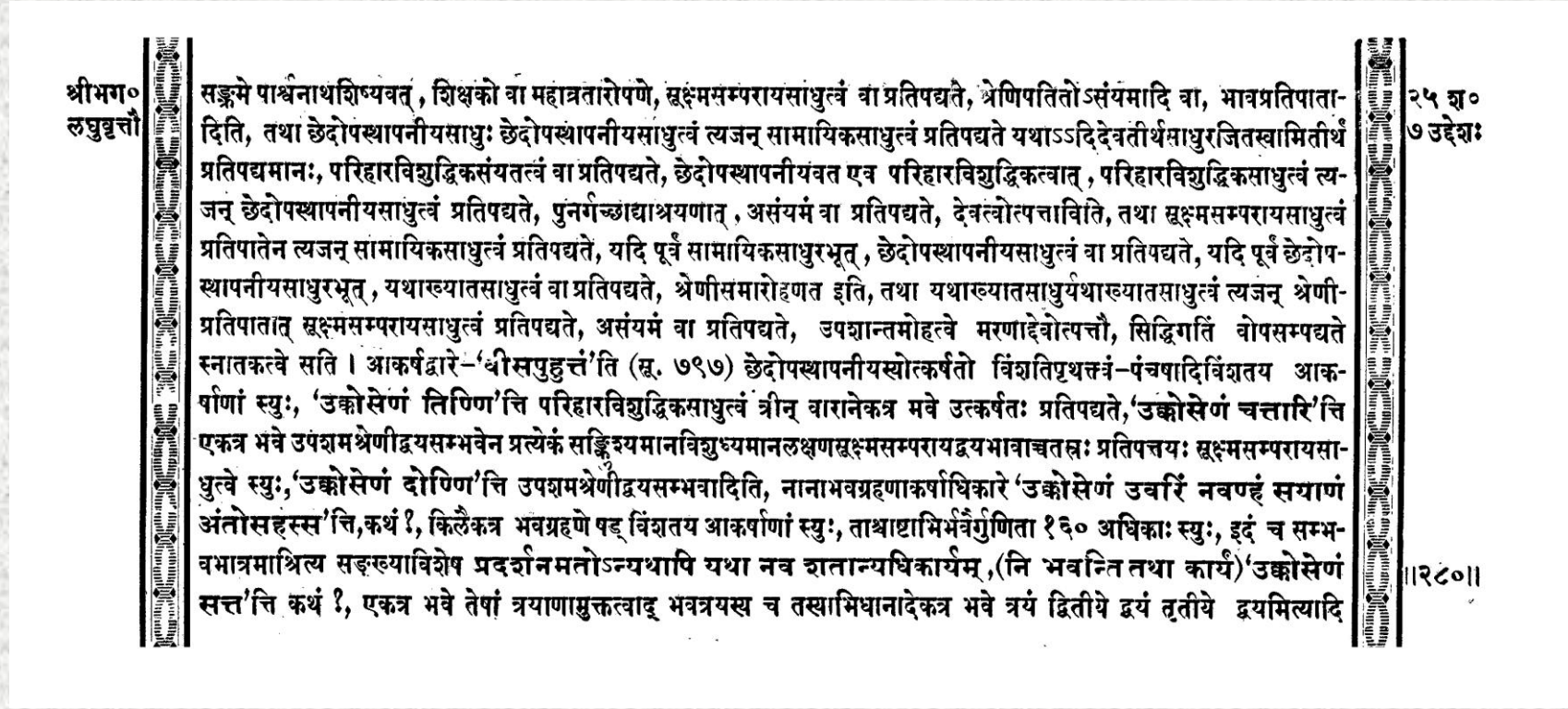

श्रीभग० लघुवृत्तौ

सङ्क्रमे पार्श्वनाथशिष्यवत्, शिक्षको वा महाव्रतारोपणे, सूक्ष्मसम्परायसाधुत्वं वा प्रतिपद्यते, श्रेणिपतितोऽसंयमादि वा, भावप्रतिपातादिति, तथा छेदोपस्थापनीयसाधुः छेदोपस्थापनीयसाधुत्वं त्यजन् सामायिकसाधुत्वं प्रतिपद्यते यथाऽऽदिदेवतीर्थसाधुरजितस्वामितीर्थं प्रतिपद्यमानः, परिहारविशुद्धिकसंयतत्वं वा प्रतिपद्यते, छेदोपस्थापनीयवत एव परिहारविशुद्धिकत्वात्, परिहारविशुद्धिकसाधुत्वं त्यजन् छेदोपस्थापनीयसाधुत्वं प्रतिपद्यते, पुनर्गच्छाद्याश्रयणात्, असंयमं वा प्रतिपद्यते, देवत्वोत्पत्ताविति, तथा सूक्ष्मसम्परायसाधुत्वं प्रतिपातेन त्यजन् सामायिकसाधुत्वं प्रतिपद्यते, यदि पूर्वं सामायिकसाधुरभूत्, छेदोपस्थापनीयसाधुत्वं वा प्रतिपद्यते, यदि पूर्वं छेदोपस्थापनीयसाधुरभूत्, यथाख्यातसाधुत्वं वा प्रतिपद्यते, श्रेणीसमारोहणत इति, तथा यथाख्यातसाधुर्यथाख्यातसाधुत्वं त्यजन् श्रेणीप्रतिपातात् सूक्ष्मसम्परायसाधुत्वं प्रतिपद्यते, असंयमं वा प्रतिपद्यते, उपशान्तमोहत्वे मरणादेवोत्पत्तौ, सिद्धिगतिं वोपसम्पद्यते स्नातकत्वे सति। आकर्षद्वारे-'वीसपुहुत्तं'ति (सू. ७९७) छेदोपस्थापनीयस्योत्कर्षतो विंशतिपृथक्त्वं-पंचषादिविंशतय आकर्षाणां स्युः, 'उक्कोसेणं तिण्णि'त्ति परिहारविशुद्धिकसाधुत्वं त्रीन् वारानेकत्र भवे उत्कर्षतः प्रतिपद्यते,'उक्कोसेणं चत्तारि'त्ति एकत्र भवे उपशमश्रेणीद्वयसम्भवेन प्रत्येकं सङ्क्लिश्यमानविशुध्यमानलक्षणसूक्ष्मसम्परायद्वयभावाच्चतस्रः प्रतिपत्तयः सूक्ष्मसम्परायसाधुत्वे स्युः,'उक्कोसेणं दोण्णि'त्ति उपशमश्रेणीद्वयसम्भवादिति, नानाभवग्रहणाकर्षाधिकारे 'उक्कोसेणं उवरिं नवण्हं सयाणं अंतोसहस्स'त्ति,कथं ?, किलैकत्र भवग्रहणे षड् विंशतय आकर्षाणां स्युः, ताश्चाष्टाभिर्भवैर्गुणिता १६० अधिकाः स्युः, इदं च सम्भवमात्रमाश्रित्य सङ्ख्याविशेष प्रदर्शनमतोऽन्यथापि यथा नव शतान्यधिकार्यम्,(नि भवन्ति तथा कार्यं)'उक्कोसेणं सत्त'त्ति कथं ?, एकत्र भवे तेषां त्रयाणामुक्तत्वाद् भवत्रयस्य च तस्याभिधानादेकत्र भवे त्रयं द्वितीये द्वयं तृतीये द्वयमित्यादि

२५ श० ७ उद्देशः

॥२८०॥

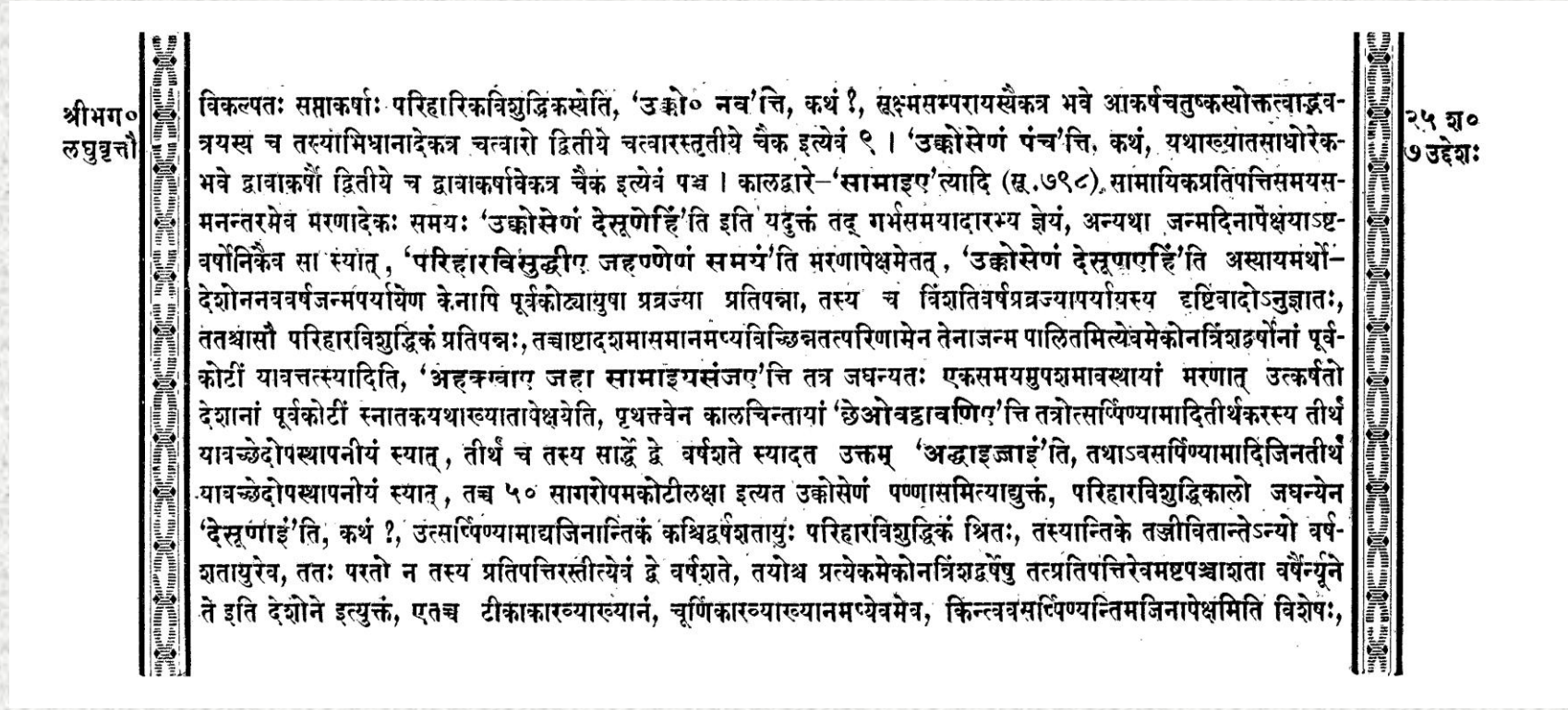

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विकल्पतः सप्ताकर्षाः परिहारिकविशुद्धिकस्येति, 'उक्को० नव'त्ति, कथं ?, सूक्ष्मसम्परायस्यैकत्र भवे आकर्षचतुष्कस्योक्तत्वाद्भवत्रयस्य च तस्यामिधानादेकत्र चत्वारो द्वितीये चत्वारस्तृतीये चैक इत्येवं ९ । 'उक्कोसेणं पंच'त्ति, कथं, यथाख्यातसाधोरेकभवे द्वावाकर्षौ द्वितीये च द्वावाकर्षावेकत्र चैक इत्येवं पञ्च । कालद्वारे–'सामाइए'त्यादि (सू.७९८), सामायिकप्रतिपत्तिसमयसमनन्तरमेव मरणादेकः समयः 'उक्कोसेणं देसूणेहिं'ति इति यदुक्तं तद् गर्भसमयादारभ्य ज्ञेयं, अन्यथा जन्मदिनापेक्षयाऽष्टवर्षोनिकैव सा स्यात्, 'परिहारविसुद्धीए जहण्णेणं समयं'ति मरणापेक्षमेतत्, 'उक्कोसेणं देसूणएहिं'ति अस्यायमर्थो–देशोननववर्षजन्मपर्यायेण केनापि पूर्वकोट्यायुषा प्रव्रज्या प्रतिपन्ना, तस्य च विंशतिवर्षप्रव्रज्यापर्यायस्य दृष्टिवादोऽनुज्ञातः, ततश्चासौ परिहारविशुद्धिकं प्रतिपन्नः, तच्चाष्टादशमासमानमप्यविच्छिन्नतत्परिणामेन तेनाजन्म पालितमित्येवमेकोनत्रिंशद्वर्षोनां पूर्वकोटीं यावत्तत्स्यादिति, 'अहक्खाए जहा सामाइयसंजए'त्ति तत्र जघन्यतः एकसमयमुपशमावस्थायां मरणात् उत्कर्षतो देशानां पूर्वकोटीं स्नातकयथाख्यातापेक्षयेति, पृथक्त्वेन कालचिन्तायां 'छेओवट्ठावणिए'त्ति तत्रोत्सर्पिण्यामादितीर्थकरस्य तीर्थं यावच्छेदोपस्थापनीयं स्यात्, तीर्थं च तस्य सार्द्धे द्वे वर्षशते स्यादत उक्तम् 'अद्धाइज्जाइं'ति, तथाऽवसर्पिण्यामादिजिनतीर्थं यावच्छेदोपस्थापनीयं स्यात्, तच्च ५० सागरोपमकोटीलक्षा इत्यत उक्कोसेणं पण्णासमित्याद्युक्तं, परिहारविशुद्धिकालो जघन्येन 'देसूणाइं'ति, कथं ?, उत्सर्पिण्यामाद्यजिनान्तिकं कश्चिद्वर्षशतायुः परिहारविशुद्धिकं श्रितः, तस्यान्तिके तज्जीवितान्तेऽन्यो वर्षशतायुरेव, ततः परतो न तस्य प्रतिपत्तिरस्तीत्येवं द्वे वर्षशते, तयोश्च प्रत्येकमेकोनत्रिंशद्वर्षेषु तत्प्रतिपत्तिरेवमष्टपञ्चाशता वर्षैर्न्यूने ते इति देशोने इत्युक्तं, एतच्च टीकाकारव्याख्यानं, चूर्णिकारव्याख्यानमप्येवमेव, किन्त्ववसर्पिण्यन्तिमजिनापेक्षमिति विशेषः,

२५ श० ७ उद्देशः

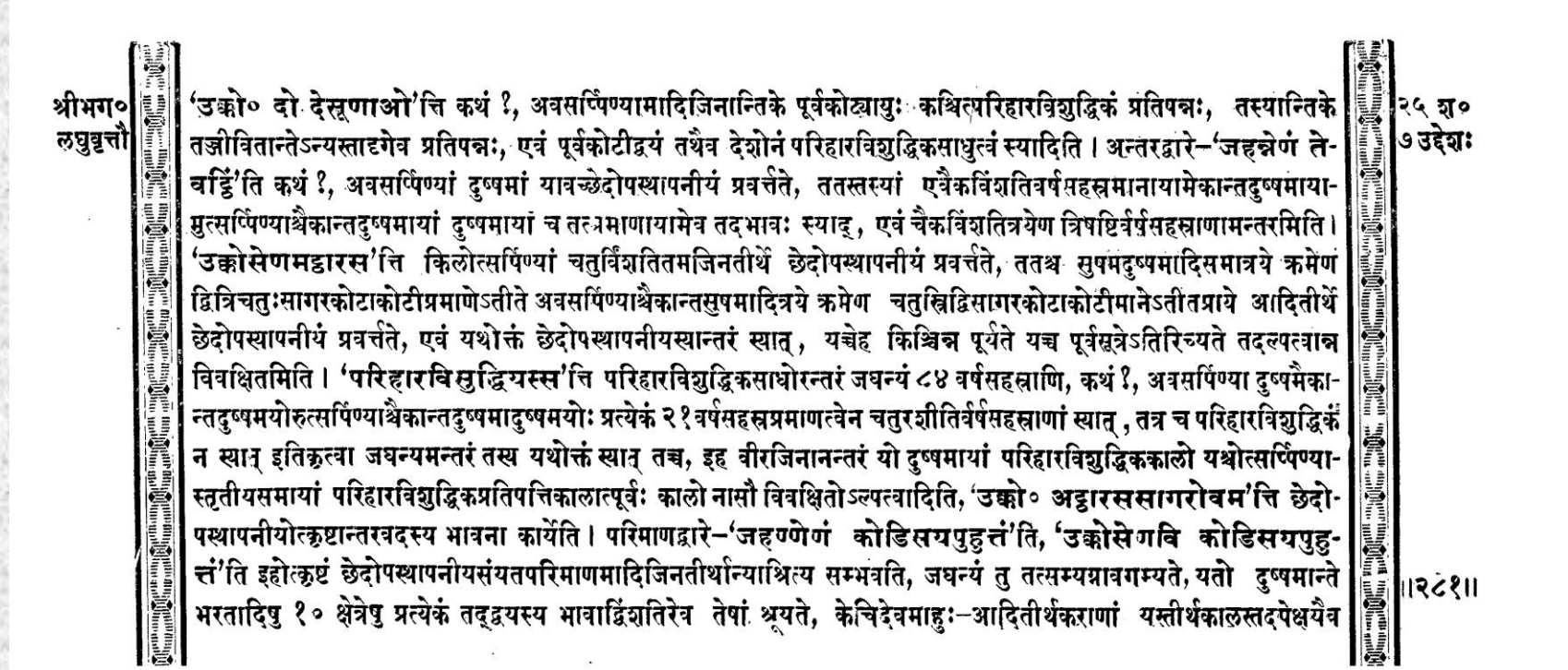

श्रीभग० लघुवृत्तौ

‘उक्को० दो देसूणाओ’त्ति कथं ?, अवसर्प्पिण्यामादिजिनान्तिके पूर्वकोट्यायुः कश्चित्परिहारविशुद्धिकं प्रतिपन्नः, तस्यान्तिके तज्जीवितान्तेऽन्यस्तादृगेव प्रतिपन्नः, एवं पूर्वकोटीद्वयं तथैव देशोनं परिहारविशुद्धिकसाधुत्वं स्यादिति । अन्तरद्वारे–‘जहन्नेणं तेवट्ठिं’ति कथं ?, अवसर्प्पिण्यां दुष्षमां यावच्छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तते, ततस्तस्यां एवैकविंशतिवर्षसहस्रमानायामेकान्तदुष्षमायामुत्सर्प्पिण्याश्चैकान्तदुष्षमायां दुष्षमायां च तत्प्रमाणायामेव तदभावः स्याद्, एवं चैकविंशतित्रयेण त्रिषष्टिर्वर्षसहस्राणामन्तरमिति। ‘उक्कोसेणमट्ठारस’त्ति किलोत्सर्पिण्यां चतुर्विंशतितमजिनतीर्थे छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तते, ततश्च सुषमदुष्षमादिसमात्रये क्रमेण द्वित्रिचतुःसागरकोटाकोटीप्रमाणेऽतीते अवसर्पिण्याश्चैकान्तसुषमादित्रये क्रमेण चतुस्त्रिद्विसागरकोटाकोटीमानेऽतीतप्राये आदितीर्थे छेदोपस्थापनीयं प्रवर्त्तते, एवं यथोक्तं छेदोपस्थापनीयस्यान्तरं स्यात्, यच्चेह किञ्चिन्न पूर्यते यच्च पूर्वसूत्रेऽतिरिच्यते तदल्पत्वान्न विवक्षितमिति। ‘परिहारविसुद्धियस्स’त्ति परिहारविशुद्धिकसाधोरन्तरं जघन्यं ८४ वर्षसहस्राणि, कथं ?, अवसर्पिण्या दुष्षमैकान्तदुष्षमयोरुत्सर्पिण्याश्चैकान्तदुष्षमादुष्षमयोः प्रत्येकं २१ वर्षसहस्रप्रमाणत्वेन चतुरशीतिर्वर्षसहस्राणां स्यात्, तत्र च परिहारविशुद्धिकं न स्यात् इतिकृत्वा जघन्यमन्तरं तस्य यथोक्तं स्यात् तच्च, इह वीरजिनानन्तरं यो दुष्षमायां परिहारविशुद्धिककालो यश्चोत्सर्प्पिण्यास्तृतीयसमायां परिहारविशुद्धिकप्रतिपत्तिकालात्पूर्वः कालो नासौ विवक्षितोऽल्पत्वादिति, ‘उक्को० अट्ठारससागरोवम’त्ति छेदोपस्थापनीयोत्कृष्टान्तरवदस्य भावना कार्येति। परिमाणद्वारे–‘जहण्णेणं कोडिसयपुहुत्तं’ति, ‘उक्कोसेणवि कोडिसयपुहुत्तं’ति इहोत्कृष्टं छेदोपस्थापनीयसंयतपरिमाणमादिजिनतीर्थान्याश्रित्य सम्भवति, जघन्यं तु तत्सम्यग्नावगम्यते, यतो दुष्षमान्ते भरतादिषु १० क्षेत्रेषु प्रत्येकं तद्द्वयस्य भावाद्विंशतिरेव तेषां श्रूयते, केचिदेवमाहुः–आदितीर्थकराणां यस्तीर्थकालस्तदपेक्षयैव

२५ श० ७ उद्देशः

॥२८१॥

ज्ञेयं, कोटीशतपृथक्त्वं च जघन्यमल्पतरमुत्कृष्टं च बहुतरमिति । अल्पबहुत्वद्वारे 'सव्वत्थोवा सुहुम'त्ति स्तोकत्वात् तत्कालस्य, निर्ग्रन्थतुल्यत्वेन च शतपृथक्त्वप्रमाणत्वात् तेषां, 'छेदोवट्ठावणिय'त्ति कोटीशतपृथक्त्वमानतायां तेषामुक्तत्वात्,'सामाइयसंजया संखेज्ज'त्ति कषायकुशीलसमानतया कोटीसहस्रपृथक्त्वमानत्वेनोक्तत्वात्तेषामिति ॥ 'पडिसेवण'त्ति (*१०३) चारित्रं प्रति प्रतिकूला सेवा प्रतिसेवा तां ॥ आलोचनादोषगुणान् गुरुगुणांश्चाह–'दसविह'त्ति (सू. ७९९) 'दप्पप्पमायणाभोगे'त्ति इह सप्तमी प्रत्येकं दृश्या, तेन दर्पे सति प्रतिसेवी स्यात्, दर्पो–वल्गनादिः, प्रमादो–मद्यविकथादिस्तस्मिन्, अनाभोगश्च–अज्ञानं तस्मिन्, आतुरो–बुभुक्षातृड्पाधितस्तस्मिन् 'आवईइ य'त्ति आपदि सत्यां, आपच्च द्रव्यादिभेदेन चतुर्द्धा, तत्र द्रव्यापत् प्रासुकद्रव्यालाभः क्षेत्रापत् कान्तारक्षेत्रपतितत्वं कालापद् दुर्भिक्षकालप्राप्तिः भावापद् ग्लानत्वमिति,'संकिन्ने'त्ति सङ्कीर्णे स्वपरपक्षव्याकुलत्वे सति,'संकिए'त्ति क्वचित्पाठस्तत्र च शङ्किते आधाकर्मादित्वेन शङ्कितभक्तादिविषये, निशीथपाठे तु 'तिंतणे' इत्यपि, तत्र तिंतणत्वे सति, तच्चाहाराद्यलाभे सति सखेदं वचनं, 'सहसक्कारे'त्ति सहसाकारे–आकस्मिकक्रियायां यथा 'पुव्विं अपासिऊणं छूढे पायंमि जं पुणो पासे। न य तरइ नियत्तेउं पायं सहसाकरणमेयं ॥१॥' 'भयप्पओसा य'त्ति भयात्–सिंहादिभयेन प्रतिसेवा स्यात्, तथा प्रद्वेषाच्च, प्रद्वेषश्च–क्रोधादिः,'वीमंस'त्ति विमर्शात्–शिक्षकादिपरीक्षणादिति १० प्रतिसेवाः स्युरिति। 'आकंपइत्ता' गाहा(१०४*)आकंप्य–वैयावृत्त्याद्यावर्जितो गुरुः स्तोकं प्रायश्चित्तं मे दास्यतीति बुद्ध्या गुरुं वैयावृत्त्यादिना आवर्ज्य यदालोचनमसावालोचनादोषः,'अणुमाणयित्त'त्ति अनुमान्य–अनुमानं कृत्वा लघुतरापराधनिवेदनेन मृदुदण्डादित्वमाचार्यस्याकलय्य यदालोचनमसौ तद्दोषः, 'जं दिट्ठं'ति यदाचार्यादिना दृष्टमपराधजातं बादरं वा सूक्ष्मं वा, छन्नं लज्जया, 'सद्दाउलयं'ति

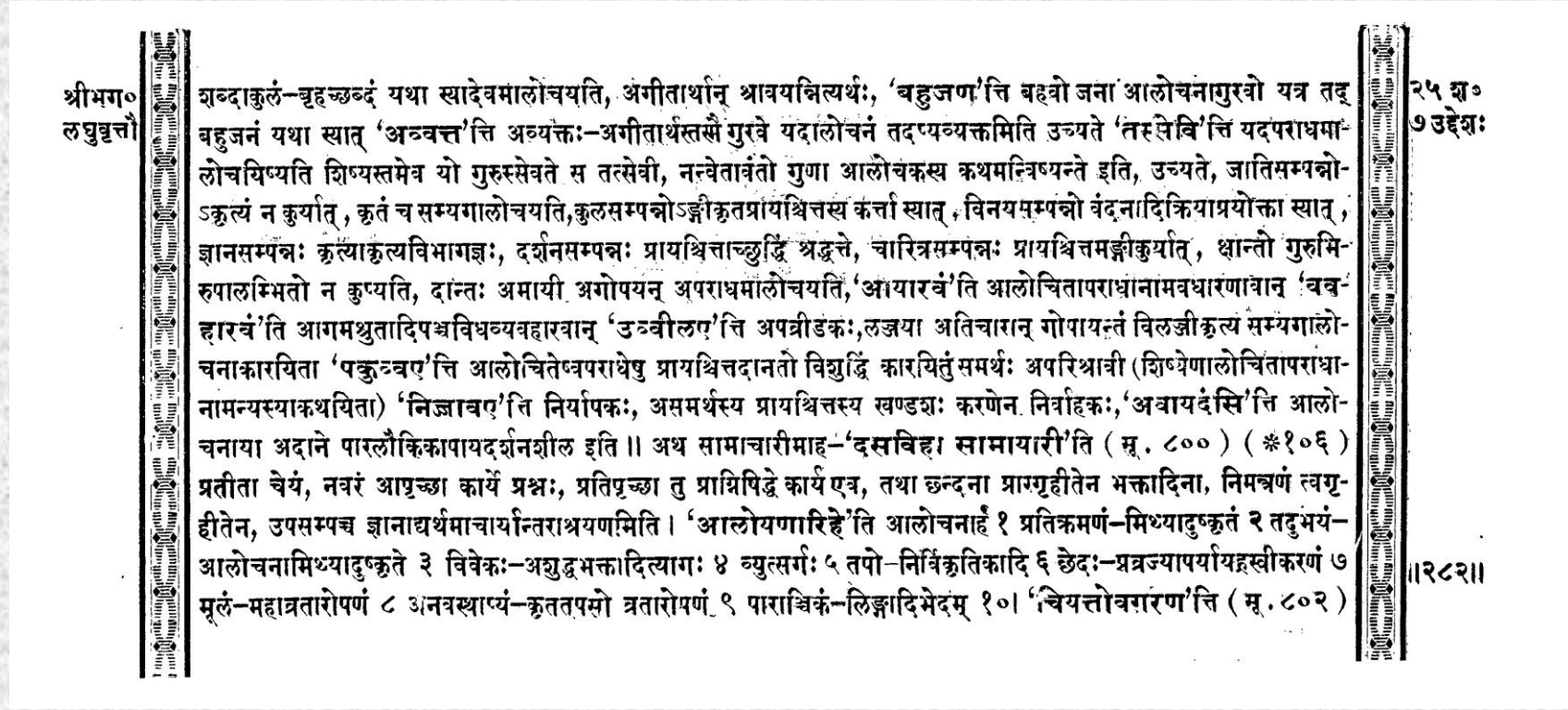

श्रीभग० लघुवृत्तौ

शब्दाकुलं–बृहच्छब्दं यथा स्यादेवमालोचयति, अगीतार्थान् श्रावयन्नित्यर्थः, ‘बहुजण’त्ति बहवो जना आलोचनागुरवो यत्र तद् बहुजनं यथा स्यात् ‘अव्वत्त’त्ति अव्यक्तः–अगीतार्थस्तस्मै गुरवे यदालोचनं तदप्यव्यक्तमिति उच्यते ‘तस्सेवि’त्ति यदपराधमालोचयिष्यति शिष्यस्तमेव यो गुरुस्सेवते स तत्सेवी, नन्वेतावंतो गुणा आलोचकस्य कथमन्विष्यन्ते इति, उच्यते, जातिसम्पन्नोऽकृत्यं न कुर्यात्, कृतं च सम्यगालोचयति,कुलसम्पन्नोऽङ्गीकृतप्रायश्चित्तस्य कर्त्ता स्यात्, विनयसम्पन्नो वंदनादिक्रियाप्रयोक्ता स्यात्, ज्ञानसम्पन्नः कृत्याकृत्यविभागज्ञः, दर्शनसम्पन्नः प्रायश्चित्ताच्छुद्धिं श्रद्धत्ते, चारित्रसम्पन्नः प्रायश्चित्तमङ्गीकुर्यात्, क्षान्तो गुरुभिरुपालम्भितो न कुप्यति, दान्तः अमायी अगोपयन् अपराधमालोचयति,‘आयारवं’ति आलोचितापराधानामवधारणावान् ‘ववहारवं’ति आगमश्रुतादिपञ्चविधव्यवहारवान् ‘उव्वीलए’त्ति अपव्रीडकः,लज्जया अतिचारान् गोपायन्तं विलज्जीकृत्य सम्यगालोचनाकारयिता ‘पकुव्वए’त्ति आलोचितेष्वपराधेषु प्रायश्चित्तदानतो विशुद्धिं कारयितुं समर्थः अपरिश्रावी (शिष्येणालोचितापराधानामन्यस्याकथयिता) ‘निज्जावए’त्ति निर्यापकः, असमर्थस्य प्रायश्चित्तस्य खण्डशः करणेन निर्वाहकः,‘अवायदंसि’त्ति आलोचनाया अदाने पारलौकिकापायदर्शनशील इति ॥ अथ सामाचारीमाह–‘दसविहा सामायारी’ति (मू. ८००) (*१०६) प्रतीता चेयं, नवरं आपृच्छा कार्ये प्रश्नः, प्रतिपृच्छा तु प्राग्निषिद्धे कार्य एव, तथा छन्दना प्राग्गृहीतेन भक्तादिना, निमन्त्रणं त्वगृहीतेन, उपसम्पच्च ज्ञानाद्यर्थमाचार्यान्तराश्रयणमिति। ‘आलोयणारिहे’ति आलोचनार्हं १ प्रतिक्रमणं–मिथ्यादुष्कृतं २ तदुभयं–आलोचनामिथ्यादुष्कृते ३ विवेकः–अशुद्धभक्तादित्यागः ४ व्युत्सर्गः ५ तपो–निर्विकृतिकादि ६ छेदः–प्रव्रज्यापर्यायह्रस्वीकरणं ७ मूलं–महाव्रतारोपणं ८ अनवस्थाप्यं–कृततपसो व्रतारोपणं ९ पाराञ्चिकं–लिङ्गादिभेदम् १०। ‘चियत्तोवगरण’त्ति (मू. ८०२)

२५ श० ७ उद्देशः

॥२८२॥

लक्षणोपेततया संयतस्यैव ‘साइज्जणय’त्ति खदनतां, परिभोजनमिति चूर्ण्यमुक्तं,‘जं वत्थाइ धरेइ तम्मिवि ममत्तं नत्थि, जइ कोइ मग्गइ तस्स देइ’त्ति ‘अप्पसद्दे’त्ति अल्पशब्दो राज्यादावसंयतजागरणभयात् ‘झंझ’त्ति झंझा कोपात् विप्रकीर्णा वचोरचना, चूर्ण्यां तूक्तं ‘झंझा अणत्थयबहुप्पलावित्तं’ तुमंतुमो हाईः कोपः,‘दव्वाभिग्गह’त्ति द्रव्याभिग्रहाश्च लेपकृतादिद्रव्यविषयाः,‘जहा उववाइए’ अनेनेदं सूचितम्–खेत्ताभिग्गहचरए कालाभि० भावाभिग्ग० ‘ठाणाइए’त्ति स्थानं–कायोत्सर्गादिकमतिशयेन ददाति–गच्छतीति स्थानातिदः ‘अल्लीण’त्ति आ ईषल्लीनः संवृतः, एवं प्रालीनोऽपि ‘जहा सोमिल्लुद्देसे’त्ति अष्टादशशतस्य दशमोद्देशके, एतेन यत्सूचितं तत्ततो ज्ञेयं,‘दंसणविणए’त्ति दर्शनविनयः सम्यग्दृष्टिषु शुश्रूषादिरूपः ‘चरित्तविणए’त्ति सामायिकादिचरित्राणां सम्यक्श्रद्धानकरणप्ररूपणानि ‘लोगोवयार’त्ति लोकानामुपचारो–व्यवहारः पूजा वा तद्रूपो विनयः, शुश्रूषणा–सेवा सैव विनयः शुश्रूषणाविनयः ‘अणच्चासायणाविणए’त्ति अतिशयेन आशातना अत्याशातना तन्निषेधरूपो विनयोऽनत्याशातनाविनयः ‘किरियाए अणच्चासायणाविणए’त्ति इह क्रियाऽस्ति परलोकोऽस्ति आत्मा अस्ति मुक्तिरस्तीति प्ररूपणात्मिका गृह्यते ‘संभोगस्स अणच्चासायण’त्ति सम्भोगस्य–समानधार्मिकाणां मिथोभक्तादिदानग्रहणरूपस्यानत्याशातना–विपर्यासवत्करणपरिवर्जनं ‘वण्णसंजलण’त्ति सद्भूतगुणवर्णनेन यशोदीपनं ‘अकिरिए’त्ति कायिकादिक्रियाभिष्वङ्गवर्जितं ‘निरुवकेस’त्ति स्वगतशोकाद्युपक्लेशवियुक्तं ‘अणण्हय’त्ति अनाश्रवकरं ‘अच्छविकरे’त्ति क्षपिः–स्वपरयोरवशत्वं यत्तत्करणशीलं न स्यात् तदक्षपिकरं ‘अभूताभिसंकणे’त्ति यतो भूतान्यभिशङ्कन्ते–बिभ्यति तस्माद्यदन्यत्तदभूताभिशङ्कनं ‘आउत्ते’ति आगुप्तस्य साधोस्सम्बन्धि यत्तदागुप्तमेव ‘उल्लंघणे य’त्ति ऊर्ध्वं लङ्घनं उल्लङ्घनं द्वारार्गलावरण्डिकादेः ‘सव्विंदियजोग’त्ति सर्वेषामिन्द्रियव्यापाराणां प्रयोग

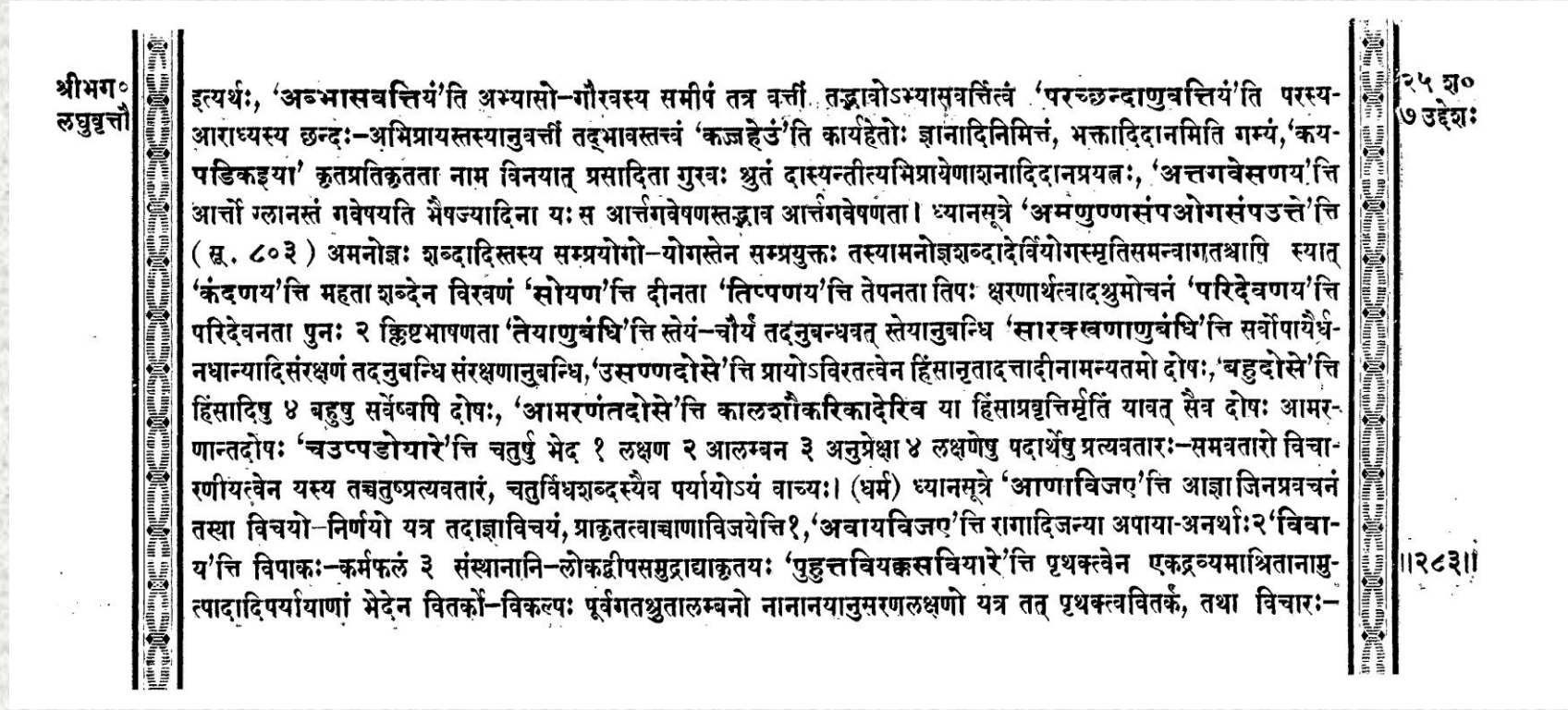

श्रीभग० लघुवृत्तौ

इत्यर्थः, ‘अब्भासवत्तियं’ति अभ्यासो–गौरवस्य समीपं तत्र वर्त्ती तद्भावोऽभ्यासवर्त्तित्वं ‘परच्छन्दाणुवत्तियं’ति परस्य-आराध्यस्य छन्दः–अभिप्रायस्तस्यानुवर्त्ती तद्भावस्तत्त्वं ‘कज्जहेउं’ति कार्यहेतोः ज्ञानादिनिमित्तं, भक्तादिदानमिति गम्यं,‘कय-पडिकइया’ कृतप्रतिकृतता नाम विनयात् प्रसादिता गुरवः श्रुतं दास्यन्तीत्यभिप्रायेणाशनाददानप्रयत्नः, ‘अत्तगवेसणय’त्ति आर्त्तो ग्लानस्तं गवेषयति भैषज्यादिना यः स आर्त्तगवेषणस्तद्भाव आर्त्तगवेषणता। ध्यानसूत्रे ‘अमणुण्णसंपओगसंपउत्ते’त्ति (सू. ८०३) अमनोज्ञः शब्दादिस्तस्य सम्प्रयोगो–योगस्तेन सम्प्रयुक्तः तस्यामनोज्ञशब्दादेर्वियोगस्मृतिसमन्वागतश्चापि स्यात् ‘कंदणय’त्ति महता शब्देन विरवणं ‘सोयण’त्ति दीनता ‘तिप्पणय’त्ति तेपनता तिपः क्षरणार्थत्वादश्रुमोचनं ‘परिदेवणय’त्ति परिदेवनता पुनः २ क्लिष्टभाषणता ‘तेयाणुबंधि’त्ति स्तेयं–चौर्यं तदनुबन्धवत् स्तेयानुबन्धि ‘सारक्खणाणुबंधि’त्ति सर्वोपायैर्ध-नधान्यादिसंरक्षणं तदनुबन्धि संरक्षणानुबन्धि,‘उस्सण्णदोसे’त्ति प्रायोऽविरतत्वेन हिंसानृतादत्तादीनामन्यतमो दोषः,‘बहुदोसे’त्ति हिंसादिषु ४ बहुषु सर्वेष्वपि दोषः, ‘आमरणंतदोसे’त्ति कालशौकरिकादेरिव या हिंसाप्रवृत्तिर्मृतिं यावत् सैव दोषः आमर-णान्तदोषः ‘चउप्पडोयारे’त्ति चतुर्षु भेद १ लक्षण २ आलम्बन ३ अनुप्रेक्षा ४ लक्षणेषु पदार्थेषु प्रत्यवतारः–समवतारो विचा-रणीयत्वेन यस्य तच्चतुष्प्रत्यवतारं, चतुर्विधशब्दस्यैव पर्यायोऽयं वाच्यः। (धर्म) ध्यानसूत्रे ‘आणाविजए’त्ति आज्ञा जिनप्रवचनं तस्या विचयो–निर्णयो यत्र तदाज्ञाविचयं, प्राकृतत्वाच्चाणाविजयेत्ति१,‘अवायविजए’त्ति रागादिजन्या अपाया-अनर्थाः२‘विवा-य’त्ति विपाकः–कर्मफलं ३ संस्थानानि–लोकद्वीपसमुद्राद्याकृतयः ‘पुहुत्तवियक्कसवियारे’त्ति पृथक्त्वेन एकद्रव्यमाश्रितानामु-त्पादादिपर्यायाणां भेदेन वितर्को–विकल्पः पूर्वगतश्रुतालम्बनो नानानयानुसरणलक्षणो यत्र तत् पृथक्त्ववितर्कं, तथा विचारः–

२५ श० ७ उद्देशः

॥२८३॥

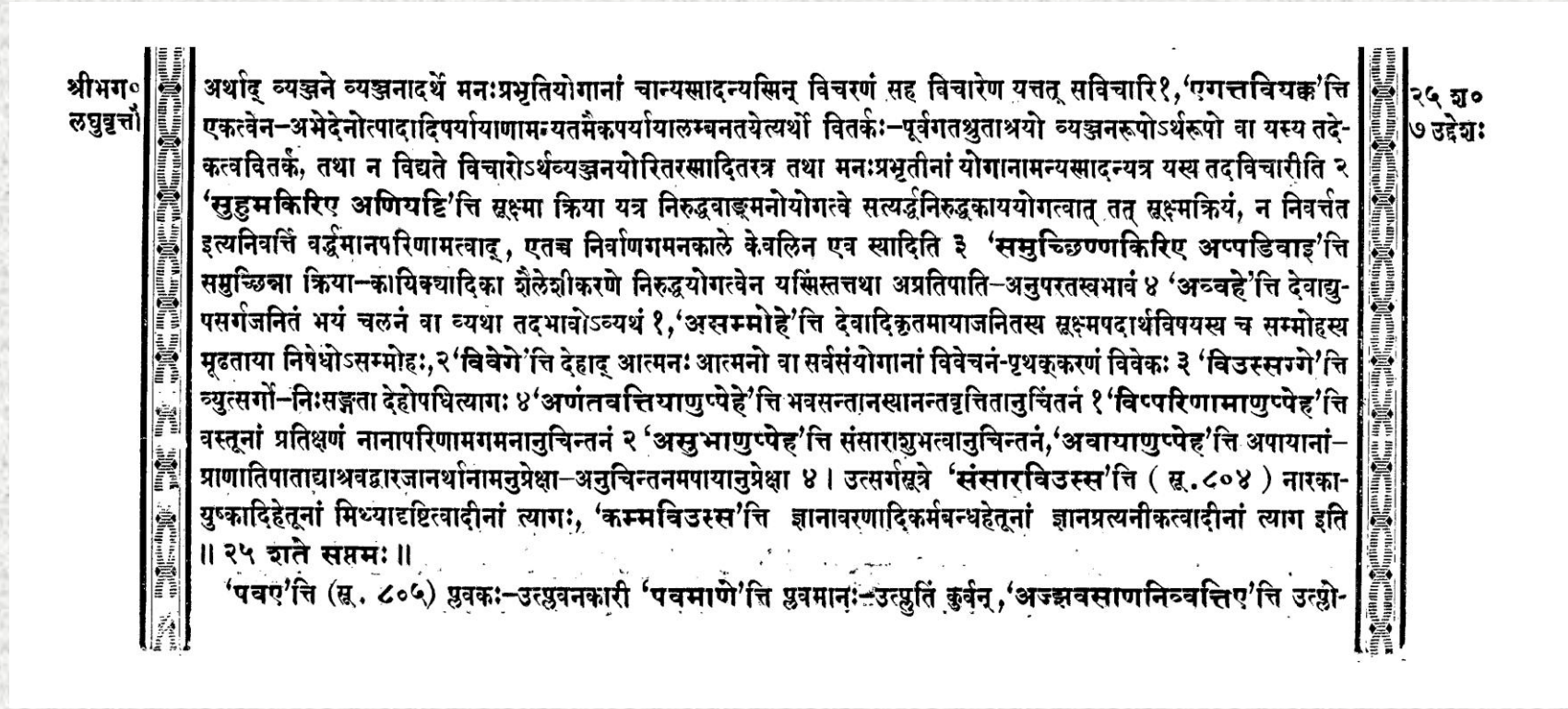

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अर्थाद् व्यञ्जने व्यञ्जनादर्थे मनःप्रभृतियोगानां चान्यस्मादन्यस्मिन् विचरणं सह विचारेण यत्तत् सविचारि१,‘एगत्तवियक्क’त्ति एकत्वेन–अभेदेनोत्पादादिपर्यायाणामन्यतमैकपर्यायालम्बनतयेत्यर्थो वितर्कः–पूर्वगतश्रुताश्रयो व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तदेकत्ववितर्कं, तथा न विद्यते विचारोऽर्थव्यञ्जनयोरितरस्मादितरत्र तथा मनःप्रभृतीनां योगानामन्यस्मादन्यत्र यस्य तदविचारीति २ ‘सुहुमकिरिए अणियट्टि’त्ति सूक्ष्मा क्रिया यत्र निरुद्धवाङ्मनोयोगत्वे सत्यर्द्धनिरुद्धकाययोगत्वात् तत् सूक्ष्मक्रियं, न निवर्त्तत इत्यनिवर्त्ति वर्द्धमानपरिणामत्वाद्, एतच्च निर्वाणगमनकाले केवलिन एव स्यादिति ३ ‘समुच्छिण्णकिरिए अप्पडिवाइ’त्ति समुच्छिन्ना क्रिया–कायिक्यादिका शैलेशीकरणे निरुद्धयोगत्वेन यस्मिंस्तत्तथा अप्रतिपाति–अनुपरतस्वभावं ४ ‘अव्वहे’त्ति देवाद्युपसर्गजनितं भयं चलनं वा व्यथा तदभावोऽव्यथं १,‘असम्मोहे’त्ति देवादिकृतमायाजनितस्य सूक्ष्मपदार्थविषयस्य च सम्मोहस्य मूढताया निषेधोऽसम्मोहः,२‘विवेगे’त्ति देहाद् आत्मनः आत्मनो वा सर्वसंयोगानां विवेचनं-पृथक्करणं विवेकः ३ ‘विउस्सग्गे’त्ति व्युत्सर्गो–निःसङ्गता देहोपधित्यागः ४‘अणंतवत्तियाणुप्पेहे’त्ति भवसन्तानस्यानन्तवृत्तितानुचिंतनं १‘विप्परिणामाणुप्पेह’त्ति वस्तूनां प्रतिक्षणं नानापरिणामगमनानुचिन्तनं २ ‘असुभाणुप्पेह’त्ति संसाराशुभत्वानुचिन्तनं,‘अवायाणुप्पेहे’त्ति अपायानां–प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारजानर्थानामनुप्रेक्षा–अनुचिन्तनमपायानुप्रेक्षा ४। उत्सर्गसूत्रे ‘संसारविउस्स’त्ति (सू.८०४) नारकायुष्कादिहेतूनां मिथ्यादृष्टित्वादीनां त्यागः, ‘कम्मविउस्स’त्ति ज्ञानावरणादिकर्मबन्धहेतूनां ज्ञानप्रत्यनीकत्वादीनां त्याग इति ॥ २५ शते सप्तमः ॥

‘पवए’त्ति (सू. ८०५) प्लवकः–उत्प्लवनकारी ‘पवमाणे’त्ति प्लवमानः–उत्प्लुतिं कुर्वन्,‘अज्झवसाणनिव्वत्तिए’त्ति उत्प्लो-

२५ श० ७ उद्देशः

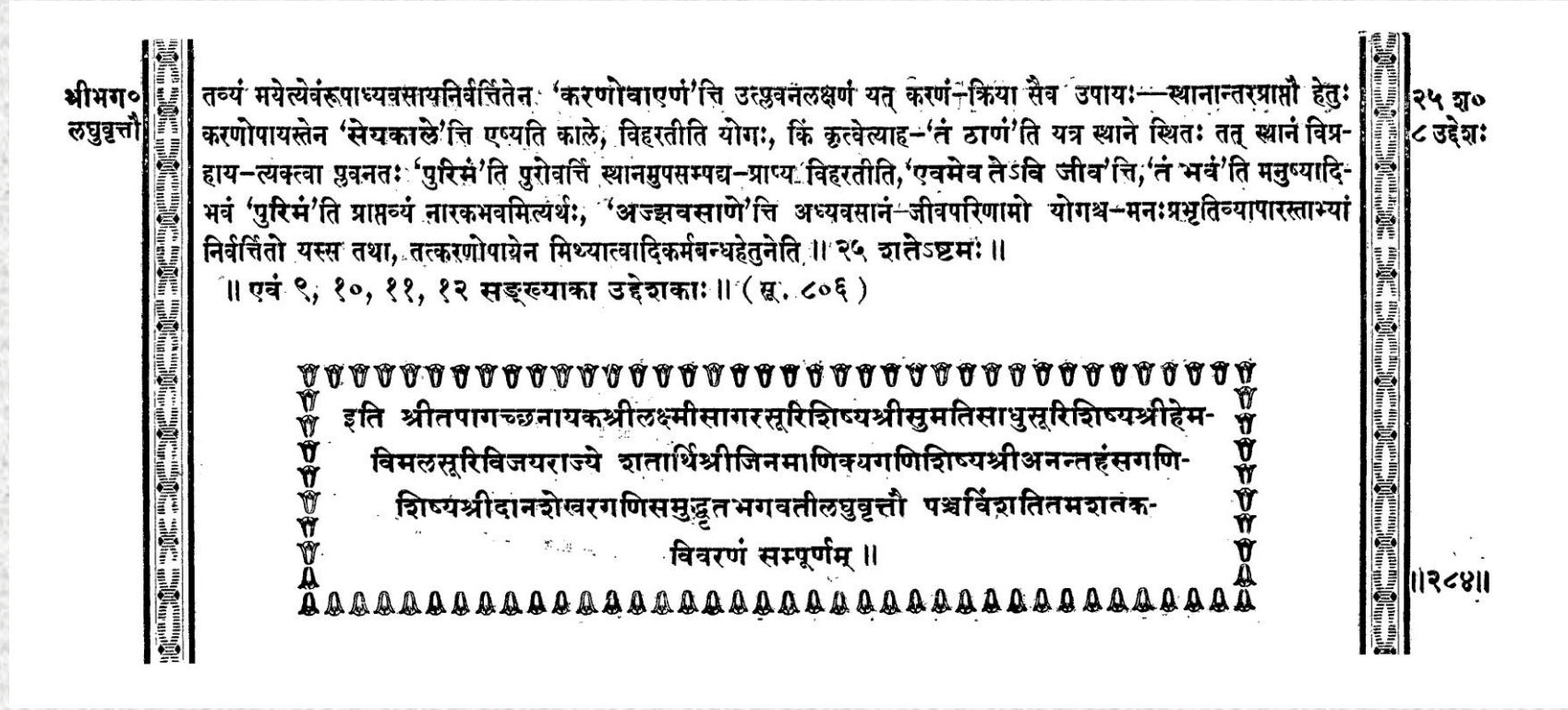

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तव्यं मयेत्येवंरूपाध्यवसायनिर्वर्त्तितेन 'करणोवाएणं'ति उत्प्लवनलक्षणं यत् करणं-क्रिया सैव उपायः—स्थानान्तरप्राप्तौ हेतुः करणोपायस्तेन 'सेयकाले'त्ति एष्यति काले, विहरतीति योगः, किं कृत्वेत्याह-'तं ठाणं'ति यत्र स्थाने स्थितः तत् स्थानं विप्रहाय-त्यक्त्वा प्लवनतः 'पुरिमं'ति पुरोवर्त्ति स्थानमुपसम्पद्य-प्राप्य विहरतीति, 'एवमेव तेऽवि जीव'त्ति, 'तं भवं'ति मनुष्यादिभवं 'पुरिमं'ति प्राप्तव्यं नारकभवमित्यर्थः, 'अज्झवसाणे'त्ति अध्यवसानं-जीवपरिणामो योगश्च-मनःप्रभृतिव्यापारस्ताभ्यां निर्वर्त्तितो यस्स तथा, तत्करणोपायेन मिथ्यात्वादिकर्मबन्धहेतुनेति ॥ २५ शतेऽष्टमः ॥

॥ एवं ९, १०, ११, १२ सङ्ख्याका उद्देशकाः ॥ (सू. ८०६)

इति श्रीतपागच्छनायकश्रीलक्ष्मीसागरसूरिशिष्यश्रीसुमतिसाधुसूरिशिष्यश्रीहेमविमलसूरिविजयराज्ये शतार्थिश्रीजिनमाणिक्यगणिशिष्यश्रीअनन्तहंसगणिशिष्यश्रीदानशेखरगणिसमुद्धृतभगवतीलघुवृत्तौ पञ्चविंशतितमशतकविवरणं सम्पूर्णम् ॥

२५ श० ८ उद्देशः

॥२८४॥

*** अत्र शतक-२५ समाप्तं

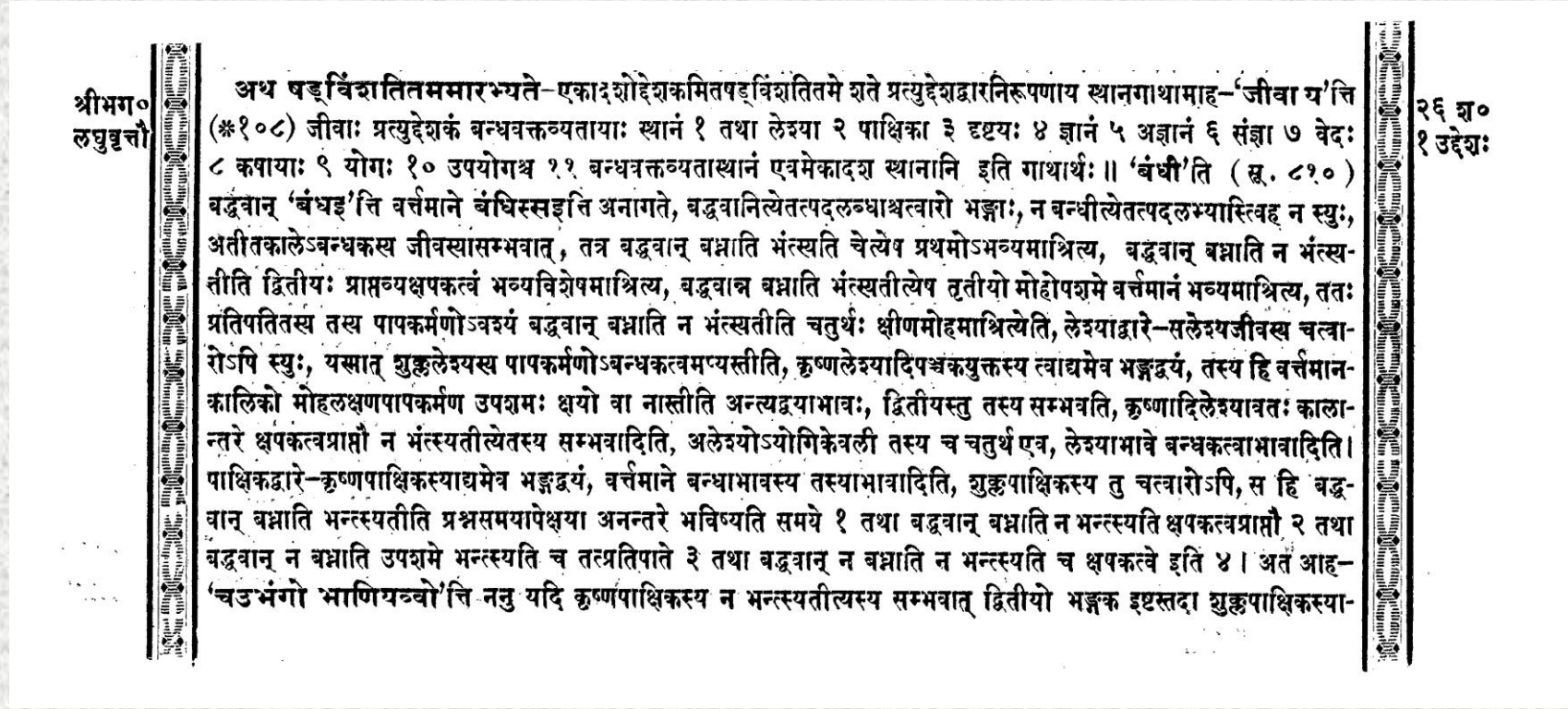

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अथ षड्विंशतितममारभ्यते–एकादशोद्देशकमितषड्विंशतितमे शते प्रत्युद्देशद्वारनिरूपणाय स्थानगाथामाह–'जीवा य'त्ति (*१०८) जीवाः प्रत्युद्देशकं बन्धवक्तव्यतायाः स्थानं १ तथा लेश्या २ पाक्षिका ३ दृष्टयः ४ ज्ञानं ५ अज्ञानं ६ संज्ञा ७ वेदः ८ कषायाः ९ योगः १० उपयोगश्च ११ बन्धवक्तव्यतास्थानं एवमेकादश स्थानानि इति गाथार्थः ॥ 'बंधी'ति (सू. ८१०) बद्धवान् 'बंधइ'त्ति वर्त्तमाने बंधिस्सइत्ति अनागते, बद्धवानित्येतत्पदलब्धाश्चत्वारो भङ्गाः, न बन्धीत्येतत्पदलभ्यास्त्विह न स्युः, अतीतकालेऽबन्धकस्य जीवस्यासम्भवात्, तत्र बद्धवान् बध्नाति भंत्स्यति चेत्येष प्रथमोऽभव्यमाश्रित्य, बद्धवान् बध्नाति न भंत्स्यतीति द्वितीयः प्राप्तव्यक्षपकत्वं भव्यविशेषमाश्रित्य, बद्धवान्न बध्नाति भंत्स्यतीत्येष तृतीयो मोहोपशमे वर्त्तमानं भव्यमाश्रित्य, ततः प्रतिपतितस्य तस्य पापकर्मणोऽवश्यं बद्धवान् बध्नाति न भंत्स्यतीति चतुर्थः क्षीणमोहमाश्रित्येति, लेश्याद्वारे–सलेश्यजीवस्य चत्वारोऽपि स्युः, यस्मात् शुक्ललेश्यस्य पापकर्मणोऽबन्धकत्वमप्यस्तीति, कृष्णलेश्यादिपञ्चकयुक्तस्य त्वाद्यमेव भङ्गद्वयं, तस्य हि वर्त्तमानकालिको मोहलक्षणपापकर्मण उपशमः क्षयो वा नास्तीति अन्त्यद्वयाभावः, द्वितीयस्तु तस्य सम्भवति, कृष्णादिलेश्यावतः कालान्तरे क्षपकत्वप्राप्तौ न भंत्स्यतीत्येतस्य सम्भवादिति, अलेश्योऽयोगिकेवली तस्य च चतुर्थ एव, लेश्याभावे बन्धकत्वाभावादिति। पाक्षिकद्वारे–कृष्णपाक्षिकस्याद्यमेव भङ्गद्वयं, वर्त्तमाने बन्धाभावस्य तस्याभावादिति, शुक्लपाक्षिकस्य तु चत्वारोऽपि, स हि बद्धवान् बध्नाति भन्त्स्यतीति प्रश्नसमयापेक्षया अनन्तरे भविष्यति समये १ तथा बद्धवान् बध्नाति न भन्त्स्यति क्षपकत्वप्राप्तौ २ तथा बद्धवान् न बध्नाति उपशमे भन्त्स्यति च तत्प्रतिपाते ३ तथा बद्धवान् न बध्नाति न भन्त्स्यति च क्षपकत्वे इति ४। अत आह– 'चउभंगो भाणियव्वो'त्ति ननु यदि कृष्णपाक्षिकस्य न भन्त्स्यतीत्यस्य सम्भवात् द्वितीयो भङ्गक इष्टस्तदा शुक्लपाक्षिकस्या-

२६ श० १ उद्देशः

*** अत्र शतक-२६ आरभ्यते

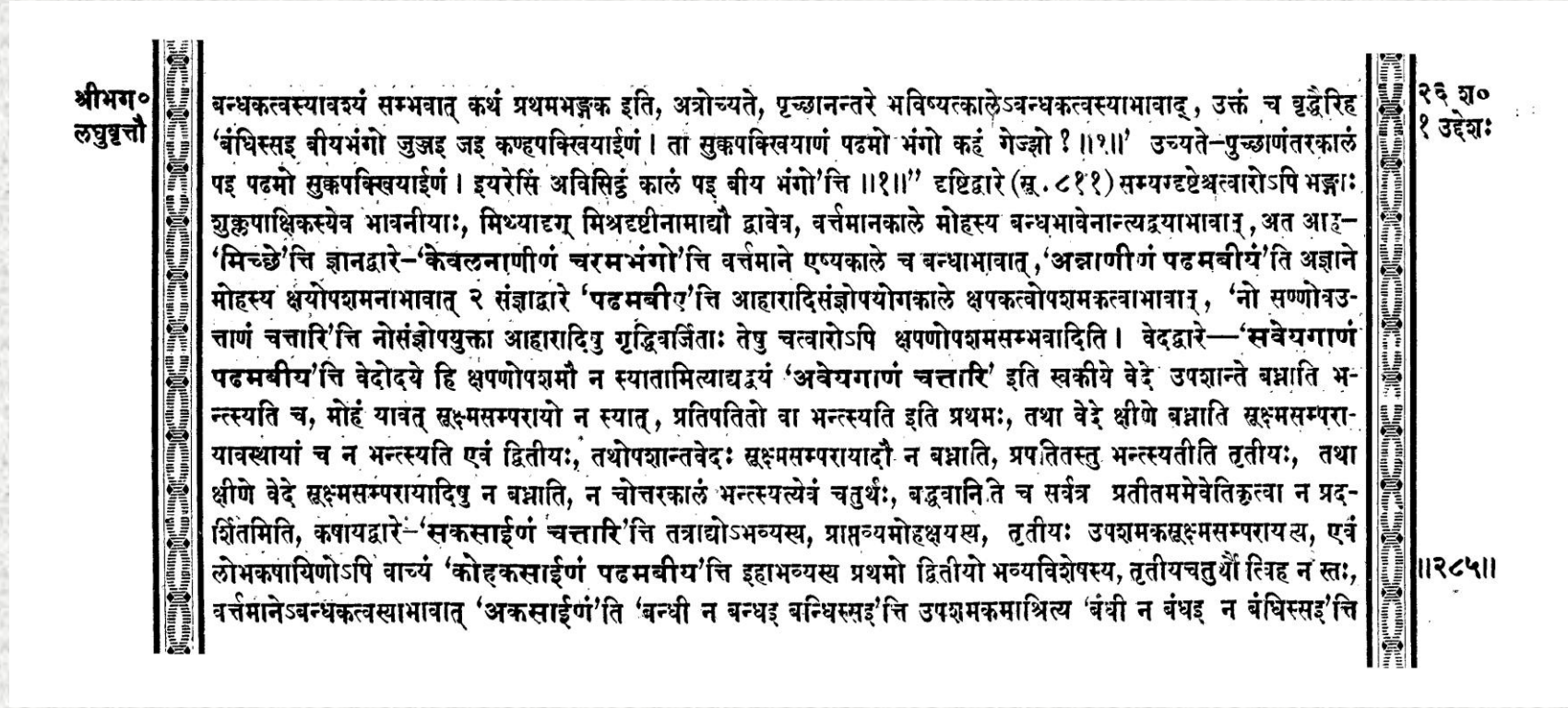

श्रीभग० लघुवृत्तौ

बन्धकत्वस्यावश्यं सम्भवात् कथं प्रथमभङ्गक इति, अत्रोच्यते, पृच्छानन्तरे भविष्यत्कालेऽबन्धकत्वस्याभावाद्, उक्तं च वृद्धैरिह 'बंधिस्सइ बीयभंगो जुज्जइ जइ कण्हपक्खियाईणं। ता सुक्कपक्खियाणं पढमो भंगो कहं गेज्झो ? ॥१॥' उच्यते–पुच्छाणंतरकालं पइ पढमो सुक्कपक्खियाईणं। इयरेसिं अविसिट्ठं कालं पइ बीय भंगो'त्ति ॥१॥" दृष्टिद्वारे (सू.८११) सम्यग्दृष्टेश्चत्वारोऽपि भङ्गाः शुक्लपाक्षिकस्येव भावनीयाः, मिथ्यादृग् मिश्रदृष्टीनामाद्यौ द्वावेव, वर्त्तमानकाले मोहस्य बन्धभावेनान्त्यद्वयाभावात्, अत आह– 'मिच्छे'त्ति ज्ञानद्वारे–'केवलनाणीणं चरमभंगो'त्ति वर्त्तमाने एष्यकाले च बन्धाभावात्, 'अन्नाणीणं पढमबीयं'ति अज्ञाने मोहस्य क्षयोपशमनाभावात् २ संज्ञाद्वारे 'पढमबीए'त्ति आहारादिसंज्ञोपयोगकाले क्षपकत्वोपशमकत्वाभावात्, 'नो सण्णोवउत्ताणं चत्तारि'त्ति नोसंज्ञोपयुक्ता आहारादिषु गृद्धिवर्जिताः तेषु चत्वारोऽपि क्षपणोपशमसम्भवादिति। वेदद्वारे—'सवेयगाणं पढमबीय'त्ति वेदोदये हि क्षपणोपशमौ न स्यातामित्याद्यद्वयं 'अवेयगाणं चत्तारि' इति स्वकीये वेदे उपशान्ते बध्नाति भन्त्स्यति च, मोहं यावत् सूक्ष्मसम्परायो न स्यात्, प्रतिपतितो वा भन्त्स्यति इति प्रथमः, तथा वेदे क्षीणे बध्नाति सूक्ष्मसम्परायावस्थायां च न भन्त्स्यति एवं द्वितीयः, तथोपशान्तवेदः सूक्ष्मसम्परायादौ न बध्नाति, प्रपतितस्तु भन्त्स्यतीति तृतीयः, तथा क्षीणे वेदे सूक्ष्मसम्परायादिषु न बध्नाति, न चोत्तरकालं भन्त्स्यत्येवं चतुर्थः, बद्धवानिति च सर्वत्र प्रतीतममेवेतिकृत्वा न प्रदर्शितमिति, कषायद्वारे–'सकसाईणं चत्तारि'त्ति तत्राद्योऽभव्यस्य, प्राप्तव्यमोहक्षयस्य, तृतीयः उपशमकसूक्ष्मसम्परायस्य, एवं लोभकषायिणोऽपि वाच्यं 'कोहकसाईणं पढमबीय'त्ति इहाभव्यस्य प्रथमो द्वितीयो भव्यविशेषस्य, तृतीयचतुर्थौ त्विह न स्तः, वर्त्तमानेऽबन्धकत्वस्याभावात् 'अकसाईणं'ति 'बन्धी न बन्धइ बन्धिस्सइ'त्ति उपशमकमाश्रित्य 'बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ'त्ति

२६ श० १ उद्देशः

॥२८५॥

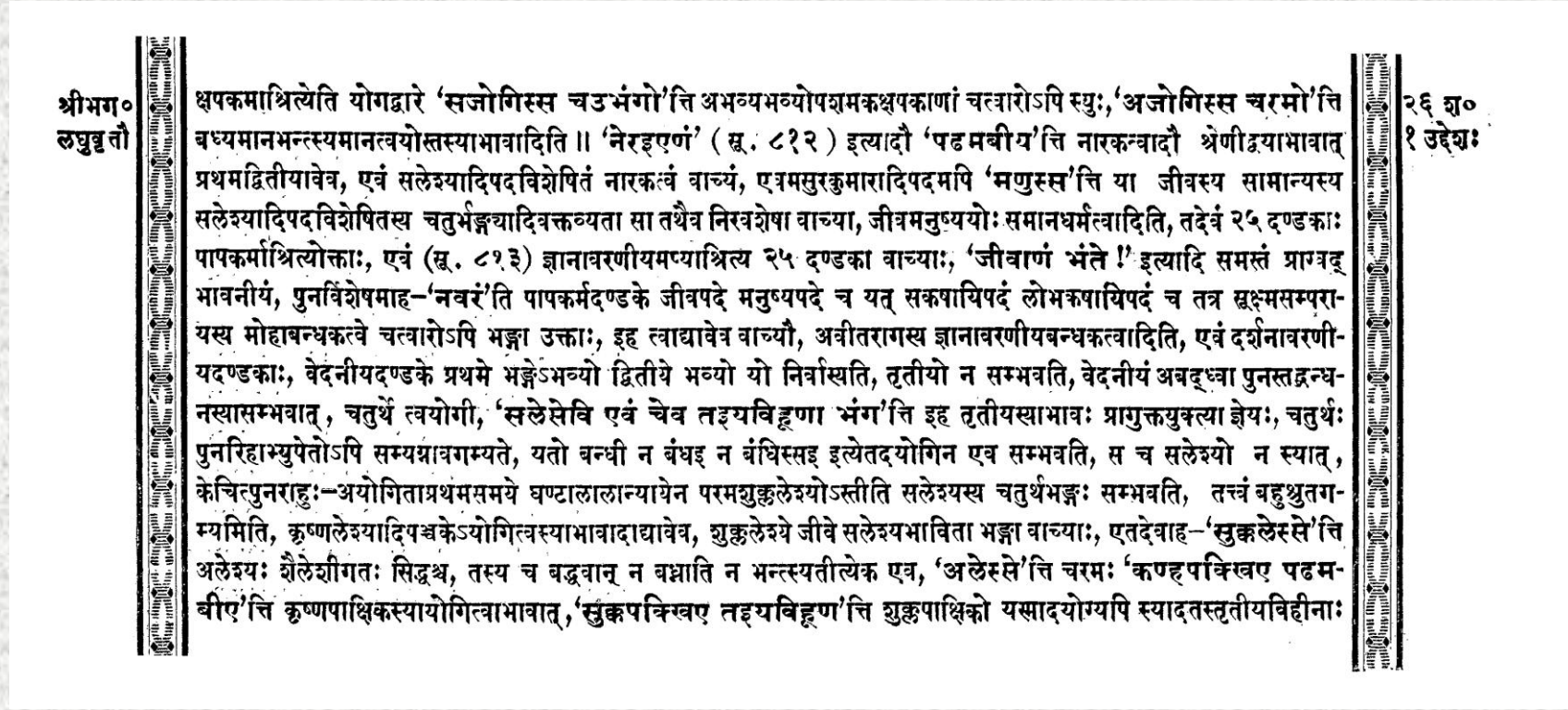

श्रीभग० लघुवृत्तौ

क्षपकमाश्रित्येति योगद्वारे ‘सजोगिस्स चउभंगो’त्ति अभव्यभव्योपशमकक्षपकाणां चत्वारोऽपि स्युः,‘अजोगिस्स चरमो’त्ति बध्यमानभन्त्स्यमानत्वयोस्तस्याभावादिति ॥ ‘नेरइएणं’ (सू. ८१२) इत्यादौ ‘पढमबीय’त्ति नारकत्वादौ श्रेणीद्वयाभावात् प्रथमद्वितीयावेव, एवं सलेश्यादिपदविशेषितं नारकत्वं वाच्यं, एवमसुरकुमारादिपदमपि ‘मणुस्स’त्ति या जीवस्य सामान्यस्य सलेश्यादिपदविशेषितस्य चतुर्भङ्ग्यादिवक्तव्यता सा तथैव निरवशेषा वाच्या, जीवमनुष्ययोः समानधर्मत्वादिति, तदेवं २५ दण्डकाः पापकर्माश्रित्योक्ताः, एवं (सू. ८१३) ज्ञानावरणीयमप्याश्रित्य २५ दण्डका वाच्याः, ‘जीवाणं भंते !’ इत्यादि समस्तं प्राग्वद् भावनीयं, पुनर्विशेषमाह–‘नवरं’ति पापकर्मदण्डके जीवपदे मनुष्यपदे च यत् सकषायिपदं लोभकषायिपदं च तत्र सूक्ष्मसम्परायस्य मोहाबन्धकत्वे चत्वारोऽपि भङ्गा उक्ताः, इह त्वाद्यावेव वाच्यौ, अवीतरागस्य ज्ञानावरणीयबन्धकत्वादिति, एवं दर्शनावरणीयदण्डकाः, वेदनीयदण्डके प्रथमे भङ्गेऽभव्यो द्वितीये भव्यो यो निर्वास्यति, तृतीयो न सम्भवति, वेदनीयं अबद्ध्वा पुनस्तद्बन्धनस्यासम्भवात्, चतुर्थे त्वयोगी, ‘सलेसेवि एवं चेव तइयविहूणा भंग’त्ति इह तृतीयस्याभावः प्रागुक्तयुक्त्या ज्ञेयः, चतुर्थः पुनरिहाभ्युपेतोऽपि सम्यग्नावगम्यते, यतो बन्धी न बंधइ न बंधिस्सइ इत्येतदयोगिन एव सम्भवति, स च सलेश्यो न स्यात्, केचित्पुनराहुः–अयोगिताप्रथमसमये घण्टालालान्यायेन परमशुक्ललेश्योऽस्तीति सलेश्यस्य चतुर्थभङ्गः सम्भवति, तत्त्वं बहुश्रुतगम्यमिति, कृष्णलेश्यादिपञ्चकेऽयोगित्वस्याभावादाद्यावेव, शुक्ललेश्ये जीवे सलेश्यभाविता भङ्गा वाच्याः, एतदेवाह–‘सुक्कलेस्से’त्ति अलेश्यः शैलेशीगतः सिद्धश्च, तस्य च बद्धवान् न बध्नाति न भन्त्स्यतीत्येक एव, ‘अलेस्से’त्ति चरमः ‘कण्हपक्खिए पढमबीए’त्ति कृष्णपाक्षिकस्यायोगित्वाभावात्,‘सुक्कपक्खिए तइयविहूण’त्ति शुक्लपाक्षिको यस्मादयोग्यपि स्यादतस्तृतीयविहीनाः

२६ श० १ उद्देशः

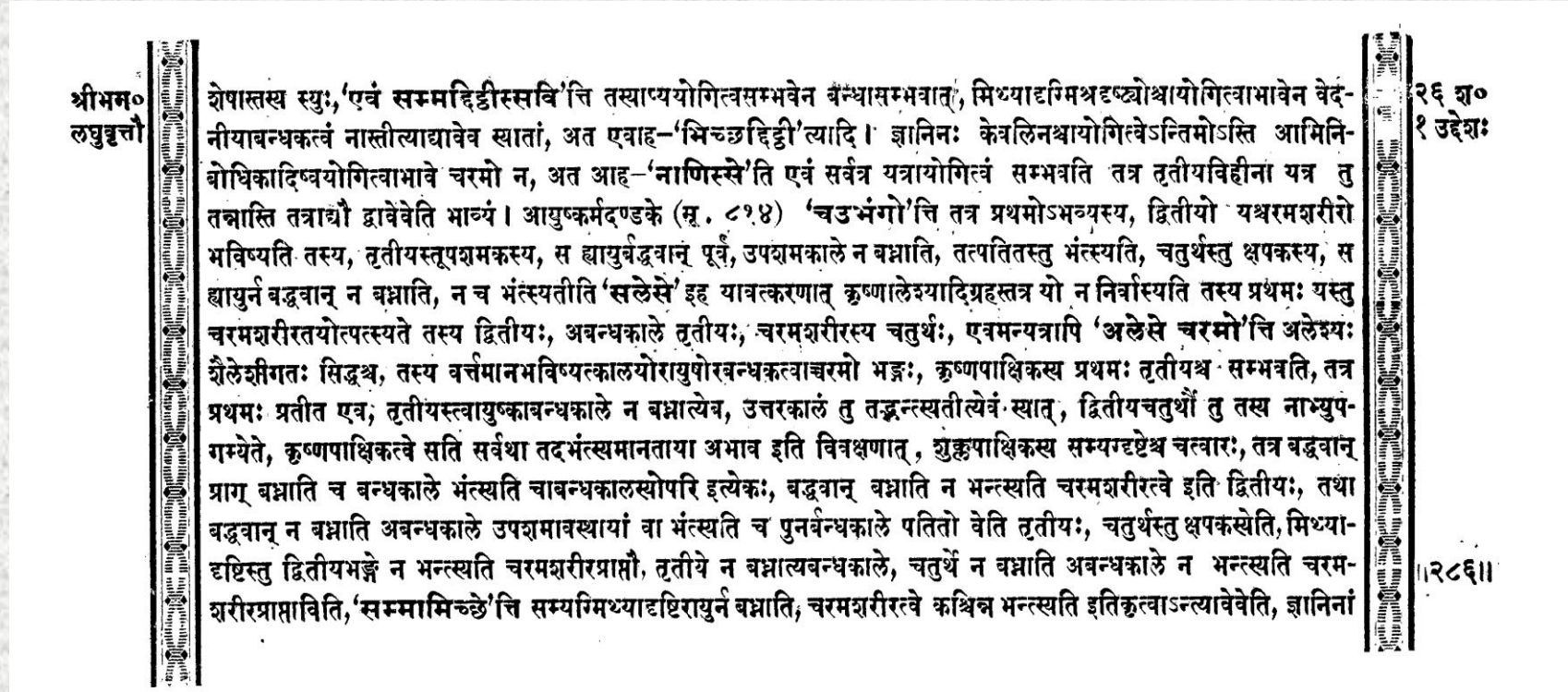

श्रीभग० लघुवृत्तौ

शेषास्तस्य स्युः,'एवं सम्मद्दिट्ठीस्सवि'त्ति तस्याप्ययोगित्वसम्भवेन बन्धासम्भवात्, मिथ्यादृग्मिश्रदृष्ट्योश्चायोगित्वाभावेन वेदनीयाबन्धकत्वं नास्तीत्याद्यावेव स्यातां, अत एवाह–'मिच्छद्दिट्ठी'त्यादि। ज्ञानिनः केवलिनश्चायोगित्वेऽन्तिमोऽस्ति आभिनिबोधिकादिष्वयोगित्वाभावे चरमो न, अत आह–'**नाणिस्से**'ति एवं सर्वत्र यत्रायोगित्वं सम्भवति तत्र तृतीयविहीना यत्र तु तन्नास्ति तत्राद्यौ द्वावेवेति भाव्यं। आयुष्कर्मदण्डके (सू. ८१४) '**चउभंगो**'त्ति तत्र प्रथमोऽभव्यस्य, द्वितीयो यश्चरमशरीरो भविष्यति तस्य, तृतीयस्तूपशमकस्य, स ह्यायुर्बद्धवान् पूर्वं, उपशमकाले न बध्नाति, तत्पतितस्तु भंत्स्यति, चतुर्थस्तु क्षपकस्य, स ह्यायुर्न बद्धवान् न बध्नाति, न च भंत्स्यतीति '**सलेसे**' इह यावत्करणात् कृष्णालेश्यादिग्रहस्तत्र यो न निर्वास्यति तस्य प्रथमः यस्तु चरमशरीरतयोत्पत्स्यते तस्य द्वितीयः, अबन्धकाले तृतीयः, चरमशरीरस्य चतुर्थः, एवमन्यत्रापि '**अलेसे चरमो**'त्ति अलेश्यः शैलेशीगतः सिद्धश्च, तस्य वर्त्तमानभविष्यत्कालयोरायुषोरबन्धकत्वाच्चरमो भङ्गः, कृष्णपाक्षिकस्य प्रथमः तृतीयश्च सम्भवति, तत्र प्रथमः प्रतीत एव; तृतीयस्त्वायुष्काबन्धकाले न बध्नात्येव, उत्तरकालं तु तद्बन्त्स्यतीत्येवं स्यात्, द्वितीयचतुर्थौ तु तस्य नाभ्युपगम्येते, कृष्णपाक्षिकत्वे सति सर्वथा तदभंत्स्यमानताया अभाव इति विवक्षणात्, शुक्लपाक्षिकस्य सम्यग्दृष्टेश्च चत्वारः, तत्र बद्धवान् प्राग् बध्नाति च बन्धकाले भंत्स्यति चाबन्धकालस्योपरि इत्येकः, बद्धवान् बध्नाति न भन्त्स्यति चरमशरीरत्वे इति द्वितीयः, तथा बद्धवान् न बध्नाति अबन्धकाले उपशमावस्थायां वा भंत्स्यति च पुनर्बन्धकाले पतितो वेति तृतीयः, चतुर्थस्तु क्षपकस्येति, मिथ्यादृष्टिस्तु द्वितीयभङ्गे न भन्त्स्यति चरमशरीरप्राप्तौ, तृतीये न बध्नात्यबन्धकाले, चतुर्थे न बध्नाति अबन्धकाले न भन्त्स्यति चरमशरीरप्राप्ताविति,'**सम्मामिच्छे**'त्ति सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्न बध्नाति, चरमशरीरत्वे कश्चिन्न भन्त्स्यति इतिकृत्वाऽन्त्यावेवेति, ज्ञानिनां

२६ श० १ उद्देशः

॥२८६॥

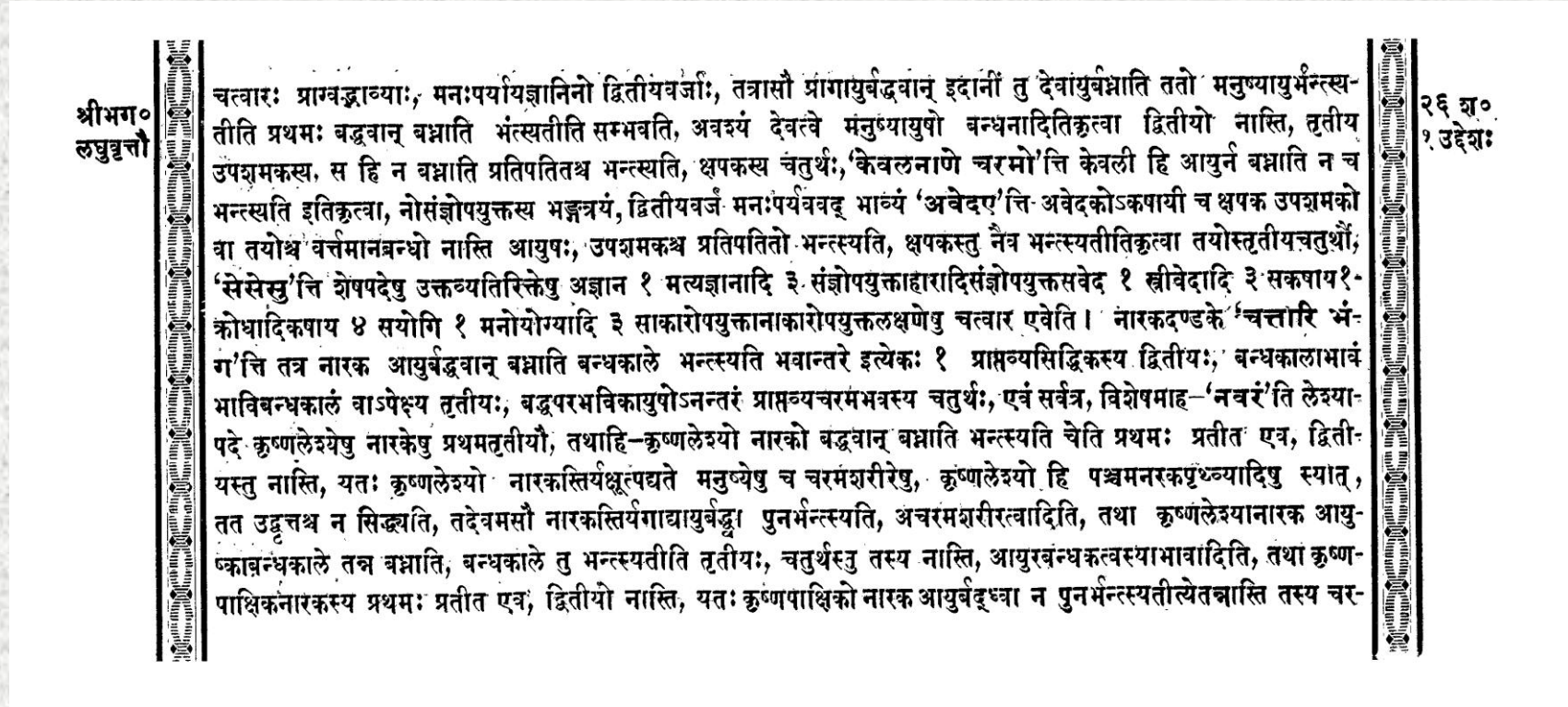

श्रीभग० लघुवृत्तौ

चत्वारः प्राग्वद्वाच्याः, मनःपर्यायज्ञानिनो द्वितीयवर्जाः, तत्रासौ प्रागायुर्बद्धवान् इदानीं तु देवायुर्बध्नाति ततो मनुष्यायुर्भन्त्स्य-
तीति प्रथमः बद्धवान् बध्नाति भंत्स्यतीति सम्भवति, अवश्यं देवत्वे मनुष्यायुषो बन्धनादितिकृत्वा द्वितीयो नास्ति, तृतीय
उपशमकस्य, स हि न बध्नाति प्रतिपतितश्च भन्त्स्यति, क्षपकस्य चतुर्थः,'केवलनाणे चरमो'त्ति केवली हि आयुर्न बध्नाति न च
भन्त्स्यति इतिकृत्वा, नोसंज्ञोपयुक्तस्य भङ्गत्रयं, द्वितीयवर्जं मनःपर्यववद् भाव्यं 'अवेदए'त्ति अवेदकोऽकषायी च क्षपक उपशमको
वा तयोश्च वर्त्तमानबन्धो नास्ति आयुषः, उपशमकश्च प्रतिपतितो भन्त्स्यति, क्षपकस्तु नैव भन्त्स्यतीतिकृत्वा तयोस्तृतीयचतुर्थौ,
'सेसेसु'त्ति शेषपदेषु उक्तव्यतिरिक्तेषु अज्ञान १ मत्यज्ञानादि ३ संज्ञोपयुक्ताहारादिसंज्ञोपयुक्तसवेद १ स्त्रीवेदादि ३ सकषाय१-
क्रोधादिकषाय ४ सयोगि १ मनोयोग्यादि ३ साकारोपयुक्तानाकारोपयुक्तलक्षणेषु चत्वार एवेति। नारकदण्डके 'चत्तारि भंग'त्ति तत्र नारक आयुर्बद्धवान् बध्नाति बन्धकाले भन्त्स्यति भवान्तरे इत्येकः १ प्राप्तव्यसिद्धिकस्य द्वितीयः, बन्धकालाभावं
भाविबन्धकालं वाऽपेक्ष्य तृतीयः, बद्धपरभविकायुषोऽनन्तरं प्राप्तव्यचरमभवस्य चतुर्थः, एवं सर्वत्र, विशेषमाह–'नवरं'ति लेश्या-
पदे कृष्णलेश्येषु नारकेषु प्रथमतृतीयौ, तथाहि–कृष्णलेश्यो नारको बद्धवान् बध्नाति भन्त्स्यति चेति प्रथमः प्रतीत एव, द्वितीः
यस्तु नास्ति, यतः कृष्णलेश्यो नारकस्तिर्यक्षूत्पद्यते मनुष्येषु च चरमशरीरेषु, कृष्णलेश्यो हि पञ्चमनरकपृथ्व्यादिषु स्यात्,
तत उद्वृत्तश्च न सिद्ध्यति, तदेवमसौ नारकस्तिर्यगाद्यायुर्बद्ध्वा पुनर्भन्त्स्यति, अचरमशरीरत्वादिति, तथा कृष्णलेश्यानारक आयु-
ष्काबन्धकाले तन्न बध्नाति, बन्धकाले तु भन्त्स्यतीति तृतीयः, चतुर्थस्तु तस्य नास्ति, आयुरबन्धकत्वस्याभावादिति, तथा कृष्ण-
पाक्षिकनारकस्य प्रथमः प्रतीत एव, द्वितीयो नास्ति, यतः कृष्णपाक्षिको नारक आयुर्बद्ध्वा न पुनर्भन्त्स्यतीत्येतन्नास्ति तस्य चर-

२६ श०
१ उद्देशः

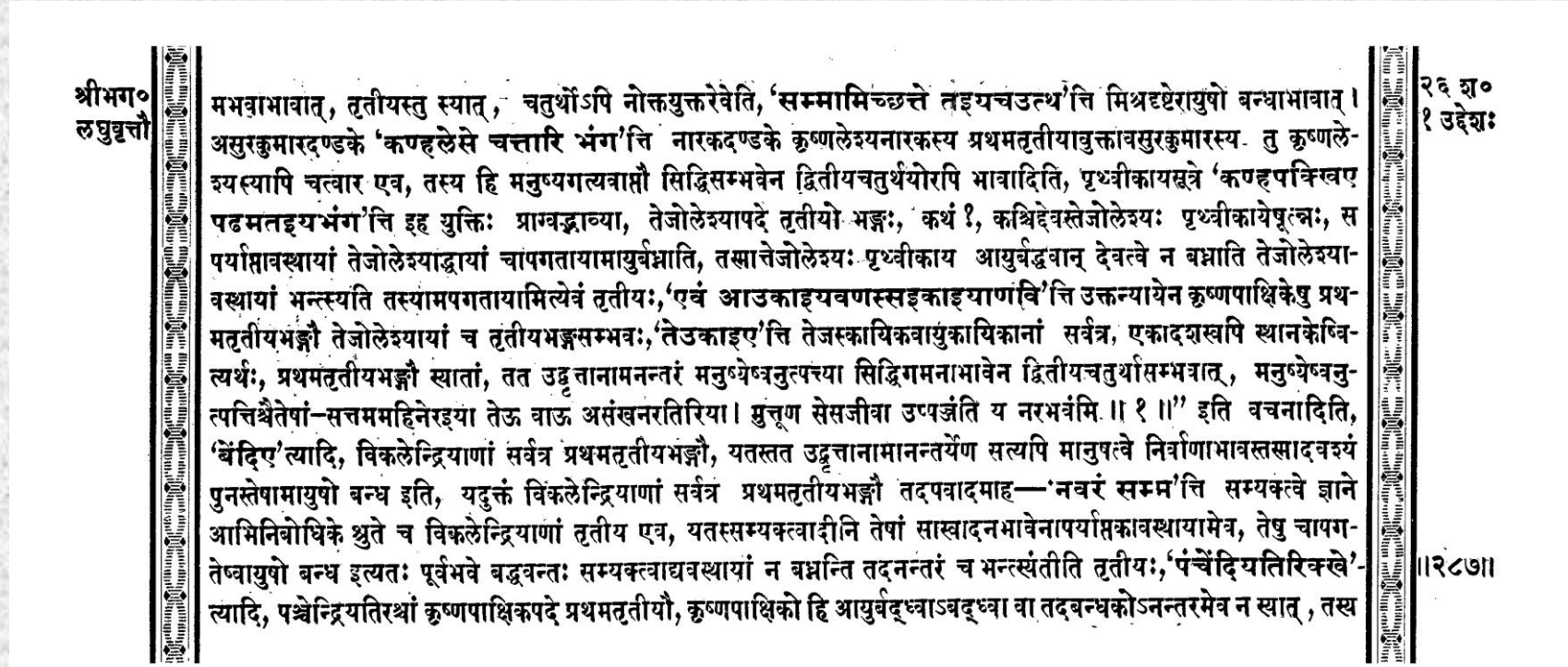

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मभवाभावात्, तृतीयस्तु स्यात्, चतुर्थोऽपि नोक्तयुक्तरेवेति, ‘सम्मामिच्छत्ते तइयचउत्थ’त्ति मिश्रदृष्टेरायुषो बन्धाभावात्। असुरकुमारदण्डके ‘कण्हलेसे चत्तारि भंग’त्ति नारकदण्डके कृष्णलेश्यनारकस्य प्रथमतृतीयावुक्तावसुरकुमारस्य तु कृष्णलेश्यस्यापि चत्वार एव, तस्य हि मनुष्यगत्यवाप्तौ सिद्धिसम्भवेन द्वितीयचतुर्थयोरपि भावादिति, पृथ्वीकायसूत्रे ‘कण्हपक्खिएसु पढमतइयभंग’त्ति इह युक्तिः प्राग्वद्भाव्या, तेजोलेश्यापदे तृतीयो भङ्गः, कथं?, कश्चिद्देवस्तेजोलेश्यः पृथ्वीकायेषूत्पन्नः, स पर्याप्तावस्थायां तेजोलेश्याद्धायां चापगतायामायुर्बध्नाति, तस्मात्तेजोलेश्यः पृथ्वीकाय आयुर्बद्धवान् देवत्वे न बध्नाति तेजोलेश्यावस्थायां भन्त्स्यति तस्यामपगतायामित्येवं तृतीयः,‘एवं आउकाइयवणस्सइकाइयाणंवि’त्ति उक्तन्यायेन कृष्णपाक्षिकेषु प्रथमतृतीयभङ्गौ तेजोलेश्यायां च तृतीयभङ्गसम्भवः,‘तेउकाइए’त्ति तेजस्कायिकवायुकायिकानां सर्वत्र, एकादशस्वपि स्थानकेष्वित्यर्थः, प्रथमतृतीयभङ्गौ स्यातां, तत उद्वृत्तानामनन्तरं मनुष्येष्वनुत्पत्त्या सिद्धिगमनाभावेन द्वितीयचतुर्थासम्भवात्, मनुष्येष्वनुत्पत्तिश्चैतेषां–सत्तममहिनेरइया तेऊ वाऊ असंखनरतिरिया। मुत्तूण सेसजीवा उप्पज्जंति य नरभवंमि ॥ १ ॥” इति वचनादिति, ‘बेंदिए’त्यादि, विकलेन्द्रियाणां सर्वत्र प्रथमतृतीयभङ्गौ, यतस्तत उद्वृत्तानामानन्तर्येण सत्यपि मानुषत्वे निर्वाणाभावस्तस्मादवश्यं पुनस्तेषामायुषो बन्ध इति, यदुक्तं विकलेन्द्रियाणां सर्वत्र प्रथमतृतीयभङ्गौ तदपवादमाह—‘नवरं सम्म’त्ति सम्यक्त्वे ज्ञाने आभिनिबोधिके श्रुते च विकलेन्द्रियाणां तृतीय एव, यतस्सम्यक्त्वादीनि तेषां सास्वादनभावेनापर्याप्तकावस्थायामेव, तेषु चापगतेष्वायुषो बन्ध इत्यतः पूर्वभवे बद्धवन्तः सम्यक्त्वाद्यवस्थायां न बध्नन्ति तदनन्तरं च भन्त्स्यंतीति तृतीयः,‘पंचेंदियतिरिक्खे’त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिरश्चां कृष्णपाक्षिकपदे प्रथमतृतीयौ, कृष्णपाक्षिको हि आयुर्बद्ध्वाऽबद्ध्वा वा तदबन्धकोऽनन्तरमेव न स्यात्, तस्य

२६ श० १ उद्देशः

॥२८७॥

सिद्धिगमनायोग्यत्वादिति, ‘सम्मामिच्छत्ते तइयचउत्थे’त्ति मिश्रदृष्टेरायुषो बन्धाभावात् तृतीयचतुर्थावेव, भावितं चैतत्प्रागेव, ‘सम्मत्ते’त्ति पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यक्त्वादिषु पञ्चसु द्वितीयवर्जा भङ्गाः स्युः, कथं ?, यदा सम्यग्दृष्ट्यादिः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् आयुर्बध्नाति तदा देवेष्वेव, स च पुनरपि भंत्स्यतीति न द्वितीयसम्भवः, प्रथमतृतीयौ तु प्रतीतातेव, चतुर्थः पुनरेवं–यदा मनुष्येषु बद्धायुरसौ सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, अनन्तरं च प्राप्तव्यचरमभवस्तदेति,‘मणुस्साणं जहा जीवाणं’ति, अथ विशेषमाह–‘नवरं’ति सम्यक्त्वसामान्ये ज्ञानादिषु पञ्चसु पदेषु मनुया द्वितीयविहीनाः, भावना चेह पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सूत्रवद् ज्ञेया ॥२६ शते प्रथमः॥

प्रथमोद्देशे जीवादिद्वारैकादशप्रतिबद्धैर्नवभिः पापकर्मादिप्रकरणैर्जीवादीनि पञ्चविंशतिर्जीवस्थानानि उक्तानि, द्वितीयेऽपि तथैव तानि चतुर्विंशतिः उच्यन्ते,‘अणंतरोववन्नएणं’ति (सू.८१५) इहाद्यावेव भङ्गौ, अनन्तरोत्पन्ननारकस्य मोहलक्षणपापकर्मबन्धकत्वासम्भवात्, तद्धि सूक्ष्मसम्परायादिषु स्यात्, तानि च तस्य न सन्ति, ‘सव्वत्थ’त्ति लेश्यादिपदेषु, एतेषु सामान्यनारकादीनां सम्भवन्त्यपि यानि पदान्यनन्तरोत्पन्ननारकादीनामपर्याप्तत्वेन न सन्ति तानि तेषां न प्रष्टव्यानि इति दर्शयन्नाह–‘नवरं’ति, तत्र च सम्यग्मिथ्यात्वाद्युक्तत्रयं यद्यपि नारकाणामस्ति तथाऽपीहानन्तरोत्पन्नतया तेषां तन्नास्तीति न प्रष्टव्यं, एवमुत्तरत्रापि, आयुःकर्मदण्डके ‘मणुस्साणं सव्वत्थ तइयचउत्थ’त्ति यतोऽनन्तरोत्पन्नो मनुष्यो नायुर्बध्नाति, भन्त्स्यति पुनः, चरमशरीरस्त्वसौ न बध्नाति न भन्त्स्यतीति, ‘कण्हपक्खिएसु तइओ’त्ति कृष्णपाक्षिकत्वेन भन्त्स्यतीत्येतस्य पदस्यासम्भवात् तृतीय एव, ‘सव्वेसिं नाणत्ताइं ताइं चेव’त्ति सर्वेषां नारकादिजीवानां यानि पापकर्मदण्डके उक्तानि नानात्वानि तान्येवायुर्दण्डकेऽपीति ॥ २६ शते द्वितीयः ॥

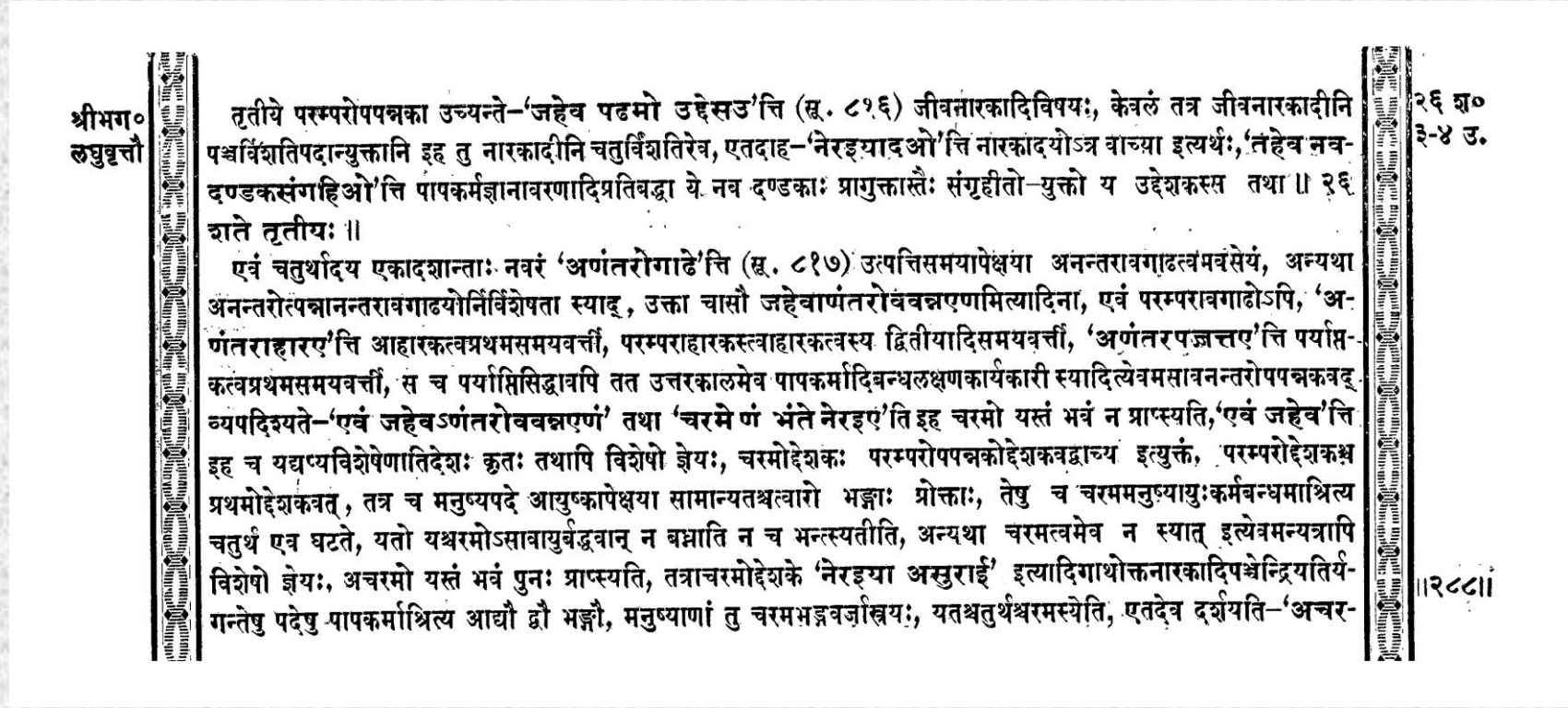

श्रीभग० लघुवृत्तौ

तृतीये परम्परोपपन्नका उच्यन्ते–'जहेव पढमो उद्देसउ'त्ति (सू. ८१६) जीवनारकादिविषयः, केवलं तत्र जीवनारकादीनि पञ्चविंशतिपदान्युक्तानि इह तु नारकादीनि चतुर्विंशतिरेव, एतदाह–'नेरइयादओ'त्ति नारकादयोऽत्र वाच्या इत्यर्थः, 'तहेव नवदण्डकसंगहिओ'त्ति पापकर्मज्ञानावरणादिप्रतिबद्धा ये नव दण्डकाः प्रागुक्तास्तैः संगृहीतो–युक्तो य उद्देशकस्स तथा ॥ २६ शते तृतीयः ॥

एवं चतुर्थादय एकादशान्ताः नवरं 'अणंतरोगाढे'त्ति (सू. ८१७) उत्पत्तिसमयापेक्षया अनन्तरावगाढत्वमवसेयं, अन्यथा अनन्तरोत्पन्नानन्तरावगाढयोर्निर्विशेषता स्याद्, उक्ता चासौ जहेवाणंतरोववन्नएणमित्यादिना, एवं परम्परावगाढोऽपि, 'अणंतराहारए'त्ति आहारकत्वप्रथमसमयवर्त्ती, परम्पराहारकस्त्वाहारकत्वस्य द्वितीयादिसमयवर्त्ती, 'अणंतरपज्जत्तए'त्ति पर्याप्तकत्वप्रथमसमयवर्त्ती, स च पर्याप्तिसिद्धावपि तत उत्तरकालमेव पापकर्मादिबन्धलक्षणकार्यकारी स्यादित्येवमसावनन्तरोपपन्नकवद् व्यपदिश्यते–'एवं जहेवऽणंतरोववन्नएणं' तथा 'चरमे णं भंते नेरइए'त्ति इह चरमो यस्तं भवं न प्राप्स्यति,'एवं जहेव'त्ति इह च यद्यप्यविशेषेणातिदेशः कृतः तथापि विशेषो ज्ञेयः, चरमोद्देशकः परम्परोपपन्नकोद्देशकवद्वाच्य इत्युक्तं, परम्परोद्देशकश्च प्रथमोद्देशकवत्, तत्र च मनुष्यपदे आयुष्कापेक्षया सामान्यतश्चत्वारो भङ्गाः प्रोक्ताः, तेषु च चरममनुष्यायुःकर्मबन्धमाश्रित्य चतुर्थ एव घटते, यतो यश्चरमोऽसावायुर्बद्धवान् न बध्नाति न च भन्त्स्यतीति, अन्यथा चरमत्वमेव न स्यात् इत्येवमन्यत्रापि विशेषो ज्ञेयः, अचरमो यस्तं भवं पुनः प्राप्स्यति, तत्राचरमोद्देशके 'नेरइया असुराई' इत्यादिगाथोक्तनारकादिपञ्चेन्द्रियतिर्यगन्तेषु पदेषु पापकर्माश्रित्य आद्यौ द्वौ भङ्गौ, मनुष्याणां तु चरमभङ्गवर्जास्त्रयः, यतश्चतुर्थश्चरमस्येति, एतदेव दर्शयति–'अचर-

२६ श० ३-४ उ.

॥२८८॥

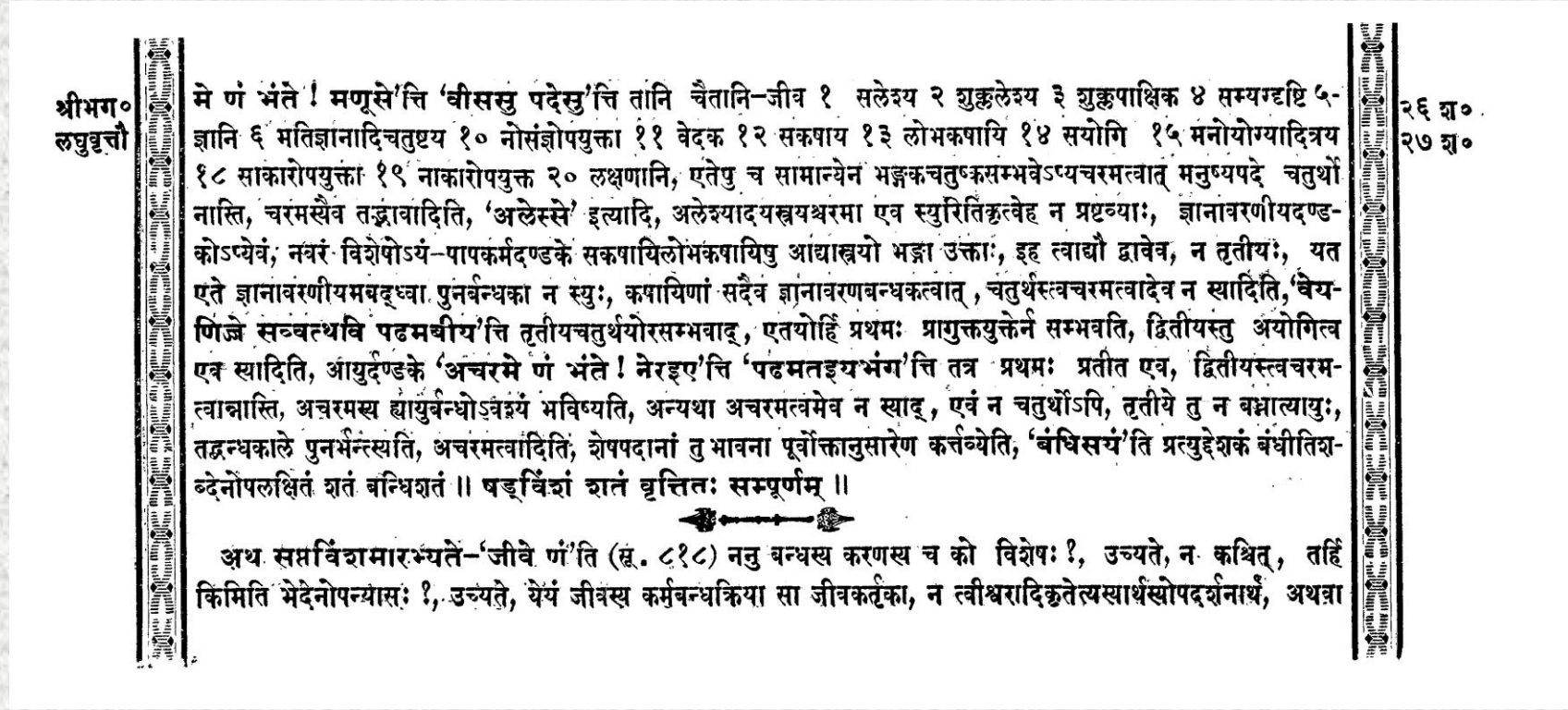

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मे णं भंते ! मणूसे'त्ति 'वीससु पदेसु'त्ति तानि चैतानि–जीव १ सलेश्य २ शुक्ललेश्य ३ शुक्लपाक्षिक ४ सम्यग्दृष्टि ५-ज्ञानि ६ मतिज्ञानादिचतुष्टय १० नोसंज्ञोपयुक्ता ११ वेदक १२ सकषाय १३ लोभकषायि १४ सयोगि १५ मनोयोग्यादित्रय १८ साकारोपयुक्ता १९ नाकारोपयुक्त २० लक्षणानि, एतेषु च सामान्येन भङ्गकचतुष्कसम्भवेऽप्यचरमत्वात् मनुष्यपदे चतुर्थो नास्ति, चरमस्यैव तद्भावादिति, 'अलेस्से' इत्यादि, अलेश्यादयस्त्वयश्चरमा एव स्युरितिकृत्वेह न प्रष्टव्याः, ज्ञानावरणीयदण्डकोऽप्येवं; नवरं विशेषोऽयं–पापकर्मदण्डके सकषायिलोभकषायिषु आद्यास्त्रयो भङ्गा उक्ताः, इह त्वाद्यौ द्वावेव, न तृतीयः, यत एते ज्ञानावरणीयमबद्ध्वा पुनर्बन्धका न स्युः, कषायिणां सदैव ज्ञानावरणबन्धकत्वात्, चतुर्थस्त्वचरमत्वादेव न स्यादिति,'वेयणिज्जे सव्वत्थवि पढमबीय'त्ति तृतीयचतुर्थयोरसम्भवाद्, एतयोर्हि प्रथमः प्रागुक्तयुक्तेन सम्भवति, द्वितीयस्तु अयोगित्व एव स्यादिति, आयुर्दण्डके 'अचरमे णं भंते ! नेरइए'त्ति 'पढमतइयभंग'त्ति तत्र प्रथमः प्रतीत एव, द्वितीयस्त्वचरमत्वान्नास्ति, अचरमस्य ह्यायुर्बन्धोऽवश्यं भविष्यति, अन्यथा अचरमत्वमेव न स्याद्, एवं न चतुर्थोऽपि, तृतीये तु न बध्नात्यायुः, तद्बन्धकाले पुनर्भन्त्स्यति, अचरमत्वादिति, शेषपदानां तु भावना पूर्वोक्तानुसारेण कर्त्तव्येति, 'बंधिसयं'ति प्रत्युद्देशकं बंधीतिशब्देनोपलक्षितं शतं बन्धिशतं ॥ षड्विंशं शतं वृत्तितः सम्पूर्णम् ॥

अथ सप्तविंशमारभ्यते–'जीवे णं'ति (सू. ८१८) ननु बन्धस्य करणस्य च को विशेषः ?, उच्यते, न कश्चित्, तर्हि किमिति भेदेनोपन्यासः ?, उच्यते, येयं जीवस्य कर्मबन्धक्रिया सा जीवकर्तृका, न त्वीश्वरादिकृतेत्यस्यार्थस्योपदर्शनार्थं, अथवा

२६ श०
२७ श०

*** अत्र शतक-२६ समाप्तं. अथ शतक-२७ आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [८१८]

दीप अनुक्रम [९९१]

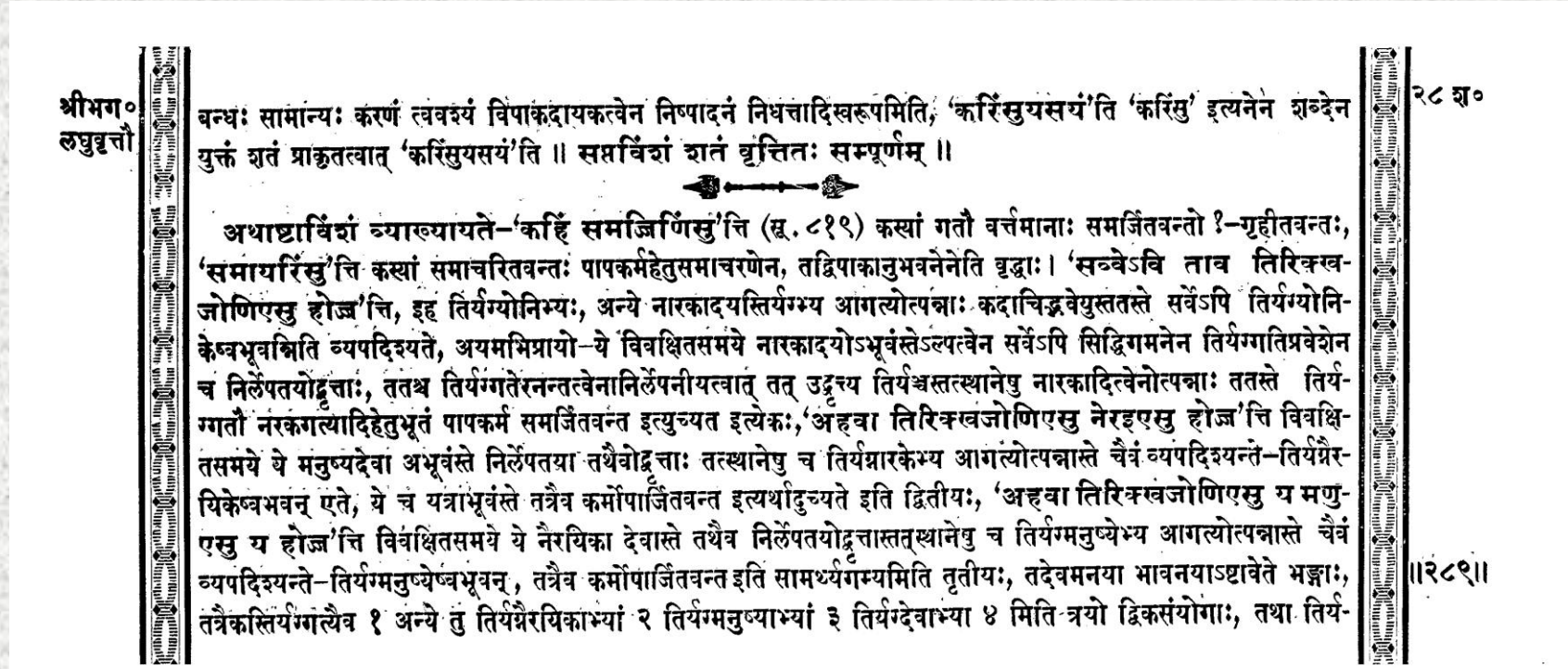

श्रीभग० लघुवृत्तौ

बन्धः सामान्यः करणं त्ववश्यं विपाकदायकत्वेन निष्पादनं निधत्तादिस्वरूपमिति, 'करिंसुयसयं'ति 'करिंसु' इत्यनेन शब्देन युक्तं शतं प्राकृतत्वात् 'करिंसुयसयं'ति ॥ सप्तविंशं शतं वृत्तितः सम्पूर्णम् ॥

अथाष्टाविंशं व्याख्यायते–'कहिं समज्जिणिंसु'त्ति (सू. ८१९) कस्यां गतौ वर्त्तमानाः समर्जितवन्तो ?–गृहीतवन्तः, 'समायरिंसु'त्ति कस्यां समाचरितवन्तः पापकर्महेतुसमाचरणेन, तद्विपाकानुभवनेनेति वृद्धाः। 'सव्वेऽवि ताव तिरिक्खजोणिएसु होज्ज'त्ति, इह तिर्यग्योनिभ्यः, अन्ये नारकादयस्तिर्यग्भ्य आगत्योत्पन्नाः कदाचिद्भवेयुस्ततस्ते सर्वेऽपि तिर्यग्योनिकेष्वभूवन्निति व्यपदिश्यते, अयमभिप्रायो–ये विवक्षितसमये नारकादयोऽभूवंस्तेऽल्पत्वेन सर्वेऽपि सिद्धिगमनेन तिर्यग्गतिप्रवेशेन च निर्लेपतयोद्वृत्ताः, ततश्च तिर्यग्गतेरनन्तत्वेनानिर्लेपनीयत्वात् तत् उद्वृत्य तिर्यञ्चस्तत्स्थानेषु नारकादित्वेनोत्पन्नाः ततस्ते तिर्यग्गतौ नरकगत्यादिहेतुभूतं पापकर्म समर्जितवन्त इत्युच्यत इत्येकः,'अहवा तिरिक्खजोणिएसु नेरइएसु होज्ज'त्ति विवक्षितसमये ये मनुष्यदेवा अभूवंस्ते निर्लेपतया तथैवोद्वृत्ताः तत्स्थानेषु च तिर्यग्नारकेभ्य आगत्योत्पन्नास्ते चैवं व्यपदिश्यन्ते–तिर्यग्नैरयिकेष्वभवन् एते, ये च यत्राभूवंस्ते तत्रैव कर्मोपार्जितवन्त इत्यर्थादुच्यते इति द्वितीयः, 'अहवा तिरिक्खजोणिएसु य मणुएसु य होज्ज'त्ति विवक्षितसमये ये नैरयिका देवास्ते तथैव निर्लेपतयोद्वृत्तास्तत्स्थानेषु च तिर्यग्मनुष्येभ्य आगत्योत्पन्नास्ते चैवं व्यपदिश्यन्ते–तिर्यग्मनुष्येष्वभूवन्, तत्रैव कर्मोपार्जितवन्त इति सामर्थ्यगम्यमिति तृतीयः, तदेवमनया भावनयाऽष्टावेते भङ्गाः, तत्रैकस्तिर्यग्गत्यैव १ अन्ये तु तिर्यग्नैरयिकाभ्यां २ तिर्यग्मनुष्याभ्यां ३ तिर्यग्देवाभ्यां ४ मिति त्रयो द्विकसंयोगाः, तथा तिर्य-

२८ श०

॥२८९॥

*** अत्र शतक-२७ समाप्तं. अथ शतक-२८ आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [८१९-८२०]

दीप अनुक्रम [९९२-९९४]

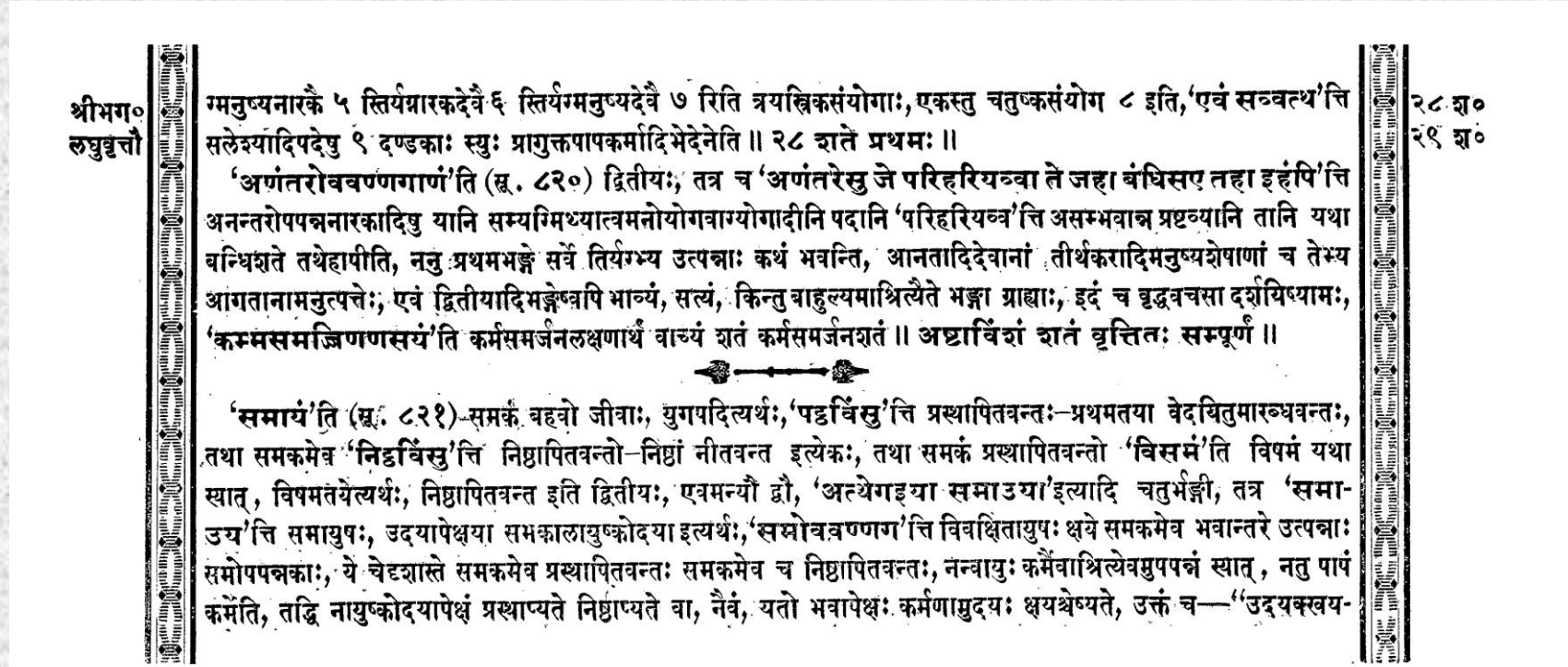

श्रीभग० लघुवृत्तौ

ग्मनुष्यनारकै ५ स्तिर्यग्नारकदेवै ६ स्तिर्यग्मनुष्यदेवै ७ रिति त्रयस्त्रिकसंयोगाः, एकस्तु चतुष्कसंयोग ८ इति, 'एवं सव्वत्थ'त्ति सलेश्यादिपदेषु ९ दण्डकाः स्युः प्रागुक्तपापकर्मादिभेदेनेति ॥ २८ शते प्रथमः ॥

'अणंतरोववण्णगाणं'ति (सू. ८२०) द्वितीयः, तत्र च 'अणंतरेसु जे परिहरियव्वा ते जहा बंधिसए तहा इहंपि'त्ति अनन्तरोपपन्ननारकादिषु यानि सम्यग्मिथ्यात्वमनोयोगवाग्योगादीनि पदानि 'परिहरियव्व'त्ति असम्भवान्न प्रष्टव्यानि तानि यथा बन्धिशते तथेहापीति, ननु प्रथमभङ्गे सर्वे तिर्यग्भ्य उत्पन्नाः कथं भवन्ति, आनतादिदेवानां तीर्थकरादिमनुष्यशेषाणां च तेभ्य आगतानामनुत्पत्तेः, एवं द्वितीयादिभङ्गेष्वपि भाव्यं, सत्यं, किन्तु बाहुल्यमाश्रित्यैते भङ्गा ग्राह्याः, इदं च वृद्धवचसा दर्शयिष्यामः, 'कम्मसमज्जिणणसयं'ति कर्मसमर्जनलक्षणार्थं वाच्यं शतं कर्मसमर्जनशतं ॥ अष्टाविंशं शतं वृत्तितः सम्पूर्णं ॥

'समायं'ति (सू. ८२१)-समकं बहवो जीवाः, युगपदित्यर्थः, 'पट्ठविंसु'त्ति प्रस्थापितवन्तः-प्रथमतया वेदयितुमारब्धवन्तः, तथा समकमेव 'निट्ठविंसु'त्ति निष्ठापितवन्तो-निष्ठां नीतवन्त इत्येकः, तथा समकं प्रस्थापितवन्तो 'विसमं'ति विषमं यथा स्यात्, विषमतयेत्यर्थः, निष्ठापितवन्त इति द्वितीयः, एवमन्यौ द्वौ, 'अत्थेगइया समाउया'इत्यादि चतुर्भङ्गी, तत्र 'समाउय'त्ति समायुषः, उदयापेक्षया समकालायुष्कोदया इत्यर्थः, 'समोववण्णग'त्ति विवक्षितायुषः क्षये समकमेव भवान्तरे उत्पन्नाः समोपपन्नकाः, ये चेदृशास्ते समकमेव प्रस्थापितवन्तः समकमेव च निष्ठापितवन्तः, नन्वायुः कर्मैवाश्रित्येवमुपपन्नं स्यात्, नतु पापं कर्मेति, तद्धि नायुष्कोदयापेक्षं प्रस्थाप्यते निष्ठाप्यते वा, नैवं, यतो भवापेक्षः कर्मणामुदयः क्षयश्चेष्यते, उक्तं च—"उदयक्खय-

२८ श० २९ श०

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक-२८ समाप्तं. अथ शतक-२९ आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [८२१-८२३]

दीप अनुक्रम [९९६-९९७]

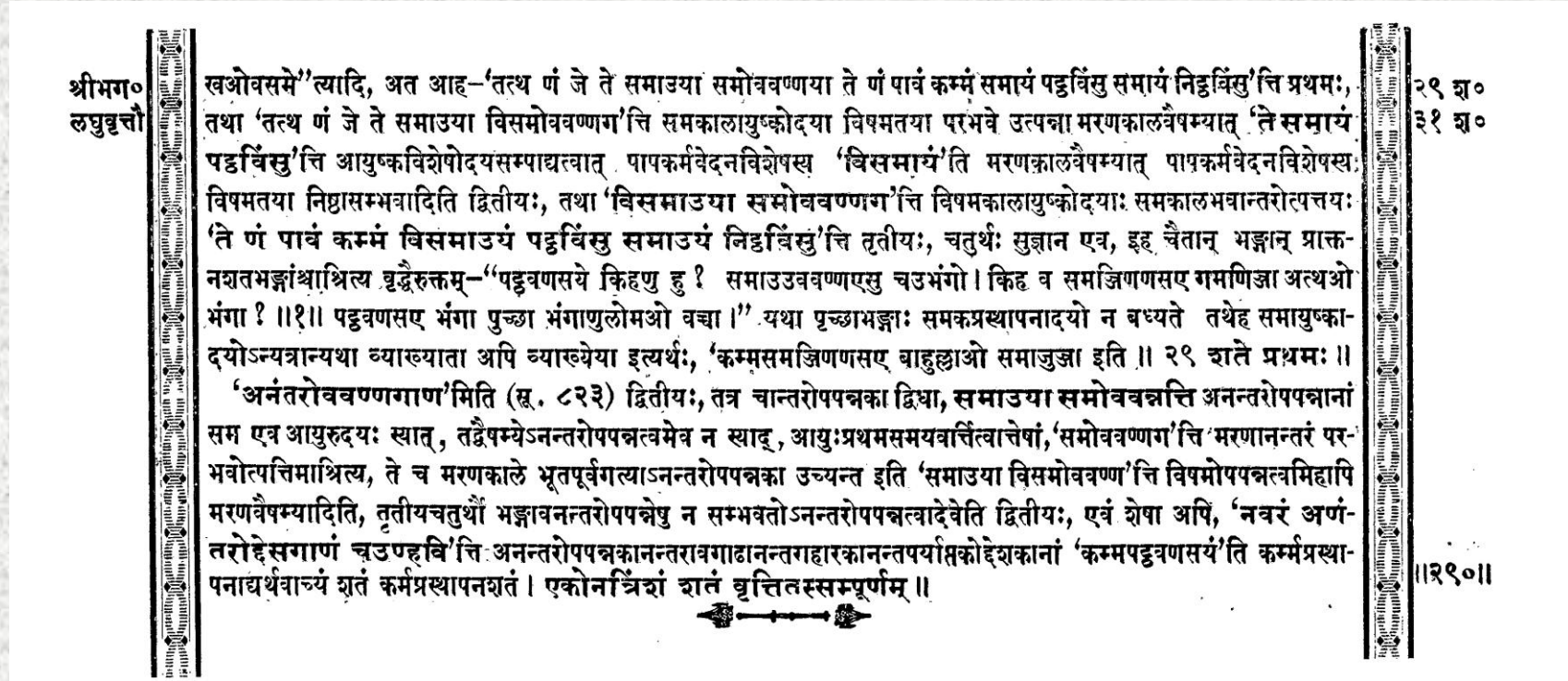

श्रीभग० लघुवृत्तौ

खओवसमे"त्यादि, अत आह–'तत्थ णं जे ते समाउया समोववण्णया ते णं पावं कम्मं समायं पट्ठविंसु समायं निट्ठविंसु'त्ति प्रथमः, तथा 'तत्थ णं जे ते समाउया विसमोववण्णग'त्ति समकालायुष्कोदया विषमतया परभवे उत्पन्ना मरणकालवैषम्यात् 'ते समायं पट्ठविंसु'त्ति आयुष्कविशेषोदयसम्पाद्यत्वात् पापकर्मवेदनविशेषस्य 'विसमायं'ति मरणकालवैषम्यात् पापकर्मवेदनविशेषस्य विषमतया निष्ठासम्भवादिति द्वितीयः, तथा 'विसमाउया समोववण्णग'त्ति विषमकालायुष्कोदयाः समकालभवान्तरोत्पत्तयः 'ते णं पावं कम्मं विसमाउयं पट्ठविंसु समाउयं निट्ठविंसु'त्ति तृतीयः, चतुर्थः सुज्ञान एव, इह चैतान् भङ्गान् प्राक्तनशतभङ्गांश्चाश्रित्य वृद्धैरुक्तम्–"पट्ठवणसये किहणु हु ? समाउउववण्णएसु चउभंगो। किह व समज्जिणणसए गमणिज्जा अत्थओ भंगा ? ॥१॥ पट्ठवणसए भंगा पुच्छा भंगाणुलोमओ वच्चा।" यथा पृच्छाभङ्गाः समकप्रस्थापनादयो न बध्यते तथेह समायुष्कादयोऽन्यत्रान्यथा व्याख्याता अपि व्याख्येया इत्यर्थः, 'कम्मसमज्जिणणसए बाहुल्लाओ समाजुज्जा इति ॥ २९ शते प्रथमः ॥

'अनंतरोववण्णगाण'मिति (सू. ८२३) द्वितीयः, तत्र चान्तरोपपन्नका द्विधा, समाउया समोववन्नत्ति अनन्तरोपपन्नानां सम एव आयुरुदयः स्यात्, तद्वैषम्येऽनन्तरोपपन्नत्वमेव न स्याद्, आयुःप्रथमसमयवर्त्तित्वात्तेषां, 'समोववण्णग'त्ति मरणानन्तरं परभवोत्पत्तिमाश्रित्य, ते च मरणकाले भूतपूर्वगत्याऽनन्तरोपपन्नका उच्यन्त इति 'समाउया विसमोववण्ण'त्ति विषमोपपन्नत्वमिहापि मरणवैषम्यादिति, तृतीयचतुर्थौ भङ्गावनन्तरोपपन्नेषु न सम्भवतोऽनन्तरोपपन्नत्वादेवेति द्वितीयः, एवं शेषा अपि, 'नवरं अणंतरोद्देसगाणं चउण्हवि'त्ति अनन्तरोपपन्नकानन्तरावगाढानन्तगहारकानन्तपर्याप्तकोद्देशकानां 'कम्मपट्ठवणसयं'ति कर्म्मप्रस्थापनाद्यर्थवाच्यं शतं कर्मप्रस्थापनशतं। एकोनत्रिंशं शतं वृत्तितस्सम्पूर्णम् ॥

२९ श० ३१ श०

॥२९०॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक-२९ समाप्तं.

*** अत्र शतक-२९ एव वर्तते, मूल संपादने यत् ३१ श० मुद्रितं तत् मुद्रणदोष: ज्ञातव्य:

प्रत सूत्रांक [८२४-८२८]

दीप अनुक्रम [९९८-१००२]

अथ त्रिंशमारभ्यते–'समोसरण'त्ति (सू. ८२४) समवसरन्ति नानापरिणामा जीवाः कथञ्चित्तुल्यतया येषु मतेषु तानि समवसरणानि,'किरियावाइ'त्ति क्रिया कर्त्तारं विना न सम्भवति, सा चात्मसमवायिनीति ये वदन्ति ते क्रियावादिनः, ते चाशीत्यधिकशतं स्थानान्तरादवसेयाः, अन्ये त्वाहुः–क्रियैव प्रधाना, किं ज्ञानेन? एवमन्यत्रापि, 'अकिरियावाई'ति अक्रियां–क्रियाया अभावं, नहि कस्यचिदप्यनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति, तद्भावे चानवस्थितेरभावादिति, इदं ये वदन्ति तेऽक्रियावादिनः, तथा चाहुरेके–"क्षणिकाः सर्वसंस्कारा, अस्थितानां कुतः क्रिया?। भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यत॥१॥" इत्यादि,अन्ये त्वाहुः–अक्रियावादिनो ये ब्रुवते–किं क्रियया?, चित्तशुद्धिरेव कार्या, ते च बौद्धाः, अन्ये तु व्याख्यान्ति–अक्रियां–जीवादिः पदार्थो नास्ति इत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते अक्रियावादिनः, ते चात्मादिपदार्थनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाश्चतुरशीतिविकल्पाः स्थानान्तरादवसेयाः, 'अन्नाणियवाइ'त्ति अज्ञानिकवादिनः, ते चाज्ञानमेव श्रेयः असञ्चिन्त्यकृतकर्मबन्धवैफल्यात्, तथा ज्ञानं न कस्यापि क्वचिदपि वस्तुन्यस्ति, प्रमाणानामसम्पूर्णवस्तुविषयत्वादिति येऽभ्युपगतवन्तः, ते सप्तषष्टिसङ्ख्याः स्थानान्तरादवसेयाः, 'वेणइयवाइ'त्ति वैनयिकवादिनः, विनय एव वैनयिकं तदेव यैः स्वर्गादिहेतुतया वदन्ति इत्येवंशीलास्ते वैनयिकवादिनः, एते चानवधृतलिङ्गाचारशास्त्रविनयप्रतिपत्तिलक्षणा द्वात्रिंशद्विधाः स्थानान्तरादवसेयाः, अत्रार्थे "अत्थित्ति किरियवाई वयंति नत्थित्तिऽकिरियवाईओ। अन्नाणिय अन्नाणं वेणइया विणयवायंति॥१॥" एते च सर्वेऽप्यन्यत्र यद्यपि मिथ्यादृष्टय उक्ताः तथापीहाद्याः सम्यग्दृष्टयो ग्राह्याः, सम्यक्स्थितवादिनामेव तेषां समाश्रयणादिति। 'जीवा णं'ति तत्र जीवाश्चतुर्विधा अपि तथा स्वभावात् 'अलेस्सा णं'ति अलेश्याः अयोगिनः सिद्धाश्च, ते च क्रियावादिन एव, क्रियावादहेतुभूतयथावस्थितद्रव्यपर्यायरूपार्थपरिच्छेदयुक्त-

*** अत्र शतक-३० आरभ्यते

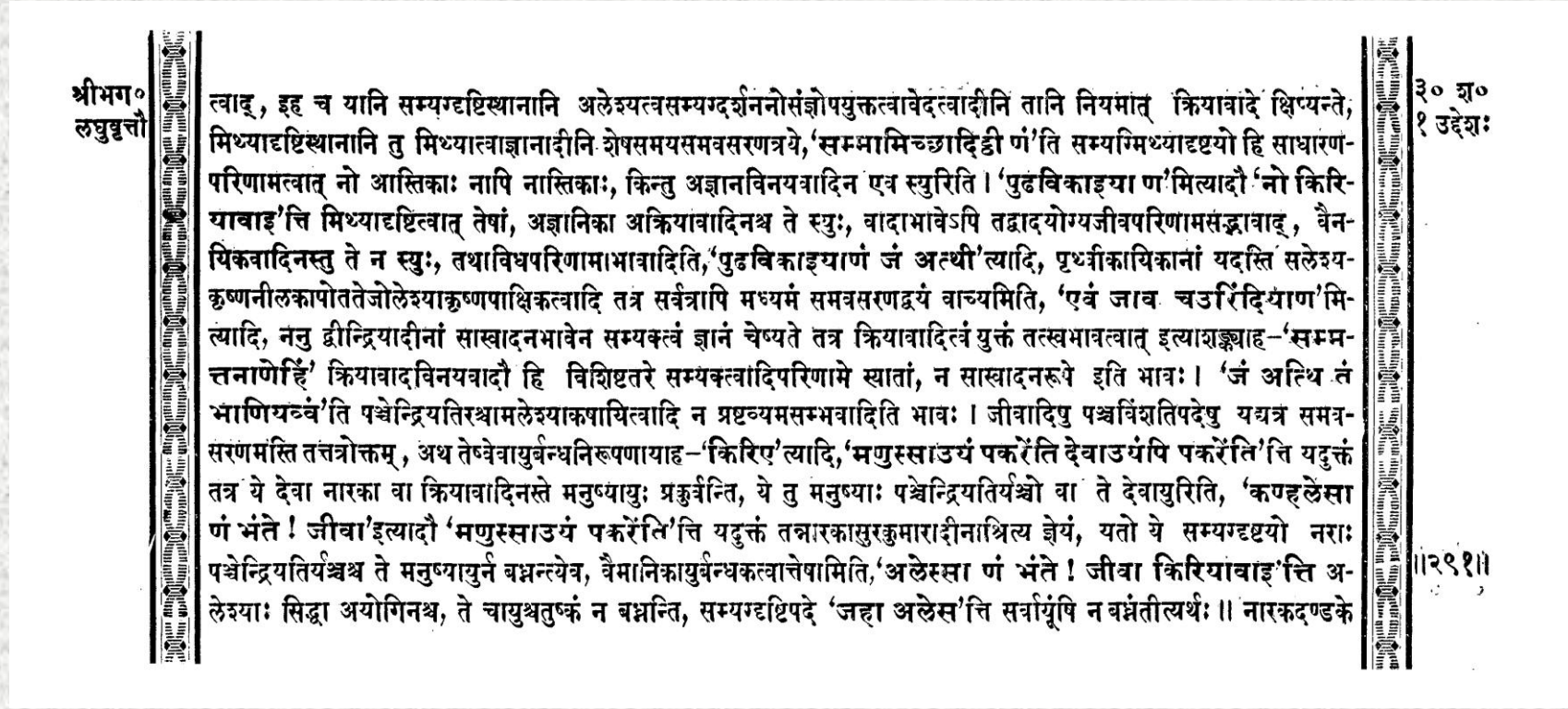

श्रीभग० लघुवृत्तौ

त्वाद्, इह च यानि सम्यग्दृष्टिस्थानानि अलेश्यत्वसम्यग्दर्शननोसंज्ञोपयुक्तत्वावेदत्वादीनि तानि नियमात् क्रियावादे क्षिप्यन्ते, मिथ्यादृष्टिस्थानानि तु मिथ्यात्वाज्ञानादीनि शेषसमयसमवसरणत्रये,'सम्मामिच्छादिट्ठी णं'ति सम्यग्मिथ्यादृष्टयो हि साधारणपरिणामत्वात् नो आस्तिकाः नापि नास्तिकाः, किन्तु अज्ञानविनयवादिन एव स्युरिति। 'पुढविकाइया ण'मित्यादौ 'नो किरियावाइ'त्ति मिथ्यादृष्टित्वात् तेषां, अज्ञानिका अक्रियावादिनश्च ते स्युः, वादाभावेऽपि तद्वादयोग्यजीवपरिणामसद्भावाद्, वैनयिकवादिनस्तु ते न स्युः, तथाविधपरिणामाभावादिति,'पुढविकाइयाणं जं अत्थी'त्यादि, पृथ्वीकायिकानां यदस्ति सलेश्यकृष्णनीलकापोततेजोलेश्याकृष्णपाक्षिकत्वादि तत्र सर्वत्रापि मध्यमं समवसरणद्वयं वाच्यमिति, 'एवं जाव चउरिंदियाण'मित्यादि, ननु द्वीन्द्रियादीनां सास्वादनभावेन सम्यक्त्वं ज्ञानं चेष्यते तत्र क्रियावादित्वं युक्तं तत्स्वभावत्वात् इत्याशङ्क्याह–'सम्मत्तनाणेहिं' क्रियावादविनयवादौ हि विशिष्टतरे सम्यक्त्वादिपरिणामे स्यातां, न सास्वादनरूपे इति भावः। 'जं अत्थि तं भाणियव्वं'ति पञ्चेन्द्रियतिरश्चामलेश्याकषायित्वादि न प्रष्टव्यमसम्भवादिति भावः। जीवादिषु पञ्चविंशतिपदेषु यद्यत्र समवसरणमस्ति तत्तत्रोक्तम्, अथ तेष्वेवायुर्बन्धनिरूपणायाह–'किरिए'त्यादि,'मणुस्साउयं पकरेंति देवाउयंपि पकरेंति'त्ति यदुक्तं तत्र ये देवा नारका वा क्रियावादिनस्ते मनुष्यायुः प्रकुर्वन्ति, ये तु मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा ते देवायुरिति, 'कण्हलेसा णं भंते ! जीवा'इत्यादौ 'मणुस्साउयं पकरेंति'त्ति यदुक्तं तन्नारकासुरकुमारादीनाश्रित्य ज्ञेयं, यतो ये सम्यग्दृष्टयो नराः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च ते मनुष्यायुर्न बध्नन्त्येव, वैमानिकायुर्बन्धकत्वात्तेषामिति,'अलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावाइ'त्ति अलेश्याः सिद्धा अयोगिनश्च, ते चायुश्चतुष्कं न बध्नन्ति, सम्यग्दृष्टिपदे 'जहा अलेस'त्ति सर्वायूंषि न बध्नंतीत्यर्थः॥ नारकदण्डके

३० श० १ उद्देशः

॥२९१॥

प्रत सूत्रांक [८२४-८२८]

दीप अनुक्रम [९९८-१००२]

'किरियावाइयाणं'ति (सू. ८२५) यन्नैरयिकायुर्देवायुश्च न प्रकुर्वन्ति क्रियावादिनारकास्तन्नारकभवानुभावादेव, यच्च तिर्यगायुर्न प्रकुर्वन्ति तत् क्रियावादानुभावादिति ज्ञेयं, अक्रियावादादिसमवसरणत्रये तु नारकाणां सर्वपदेषु तिर्यङ्मनुष्यायुषी एव स्यातां, सम्यग्मिथ्यात्वे तु विशेषोऽस्ति इति तमाह–**'नवरं सम्मे'**त्यादि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिनारकाणां द्वे एवान्तिमे समवसरणे, अतस्तेषां चायुर्बन्धो नास्ति, गुणस्थानकस्वभावाद्, अतस्ते तयोर्न किञ्चिदप्यायुः प्रकुर्वन्ति,**'पुढविकाए'** इत्यादौ **'दुविहमाउयं'**ति नरायुस्तिर्यगायुश्चेति, **'तेउलेस्साए न किंपि पकरेंति'** अपर्याप्तकावस्थायामेव पृथ्वीकायिकानां तद्भावात् तद्विगम एव चायुषो बन्धादिति **'सम्मत्तनाणेसु ण एक्कंपि आउयं पकरेंति'** द्वीन्द्रियादीनां सम्यक्त्वज्ञानकालात्यय एवायुर्बन्धः स्याद्, अल्पत्वात् कालस्येति, नैकमप्यायुर्बध्नन्ति तयोस्ते इति, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकदण्डके **'कण्हलेसाणं'**ति यदा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः सम्यग्दृष्टयः कृष्णलेश्यापरिणताः स्युस्तदाऽऽयुष्करेकमपि न बध्नंति, सम्यग्दृशां वैमानिकायुर्बन्धकत्वेन तेजोलेश्यादित्रय एव बन्धनादिति,**'तेउलेस्सा जहा सलेस्स'**त्ति अनेन च क्रियावादिनो वैमानिकायुरेव इतरे तु त्रयश्चतुर्विधमप्यायुः प्रकुर्युरित्यलं, सलेश्यानामेवंविधस्वरूपतयोक्तत्वाद्, इह तु यदनभिमतं तन्निषेधनायाह–**'नवरं अकिरियावाइ'**त्ति, शेषं तु प्रतीतार्थत्वान्न व्याख्यातमिति ॥ **त्रिंशत्तमशते प्रथमः** ॥

एवं द्वितीयादय एकादशान्ता उद्देशका व्याख्येयाः, नवरं द्वितीयोद्देशके **'इमं सलेसेणं'**ति (सू. ८२६) सलेश्यभव्यत्वस्येदं लक्षणं–क्रियावादी शुक्लपाक्षिकः सम्यग्मिथ्यादृष्टिश्च भव्य एव स्यात्, नाभव्यः, शेषास्तु भव्या अभव्याश्चेति, अलेश्यसम्यग्दृष्टिज्ञान्यवेदाकषाय्ययोगिनां भव्यत्वं प्रतीतमेवेति नोक्तमिति, तृतीयोद्देशके तु **'तियदंडगसंगहिओ'** इति, इह दण्डकत्रयं

प्रत सूत्रांक [८२९-८४१]

दीप अनुक्रम [१००३-१०१५]

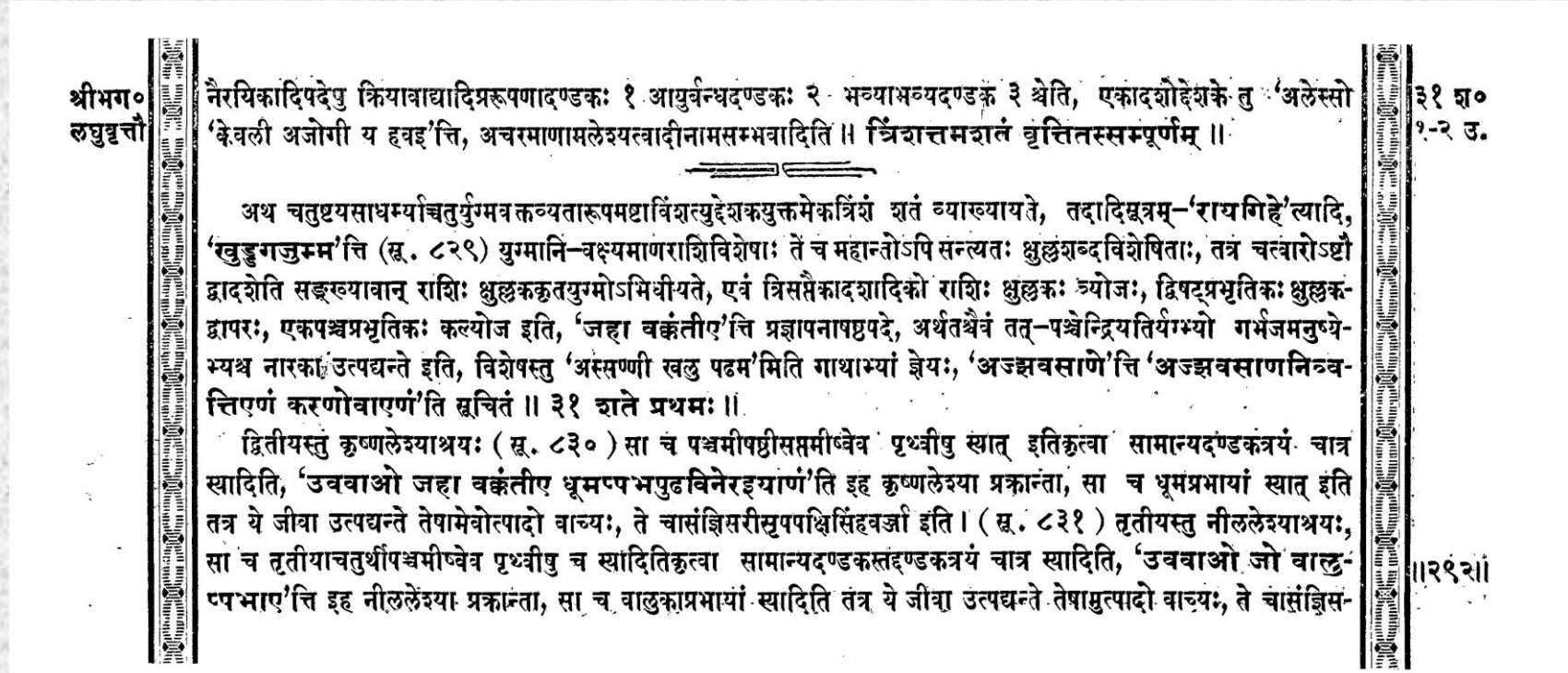

श्रीभग० लघुवृत्तौ

नैरयिकादिपदेषु क्रियावाद्यादिप्ररूपणादण्डकः १ आयुर्बन्धदण्डकः २ भव्याभव्यदण्डक ३ श्चेति, एकादशोद्देशके तु 'अलेस्सो 'केवली अजोगी य हवइ'त्ति, अचरमाणामलेश्यत्वादीनामसम्भवादिति ॥ त्रिंशत्तमशतं वृत्तितस्सम्पूर्णम् ॥

३१ श० १-२ उ.

अथ चतुष्टयसाधर्म्याच्चतुर्युग्मवक्तव्यतारूपमष्टाविंशत्युद्देशकयुक्तमेकत्रिंशं शतं व्याख्यायते, तदादिसूत्रम्–'रायगिहे'त्यादि, 'खुड्डगजुम्म'त्ति (सू. ८२९) युग्मानि–वक्ष्यमाणराशिविशेषाः तें च महान्तोऽपि सन्त्यतः क्षुल्लशब्दविशेषिताः, तत्र चत्वारोऽष्टौ द्वादशेति सङ्ख्यावान् राशिः क्षुल्लककृतयुग्मोऽभिधीयते, एवं त्रिसप्तैकादशादिको राशिः क्षुल्लकः त्र्योजः, द्विषट्प्रभृतिकः क्षुल्लकद्वापरः, एकपञ्चप्रभृतिकः कल्योज इति, 'जहा वक्कंतीए'त्ति प्रज्ञापनाषष्ठपदे, अर्थतश्चैवं तत्–पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यो गर्भजमनुष्येभ्यश्च नारका उत्पद्यन्ते इति, विशेषस्तु 'अस्सण्णी खलु पढम'मिति गाथाभ्यां ज्ञेयः, 'अज्झवसाणे'त्ति 'अज्झवसाणनिव्वत्तिएणं करणोवाएणं'ति सूचितं ॥ ३१ शते प्रथमः ॥

द्वितीयस्तु कृष्णलेश्याश्रयः (सू. ८३०) सा च पञ्चमीषष्ठीसप्तमीष्वेव पृथ्वीषु स्यात् इतिकृत्वा सामान्यदण्डकत्रयं चात्र स्यादिति, 'उववाओ जहा वक्कंतीए धूमप्पभपुढविनेरइयाणं'ति इह कृष्णलेश्या प्रक्रान्ता, सा च धूमप्रभायां स्यात् इति तत्र ये जीवा उत्पद्यन्ते तेषामेवोत्पादो वाच्यः, ते चासंज्ञिसरीसृपपक्षिसिंहवर्जा इति। (सू. ८३१) तृतीयस्तु नीललेश्याश्रयः, सा च तृतीयाचतुर्थीपञ्चमीष्वेव पृथ्वीषु च स्यादितिकृत्वा सामान्यदण्डकस्तद्दण्डकत्रयं चात्र स्यादिति, 'उववाओ जो वालुप्पभाए'त्ति इह नीललेश्या प्रक्रान्ता, सा च वालुकाप्रभायां स्यादिति तत्र ये जीवा उत्पद्यन्ते तेषामुत्पादो वाच्यः, ते चासंज्ञिस-

॥२९२॥

*** अत्र शतक-३० समाप्तं. अथ शतक-३१ आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [८४२-८४९]

दीप अनुक्रम [१०१६-१०३२]

श्रीभग० लघुवृत्तौ

रीसूपवर्जा इति, 'परिमाणं जाणियव्वं'ति चतुरष्टद्वादशप्रभृतिक्षुल्लककृतयुग्मादिस्वरूपं ज्ञातव्यं, चतुर्थस्तु कापोतलेश्याश्रयः, सा च प्रथमाद्वितीयातृतीयास्वेव पृथ्वीष्वेव स्यादितिकृत्वा सामान्यदण्डका इति रत्नप्रभावदुत्पादो वाच्यः, शेषं सूत्रसिद्धम् ॥ एकत्रिंशं शतं वृत्तितस्सम्पूर्णम् ॥

एकत्रिंशे शते नारकोत्पादः द्वात्रिंशे शते तेषामुद्वर्त्तनोच्यते इत्यष्टाविंशतिउद्देशकसम्बद्धमिदं व्याख्यायते, तदादिसूत्रं 'खुड्डागे'त्ति (सू. ८४२) 'उव्वट्टणा जहा वक्कंतीए'त्ति, सा चैवमर्थतः 'नरगाओ उव्वट्टा गब्भयपज्जत्तसंखजीवीसु'त्ति इति ॥ द्वात्रिंशं शतं वृत्तितः सम्पूर्णम् ॥

अथैकेन्द्रियप्ररूपणपरं त्रयस्त्रिंशं शतं द्वाद्वशअन्तरशतयुक्तं व्याख्यायते, तदादिसूत्रम्–'कइविहा णं'ति (सू. ८४३) 'चोद्दस कम्मपयडीओ'त्ति तत्राष्टौ ज्ञानावरणादिकाः, तदन्याः षट् तद्विशेषभूताः 'सोइंदियवज्झं'ति श्रोत्रेन्द्रियं वध्यं–हननीयं यस्य तत्तथा, मतिज्ञानावरणविशेष इत्यर्थः, एवमन्यान्यपि, स्पर्शनेन्द्रियवध्यं तु तेषां नास्ति, तद्भावे एकेन्द्रियत्वहानिप्रसङ्गादिति, 'इत्थिवेयवज्झं'ति यदुदयात् स्त्रीवेदं न लभते तत् स्त्रीवेदवध्यं, एवं पुंवेदवध्यमपि, नपुंसकवेदवध्यं तु तेषां नास्ति, नपुंसकवेदवर्त्तित्वादिति, शेषं सूत्रसिद्धं, 'नवरं एवं दुपएणं भेएणं'ति अनन्तरोपपन्नकानामेकेन्द्रियाणां पर्याप्तकापर्याप्तकभेदयोरभावेन चतुर्विधभेदस्यासम्भवात् द्विपदेन भेदेनेत्युक्तं, तथा 'चरिमअचरिमउद्देसवज्जं'ति अभवसिद्धिकानामचरमत्वेन चरिम-

३१-३२ ३३ श०

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक-३१ समाप्तं, शतक-३२ आरब्धं एवं समाप्तं, अथ शतकं-३३ आरब्धं

प्रत सूत्रांक [८५०-८५४]

दीप अनुक्रम [१०३३-१०४३]

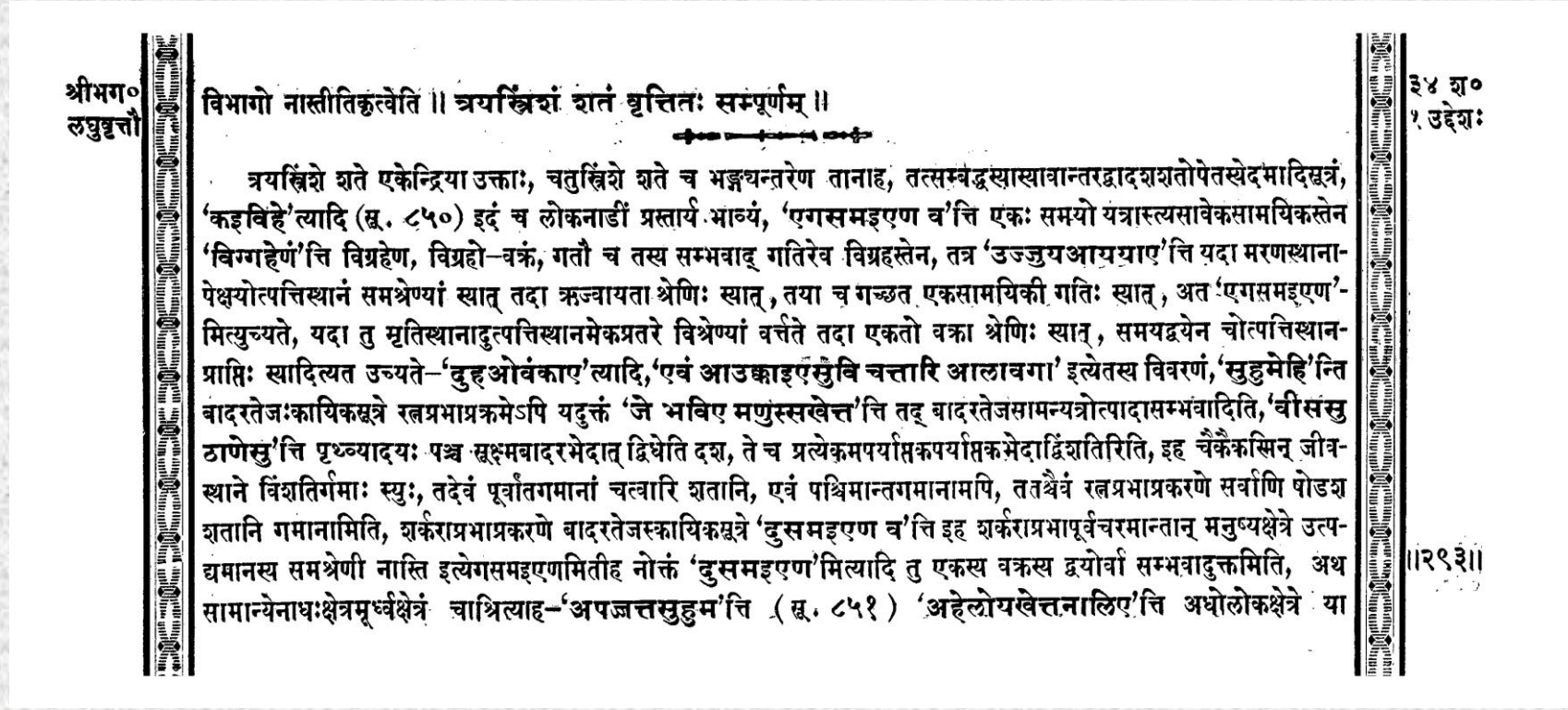

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विभागो नास्तीतिकृत्वेति ॥ त्रयस्त्रिंशं शतं वृत्तितः सम्पूर्णम् ॥

३४ श० १ उद्देशः

त्रयस्त्रिंशे शते एकेन्द्रिया उक्ताः, चतुस्त्रिंशे शते च भङ्गयन्तरेण तानाह, तत्सम्बद्धस्यास्यावान्तरद्वादशशतोपेतस्येदमादिसूत्रं, 'कइविहे'त्यादि (सू. ८५०) इदं च लोकनाडीं प्रस्तार्य भाव्यं, 'एगसमइएण व'त्ति एकः समयो यत्रास्त्यसावेकसामयिकस्तेन 'विग्गहेणं'त्ति विग्रहेण, विग्रहो–वक्रं, गतौ च तस्य सम्भवाद् गतिरेव विग्रहस्तेन, तत्र 'उज्जुयआययाए'त्ति यदा मरणस्थानापेक्षयोत्पत्तिस्थानं समश्रेण्यां स्यात् तदा ऋज्वायता श्रेणिः स्यात्, तया च गच्छत एकसामयिकी गतिः स्यात्, अत 'एगसमइएण'मित्युच्यते, यदा तु मृतिस्थानादुत्पत्तिस्थानमेकप्रतरे विश्रेण्यां वर्त्तते तदा एकतो वक्रा श्रेणिः स्यात्, समयद्वयेन चोत्पत्तिस्थानप्राप्तिः स्यादित्यत उच्यते–'दुहओवंकाए'त्यादि,'एवं आउक्काइएसुवि चत्तारि आलावगा' इत्येतस्य विवरणं,'सुहुमेहि'न्ति बादरतेजःकायिकसूत्रे रत्नप्रभाप्रक्रमेऽपि यदुक्तं 'जे भविए मणुस्सखेत्त'त्ति तद् बादरतेजसामन्यत्रोत्पादासम्भवादिति,'वीससु ठाणेसु'त्ति पृथ्व्यादयः पञ्च सूक्ष्मबादरभेदात् द्विधेति दश, ते च प्रत्येकमपर्याप्तकपर्याप्तकभेदाद्विंशतिरिति, इह चैकैकस्मिन् जीवस्थाने विंशतिर्गमाः स्युः, तदेवं पूर्वांतगमानां चत्वारि शतानि, एवं पश्चिमान्तगमानामपि, ततश्चैवं रत्नप्रभाप्रकरणे सर्वाणि षोडश शतानि गमानामिति, शर्कराप्रभाप्रकरणे बादरतेजस्कायिकसूत्रे 'दुसमइएण व'त्ति इह शर्कराप्रभापूर्वचरमान्तान् मनुष्यक्षेत्रे उत्पद्यमानस्य समश्रेणी नास्ति इत्येगसमइएणमितीह नोक्तं 'दुसमइएण'मित्यादि तु एकस्य वक्रस्य द्वयोर्वा सम्भवादुक्तमिति, अथ सामान्येनाधःक्षेत्रमूर्ध्वक्षेत्रं चाश्रित्याह–'अपज्जत्तसुहुम'त्ति (सू. ८५१) 'अहेलोयखेत्तनालिए'त्ति अधोलोकक्षेत्रे या

॥२९३॥

*** अत्र शतक-३३ समाप्तं. अथ शतक-३४ आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [८५०-८५४]

दीप अनुक्रम [१०३३-१०४३]

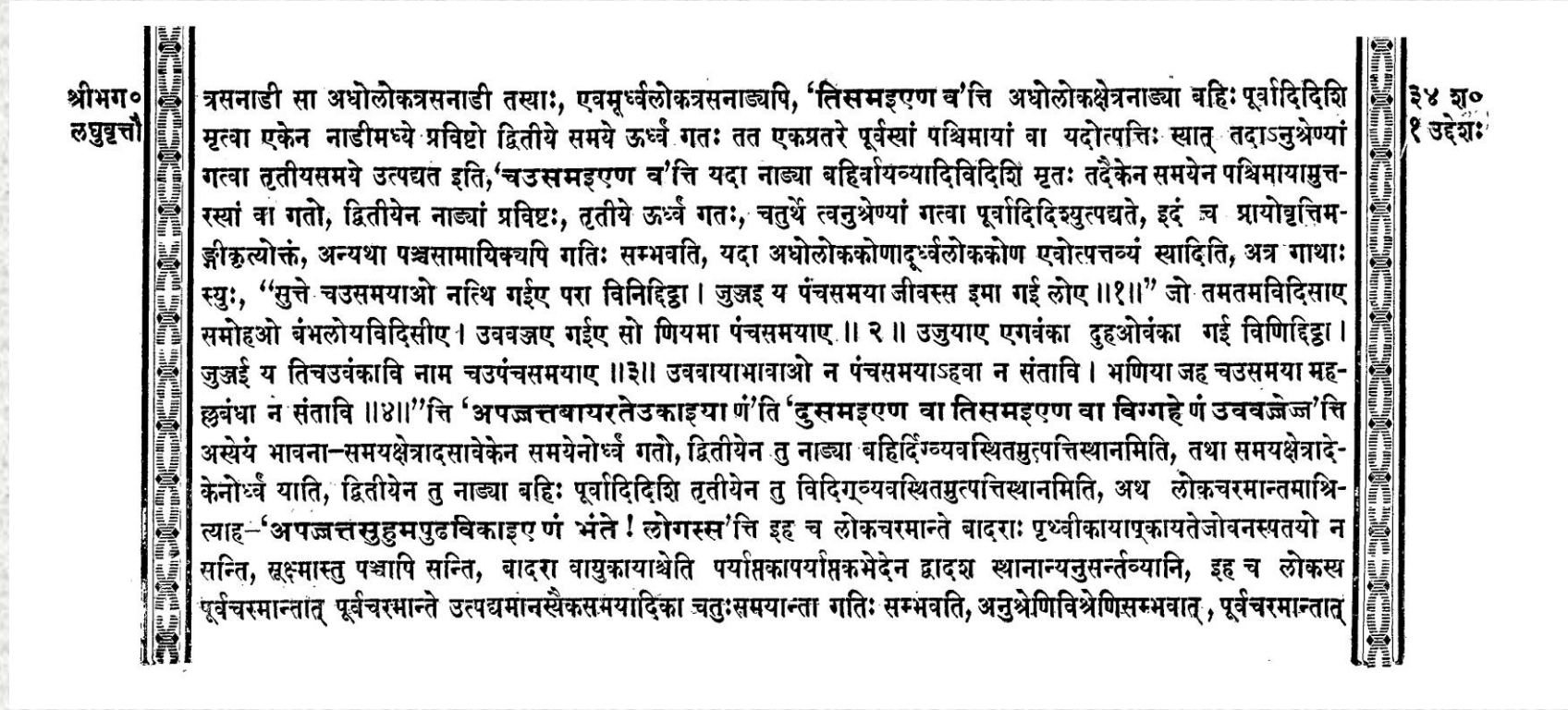

त्रसनाडी सा अधोलोकत्रसनाडी तस्याः, एवमूर्ध्वलोकत्रसनाड्यपि, 'तिसमइएण व'त्ति अधोलोकक्षेत्रनाड्या बहिः पूर्वादिदिशि मृत्वा एकेन नाडीमध्ये प्रविष्टो द्वितीये समये ऊर्ध्वं गतः तत एकप्रतरे पूर्वस्यां पश्चिमायां वा यदोत्पत्तिः स्यात् तदाऽनुश्रेण्यां गत्वा तृतीयसमये उत्पद्यत इति,'चउसमइएण व'त्ति यदा नाड्या बहिर्वायव्यादिविदिशि मृतः तदैकेन समयेन पश्चिमायामुत्तरस्यां वा गतो, द्वितीयेन नाड्यां प्रविष्टः, तृतीये ऊर्ध्वं गतः, चतुर्थे त्वनुश्रेण्यां गत्वा पूर्वादिदिश्युत्पद्यते, इदं च प्रायोवृत्तिमङ्गीकृत्योक्तं, अन्यथा पञ्चसामायिक्यपि गतिः सम्भवति, यदा अधोलोककोणादूर्ध्वलोककोण एवोत्पत्तव्यं स्यादिति, अत्र गाथाः स्युः, "सुत्ते चउसमयाओ नत्थि गईए परा विनिद्दिट्ठा। जुज्जइ य पंचसमया जीवस्स इमा गई लोए ॥१॥" जो तमतमविदिसाए समोहओ बंभलोयविदिसीए। उववज्जए गईए सो णियमा पंचसमयाए ॥ २ ॥ उजुयाए एगवंका दुहओवंका गई विणिद्दिट्ठा। जुज्जई य तिचउवंकावि नाम चउपंचसमयाए ॥३॥ उववायाभावाओ न पंचसमयाऽहवा न संतावि। भणिया जह चउसमया महल्लबंधा न संतावि ॥४॥"त्ति 'अपज्जत्तबायरतेउकाइया णं'ति 'दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्ज'त्ति अस्येयं भावना–समयक्षेत्रादसावेकेन समयेनोर्ध्वं गतो, द्वितीयेन तु नाड्या बहिर्दिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानमिति, तथा समयक्षेत्रादेकेनोर्ध्वं याति, द्वितीयेन तु नाड्या बहिः पूर्वादिदिशि तृतीयेन तु विदिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानमिति, अथ लोकचरमान्तमाश्रित्याह–'अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते! लोगस्स'त्ति इह च लोकचरमान्ते बादराः पृथ्वीकायाप्कायतेजोवनस्पतयो न सन्ति, सूक्ष्मास्तु पञ्चापि सन्ति, बादरा वायुकायाश्चेति पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन द्वादश स्थानान्यनुसर्न्तव्यानि, इह च लोकस्य पूर्वचरमान्तात् पूर्वचरमान्ते उत्पद्यमानस्यैकसमयादिका चतुःसमयान्ता गतिः सम्भवति, अनुश्रेणिविश्रेणिसम्भवात्, पूर्वचरमान्तात्

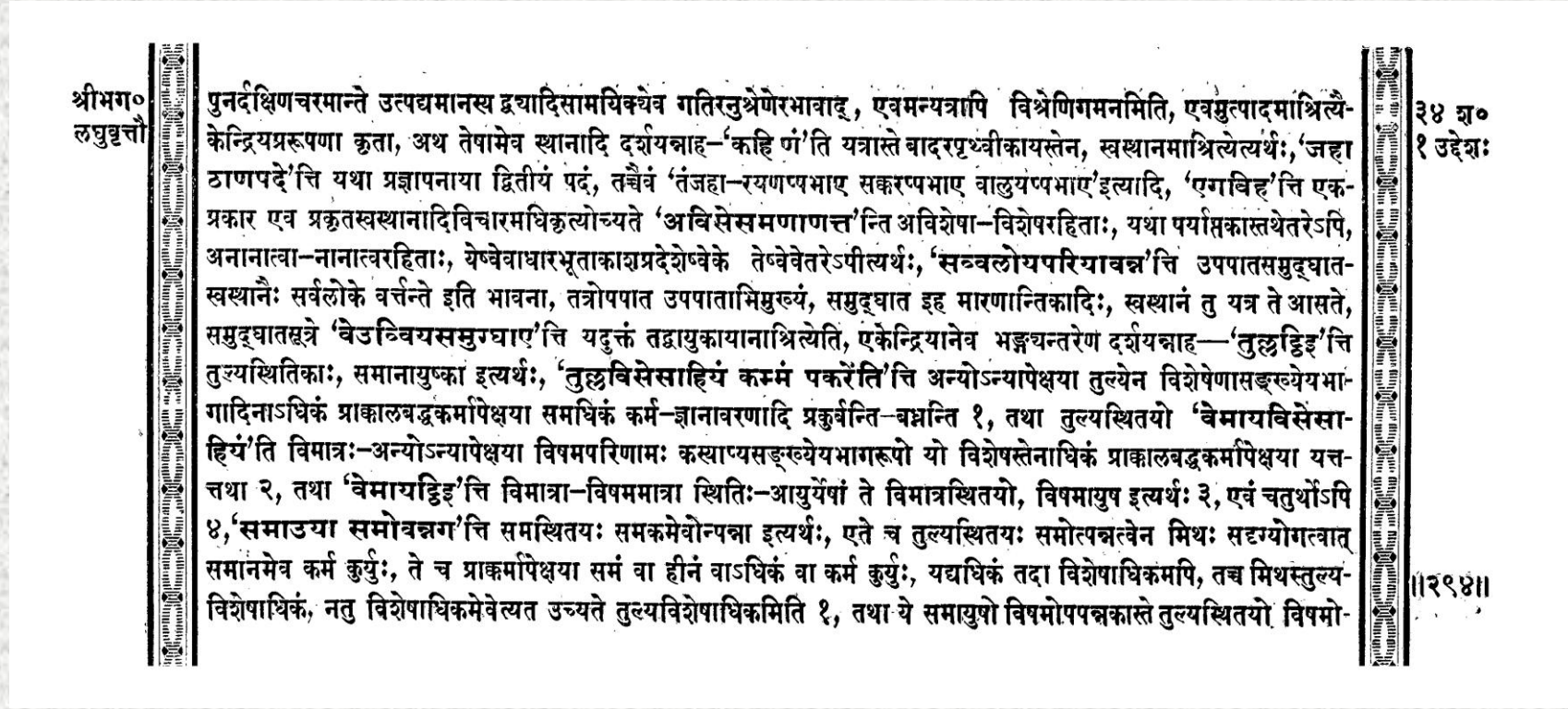

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पुनर्दक्षिणचरमान्ते उत्पद्यमानस्य द्व्यादिसामयिक्येव गतिरनुश्रेणेरभावाद्, एवमन्यत्रापि विश्रेणिगमनमिति, एवमुत्पादमाश्रित्यै-केन्द्रियप्ररूपणा कृता, अथ तेषामेव स्थानादि दर्शयन्नाह–‘कहि णं’ति यत्रास्ते बादरपृथ्वीकायस्तेन, स्वस्थानमाश्रित्येत्यर्थः,‘जहा ठाणपदे’त्ति यथा प्रज्ञापनाया द्वितीयं पदं, तच्चैवं ‘तंजहा–रयणप्पभाए सक्करप्पभाए वालुयप्पभाए’इत्यादि, ‘एगविह’त्ति एक-प्रकार एव प्रकृतस्वस्थानादिविचारमधिकृत्योच्यते ‘**अविसेसमणाणत्त**’न्ति अविशेषा–विशेषरहिताः, यथा पर्याप्तकास्तथेतरेऽपि, अनानात्वा–नानात्वरहिताः, येष्वेवाधारभूताकाशप्रदेशेष्वेके तेष्वेवेतरेऽपीत्यर्थः, ‘**सव्वलोयपरियावन्न**’त्ति उपपातसमुद्घात-स्वस्थानैः सर्वलोके वर्त्तन्ते इति भावना, तत्रोपपात उपपताभिमुख्यं, समुद्घात इह मारणान्तिकादिः, स्वस्थानं तु यत्र ते आसते, समुद्घातसूत्रे ‘**वेउव्वियसमुग्घाए**’त्ति यदुक्तं तद्वायुकायानाश्रित्येति, एकेन्द्रियानेव भङ्गयन्तरेण दर्शयन्नाह—‘**तुल्लट्ठिइ**’त्ति तुल्यस्थितिकाः, समानायुष्का इत्यर्थः, ‘**तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति**’त्ति अन्योऽन्यापेक्षया तुल्येन विशेषेणासङ्ख्येयभा-गादिनाऽधिकं प्राक्कालबद्धकर्मापेक्षया समधिकं कर्म–ज्ञानावरणादि प्रकुर्वन्ति–बध्नन्ति १, तथा तुल्यस्थितयो ‘**वेमायविसेसा-हियं**’ति विमात्रः–अन्योऽन्यापेक्षया विषमपरिणामः कस्याप्यसङ्ख्येयभागरूपो यो विशेषस्तेनाधिकं प्राक्कालबद्धकर्मापेक्षया यत्त-त्तथा २, तथा ‘**वेमायट्ठिइ**’त्ति विमात्रा–विषममात्रा स्थितिः–आयुर्येषां ते विमात्रस्थितयो, विषमायुष इत्यर्थः ३, एवं चतुर्थोऽपि ४,‘**समाउया समोवन्नग**’त्ति समस्थितयः समकमेवोत्पन्ना इत्यर्थः, एते च तुल्यस्थितयः समोत्पन्नत्वेन मिथः सदृग्योगत्वात् समानमेव कर्म कुर्युः, ते च प्राक्कर्मापेक्षया समं वा हीनं वाऽधिकं वा कर्म कुर्युः, यद्यधिकं तदा विशेषाधिकमपि, तच्च मिथस्तुल्य-विशेषाधिकं, नतु विशेषाधिकमेवेत्यत उच्यते तुल्यविशेषाधिकमिति १, तथा ये समायुषो विषमोपपन्नकास्ते तुल्यस्थितयो विषमो-

३४ श० १ उद्देशः

॥२९४॥

प्रत सूत्रांक [८५०-८५४]

दीप अनुक्रम [१०३३-१०४३]

पपन्नत्वेन च योगवैषम्याद्विमात्रविशेषाधिकं कर्म कुर्युः २ तथा ये विषमायुषः समोपपन्नकास्ते विमात्रस्थितयः, समोपपन्नत्वेन समानयोगत्वात् तुल्यविशेषाधिकं कर्म कुर्युः ३ तथा ये विषमायुषो विषमोपपन्नकास्ते विमात्रस्थितयो विषमोपपन्नत्वाच्च योगवैषम्येण विषममात्रविशेषाधिकं कर्म कर्तुः ४ ॥ ३४ शते प्रथमः ॥

'दुपओ भेदो'त्ति (सू. ८५२) अनन्तरोपपत्तिकैकेन्द्रियाधिकारेऽनन्तरोपपन्नानां च पर्याप्तकत्वाभावादपर्याप्तकानां सूक्ष्मा बादराश्चेति द्विपदो भेदः,'उववाएण सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए'त्ति, कथं ?, उपपातेन उपपातामिमुख्येनापान्तरालगतिवृत्त्येति भावः, समुद्घातेन मारणान्तिकेनेति, ते हि ताभ्यामतिबहुत्वात् सर्वलोकं व्याप्य वर्त्तन्ते, इह चैवंभूतायाः स्थापनायाः भावना कार्या, ०।० अत्र च प्रथमवक्रं यदेवैके संहरन्ति तदैव तद्वक्रदेशमन्ये पूरयन्ति, एवं द्वितीयवक्रसंहरणेऽपि, अवक्रोत्पत्तावपि प्रवाहतो भावनीयं, अनन्तरोपपन्नकत्वं चेह भाविभवापेक्षं ग्राह्यं, अपान्तराले तस्य साक्षादभावात्, मारणान्तिकसमुद्घातश्च प्राक्तनभवापेक्षया, अनन्तरोपपन्नकावस्थायां तस्यासम्भवादिति,'सठाणेणं लोगस्स असंखेज्ज'त्ति रत्नप्रभादिपृथ्वीनां विमानानां च लोकस्यासङ्ख्येयभागवर्त्तित्वात्, पृथ्व्यादीनां च पृथ्वीकायानां स्वस्थानत्वादिति, 'सठाणाइं सव्वेसिं जहा ठाणपदे तेसिं पज्जत्तगाणं बायराणं'ति इह तेषामिति पृथ्वीकायानां 'अट्ठसु पुढवीसु तंजहा रयणप्पभाए'त्ति, बादराप्कायानां तु 'सत्तसु घणोदहीसु'इत्यादि, बादरतेजस्कायिकानां तु 'अन्तोमणुस्सखेत्ते'इत्यादि, बादरवायुकायिकानां पुनः 'सत्तसु घणवायवलएसु' इति, बादरवनस्पतीनां तु 'सत्तसु घणोदहीसु'इत्यादि,'उववायसमुग्घायसठाणाइं जहा तेसिं चेव अपज्जत्तगाणं बायराणं'ति इह 'तेसिं चेव'त्ति पृथ्वीकायादीनां, तानि चैवम्–जत्थेव बायरपुढवीकाइयाणं पज्जत्ताणं ठाणा तत्थेव बादरपुढ-

प्रत सूत्रांक [८५०-८५४]

दीप अनुक्रम [१०३३-१०४३]

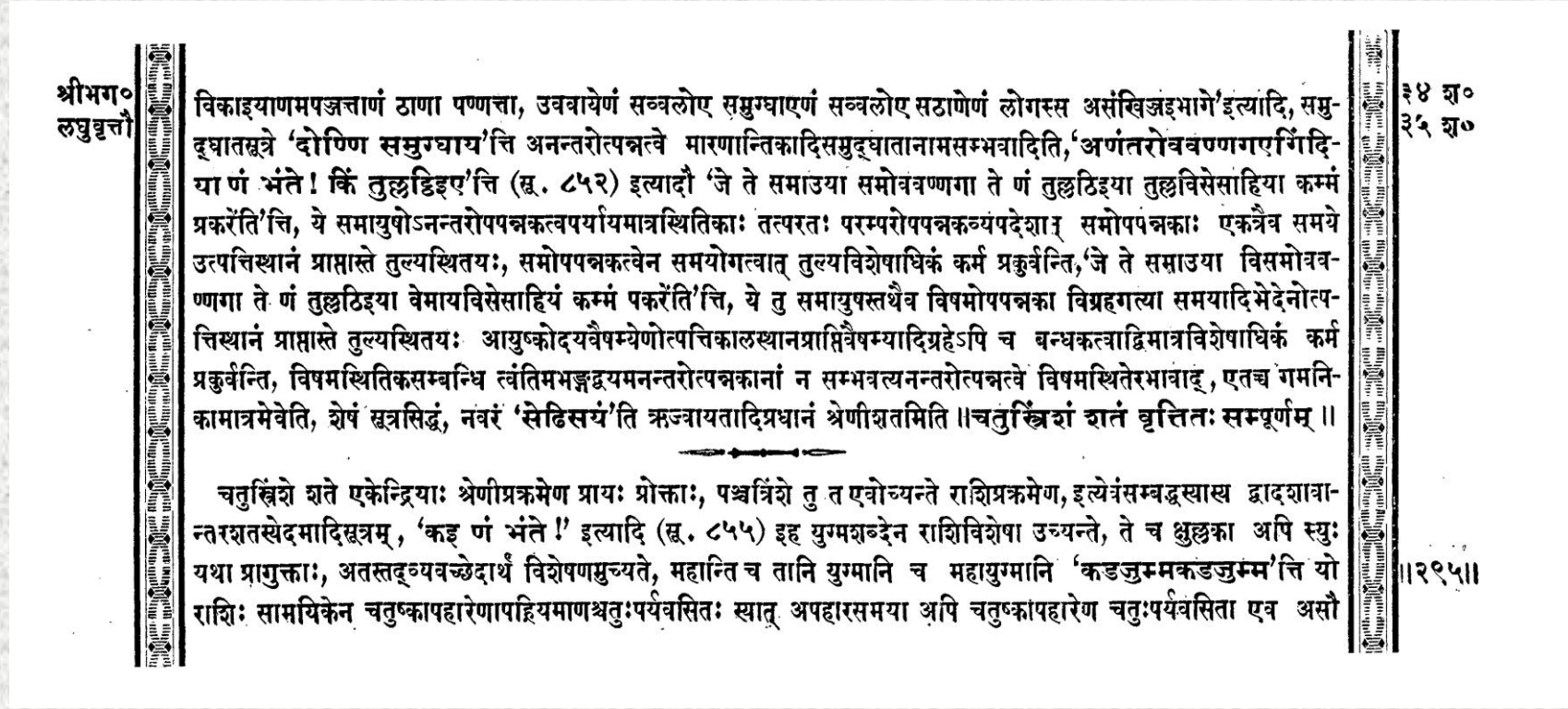

श्रीभग० लघुवृत्तौ

विकाइयाणमपज्जत्ताणं ठाणा पण्णत्ता, उववाएणं सव्वलोए समुग्घाएणं सव्वलोए सठाणेणं लोगस्स असंखिज्जइभागे'इत्यादि, समुद्घातसूत्रे 'दोण्णि समुग्घाय'त्ति अनन्तरोत्पन्नत्वे मारणान्तिकादिसमुद्घातानामसम्भवादिति,'अणंतरोववण्णगएगिंदिया णं भंते! किं तुल्लट्ठिइए'त्ति (सू. ८५२) इत्यादौ 'जे ते समाउया समोववण्णगा ते णं तुल्लठिइया तुल्लविसेसाहिया कम्मं प्रकरेंति'त्ति, ये समायुषोऽनन्तरोपपन्नकत्वपर्यायमात्रस्थितिकाः तत्परतः परम्परोपपन्नकव्यपदेशात् समोपपन्नकाः एकत्रैव समये उत्पत्तिस्थानं प्राप्तास्ते तुल्यस्थितयः, समोपपन्नकत्वेन समयोगत्वात् तुल्यविशेषाधिकं कर्म प्रकुर्वन्ति,'जे ते समाउया विसमोववण्णगा ते णं तुल्लठिइया वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति'त्ति, ये तु समायुषस्तथैव विषमोपपन्नका विग्रहगत्या समयादिभेदेनोत्पत्तिस्थानं प्राप्तास्ते तुल्यस्थितयः आयुष्कोदयवैषम्येणोत्पत्तिकालस्थानप्राप्तिवैषम्यादिग्रहेऽपि च बन्धकत्वाद्विमात्रविशेषाधिकं कर्म प्रकुर्वन्ति, विषमस्थितिकसम्बन्धि त्वंतिमभङ्गद्वयमनन्तरोत्पन्नकानां न सम्भवत्यनन्तरोत्पन्नत्वे विषमस्थितेरभावाद्, एतच्च गमनिकामात्रमेवेति, शेषं सूत्रसिद्धं, नवरं 'सेढिसयं'ति ऋज्वायतादिप्रधानं श्रेणीशतमिति ॥चतुस्त्रिंशं शतं वृत्तितः सम्पूर्णम् ॥

चतुस्त्रिंशे शते एकेन्द्रियाः श्रेणीप्रक्रमेण प्रायः प्रोक्ताः, पञ्चत्रिंशे तु त एवोच्यन्ते राशिप्रक्रमेण, इत्येवंसम्बद्धस्यास्य द्वादशावान्तरशतस्येदमादिसूत्रम्, 'कइ णं भंते!' इत्यादि (सू. ८५५) इह युग्मशब्देन राशिविशेषा उच्यन्ते, ते च क्षुल्लका अपि स्युः यथा प्रागुक्ताः, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणमुच्यते, महान्ति च तानि युग्मानि च महायुग्मानि 'कडजुम्मकडजुम्म'त्ति यो राशिः सामयिकेन चतुष्कापहारेणापह्रियमाणश्चतुःपर्यवसितः स्यात् अपहारसमया अपि चतुष्कापहारेण चतुःपर्यवसिता एव असौ

३४ श० ३५ श०

॥२९५॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक-३४ समाप्तं. अथ शतक-३५ आरभ्यते

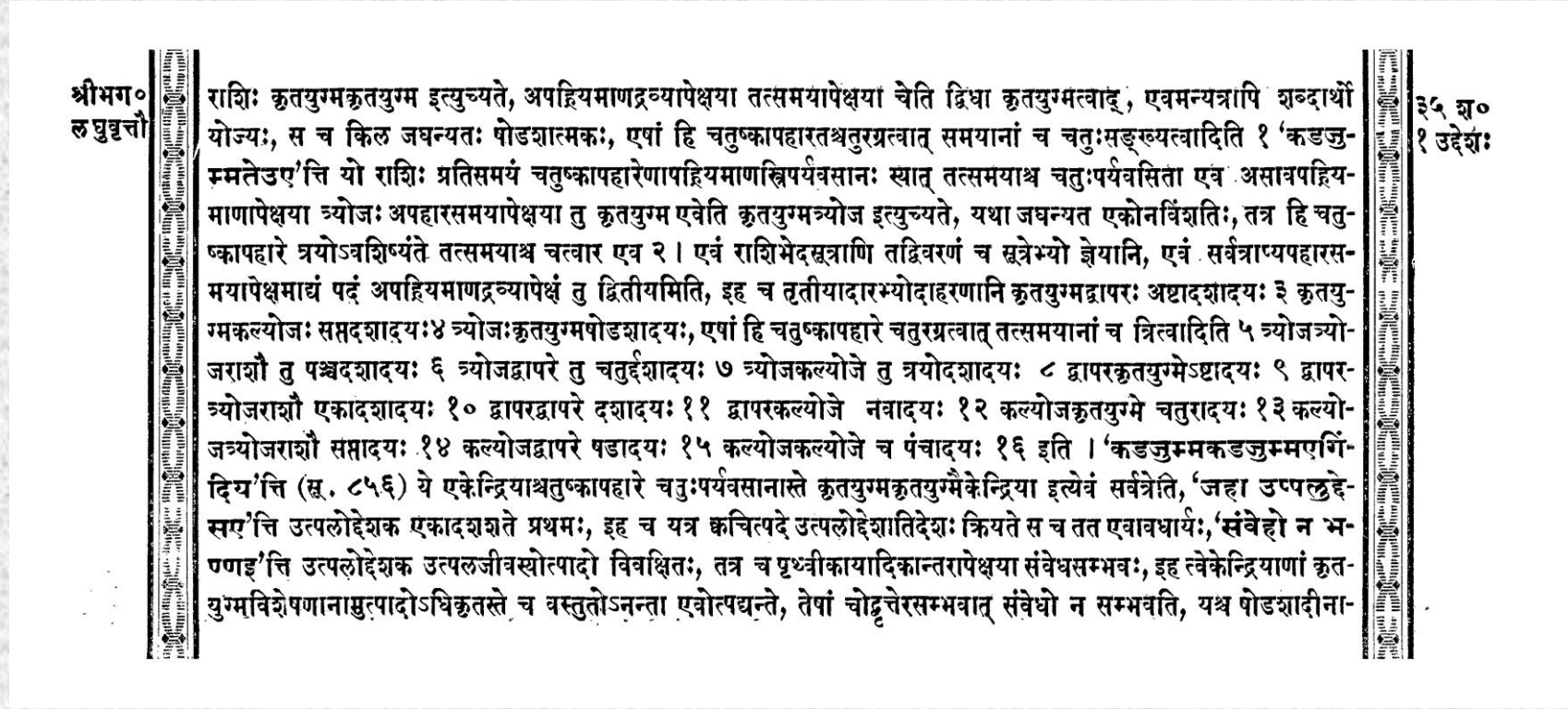

श्रीभग० लघुवृत्तौ

राशिः कृतयुग्मकृतयुग्म इत्युच्यते, अपहियमाणद्रव्यापेक्षया तत्समयापेक्षया चेति द्विधा कृतयुग्मत्वाद्, एवमन्यत्रापि शब्दार्थो योज्यः, स च किल जघन्यतः षोडशात्मकः, एषां हि चतुष्कापहारतश्चतुरग्रत्वात् समयानां च चतुःसङ्ख्यत्वादिति १ ‘कडजुम्मतेउए’त्ति यो राशिः प्रतिसमयं चतुष्कापहारेणापह्रियमाणस्त्रिपर्यवसानः स्यात् तत्समयाश्च चतुःपर्यवसिता एव असावपह्रियमाणापेक्षया त्र्योजः अपहारसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मत्र्योज इत्युच्यते, यथा जघन्यत एकोनविंशतिः, तत्र हि चतुष्कापहारे त्रयोऽवशिष्यंते तत्समयाश्च चत्वार एव २। एवं राशिभेदसूत्राणि तद्विवरणं च सूत्रेभ्यो ज्ञेयानि, एवं सर्वत्राप्यपहारसमयापेक्षमाद्यं पदं अपह्रियमाणद्रव्यापेक्षं तु द्वितीयमिति, इह च तृतीयादारभ्योदाहरणानि कृतयुग्मद्वापरः अष्टादशादयः ३ कृतयुग्मकल्योजः सप्तदशादयः४ त्र्योजःकृतयुग्मषोडशादयः, एषां हि चतुष्कापहारे चतुरग्रत्वात् तत्समयानां च त्रित्वादिति ५ त्र्योजत्र्योजराशौ तु पञ्चदशादयः ६ त्र्योजद्वापरे तु चतुर्दशादयः ७ त्र्योजकल्योजे तु त्रयोदशादयः ८ द्वापरकृतयुग्मेऽष्टादयः ९ द्वापरत्र्योजराशौ एकादशादयः १० द्वापरद्वापरे दशादयः ११ द्वापरकल्योजे नवादयः १२ कल्योजकृतयुग्मे चतुरादयः १३ कल्योजत्र्योजराशौ सप्तादयः १४ कल्योजद्वापरे षडादयः १५ कल्योजकल्योजे च पंचादयः १६ इति। ‘कडजुम्मकडजुम्मएगिंदिय’त्ति (सू. ८५६) ये एकेन्द्रियाश्चतुष्कापहारे चतुःपर्यवसानास्ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रिया इत्येवं सर्वत्रेति, ‘जहा उप्पलुद्देसए’त्ति उत्पलोद्देशक एकादशशते प्रथमः, इह च यत्र क्वचित्पदे उत्पलोद्देशातिदेशः क्रियते स च तत एवावधार्यः, ‘संवेहो न भण्णइ’त्ति उत्पलोद्देशक उत्पलजीवस्योत्पादो विवक्षितः, तत्र च पृथ्वीकायादिकान्तरापेक्षया संवेधसम्भवः, इह त्वेकेन्द्रियाणां कृतयुग्मविशेषणानामुत्पादोऽधिकृतस्ते च वस्तुतोऽनन्ता एवोत्पद्यन्ते, तेषां चोद्वृत्तेरसम्भवात् संवेधो न सम्भवति, यश्च षोडशादीना-

३५ श० १ उद्देशः

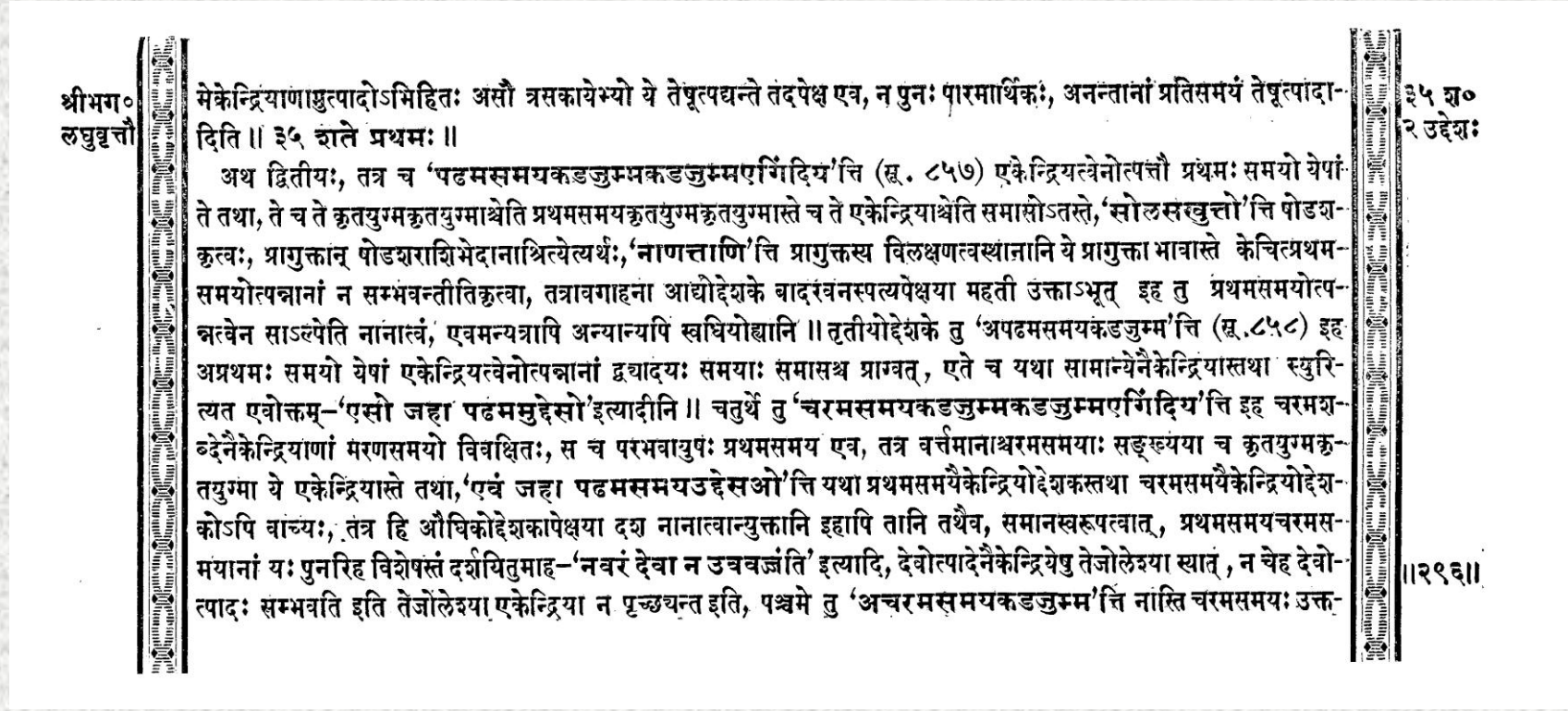

श्रीभग० लघुवृत्तौ

मेकेन्द्रियाणामुत्पादोऽभिहितः असौ त्रसकायेभ्यो ये तेषूत्पद्यन्ते तदपेक्ष एव, न पुनः पारमार्थिकः, अनन्तानां प्रतिसमयं तेषूत्पादादिति ॥ ३५ शते प्रथमः ॥

अथ द्वितीयः, तत्र च 'पढमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिय'त्ति (सू. ८५७) एकेन्द्रियत्वेनोत्पत्तौ प्रथमः समयो येषां ते तथा, ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्माश्चेति प्रथमसमयकृतयुग्मकृतयुग्मास्ते च ते एकेन्द्रियाश्चेति समासोऽतस्ते,'सोलसखुत्तो'त्ति षोडशकृत्वः, प्रागुक्तान् षोडशराशिभेदानाश्रित्येत्यर्थः,'नाणत्ताणि'त्ति प्रागुक्तस्य विलक्षणत्वस्थानानि ये प्रागुक्ता भावास्ते केचित्प्रथमसमयोत्पन्नानां न सम्भवन्तीतिकृत्वा, तत्रावगाहना आद्योद्देशके बादरवनस्पत्यपेक्षया महती उक्ताऽभूत् इह तु प्रथमसमयोत्पन्नत्वेन साऽल्पेति नानात्वं, एवमन्यत्रापि अन्यान्यपि स्वधियोद्यानि ॥ तृतीयोद्देशके तु 'अपढमसमयकडजुम्म'त्ति (सू.८५८) इह अप्रथमः समयो येषां एकेन्द्रियत्वेनोत्पन्नानां द्व्यादयः समयाः समासश्च प्राग्वत्, एते च यथा सामान्येनैकेन्द्रियास्तथा स्युरित्यत एवोक्तम्–'एसो जहा पढममुद्देसो'इत्यादीनि ॥ चतुर्थे तु 'चरमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिय'त्ति इह चरमशब्देनैकेन्द्रियाणां मरणसमयो विवक्षितः, स च परभवायुषः प्रथमसमय एव, तत्र वर्त्तमानाश्चरमसमयाः सङ्ख्यया च कृतयुग्मकृतयुग्मा ये एकेन्द्रियास्ते तथा,'एवं जहा पढमसमयउद्देसओ'त्ति यथा प्रथमसमयैकेन्द्रियोद्देशकस्तथा चरमसमयैकेन्द्रियोद्देशकोऽपि वाच्यः, तत्र हि औधिकोद्देशकापेक्षया दश नानात्वान्युक्तानि इहापि तानि तथैव, समानस्वरूपत्वात्, प्रथमसमयचरमसमयानां यः पुनरिह विशेषस्तं दर्शयितुमाह–'नवरं देवा न उववज्जंति' इत्यादि, देवोत्पादेनैकेन्द्रियेषु तेजोलेश्या स्यात्, न चेह देवोत्पादः सम्भवति इति तेजोलेश्या एकेन्द्रिया न पृच्छयन्त इति, पञ्चमे तु 'अचरमसमयकडजुम्म'त्ति नास्ति चरमसमयः उक्त-

३५ श० २ उद्देशः

॥२९६॥

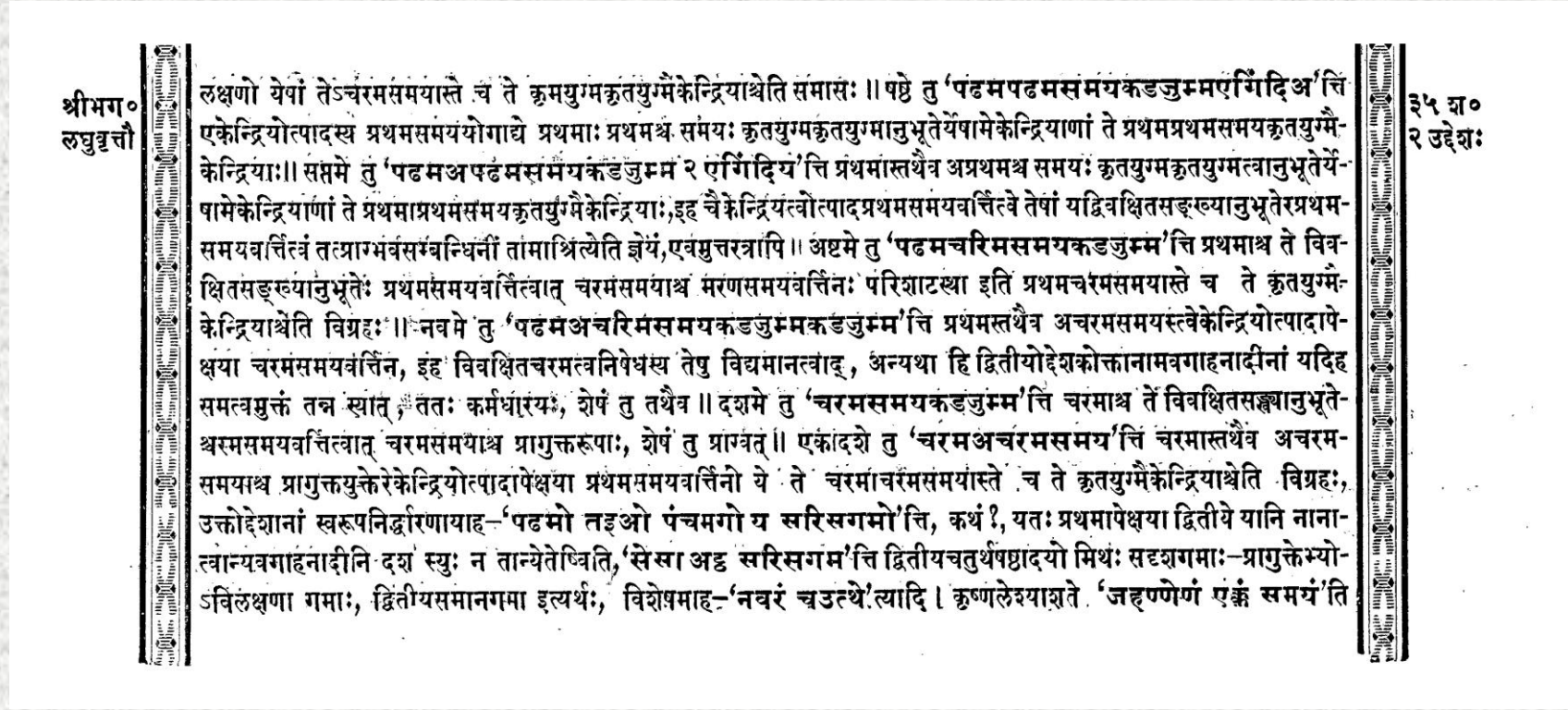

श्रीभग० लघुवृत्तौ

लक्षणो येषां तेऽचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति समासः ॥ षष्ठे तु 'पढमपढमसमयकडजुम्मएगिंदिअ'त्ति एकेन्द्रियोत्पादस्य प्रथमसमययोगाद्ये प्रथमाः प्रथमश्च समयः कृतयुग्मकृतयुग्मानुभूतेर्येषामेकेन्द्रियाणां ते प्रथमप्रथमसमयकृतयुग्मैकेन्द्रियाः॥ सप्तमे तु 'पढमअपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदिय'त्ति प्रथमास्तथैव अप्रथमश्च समयः कृतयुग्मकृतयुग्मत्वानुभूतेर्येषामेकेन्द्रियाणां ते प्रथमाप्रथमसमयकृतयुग्मैकेन्द्रियाः,इह चैकेन्द्रियत्वोत्पादप्रथमसमयवर्त्तित्वे तेषां यद्विवक्षितसङ्ख्यानुभूतेरप्रथमसमयवर्त्तित्वं तत्प्राग्भवसम्बन्धिनीं तामाश्रित्येति ज्ञेयं,एवमुत्तरत्रापि॥ अष्टमे तु 'पढमचरिमसमयकडजुम्म'त्ति प्रथमाश्च ते विवक्षितसङ्ख्यानुभूतेः प्रथमसमयवर्त्तित्वात् चरमसमयाश्च मरणसमयवर्त्तिनः परिशाटस्था इति प्रथमचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः ॥ नवमे तु 'पढमअचरिमसमयकडजुम्मकडजुम्म'त्ति प्रथमस्तथैव अचरमसमयस्त्वेकेन्द्रियोत्पादापेक्षया चरमसमयवर्त्तिन, इह विवक्षितचरमत्वनिषेधस्य तेषु विद्यमानत्वाद्, अन्यथा हि द्वितीयोद्देशकोक्तानामवगाहनादीनां यदिह समत्वमुक्तं तन्न स्यात्, ततः कर्मधारयः, शेषं तु तथैव ॥ दशमे तु 'चरमसमयकडजुम्म'त्ति चरमाश्च ते विवक्षितसङ्ख्यानुभूतेश्चरमसमयवर्त्तित्वात् चरमसमयाश्च प्रागुक्तरूपाः, शेषं तु प्राग्वत् ॥ एकादशे तु 'चरमअचरमसमय'त्ति चरमास्तथैव अचरमसमयाश्च प्रागुक्तयुक्तेरेकेन्द्रियोत्पादापेक्षया प्रथमसमयवर्त्तिनो ये ते चरमाचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः, उक्तोद्देशानां स्वरूपनिर्द्धारणायाह–'पढमो तइओ पंचमगो य सरिसगमो'त्ति, कथं?, यतः प्रथमापेक्षया द्वितीये यानि नानात्वान्यवगाहनादीनि दश स्युः न तान्येतेष्विति,'सेसा अट्ठ सरिसगम'त्ति द्वितीयचतुर्थषष्ठादयो मिथः सदृशगमाः–प्रागुक्तेभ्योऽविलक्षणा गमाः, द्वितीयसमानगमा इत्यर्थः, विशेषमाह–'नवरं चउत्थे'त्यादि। कृष्णलेश्याशते 'जहण्णेणं एक्कं समयं'ति

३५ श० २ उद्देशः

प्रत सूत्रांक [८६०]

दीप अनुक्रम [१०५८-१०६०]

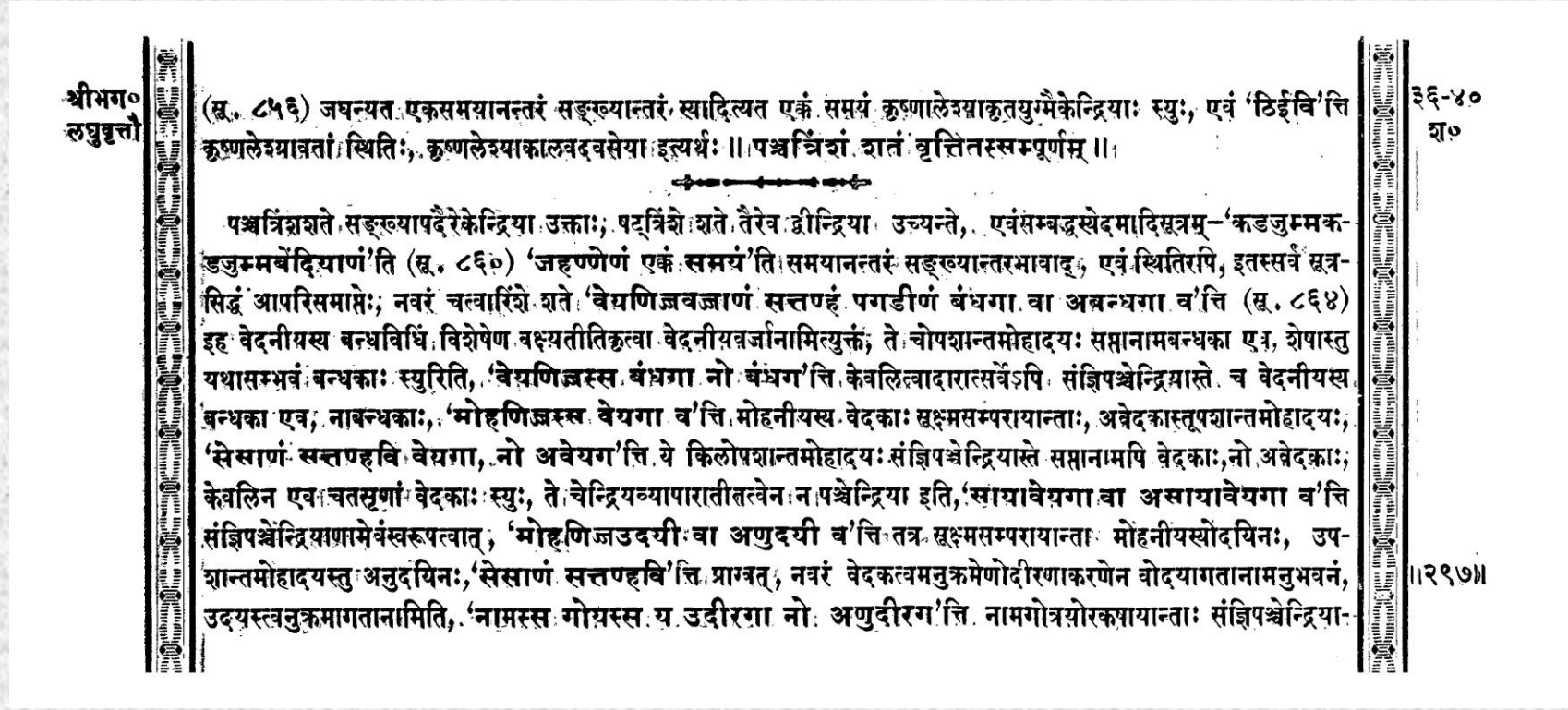

श्रीभग० लघुवृत्तौ

(सू. ८५६) जघन्यत एकसमयानन्तरं सङ्ख्यान्तरं स्यादित्यत एकं समयं कृष्णालेश्याकृतयुग्मैकेन्द्रियाः स्युः, एवं 'ठिईवि'त्ति कृष्णलेश्यावतां स्थितिः, कृष्णलेश्याकालवदवसेया इत्यर्थः ॥ पञ्चत्रिंशं शतं वृत्तितस्सम्पूर्णम् ॥

पञ्चत्रिंशशते सङ्ख्यापदैरेकेन्द्रिया उक्ताः; षट्त्रिंशे शते तैरेव द्वीन्द्रिया उच्यन्ते, एवंसम्बद्धस्येदमादिसूत्रम्–'कडजुम्मकडजुम्मबेंदियाणं'ति (सू. ८६०) 'जहण्णेणं एक्कं समयं'ति समयानन्तरं सङ्ख्यान्तरभावाद्, एवं स्थितिरपि, इतस्सर्वं सूत्रसिद्धं आपरिसमाप्तेः; नवरं चत्वारिंशे शते 'वेयणिज्जवज्जाणं सत्तण्हं पगडीणं बंधगा वा अबन्धगा व'त्ति (सू. ८६४) इह वेदनीयस्य बन्धविधिं विशेषेण वक्ष्यतीतिकृत्वा वेदनीयवर्जानामित्युक्तं; ते चोपशान्तमोहादयः सप्तानामबन्धका एव, शेषास्तु यथासम्भवं बन्धकाः स्युरिति, 'वेयणिज्जस्स बंधगा नो बंधग'त्ति केवलित्वादारात्सर्वेऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते च वेदनीयस्य बन्धका एव, नाबन्धकाः, 'मोहणिज्जस्स वेयगा व'त्ति मोहनीयस्य वेदकाः सूक्ष्मसम्परायान्ताः, अवेदकास्तूपशान्तमोहादयः, 'सेसाणं सत्तण्हवि वेयगा, नो अवेयग'त्ति ये किलोपशान्तमोहादयः संज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते सप्तानामपि वेदकाः, नो अवेदकाः; केवलिन एव चतसृणां वेदकाः स्युः, ते चेन्द्रियव्यापारातीतत्वेन न पञ्चेन्द्रिया इति, 'सायावेयगा वा असायावेयगा व'त्ति संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवंस्वरूपत्वात्, 'मोहणिज्जउदयी वा अणुदयी व'त्ति तत्र सूक्ष्मसम्परायान्ता मोहनीयस्योदयिनः, उपशान्तमोहादयस्तु अनुदयिनः, 'सेसाणं सत्तण्हवि'त्ति प्राग्वत्, नवरं वेदकत्वमनुक्रमेणोदीरणाकरणेन वोदयागतानामनुभवनं, उदयस्त्वनुक्रमागतानामिति, 'नामस्स गोयस्स य उदीरगा नो अणुदीरग'त्ति नामगोत्रयोरकषायान्ताः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया-

३६-४० श०

॥२९७॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र[०५] अंगसूत्र[०५] भगवती मूलं एवं दानशेखरसूरिरचिता वृत्तिः

*** अत्र शतक-३५ समाप्तं. अथ शतक-३६-४० अत्र वर्तन्ते

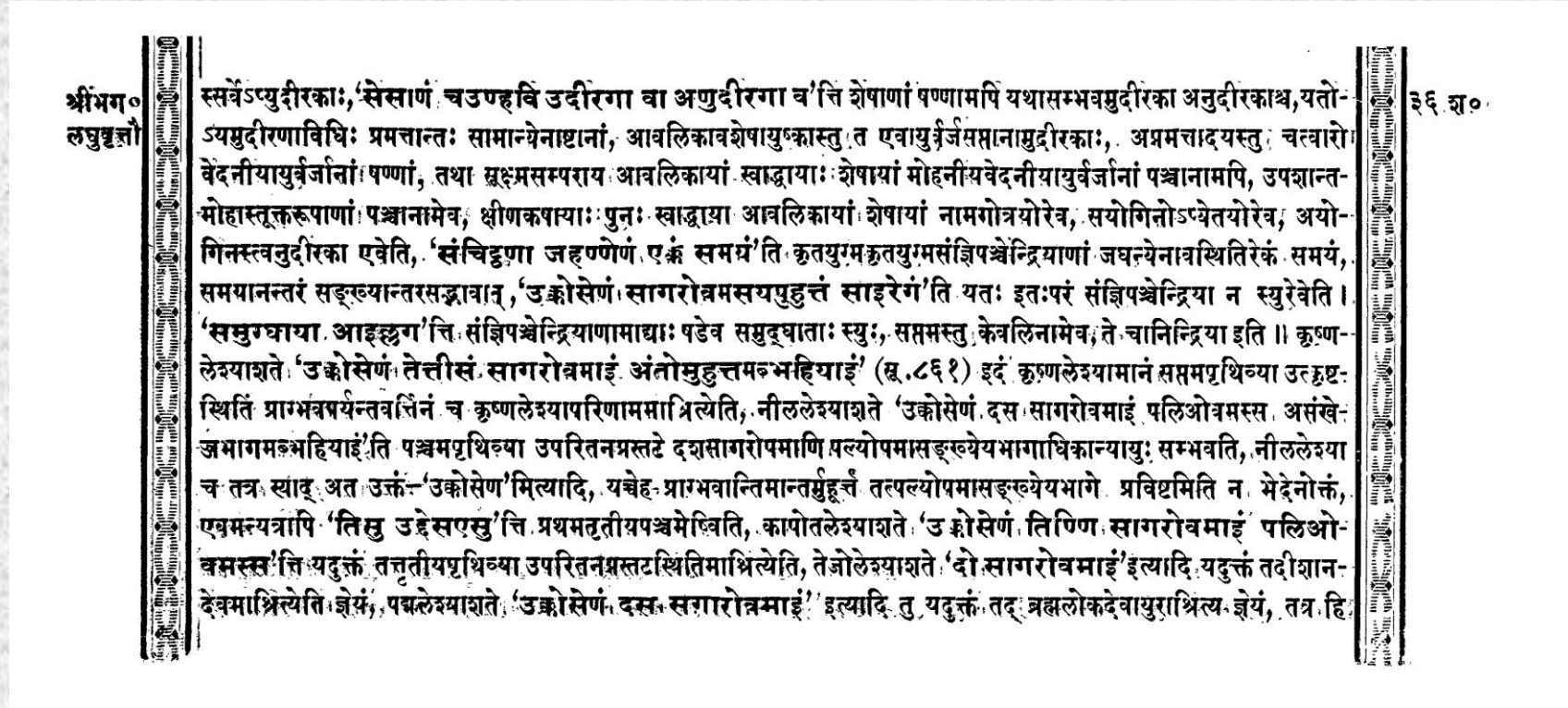

श्रीभग० लघुवृत्तौ

स्सर्वेऽप्युदीरकाः,'सेसाणं चउण्हवि उदीरगा वा अणुदीरगा व'त्ति शेषाणां षण्णामपि यथासम्भवमुदीरका अनुदीरकाश्च,यतोऽयमुदीरणाविधिः प्रमत्तान्तः सामान्येनाष्टानां, आवलिकावशेषायुष्कास्तु त एवायुर्वर्जसप्तानामुदीरकाः, अप्रमत्तादयस्तु चत्वारो वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां, तथा सूक्ष्मसम्पराय आवलिकायां स्वाद्धायाः शेषायां मोहनीयवेदनीयायुर्वर्जानां पञ्चानामपि, उपशान्तमोहास्तूक्तरूपाणां पञ्चानामेव, क्षीणकषायाः पुनः स्वाद्धाया आवलिकायां शेषायां नामगोत्रयोरेव, सयोगिनोऽप्येतयोरेव, अयोगिनस्त्वनुदीरका एवेति, 'संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं'ति कृतयुग्मकृतयुग्मसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां जघन्येनावस्थितिरेकं समयं, समयानन्तरं सङ्ख्यान्तरसद्भावात्,'उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं'ति यतः इतःपरं संज्ञिपञ्चेन्द्रिया न स्युरेवेति। 'समुग्घाया आइल्लग'त्ति संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामाद्याः षडेव समुद्घाताः स्युः, सप्तमस्तु केवलिनामेव,ते चानिन्द्रिया इति ॥ कृष्णलेश्याशते 'उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं' (सू.८६१) इदं कृष्णलेश्यामानं सप्तमपृथिव्या उत्कृष्टस्थितिं प्राग्भवपर्यन्तवर्तिनं च कृष्णलेश्यापरिणाममाश्रित्येति, नीललेश्याशते 'उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जभागमब्भहियाइं'ति पञ्चमपृथिव्या उपरितनप्रस्तटे दशसागरोपमाणि पल्योपमासङ्ख्येयभागाधिकान्यायुः सम्भवति, नीललेश्या च तत्र स्याद् अत उक्तं-'उक्कोसेण'मित्यादि, यच्चेह प्राग्भवान्तिमान्तर्मुहूर्त्तं तत्पल्योपमासङ्ख्येयभागे प्रविष्टमिति न भेदेनोक्तं, एवमन्यत्रापि 'तिसु उद्देसएसु'त्ति प्रथमतृतीयपञ्चमेष्विति, कापोतलेश्याशते 'उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं पलिओवमस्स'त्ति यदुक्तं तत्तृतीयपृथिव्या उपरितनप्रस्तटस्थितिमाश्रित्येति, तेजोलेश्याशते 'दो सागरोवमाइं'इत्यादि यदुक्तं तदीशानदेवमाश्रित्येति ज्ञेयं, पद्मलेश्याशते 'उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं' इत्यादि तु यदुक्तं तद् ब्रह्मलोकदेवायुराश्रित्य ज्ञेयं, तत्र हि

३६ श०

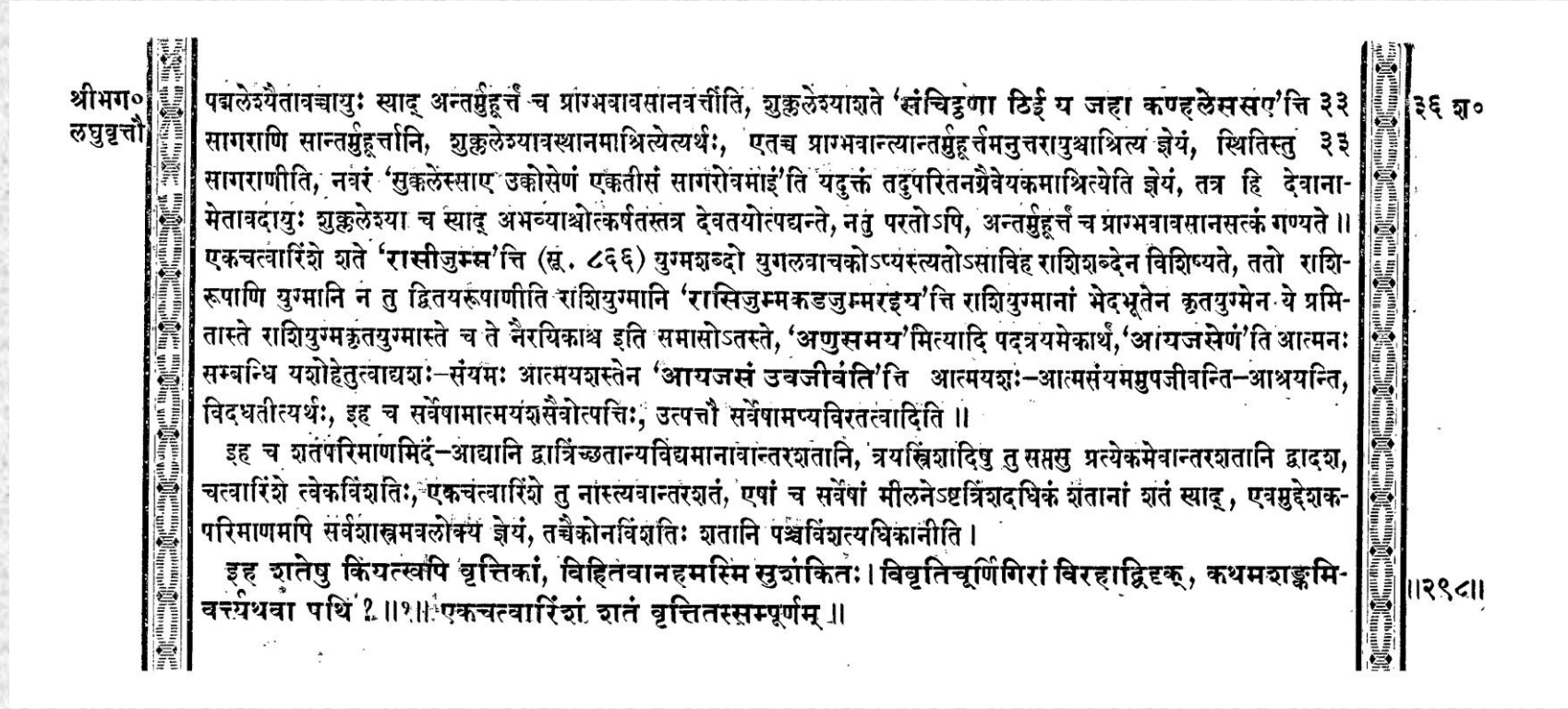

श्रीभग० लघुवृत्तौ

पद्मलेश्यैतावच्चायुः स्याद् अन्तर्मुहूर्त्तं च प्राग्भवावसानवर्त्तीति, शुक्ललेश्याशते 'संचिट्ठणा ठिई य जहा कण्हलेससए'त्ति ३३ सागराणि सान्तर्मुहूर्त्तानि, शुक्ललेश्यावस्थानमाश्रित्येत्यर्थः, एतच्च प्राग्भवान्त्यान्तर्मुहूर्त्तमनुत्तरायुश्चाश्रित्य ज्ञेयं, स्थितिस्तु ३३ सागराणीति, नवरं 'सुक्कलेस्साए उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं'ति यदुक्तं तदुपरितनग्रैवेयकमाश्रित्येति ज्ञेयं, तत्र हि देवानामेतावदायुः शुक्ललेश्या च स्याद् अभव्याश्चोत्कर्षतस्तत्र देवतयोत्पद्यन्ते, नतु परतोऽपि, अन्तर्मुहूर्त्तं च प्राग्भवावसानसत्कं गण्यते ॥ एकचत्वारिंशे शते 'रासीजुम्म'त्ति (सू. ८६६) युग्मशब्दो युगलवाचकोऽप्यस्त्यतोऽसाविह राशिशब्देन विशिष्यते, ततो राशिरूपाणि युग्मानि न तु द्वितयरूपाणीति राशियुग्मानि 'रासिजुम्मकडजुम्मरइय'त्ति राशियुग्मानां भेदभूतेन कृतयुग्मेन ये प्रमितास्ते राशियुग्मकृतयुग्मास्ते च ते नैरयिकाश्च इति समासोऽतस्ते, 'अणुसमय'मित्यादि पदत्रयमेकार्थं, 'आयजसेणं'ति आत्मनः सम्बन्धि यशोहेतुत्वाद्यशः–संयमः आत्मयशस्तेन 'आयजसं उवजीवंति'त्ति आत्मयशः–आत्मसंयममुपजीवन्ति–आश्रयन्ति, विदधतीत्यर्थः, इह च सर्वेषामात्मयशसैवोत्पत्तिः, उत्पत्तौ सर्वेषामप्यविरतत्वादिति ॥

इह च शतपरिमाणमिदं–आद्यानि द्वात्रिंच्छतान्यविद्यमानावान्तरशतानि, त्रयस्त्रिंशादिषु तु सप्तसु प्रत्येकमेवान्तरशतानि द्वादश, चत्वारिंशे त्वेकविंशतिः, एकचत्वारिंशे तु नास्त्यवान्तरशतं, एषां च सर्वेषां मीलनेऽष्टत्रिंशदधिकं शतानां शतं स्याद्, एवमुद्देशकपरिमाणमपि सर्वशास्त्रमवलोक्य ज्ञेयं, तच्चैकोनविंशतिः शतानि पञ्चविंशत्यधिकानीति ।

इह शतेषु कियत्स्वपि वृत्तिकां, विहितवानहमस्मि सुशंकितः । विवृतिचूर्णिगिरां विरहाद्विदक्, कथमशङ्कमिवर्त्स्यथवा पथि ? ॥१॥ एकचत्वारिंशं शतं वृत्तितस्सम्पूर्णम् ॥

३६ श० ॥२९८॥

*** अत्र शतक-४० समाप्तं. अथ शतक-४१ आरब्धं एवं परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

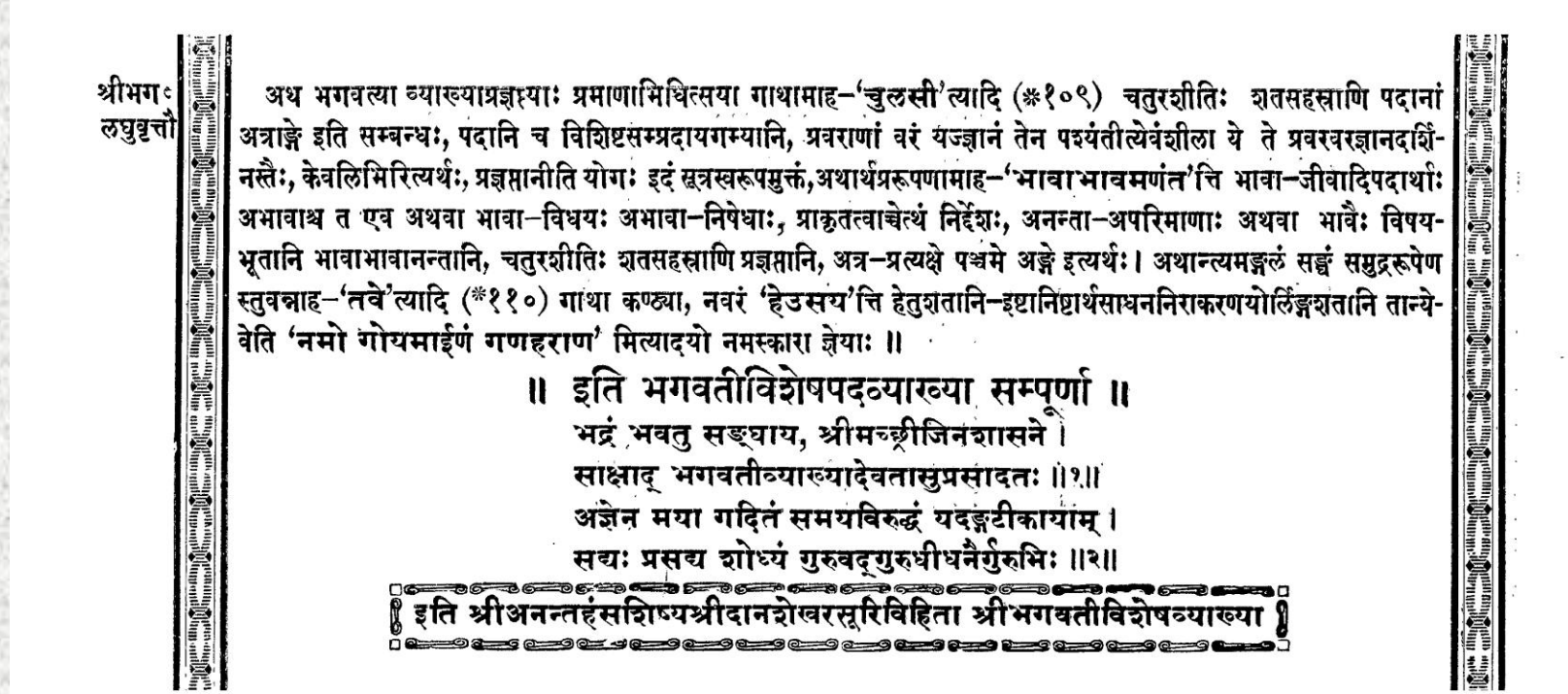

श्रीभग० लघुवृत्तौ

अथ भगवत्या व्याख्याप्रज्ञप्तेः प्रमाणाभिधित्सया गाथामाह–'चुलसी'त्यादि (*१०९) चतुरशीतिः शतसहस्राणि पदानां अत्राङ्गे इति सम्बन्धः, पदानि च विशिष्टसम्प्रदायगम्यानि, प्रवराणां वरं यज्ज्ञानं तेन पश्यंतीत्येवंशीला ये ते प्रवरवरज्ञानदर्शिनस्तैः, केवलिभिरित्यर्थः, प्रज्ञप्तानीति योगः इदं सूत्रस्वरूपमुक्तं,अथार्थप्ररूपणामाह–'भावाभावमणंत'त्ति भावा–जीवादिपदार्थाः अभावाश्च त एव अथवा भावा–विधयः अभावा–निषेधाः, प्राकृतत्वाच्चेत्थं निर्देशः, अनन्ता–अपरिमाणाः अथवा भावैः विषयभूतानि भावाभावानन्तानि, चतुरशीतिः शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि, अत्र–प्रत्यक्षे पञ्चमे अङ्गे इत्यर्थः। अथान्त्यमङ्गलं सङ्घं समुद्ररूपेण स्तुवन्नाह–'तवे'त्यादि (*११०) गाथा कण्ठ्या, नवरं 'हेउसय'त्ति हेतुशतानि–इष्टानिष्टार्थसाधननिराकरणयोर्लिङ्गशतानि तान्येवेति 'नमो गोयमाईणं गणहराण' मित्यादयो नमस्कारा ज्ञेयाः ॥

॥ इति भगवतीविशेषपदव्याख्या सम्पूर्णा ॥

भद्रं भवतु सङ्घाय, श्रीमच्छ्रीजिनशासने ।
साक्षाद् भगवतीव्याख्यादेवतासुप्रसादतः ॥१॥
अज्ञेन मया गदितं समयविरुद्धं यदङ्गटीकायाम् ।
सद्यः प्रसद्य शोध्यं गुरुवद्गुरुधीधनैर्गुरुभिः ॥२॥

॥ इति श्रीअनन्तहंसशिष्यश्रीदानशेखरसूरिविहिता श्रीभगवतीविशेषव्याख्या ॥

भगवतीजी सूत्रस्य दानशेखरसूरिजी रचिता वृत्तिः परिसमाप्ता

श्री अनंतहंसगणिशिष्य
श्री दानशेखरसूरि-विहिता
श्री भगवती-विशेष-व्याख्या
परिसमाप्ता

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

श्रीमद्भगवतीसूत्रस्य शतकानुक्रमः

	पत्राणि				
प्रथमशतकं	४२	एकादशं शतकं	१७८	एकविंशतितमं शतकं	२५४
द्वितीयशतकं	५५	द्वादशं शतकं	१९३	द्वाविंशतितमं	२५५
तृतीयशतकं	६६	त्रयोदशं शतकं	२०५	त्रयोविंशतितमं	२५५
चतुर्थं शतकं	६८	चतुर्दशं शतकं	२१७	चतुर्विंशं शतं	२६८
पञ्चमं शतकं	८२	पंचदशं शतकं	२२४	पंचविंशं शतं	२८४
षष्ठं शतकं	१००	षोडशं शतकं	२३२	षड्विंशं शतं	२८८
सप्तमं शतकं	११३	सप्तदशं शतकं	२३५	सप्तविंशादीनि	
अष्टमं शतकं	१५१	अष्टादशं शतकं	२४४	एकचत्वारिंशान्तानि	
नवमं शतकं	१६५	एकोनविंशं शतकं	२४६	शतकानि ३००	
दशमं शतकं	१६८	विंशतितमं शतकं	२५३		

अत्र मूल संपादकेन रचित शतक-अनुक्रम दर्शित: उक्त पत्राणिक्रम मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

भगवती-अंगसूत्र- [५/२] मूलं एवं दानशेखरसूरिजी रचिता टीका परिसमाप्ता:

मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुन: संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी [M.Com.,M.Ed.,Ph.D.,श्रुतमहर्षि]

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नमः

भाग-2

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधितः संपादितश्च

"भगवती-अङ्गसूत्र" [मूलं एवं दानशेखरसूरि-रचित वृत्तिः]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुनः संकलितः

"भगवती" मूलं एवं वृत्तिः" नामेण परिसमाप्तः

'सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2' श्रेणि, भाग-२

आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2

मूल संशोधक

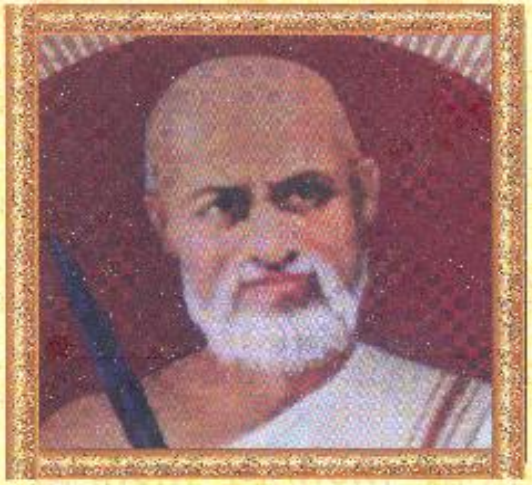

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

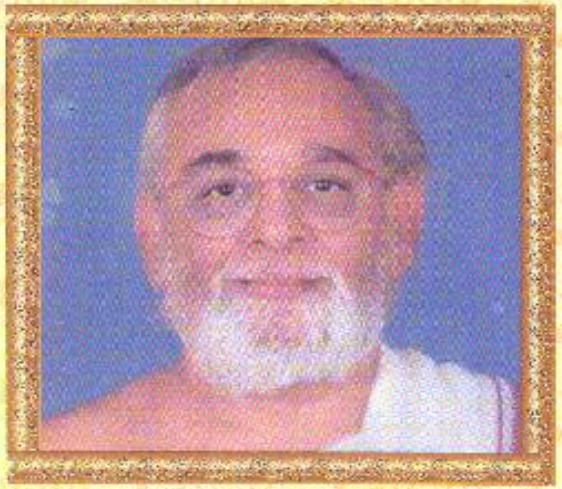

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूडामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद
गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर
सूरीश्वरजी महाराज साहेब

श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब पचास साल पहेले परम पूज्य स्वर्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू -भगवंत एवं साध्वी -महाराज के लिए उपाश्रय भी है, जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

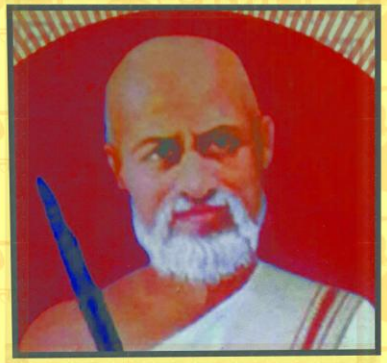

मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम - ०५

'भगवती' मूलं एवं वृत्तिः [२]

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]